तात्पर्य्य यही हुआ कि, मनोगर्भिता बुद्धि ही मन को इट् बनाती हुई 'मनीषा' कहलाई है। यही इस शब्द का वैज्ञानिक विर्वचन है, जिसका-'मनः-इट्-यस्याः सा-मनीषा' इस वाक्य से अभिनय किया जा सकता है।

इति-'मनीषा'-शब्दनिर्वचनम् (२)

———*———

५६-'धिषणा'-शब्दनिवर्चनम् (३)—

इन्द्रियद्वारा प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित होने वाले संस्कार सामान्य, विशेष, भेद से दो भावों में विभक्त रहते हैं। शास्त्रीय, तथा लौकिक विषयों का जो जितना अधिक द्रष्टा-मन्ता-श्रोता होता है, उसका सांस्कारिक ज्ञान उसी अनुपात से प्रवृद्ध रहता है। सामान्यदर्शी के संस्कार सामान्य रहते हैं, बहुदर्शी के संस्कार विशेष रहते हैं। सामान्यज्ञ की अपेक्षा विशेषज्ञ की बुद्धि अधिक संस्कारों से युक्त रहती है। विशेषसंस्कार मनीषा को विशेष समृद्ध बनाते हैं। सामान्य संस्कारानुगता बुद्धि जहाँ 'मनीषा' कहलाई है, वहाँ विशेषसंस्कारानुगता-प्रवृद्धा-वही मनीषा बुद्धि 'धिषणा' नाम से व्यवहृत हुई है। सामान्य व्यक्तियों का इस प्रवृद्धा मनीषा से धर्षण हो जाता है। बहुदर्शी, अतएव बहुवित् की धिषणाबुद्धि स्वप्रतिभा के बल से अन्य सामान्य विचारकों का वास्तव में धर्षण कर डालती है। सहजभाषानुसार यों कहिए कि; बिना विद्याभ्यास के भी मनीषा का उद्गम हो जाता है। देखा गया है कि, कितनें एक बिना पढ़े लिखे साधारण मनुष्यों की भी सूझ-बूझ अद्भुत होती है। उनके विचार, उनकी सम्मति विवेकपूर्ण होती है। इसी सामान्य विकासानुगता बुद्धि का नाम 'मनीषा' है, जिसका प्रधानतः प्राचीन शुभ संस्कारों से सम्बन्ध है। ठीक इसके विपरीत महा-महा पण्डितराज-पुस्तककीट-भी सूझ-बूझ से वञ्चित देखे गए हैं। परन्तु इनमें बिना-पढ़े लिखे मनीषी के धर्षण करने की शक्ति रहती है। विद्याबल से धर्षणभावयुक्ता बनी हुई इनकी धिषणाबुद्धि मनीषियों का मुख अवरुद्ध कर देती है। पुस्तकज्ञानात्मिका विद्या के संस्कार से धर्षणधर्म्मिणी बनी हुई बुद्धि ही 'धिषणा' कहलाई है। अतएव धिषणा का 'विद्या वै धिषणा' (तै० ब्रा० ३।२।२।) यह लक्षण किया गया है। 'धिष्णोति-धर्षति-यया सा' ही इस शब्द का निर्वचन है। धिषणानुगत धर्षणवृत्ति ही 'प्रगल्भता' कहलाई है, जो शास्त्रज्ञ विद्वानों में हीं प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहती है।

इति-'धिषणा'-शब्दनिर्वचनम् (३)

——❀——

५७-'धी'-शब्दनिर्वचनम् (४)—

बुद्धितत्त्वानुगत शब्दों में 'धी' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। क्यों कि यह शब्द स्पष्टरूप से उक्थरूपा बुद्धि के अर्कभावों का वाचक बन रहा है। उदाहरण के लिए बृहतीमध्य में प्रतिष्ठित सूर्य्यबिम्ब को उक्थरूपा बुद्धि मानिए। इस उक्थबिम्ब के केन्द्र से चारों ओर ज्योतिर्म्मयीं रश्मियाँ निकल रहीं हैं। इन रश्मियों का ही नाम 'अर्चंश्चरति' निर्वचन से 'अर्क' है। उक्थबिम्ब एक है, अर्कात्मिका प्राण-रश्मियाँ अनेक हैं, 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' हैं। इन्हीं अर्कों को 'धी' कहा गया है। अर्क क्योंकि एक

नहीं अनेक हैं, अतएव इस शब्द का प्रयोग 'धियः' इस बहुत्वरूप से ही हुआ है, जैसाकि–**'पुनन्तु मनसा धियः'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। उक्थरूपा बुद्धि आत्मा है, अर्करूप धीभाग प्राण है। इसी आधार पर **'प्राणा धियः'** (शत० ६।३।१।१३।) सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इन्द्रियद्वारा प्रज्ञान मन पर आए हुए सांस्कारिक विषयों का ग्रहण और आधान स्वयं उक्थरूप हृदयस्थ बुद्धितत्त्व पर न होकर इससे विनिर्गता प्राणात्मिका बुद्धिरश्मियों पर ही होता है । अतएव **'धीयते अनया'** निर्वचन से इन प्राणात्मिका बुद्धिरश्मियों को 'धीः' कहना अन्वर्थ बनता है । मनीषा–धिषणा–प्रज्ञा–आदि यच्चयावत् बुद्धिविवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा यही 'धियः' रूपा धी बनती है । अपनी विशुद्ध रश्म्यवस्था में जहाँ यह 'धी' नाम से व्यवहृत होती है, वहाँ मनोऽन्न को गर्भ में लेकर यही 'मनीषा' नाम से, विद्यासंस्कारानुगता बन कर यही 'धिषणा' नाम से, प्रज्ञानमनोऽनुगत प्रज्ञाभाव से संश्लिष्ट होकर यही 'प्रज्ञा' नाम से, इत्यादिरूप से तत्तद्विशेषोपाधियों से तत्तद्विशेष नामों से व्यवहृत होने लगती है। अतएव इस सर्वव्याप्तिरूपा धी का मनीषादि की अपेक्षा हम विशेष महत्त्व मान रहे हैं। सूर्य्य हमारी उक्थरूपा बुद्धि का प्रभव बनता है, यह बतलाया गया है। क्या सूर्य्य उक्थरूप से आध्यात्मिक विज्ञानात्मा (बुद्धि) के रूप में परिणत होता है ?। नहीं। अपितु सूर्य्योक्थरूप बुद्धि की अर्करूपा रश्मि ही वेदव्यूहनप्रक्रिया से प्रज्ञानधरातल पर आकर उसी प्रकार उक्थात्मक बुद्धिरूप में परिणत हो जाती है, जैसे कि–जल–दर्पण–स्फटिकादि वीध्र धरातलों पर आगत सूर्य्य-रश्मि सूर्य्यप्रतिबिम्बरूप उक्थभाव में परिणत हो जाती है । तात्पर्य्य–बुद्धिस्थानीय सूर्य्य से विनिर्गता धी-स्थानीया रश्मि ही हमारी उक्थरूपा बुद्धि का प्रभव बनती है। सौररश्मि से बुद्धि बन गई, उक्थरूप से हृदय में प्रतिष्ठित हो गई। अब इससे भी उसी प्रकार रश्मियाँ निकलनें लगतीं हैं, जैसे कि जलादि में प्रतिबिम्बित सूर्य्य से रश्मियाँ निकलनें लगतीं हैं। क्या सूर्य्यगत सविताप्राण से हमारी उक्थरूपा बुद्धि को प्रेरणाबल मिलता है, ? नहीं। अपितु सौररश्मिरूपा धी का सम्बन्ध हमारी बुद्धिरश्मिस्थानीया धी के साथ ही होता है। अर्क से अर्क को ही प्रेरणाबल मिलता है । इसी आधार पर **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, उक्थबुद्धि से विनिर्गता, विशुद्ध-भावोपेता, प्राणात्मिका बुद्धिरश्मियाँ हीं 'धीः', किंवा 'धियः' है।

इति–'धी'–शब्दनिर्वचम् (४)



५८–'प्रज्ञा'–शब्दनिर्वचनम् (५)—

गीतोक्त बुद्धियोग की दृष्टि से 'प्रज्ञा' शब्द भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रख रहा है । जिस प्रकार 'विज्ञान' बुद्धि का स्वाभाविक धर्म्म है, एवमेव 'प्रज्ञान' मन का स्वाभाविक धर्म्म माना गया है। विज्ञान के सम्बन्ध से जहाँ बुद्धि 'विज्ञानात्मा' कहलाई है, वहाँ प्रज्ञान के सम्बन्ध से मन 'प्रज्ञानात्मा' कहलाया है । और इस दृष्टि से यही निष्कर्ष निकलता है कि, 'प्रज्ञा'-तत्त्व वास्तव में मनःप्रधान तत्त्व है। ऐसी स्थिति में मानसभाववाचक 'प्रज्ञा' शब्द बुद्धिभाव का संग्राहक कैसे मान लिया गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका स्थितप्रज्ञ–आचार्य्यों नें यों समाधान किया है।

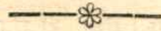
प्रज्ञानात्मा नामक सर्वेन्द्रिय मन का सोम से युक्त चिद्भाग प्रज्ञानात्मक ज्ञान है, प्राणभाग क्रिया है, सोम-मात्रा भूत है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियद्वारा जो विषयसंस्कारप्रपञ्च प्रज्ञा–प्राण–भूतमय मन पर प्रतिष्ठित रहते

हैं, वे भी भूतभाग में ही अन्तर्भूत है। प्रज्ञानमन के ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिप्रधान प्रज्ञा–प्राण–भूत, तीनों पर्व क्रमशः बुद्धि–मन–इन्द्रिय, इन तीन आत्मपर्वों से प्रधानतया सम्बद्ध रहते हैं। प्रज्ञानात्मक ज्ञान वस्तुगत्या बुद्धि का ज्ञान है। सोम वीध्र धरातल है, इस पर चिद्विशिष्टा विद्याबुद्धि का उसी प्रकार प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित हो जाता है, जैसे कि चन्द्रमा पर सूर्य्यज्योति प्रतिष्ठित होजाती है। जिस प्रकार चान्द्रज्योति तत्त्वतः सौरज्योति होने से परज्योति है, एवमेव चान्द्रज्ञानीय–मनोज्योतिर्लक्षणा प्रज्ञाज्योति सूर्य्यस्थानीया विज्ञानज्योति ही है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर **'स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः'** इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यह मानस प्रज्ञा भाग प्रज्ञानमन की स्वयं की सम्पत्ति नहीं है, अपितु विज्ञानात्मा का प्रवर्ग्य भाग है। विज्ञानात्मा का चिदंश अव्यक्तगर्भित महानात्मा की देन है। महानात्मगर्भीभूत चिदंश चिदात्मा का गर्भीभूत स्वरूप है। इसप्रकार परम्परया प्रज्ञाभाग का चिदात्मज्योतिष्ट्व सिद्ध होजाता है। अतएव इस विशुद्ध मानस प्रज्ञाभाग को **'पुराणी प्रज्ञा'** नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है, जैसा कि–**'प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी'** (श्वे० ४।१८) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) में ही अग्न्यनुगत चितिधर्म्म से चिदात्मा पूर्णरूप से विकसित होता है। अत–एव बुद्धि से परे रहने वाले महान्, तत्पर अव्यक्त, और अव्यक्त से भी परे रहने वाले चिदात्मरूप पुरुष को बुद्धियोगविश्लेषक गीताशास्त्र ने–**'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** इत्यादिरूप से बुद्धि से ही परे मान लिया है। इसी आधार पर यह कहा जासकता है कि, मानसप्रज्ञा बुद्धि के द्वारा प्रतिबिम्बरूप से आगत विज्ञानभाव ही है। अपने इस प्राथमिक रूप से मानस प्रज्ञा सर्वथा स्थिर रहती है। ऐसी स्थिरप्रज्ञा से युक्त बुद्धियोगी ही 'स्थित–प्रज्ञ' कहलाया है। मानस प्रज्ञा भाग तभी तक स्थिर रहता है, जब तक कि यह स्वप्रभवभूता विद्याबुद्धि की ओर अनुगत रहता है। अतएव बुद्धियोग को ही स्थितप्रज्ञता का जनक माना गया है। प्रज्ञा का प्रज्ञात्व वस्तुतः विद्याबुद्धि है, एक मात्र इसी हेतु से प्रज्ञा को हम 'बुद्धि' स्वरूप में अन्तर्भूत मान सकते हैं। तात्पर्य्य–वह मानसी प्रज्ञा, जो अपने विशुद्ध रूप से बुद्धि की ओर अनुगत है, बुद्धिरूपात्मिका बनती हुई बुद्धि–स्वरूप में हीं अन्तर्भूत है। प्रज्ञायुक्ता बुद्धि ही प्रज्ञाबुद्धि है, किंवा बुद्धियुक्ता प्रज्ञा ही प्रज्ञाबुद्धि है, जो गीता के शब्दों में 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि कहलाई है।

यदि प्रतिबिम्बग्राहक पात्र स्थिर रहता है, तो प्रतिबिम्ब भी स्थिर रहता है। उस दशा में प्रतिबिम्ब एकरूप में परिणत रहता है। पात्रस्थ पानी के हिलते ही प्रतिबिम्ब हिल पड़ेगा। उसके अनेक विभाग हो जायँगे। यही स्थिति यहाँ समझिए। शरीररूप पात्र में सोमरूप पानी भरा है, जिसे हम 'मन' कहते हैं। अविद्याबुद्धि से सहकृत विजातीय संस्काराक्रमणरूप धक्के से अब्रूप मन हिल पड़ता है। इसके हिलते ही प्रतिबिम्बरूप प्रज्ञाभाव हिल पड़ता है। प्रज्ञा खण्डखण्डात्मिका बनती हुई अपने विद्याबुद्ध्यनुगत स्वाभाविक स्थिरभाव का परित्याग करती हुई अव्यवसायरूप में परिणत होजाती है। यदि मनोधरातल शान्त है, स्थिर है, तो तत्र प्रतिबिम्बरूपेण प्रतिष्ठिता प्रज्ञाबुद्धि एकरूप में परिणत रहती हुई अपने स्वाभाविक व्यवसायधर्म्म से विकसित रहती है। व्यवसायबुद्धिरूपा प्रज्ञाबुद्धि सबल बनती हुई जहाँ तत्काल कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय कर डालती है, वहाँ अव्यवसायात्मिका प्रज्ञाबुद्धि खण्डभावद्वारा निर्बल बनती हुई इतस्ततः अनुधावन करती रहती

है*। जिसे लोक में 'समझ' कहा जाता है, वही प्रज्ञाबुद्धि है, जो मानसभाव बनता हुआ भी तत्त्वतः बौद्ध-भाव ही है। '**नहि प्रज्ञापेता काचन धीः सिद्धयेत, न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत**' (कौ॰ उप॰) इत्यादि के अनुसार प्रज्ञात्मिका बुद्धि, किंवा प्रज्ञाबुद्धि ही विषयज्ञान की प्रतिष्ठा बनती है। भूतात्मा जब इस बुद्धियोगलक्षणा व्यवसायबुद्धिरूपा प्रज्ञा से युक्त होजाता है, तो यह कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी असङ्ग बना रहता है-'**निःसङ्गः-प्रज्ञया भवेत्**'।-'**यदात्मा प्रज्ञयात्मानं सन्धत्ते**' का तात्पर्य्य भी यही है कि, भूतात्मा जब प्रज्ञाबुद्धि के द्वारा चिदात्मा से सम्बन्ध कर लेता है, तो उस दशा में यह बन्धन से विनिर्मुक्त होजाता है।'**प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः**' इत्यादि आदेश से भी इसी प्रज्ञाबुद्धि की ओर सङ्केत हुआ है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, प्रज्ञा-प्राण-भूतात्मक मन का बुद्धयनुगत-तत्प्रवर्ग्यभूत-स्थिर-व्यवसायलक्षण-प्रज्ञाभाग ही 'प्रज्ञाबुद्धि' है। प्रतिबिम्बत्व ही इसका बुद्धित्व है। अतएव इसके मानसभावात्मक होने पर भी इसे बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिया गया है। मनीषा-धिषणा-धीः-आदि विवर्त्त अर्कात्मक हैं। किन्तु यह 'प्रज्ञा'-तत्त्व स्वतन्त्र उक्थ है। धी का प्रतिबिम्ब ही प्रज्ञारूप में परिणत होकर स्वतन्त्र उक्थ बनता है। तभी तो इसे-'प्रज्ञानात्मा' रूप से स्वतन्त्र आत्मा माना गया है। उक्थात्मिका बुद्धि के धीरूप अर्क से समुद्भूत स्वतन्त्रोक्थरूप मानसप्रज्ञाभाव ही बुद्धयनुगत रहता हुआ 'प्रज्ञाबुद्धि' है। यही 'प्रज्ञा' शब्दनिर्वचनार्थ का संक्षिप्त स्वरूप विश्लेषण है, जिसका-'**प्रकर्षेण-व्यवसायरूपेण-जानाति-या-सा,**'-'**प्रज्ञायतेऽनया सा**' यह स्वरूप है।

इति-'प्रज्ञा'-शब्दनिर्वचनम् (५)



५६-'शेमुषी'-शब्द निर्वचनम्(६)—

विद्याबुद्धि के वैराग्य, ज्ञान, धर्म्म, ऐश्वर्य्य, ये चार विवर्त्त बतलाए गए हैं। रागद्वेषात्मिका आसक्ति, मोहात्मिका अविद्या (अज्ञान), पापात्मक अभिनिवेश (अधर्म्म), तमोरूपा अस्मिता (अनैश्वर्य्य), ये चारों उक्त चारों विद्याबुद्धियों के आवरक अविद्याबुद्धिविवर्त्त हैं। जिस प्रकार निद्रानिमग्न मनुष्य अपने आप को भूल जाता है, एवमेव इन चारों अविद्याबुद्धियों के आक्रमण से चारों विद्याबुद्धियों का स्वरूप आवृत हो जाता है। फलतः भूतात्मा स्वात्मस्वरूप से सुप्तवत् बन जाता है। क्योंकि अविद्याबुद्धिचतुष्टयी ही आत्मस्वरूपावरणलक्षण शयन का कारण बनती है। अतएव इसे अवश्य ही '**तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्**' न्याय से '**शे**' कहा जासकता है। 'शेते' ही 'शे'-भाव है। अविद्याबुद्धिग्रस्त आत्मा 'शेते' है, विद्याबुद्धियुक्त आत्मा 'जागर्त्ति' है। 'शेते' की प्रवृत्ति का मूलकारण अविद्याबुद्धि-चतुष्टयी है। अतः इसे भी-'शेते' कहा जायगा। तात्पर्य्य-'शे-मुषी' में-'शे' अविद्याबुद्धि का संग्राहक है। विद्याबुद्धिचतुष्टयी इस 'शे' का अपहरण कर लेती है, अतएव-'**शे'-अविद्या, तां मुष्णाति**' निर्वचन से इस विद्याबुद्धि को अवश्य ही-'**शेमुषी**' कहा

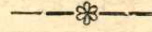
---

* "**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!।**
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥"

—गीता २।४१।

जासकता है। तात्पर्य्य–'बुद्धि' शब्द जहाँ उक्थभावात्मिका विद्या–अविद्यात्मिका आठों बुद्धियों का संग्राहक है, वहाँ 'शेमुषी' शब्द उक्थभावात्मिका 'विद्याबुद्धिचतुष्टयी' का ही संग्राहक बन रहा है।

इति–'शेमुषी'–शब्दनिर्वचनम् (६)



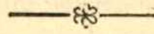
६०–'मति'–शब्दनिर्वचनम्—

पूर्वप्रतिपादित प्रज्ञा शब्द के, और प्रस्तुत 'मति' शब्द के निर्वचन में थोड़ा ही अन्तर है। प्रज्ञा-शब्द–निर्वचन में बतलाया गया है कि, प्रज्ञा–प्राण–भूत–समष्टि का ही नाम प्रज्ञानमन है, एवं साथ ही तीनों पर्व क्रमशः बुद्धि–मन–इन्द्रियवर्ग के अनुग्राहक हैं। इसका तात्पर्य्य यही है कि, प्राण-भूतगर्भिता मानस–प्रज्ञा विद्याबुद्धि के प्रति आत्मसमर्पण करती हुई 'प्रज्ञाबुद्धि' है। प्रज्ञा-भूतगर्भित मानस प्राण मन के प्रति आत्म–समर्पण करता हुआ 'प्राणात्मक मन' है। एवं प्रज्ञा–प्राण–गर्भित मानसभूत इन्द्रियवर्ग के प्रति आत्मसमर्पण करता हुआ भूतात्मक इन्द्रियवर्ग है। इसप्रकार एक ही मन अपने तीन पर्वों से त्रिसंस्थ बन रहा है। बुद्धिरूप मन प्रज्ञाप्रधान है, मनोरूप मन प्राणप्रधान है, एवं इन्द्रियलक्षण मन भूतप्रधान है। इनमें बुद्धिरूप प्रज्ञाप्रधान मन जहाँ 'प्रज्ञा' कहलाया है, वहाँ मनोरूप प्राणप्रधान मन **'मति'** नाम से व्यवहृत हुआ है। मन बुद्धि के प्रति आत्मसमर्पण करता हुआ बुद्धिरूप में परिणत होकर 'प्रज्ञा' है। यहाँ मन का स्वातन्त्र्य उच्छिन्न है। यही प्राणात्मिका प्रज्ञा है। मन ने आत्मसमर्पण नहीं किया, अपितु स्वस्थान में हीं प्रतिष्ठित रहते हुए इसने बुद्धि के विद्याधर्म्म को आत्मसात् कर लिया। ऐसा ही मन 'प्रज्ञात्मक प्राण' है। यही भाव 'मति' है। प्रज्ञात्मक मन में बुद्धि का प्राधान्य है, प्राणात्मक मन में मन का प्राधान्य है। बुद्धिप्रधान मन प्रज्ञा–प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, मनः-प्रधान मन प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है। प्रज्ञारूप से ज्ञानमय, प्राणरूप से क्रियामय बनता हुआ यह मन 'उभयात्मक' है–**'उभयात्मकं मनः'**। प्रज्ञा यदि प्राण में प्रोत है, तो मनन है। प्राण यदि प्रज्ञा में ओत है, तो प्रज्ञान है। प्रज्ञानवृत्ति में ज्ञान का प्राधान्य है, मनन-वृत्ति में क्रिया का प्राधान्य है। मानस–प्रज्ञावच्छिन्ना वही बुद्धि प्रज्ञा है, मानसप्राणावच्छिन्ना वही बुद्धि 'मति' है।

प्रज्ञावत् मति भी तत्त्वतः मन का ही व्यापार माना गया है। किसी एक विषय पर चिरकाल पर्य्यन्त स्थिर रह जाना ही 'मनन' है। **'चञ्चलं हि मनः कृष्ण !**, सिद्धान्तानुसार मन स्वभुक्ता इन्द्रविद्युत् के कारण चञ्चल है। फलतः यह अपने प्रातिस्विकरूप से स्थिरधर्म्मप्रयोजक मननव्यापार में अपनी शक्ति से असमर्थ है। स्थिर–धर्म्म–प्रयोजिका विद्याबुद्धि ही स्थितिभावप्रवर्त्तिका मानी गई है। इसी के समावेश से अस्थिर भी मनोवृत्ति में स्थिरता का समावेश हो जाता है। अतएव सिद्ध विषय है कि, **'एकस्मिन् विषये चिरकालिकवृत्तिसमर्पणं मननम्'** लक्षण मननव्यापार बुद्धि–समन्वय पर ही निर्भर है। मनन न केवल मन का व्यापार है, न बुद्धि का ही, अपितु बुद्धिगर्भित मन ही, दूसरे शब्दों में बुद्धिमय मन ही मनन लक्षणा 'मति' की प्रतिष्ठा है। मनोमयी बुद्धि यदि 'प्रज्ञा' है, तो बुद्धिमय मन मननसमर्थ बनता हुआ 'मति' है। तात्पर्य्य–मन बुद्धिरूप में परिणत होता हुआ 'प्रज्ञा' है, वही मन बुद्धि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता हुआ 'मति' है। इसी बुद्धिसम्बन्ध से प्रज्ञानमन की प्रज्ञावृत्ति–मननवृत्ति,–रूपा प्रज्ञा–मति बुद्धिस्वरूप में

अन्तर्भूत मान ली गई है। प्रज्ञान, और मनन तभी सम्भव है, जबकि प्रज्ञाप्राणमूर्त्ति मन विद्याबुद्धि से सम्बन्ध रखता है, यही निष्कर्ष है।

इति-'मति'-शब्दनिर्वचनम् (७)-



६१-'प्रेक्षा'-शब्दनिर्वचनम्'(८)-

चक्षुर्व्यापार भी प्रेक्षण कहलाया है, एवं इस व्यापार का प्रवर्त्तक चक्षु भी-'प्रेक्षते-पश्यत्यनेन' निर्वचन से 'प्रेक्षण' कहलाया है। यह प्रेक्षणव्यापार प्रकृत में यच्चयावत् इन्द्रियव्यापारों का उपलक्षण समझना चाहिए। इन्द्रियव्यापार विषयप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। दर्शन, श्रवण, गन्धग्रहण, रसग्रहण, स्पर्श, आदि सभी ऐन्द्रियक व्यापार भूतप्रधान हैं। इन सब व्यापारों को 'प्रेक्षणम्' कह लीजिए। इस प्रेक्षणव्यापार (इन्द्रिय व्यापार) की जो मूलप्रतिष्ठा है, वही 'प्रेक्षा' है। मूलप्रतिष्ठा कौन !, वही प्रज्ञा-प्राण-भूतात्मक सर्वेन्द्रिय मन। सर्वेन्द्रियमन का इन्द्रियानुगत व्यापार ही 'प्रेक्षा' है। यदि ऐसा है, तो 'प्रेक्षा' शब्द का बुद्धिस्वरूप में समावेश क्यों माना गया !, उत्तर पूर्व के प्रज्ञा-मति-शब्दनिर्वचनों से यद्यपि गतार्थ है, तथापि स्पष्टीकरण के लिए यहाँ भी दो शब्द कह दिए जाते हैं।

मूलस्रोत को लक्ष्य बना कर विषय का समन्वय कीजिए। **'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य'** सिद्धान्त का निष्कर्ष यही निकलता है कि, बिना बुद्धिसहयोग के न इन्द्रियों का विषयों के साथ योग सम्भव है, न मन का इन्द्रियों के साथ। कारण ऐन्द्रियक ज्ञान कर्म्म मन से आगत हैं, एवं मानस ज्ञान कर्म्म बुद्धि की देन है। इसीलिए तो स्तम्भारम्भ में हमनें सर्वविध (लौकिक, वैदिक) योगमात्र को 'बुद्धियोग' कहा है। बुद्धि में चित्-प्राण-भूत, तीनों का समावेश है। सोमभुक्त, आयुःप्रवर्त्तक आत्मतत्त्व चित् है। मघवेन्द्रलक्षण ज्योतिर्भाग प्राण है। सावित्राग्निलक्षण गौर्भाग भूत है। बुद्धि की ये तीनों सम्पत्तियाँ चिद्रूपत्त्वेन-इन्द्रत्त्वेन-अग्नित्त्वेन असङ्ग हैं। अतएव ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति विज्ञानात्मा असङ्गपुरुष माना गया है, जैसाकि-**'असङ्गोह्ययं पुरुषः-'न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। विज्ञानात्मा की इन्हीं तीनों असङ्ग-सम्पत्तियों के प्रवर्ग्य भाग को लेकर प्रज्ञानात्मा अपने स्वरूपनिर्म्माण में समर्थ हुआ है। जिसप्रकार शुद्ध भी जल अशुद्ध क्षेत्र में जाकर मलिन हो जाता है, एवमेव सोमप्रधान, अतएव ससङ्ग, बने हुए मनःक्षेत्र में आगत असङ्ग भी बुद्धि-सम्पत्तियाँ ससङ्गभाव में परिणत हो जातीं हैं। फलतः बुद्धिपर्वों का ही अंशावतार प्रज्ञानात्मा ससङ्ग बन जाता है। इस प्रज्ञानमन की प्रज्ञात्मिका चित्,मरुत्वानिन्द्रविद्युल्लक्षण प्राण, सोमलक्षण भूत भागों के प्रवर्ग्यांश को लेकर ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाँ स्वस्वरूपसम्पादन में समर्थ होतीं हैं। अतएव इनमें भी (प्रत्येक इन्द्रिय में प्रधानता-अप्रधानता रूप से) प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीन मात्राओं का समावेश रहता है। इस विश्लेषण से निष्कर्ष यही निकलता है कि, विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-इन्द्रियवर्ग, तीनों ही चित्-प्राण-भूतमय हैं। साथ ही तीनों का मूलाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही है।

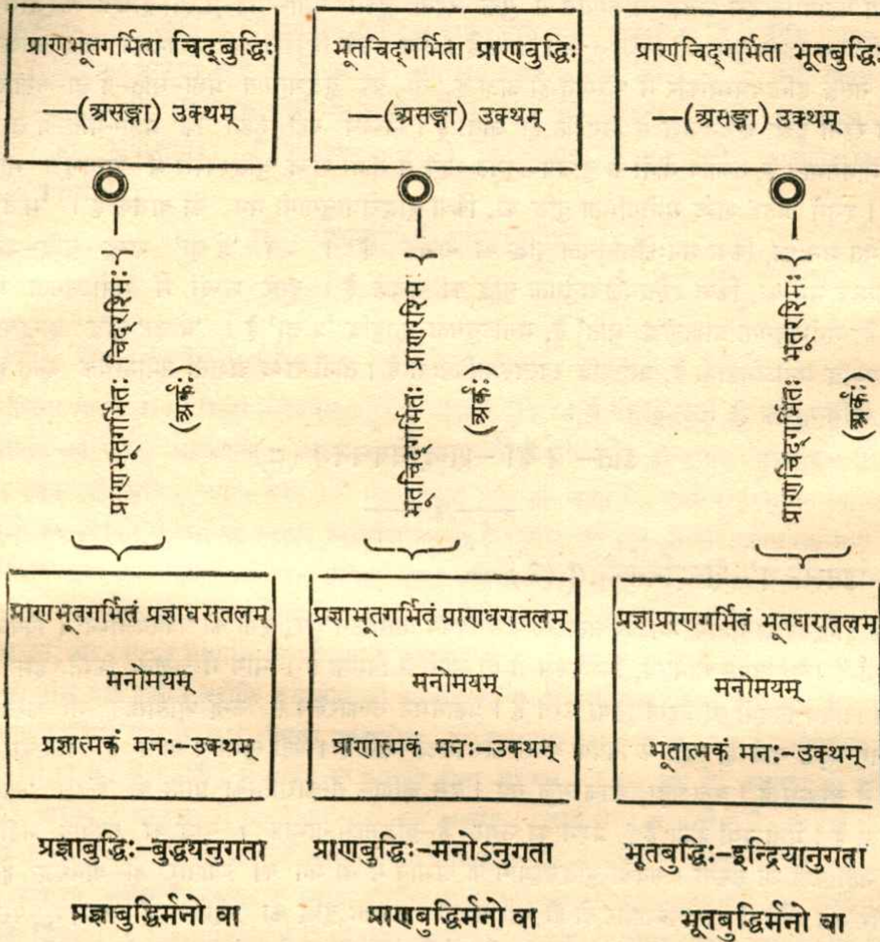
विज्ञानात्मा–आयुःप्रवर्त्तकः–आत्मा	मघवेन्द्रलक्षणं ज्योतिः	सावित्राग्निलक्षणं भूतम्
(चित्)	(प्राणः)	(भूतम्)
|	|	|
प्रज्ञानात्मा–प्रज्ञालक्षणा चित्	मरुत्वानिन्द्रलक्षणः प्राणः	सोमलक्षणं भूतम्
|	|	|
इन्द्रियाणि–प्रज्ञामात्रा चित्	प्राणमात्रा–प्राणः	भूतमात्रा–भूतम्

मूलाधारभूत विज्ञानात्मा में चित् का प्राधान्य है, तत्तूलरूप प्रज्ञानात्मा में प्राण का प्राधान्य है, एवं तत्तूलरूप इन्द्रियवर्ग में भूत का प्राधान्य है। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि–प्राणभूतगर्भिता **चित्** विज्ञानात्मा है, चिद्भूतगर्भित **प्राण** प्रज्ञानात्मा है, एवं चित्प्राणगर्भित **भूत** इन्द्रियवर्ग है। इसका यह भी तात्पर्य्य निकला कि, तीनों में प्राणप्रधान प्रज्ञानात्मा (मन) क्योंकि मध्यस्थ है, अतएव इसमें तीनों रूपों का समन्वय रहता है। बुद्धिधर्म्माक्रान्त वही मन बुद्धिरूप में परिणत है, इन्द्रियधर्म्माक्रान्त वही मन इन्द्रियरूप में परिणत है। इससे यह भी निष्कर्ष निकला कि, मन का उसीप्रकार कोई नियत स्वरूप–आकार–नहीं है, जैसे कि पानी का अपना कोई नियत आकार नहीं है। अपितु–वापी, कूप, तड़ाग, घटादि यादृश आयतन का पानी अनुगमन करता है, वह तादृश आकार में हीं जैसे परिणत हो जाता है, एवमेव सोमजललक्षण प्रज्ञानमन बुद्धि, इन्द्रिय, दोनों में से जिस रूप का आश्रय ले लेता है, तद्रूप में ही वह परिणत हो जाता है। इसी रहस्य का भगवान् ने–**'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः (प्रज्ञानात्मा), यो यच्छ्रद्धः, स एव सः'** इन शब्दों में विश्लेषण किया है। **'श्रद्धा वा आपः'**(तै०ब्रा०३।२।४।१)सिद्धान्तानुसार श्रद्धा अप्तत्त्व ही है,एवं यही प्रज्ञानमन की स्वरूपसमर्पिका है, जिसका **'श्राद्धविज्ञान'** में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। **'यद्यत् स्वरूपमादत्ते, तेन तेन स युज्यते'**–**'तं यथा यथोपासते–तथैव भवति'** इत्यादि वचन भी प्रज्ञानमन की इस पररूपानुगमनता का ही समर्थन कर रहे हैं। बुद्ध्यनुगत वही मन योगयुक्त बनता हुआ मुक्तिप्रवर्त्तक है, इन्द्रियानुगत वही मन योगवियुक्त बनता हुआ बन्धनप्रवर्त्तक है *। मन की इस पररूपता को लक्ष्य बना कर ही **'प्रेक्षा'** शब्द का समन्वय कीजिए।

बुद्धियुक्त मन बुद्धिस्वरूपभुक्त चित्–प्राण–भूत भेद से तीन भावों में परिणत हो जाता है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के चित्–भाग से अनुगत है, तो ज्ञानप्रधान वही मन **'प्रज्ञामन'** कहलाने लगता है, यही 'प्रज्ञाबुद्धि' (ज्ञानबुद्धि) है, जिसका विकासक्षेत्र बुद्धि ही बनती है। क्योंकि हमनें बुद्धि को चितप्रधान बतलाया है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के प्राणभाग से अनुगत है, तो प्राणप्रधान वही मन **'प्राणमन'** कहलाने लगता है, यही प्राणबुद्धि (क्रियाबुद्धि) है, जिसका विकासक्षेत्र स्वयं मन ही बनता है। क्योंकि मन को प्राणप्रधान बतलाया गया है। इसी आधार पर श्रुति का–**'प्राणबन्धनं हि सौम्य ! मनः'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के भूतभाग से अनुगत है, तो भूतप्रधान वही मन **'भूतमन'** कहलाने लगता है, यही

***—न देहो, न च जीवात्मा, नेन्द्रियाणि परन्तप !।**
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध–मोक्षयोः ॥

भूतबुद्धि (अर्थबुद्धि)है, जिसका विकासक्षेत्र इन्द्रियवर्ग ही बनता है । क्योंकि इन्द्रियवर्ग को भूतप्रधान बतलाया गया है । प्रज्ञानमनोधरातल के तीन विभाग हैं । प्रज्ञाधरातल से यह बुद्धि के चिद्भाग से, प्राणधरातल से बुद्धि के प्राणभाग से, तथा भूतधरातल से बुद्धि के भूतभाग से युक्त रहता है । तीन मानसक्षेत्र, तीनों पर बुद्धि के तीनों भागों का प्रतिबिम्ब, ये ही मनोऽनुगत तीन स्वतन्त्र उक्थ, तीनों उक्थ क्रमशः बुद्धि–मन–इन्द्रियवर्ग के उपकारक, यही निष्कर्ष है ।



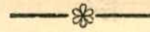
प्रज्ञाबुद्धिः–बुद्ध्यनुगता प्राणबुद्धिः–मनोऽनुगता भूतबुद्धिः–इन्द्रियानुगता

प्रज्ञाबुद्धिर्मनो वा प्राणबुद्धिर्मनो वा भूतबुद्धिर्मनो वा

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, बुद्धियुक्त (बुद्धिपर्वत्रयी–युक्त) एक ही मन बुद्धि–मन–इन्द्रिय–क्षेत्रद्वारा क्रमशः प्रज्ञान–प्राण–भूत भेद से तीन उक्थभावों में परिणत हो जाता है । प्रज्ञानमन के विद्या-बुद्धियुक्त ये ही तीनों रूप क्रमशः 'प्रज्ञा–मति–प्रेक्षा' नामों से व्यवहृत हुए हैं । बुद्ध्यनुगत मन का ज्ञान 'प्रज्ञा' है, मनोऽनुगत मन का कर्म्म 'मति' है, एवं इन्द्रियानुगत मन का बहिर्व्यापार 'प्रेक्षा' है । प्रज्ञाव्यापार सम्यग्ज्ञान है, प्रेक्षाव्यापार सम्यग्दर्शन है । प्रेक्षात्मक मन को आधार बना कर इन्द्रियों का प्रक्रान्त व्यापार

सदा निःसंदिग्ध बना रहता है। विवेकदृष्टि ही प्रेक्षा है, तत्पूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला ही 'प्रेक्षापूर्वकारी' कहलाया है। अविवेकदृष्टि इन्द्रियानुगत मन का व्यापार है। यही सामान्य-लोकदृष्टि है, जिसमें पदे पदे स्खलन है, पतन है, बन्धन है। प्रकर्षदर्शन ही प्रेक्षा है। यह बुद्धि का ही धर्म्म है। तद्युक्त प्रेक्षाकारी मन को आधार बना कर ही इन्द्रियप्रेक्षण वास्तविक प्रेक्षण बन सकता है। एक प्रासङ्गिक विश्लेषण और। प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा, तीनों असङ्गबुद्धि के चित्-प्राण-सावित्राग्निभूत से अनुगृहीत हैं। अतएव तद्युक्त प्रज्ञा-मति-प्रेक्षामय प्रज्ञानमन इस असङ्गबुद्धिसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा-वृत्तियों के द्वारा तत्तत् कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बना रहता है। ठीक इसके विपरीत यही प्रज्ञानमन यदि अविद्याबुद्धि-सहकृत ससङ्ग इन्द्रियधर्म्माकार में परिणत हो जाता है, तो यह बुद्ध्यनुगत प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा-सम्पत्तियों से वञ्चित रहता हुआ बन्धनपाश से निगृहीत हो जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा, तीनों यद्यपि मानसभाव हैं, तथापि तीनों के बुद्धिपर्वानुगत रहने से तीनों शब्द बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिए गए हैं। इनमें 'प्रज्ञा' शब्द मनोगर्भिता बुद्धि का, किंवा बुद्धिक्षेत्रानुगामी मन का वाचक है। 'मति' शब्द बुद्धिगर्भित मन का, किंवा मनःक्षेत्रानुगता बुद्धि का वाचक है। एवं 'प्रेक्षा' शब्द बुद्धि-मनोगर्भित इन्द्रियात्मक मन का, किंवा इन्द्रियक्षेत्रानुगता बुद्धि का वाचक है। दूसरे शब्दों में मनोऽनुगता प्रज्ञाबुद्धि 'प्रज्ञा' है, मनोऽनुगता प्राणबुद्धि 'मति' है, मनोऽनुगता भूतबुद्धि 'प्रेक्षा' है। 'प्रेक्षा' बुद्धि इन्द्रियाधिष्ठात्री है, प्राणबुद्धि मनोऽधिष्ठात्री है, प्रज्ञाबुद्धि स्वस्वरूपाधिष्ठात्री है। तीनों शब्द अंशतः समानार्थक बनते हुए भी तत्त्वतः विभिन्नार्थक ही सिद्ध हो रहे हैं।

इति-'प्रेक्षा'-शब्दनिर्वचनम् (८)

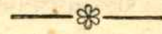


६२-'उपलब्धि'-शब्दनिर्वचनम् (९)—

इन्द्रियद्वारा प्रज्ञान मन पर संस्काररूप से विषय प्रतिष्ठित हुए, इसी को 'विषयलब्धि' (विषयप्राप्ति) कहा गया है। यह प्राप्ति सामान्य, विशेषरूप से दो भागों में विभक्त है। मार्ग में चलते फिरते हम इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण किया करते हैं। प्रज्ञानमन संस्काररूप से उन्हें आत्मसात् भी करता रहता है। आगे बढ़ते जाते हैं, पिछे के विषयों के संस्कार मिटते जाते हैं। यही सामान्य प्राप्ति है, जिसका क्षणिक संस्कार से सम्बन्ध है। कल पढ़ा, आज भूल गए। इस क्षणिक संस्कारात्मिका प्राप्ति को केवल 'लब्धि' ही कहा गया है। ऐसा क्यों होता है ?, प्रश्न का उत्तर है-बुद्धिसहयोगाभाव। बुद्धि का सहयोग नहीं रहता, यह तो नहीं कहा जा सकता। सर्वथा बुद्धिसहयोग के अभाव में तो मन का व्यापार ही अवरुद्ध हो जाता है। और उस दशा में इन्द्रियव्यापार हो ही नहीं सकता। फलतः बुद्धि का सहयोग है अवश्य, परन्तु इस दशा में बुद्धि का मन के साथ 'उप' भाव रहता है। ऐन्द्रियक व्यापार के साथ साथ बुद्धि अपने अन्तर्जगत् में किसी अन्य विषय को लक्ष्य बनाए रहती है। प्रधान बल उस अन्य आभ्यन्तर लक्ष्य की ओर लगा रहता है। अतएव इस दशा में मन केवल बुद्धि की प्रतिच्छाया से युक्त रहता है। यही 'उपेक्षाबुद्धि' कहलाई है। उपेक्षाबुद्धिसहकृत मन से होने वाला ऐन्द्रियक व्यापार जिन संस्कारों को मन पर खचित करता है, वे दृढमूल नहीं बनने पाते। क्योंकि दृढता-स्थिरता-अपेक्षाबुद्धि के सहयोग पर ही निर्भर है। यदि हम आभ्यन्तर विषय की ओर से बुद्धि को हटा कर मन में पूर्णरूप से उसे नियुक्त कर देते हैं, तो

उस समय आने वाले ऐन्द्रियक संस्कार चिरकार के लिए दृढमूल बन जाते हैं। इसी स्थिति का 'अवधान पूर्वक देखो, गौर करो, तबियत लगा कर पढ़ो, नहीं भूल जाओगे' इत्यादि वाक्यों से अभिनय हुआ है। प्रज्ञानमन के सर्वथा समीप (उप) बैठी हुई बुद्धि पर्य्यन्त सांस्कारिक लब्धि (विषयप्राप्ति) का पहुँच कर उसका दृढमूल बन जाना ही उपलब्धि है, यही विशेषप्राप्ति है। सामान्यप्राप्ति मनोऽनुगता बनती हुई केवल 'लब्धि' है। विशेषप्राप्ति बुद्ध्यनुगता बनती हुई 'उपलब्धि' है। सांस्कारिकविषयावच्छिन्न प्रज्ञानमनोऽनुगता बुद्धि ही विषयोपलब्धि के कारण 'उपलब्धि' कहलाई है। विषयसंस्कारावच्छेद से वही बुद्धितत्त्व 'उपलब्धि' नाम से व्यवहृत होगा, यही तात्पर्य्य है। विषयसंस्कारग्राहिका अपेक्षाबुद्धि भी 'उपलब्धि' है, क्योंकि **'उपलभ्यते-ऽनया'** निर्वचनानुसार अपेक्षा बुद्धि ही 'उपलब्धि' रूपा लब्धि का कारण बनती है। एवं विषयसंस्कार-संस्कृता-विषयप्राप्ता बुद्धि भी 'उपलब्धि' नाम से ही व्यवहृत की जायगी, क्योंकि विषयोपलब्धि से यह स्वयं भी विषयात्मिका (विषयोपलब्धिरूपा) बन जाती है। यही उपलब्धिशब्द का संक्षिप्त निर्वचनार्थ है।

इति-'उपलब्धि'-शब्दविर्वनम् (९)



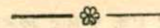
६३-'चित्' शब्दनिर्वचनम्-(१०)

'चिता भवति या सा चित्'—निर्वचनानुसार 'चित' होने वाला तत्त्वविशेष ही 'चित्' है। आधि-दैविक-भौतिक-आत्मिक, यच्चयावत् पदार्थों का स्वरूप चिति-प्रक्रिया से ही सम्पन्न हुआ है। जिसप्रकार इष्टका पर इष्टका की चिति (चयन-चेजा) से एक प्रासाद खड़ा हो जाता है, एवमेव रसगर्भित विभिन्न बलों की चिति से ही त्रिविध विवर्त्तों का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। और इस दृष्टि से विश्वसीमायुक्त सभी पदार्थों को जब 'चित्' कहा जा सकता है, तो फिर 'चित्' शब्द बुद्धितत्त्व का संग्राहक किस आधार पर माना गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उत्तर बुद्धि के प्रभव आधिदैविक बुद्धिस्थानीय सूर्य्य से पूँछिए। यज्ञप्रक्रिया **सवन, चयन,** भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। अग्नि में सोमाहुति होना भी यज्ञ है। इस यज्ञ से आयतन की वृद्धि नहीं होती। क्योंकि अन्नसोम को अन्नाद अग्नि आत्मसात् कर लेता है। यही 'सवनयज्ञ' है, जिसे 'सुत्या' भी कहा गया है, एवं जिसके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्म्मास्य, अयन, सोमयाग, भेद से पाँच वितर्त्त मानें गए हैं। अग्नि में अग्नि की आहुति होना भी यज्ञ है। इस यज्ञ से आयतन की वृद्धि होती है, क्योंकि अन्नाद अन्नाद को आत्मसात् नहीं कर सकता। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी है, परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। स्वायम्भुव यज्ञ के गर्भ में सवन-चयन यच्चयावत् यज्ञ प्रतिष्ठित हैं, अतएव उसे सुत्या-चित्या, दोनों ही कहा जा सकता है। अतएव स्वायम्भुव ब्रह्मयज्ञ 'सर्वहुतयज्ञ' कहलाया है। इस सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति स्वयम्भू के विश्वरूप (महिमामण्डल) में प्रतिष्ठित आपोमय परमेष्ठी के आधार पर सवनयज्ञ प्रतिष्ठित है। एवं वाङ्मय सूर्य्य के आधार पर चयनयज्ञ प्रतिष्ठित है, जो सौरसम्वत्सराग्निमय चयनयज्ञ पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य-पृथिव्यन्तरिक्षसन्धि-अन्तरिक्ष-द्यु सन्धिगत अग्निभेद से सोमयज्ञवत् पञ्चचितिक बनता हुआ पञ्चपर्वा ही माना गया है। पारमेष्ठ्य समुद्र में ऋतरूप से इतस्ततः दन्द्रम्यमाण अङ्गिरोऽग्निकण व्याप्त रहते हैं। इनका परमेष्ठी की महिमा के गर्भ में चिनाव होने लगता है। कालान्तर में इन अग्निकणों की चितियों से ऋताग्नि-पुञ्ज सत्याग्नि (पिण्डाग्नि) रूप में परिणत हो जाता है। अग्निचितियों से कृतरूप यही अङ्गिरोऽग्निलक्षण

सत्यपिण्ड 'सूर्य्य' कहलाया है, जैसा कि बुद्धिशब्दनिर्वचनप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इसप्रकार 'चिति' भाव का सर्वप्रथम आविर्भाव सौरसंस्था में सूर्य्यरूप से ही हुआ है। यही विश्व में प्रथम 'चित्' है। इसी प्राथम्य से यह 'चित्' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। आगे त्रैलोक्य में जितनीं चितियाँ सम्पन्न होतीं हैं, उन सब का मूलप्रभव भी यही चित्–सूर्य्य बनता है। इसलिए भी इसे 'चित्' कहना अन्वर्थ बनता है। बुद्धि इसी चित्सूर्य्य का प्रत्यंश है। अतएव इसे भी 'चित्' कहना अन्वर्थ बन रहा है। इसप्रकार 'चित्' शब्द बुद्धि की अग्नि–अनुगता चिति–अवस्था का ही वाचक बन रहा है। बुद्धि का वह भूतात्मक स्वरूप, जिसका सौर सावित्राग्निचिति से सम्बन्ध है, 'चित्' शब्द से संगृहीत हुआ है।

दूसरा निर्वचन 'चिदात्मा' से सम्बन्ध रखता है। आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्, इन पाँच अन्तः-बाह्य-चितियों से कृतरूप, क्षराक्षरगर्भित अव्ययात्मा ही 'चिदात्मा' कहलाया है। यही अव्ययात्मतत्त्व चितियों के सम्बन्ध से 'चित्' है। बतलाया गया है कि—**'इन्द्रो ह वै षोडशी'** के अनुसार सूर्य्य ही इस चिदात्मा की विकासभूमि है। **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** के अनुसार अध्यात्मसूर्य्यरूपा बुद्धि ही आध्यात्मिक चिदात्मा की विकासभूमि है। इसी आधार पर 'प्रेक्षा' शब्दनिर्वचनप्रकरण में हमनें विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि को चित्प्रधाना बतलाया है। चित् शब्द बुद्धि की इस चिदात्मयोगावस्था का भी समर्थन कर रहा है। **'चिद्रूपा या सा चित्'** ही इस द्वितीय निर्वचन का स्वरूप है।

इति–'चित्'–शब्दनिर्वचनम् (१०)



६४–'संवित्'–शब्दनिर्वचनम्–(११)

'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्तनुसार 'सम्' उपसर्ग एकीभाव का वाचक है। 'संवित्' शब्द के 'सम्-वित्' ये विभाग हैं। विद्लृ-लाभे,–विद–सत्तायां,–विद-ज्ञाने–, तीनों धातुओं से 'वित्' का सम्बन्ध है। तात्पर्य्य इसका यह है कि, 'वित्' का अर्थ 'ज्ञान' भी है, सत्ता भी है, लाभ भी है। सत्ता 'अस्ति' भाव है, यही **'सत्'** है। ज्ञान **'चित्'** है। लब्ध रस **'आनन्द'** है। सत्–चित्–आनन्द–की समष्टि ही 'सच्चिदानन्द–ब्रह्म' है। दार्शनिक परिभाषानुसार सत् **'अस्ति'** है, चित् **'भाति'** है, आनन्द **'प्रिय'** है। अस्ति–भाति–प्रिय–नाम–रूप, इन पाँच विवर्त्तों में आदि की त्रयी 'आत्मा' हैं, अन्तिमद्वयी विश्व है। अस्ति का विकास **'क्षर'** प्रपञ्च से, भाति का विकास 'अक्षर' प्रपञ्च से, एवं प्रिय का विकास 'अव्यय' प्रपञ्च से सम्बन्ध रखता है। आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राण, वाक्, अव्यय की ये पाँच कलाएँ मानीं गईं हैं। इनमें आनन्द 'आनन्द' है, यही रसलक्षण 'प्रिय' है। विज्ञान चित् है, यही 'भाति' है। मनःप्राणवाक्समष्टि 'सत्' है, यही 'अस्ति' है। आनन्दप्रधान वही अव्ययात्मा 'अव्यय' है, विज्ञानप्रधान वही अव्ययात्मा 'अक्षर' है, एवं मनःप्राण–वाक्प्रधान वही अव्ययात्मा आत्मक्षर है। इसप्रकार आनन्दघन–रसैकघन–निष्कल वही अव्यय अपने त्रिविवर्त्तों के द्वारा अव्यय–अक्षर–क्षररूप में परिणत होकर त्रिसंस्थ बना हुआ है। आरम्भ में 'सम्' बना हुआ आत्मा सृष्टिदशा में 'विषम' बन रहा है। निम्न लिखित परिलेख को लक्ष्य बना कर ही 'संवित्' शब्द की मीमांसा करनी चाहिए।

पञ्चपर्वा समष्टि विश्वम्

(१) १-स्वयम्भूः (२) २-परमेष्ठी	—आनन्दप्रधाना अव्ययात्मसंस्था (आनन्दः—आनन्दः-प्रियम्		
(३) १-सूर्य्यः	—विज्ञानप्रधाना अक्षरात्मसंस्था (विज्ञानम्—चित्-भातिः	—विश्वेश्वरः	
(४) १-चन्द्रमाः (५) २-पृथिवी	—मनःप्राणवाङ्मयी क्षरात्मसंस्था (मनःप्राणवाग्भावाः-सत्-अस्ति		

विज्ञानप्रधाना अक्षरात्मसंस्था में ही सूर्य्य का उपभोग हो रहा है। मध्यस्थ होने से इस ज्ञानरूपा-भाति-रूपा-विलक्षणा वित् में ऊर्ध्वस्था आनन्दरूपा-प्रियरूपा-वित् एवं अधोऽवस्थिता मनःप्राण-वागूरूपा-सद्रूपा-अस्तिलक्षणा वित्, दोनों का समन्वय हो रहा है। इसप्रकार सृष्ट्यारम्भ में सम्-भावात्मक बने हुए सच्चिदानन्द के सत्-चित्-आनन्दानुगता तीनों वित्-सम्पत्तियों का सृष्टिदशा में भी केवल मध्यस्थ सूर्य्य में हीं एकत्र समन्वय हो रहा है। यहाँ आत्मा एक रूप से, किंवा अपनी रूपत्रयी-स्वरूप से विकसित हो रहा है। अतएव सौर 'वित्' को त्र्यात्मक माना जा सकता है। अतएव च सर्वसमन्वयात्मिका सौरी 'वित्' को आत्मैकीभावप्रवृत्ति के कारण 'सम्' उपाधि से युक्त करते हुए 'संवित्' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

१-लाभार्थको-'विद' धातुः (विद्लृ-लाभे)—वित्-अव्ययानुगता		
२-ज्ञानार्थको-'विद' धातुः (विद-ज्ञाने)—वित्-अक्षरानुगता	—अत्र समन्वयः-सैषा-	
३-सत्तार्थको-'विद' धातुः (विद-सत्तायाम्)वित्-क्षरानुगता	'संवित्'	

सम्-भावात्मिका सौरी वित् ही तत्प्रसूता बुद्धि की 'वित्' है। इस सर्वसमन्वयभावात्मिका वित् की दृष्टि से बुद्धि को भी अवश्य ही 'संवित्' कहा जासकता है। बुद्धि के इस आत्मानुगत संवित्-भाव के विकास से ही अध्यात्मसंस्था में समत्वलक्षणा बुद्धियोगसम्पत् का उदय होता है। इसी के उदय से सविशेष भी भूतात्मा निर्दोष-समब्रह्म में प्रतिष्ठित होता हुआ समदर्शी बन कर नानात्वनिबन्धन मृत्युभाव से विमुक्त होजाता है। यही 'संवित्' का चरम फल है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी-'**संविदा देयम्**' (तै॰आ॰ ७।११।३) '**वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना**'-'**ब्रह्मणा संवित्तो**' (शत॰ ब्रा॰···)-'**सा हि सर्वगता संवित्**' इत्यादिरूप से संवित्-ज्ञान को सर्वसंग्राहक ही माना है। भेददर्शनावरणपूर्वक अभेददर्शनानुगता ऊर्ध्व-अधोऽवस्थित-अव्ययात्मक्षरा-नुगृहीता-सर्वरूपा बुद्धिगता-अक्षरात्मिका वित् ही संवित् है। बुद्ध्यादि शब्द जहाँ बुद्धिमात्र के प्रातिस्विक विवर्त्तों के संग्राहक हैं, वहाँ 'संवित्' शब्द इसी बुद्धि के अवारपारीण सर्वव्यापक सर्वात्मक, अतएव सम-भावात्मक रूप का संग्राहक बना हुआ है।

समभावापन्न, सर्वसमन्वयलक्षण 'समब्रह्म' * नामक अव्ययपुरुष ही मानव का मुख्य 'आत्मा' है, जो ज्योतिषां ज्योतिर्धन बनता हुआ 'स्वयंप्रभा'-त्मक माना गया है। वैराग्यबुद्धि के द्वारा ही इस समब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। अतएव अव्ययात्मरूपा स्वतःप्रकाशलक्षणा 'संवित्' का सम्बन्ध वैराग्यबुद्धि के साथ ही मान लिया गया है। चतुर्विध विद्याबुद्धियों में संविद्रूप-अव्ययात्मा से अभिन्न बनी रहने वाली 'वैराग्यविद्याबुद्धि' भी इसी हेतु से 'संवित्' कहलाने लगती है। जिसप्रकार 'शरीर' के आधार पर **'आदेश'** प्रतिष्ठित है, मन के आधार पर **'उपदेश'** प्रतिष्ठित है, सामान्य बुद्धि के आधार पर **'अनुशासन'** प्रतिष्ठित है, एवमेव वैराग्यबुद्धिसहकृत अव्ययात्मा के आधार पर **'संवित्'** प्रतिष्ठित है। शरीर-मनो-बुद्ध्यनुगत आदेश उपदेश-अनुशासन भले ही निष्फल प्रमाणित हो जायँ, किन्तु अव्ययात्मानुगता 'संवित्' कदापि निष्फल नहीं बन सकती। वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ आर्ष मानव प्रधानरूप से इस 'संवित्' की ही उपासना किया करते हैं, जिसका **'भा० हिं० मा० की भावुकता'** नामक खण्डचतुष्टयात्मक सामयिक-निबन्ध के चतुर्थखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निम्न लिखित वचन इसी 'संवित्' का यशोगान कर रहे हैं।

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्यस्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमत्येति 'संविदे' षा स्वयंप्रभा ॥१॥
कर्त्तारञ्च क्रियां तद्वत् व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ संवित् स्वयं वपुः ॥२॥

१-आत्मा-तदनुगता—'संवित्' (वैराग्यबुद्ध्यनुगता)।
२-बुद्धिः—तदनुगतं—'अनुशासनम्' (सामान्यबुद्ध्यनुगतम्)।
३-मनः—तदनुगतः—'उपदेशः' (प्रज्ञानमनोऽनुगतः)।
४-शरीरम्-तदनुगतः—'आदेशः' (भौतिकशरीरानुगतः)।

इति-'संवित्'-शब्दनिर्वचनम् (११)

६५-'प्रतिपत्'-शब्दनिर्वचनम् (१२)-

'प्रतिपत्' शब्द 'अनुचर' शब्दसापेक्ष है। **'आज्यपृष्ठ'**-वत् **'प्रतिपदनुचरौ'** भी वैदिक विज्ञान का एक महत्त्व पूर्ण विषय है। मूलाधार 'प्रतिपत्' कहलाया है, क्योंकि मूल से विनिर्गत तूल मूलाधार में ही प्रपन्न (आश्रित) रहते हैं। लौकिक उदाहरण के लिए राजा प्रतिपत् है, प्रजा अनुचर है। गृहस्वामी प्रतिपत् है, तत्परिवार अनुचर है। गुरु प्रतिपत् है, शिष्यवर्ग अनुचर है। न्यायाधीश प्रतिपत् है, तत्कर्म्मसहयोगी-वर्ग अनुचर है। शास्त्रीय उदाहरण के लिए-सुप्रसिद्ध प्रतिपत् (पड़वा) तिथि प्रतिपत् है, शेष १५ तिथियाँ प्रतिपत् से उपक्रान्त होतीं हुईं अनुचर हैं। ईश्वर प्रतिपत् है, तदाश्रित-तत्प्रपन्न आदिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक प्रपञ्च अनुचर हैं। चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं। आधिदैविक सृष्टिविज्ञान, सृष्टिस्थिति, दृष्टि, भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। सृष्टि स्वयम्भू-मूला है, स्थिति सूर्य्यमूला है, दृष्टि पृथिवी-मूला है। स्वयम्भूपर्व विश्वेश्वर का शिरःस्थानीय है, सूर्य्य हृदयस्थानीय है, पृथिवी पादस्थानीया है। अतएव

*** इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥**
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ गीता ५।१९।

इन तीनों सृष्टिविज्ञानों को शिरोमूल सृष्टिविज्ञान, हृन्मूल सृष्टिविज्ञान, पादमूल सृष्टिविज्ञान, नामों से व्यवहृत किया जासकता है। सृष्टि (उत्पत्ति) का आरम्भ स्वयम्भू से होता है। आगे की परमेष्ठी-सूर्य्यादि सृष्टियाँ स्वयम्भूमूला हैं। अतएव इस सृष्टिदृष्टि से स्वयम्भू को प्रतिपत् माना जायगा, एवं परमेष्ठयादि चारों को अनुचर कहा जायगा। यही पहिला सृष्टयात्मक प्रतिपदनुचर-भाव है। सृष्टि की स्थिति आदानविसर्गात्मक यज्ञद्वारा हृदयस्थ सूर्य्य पर निर्भर है। इस स्थितिदृष्टि से सूर्य्य प्रतिपत् माना जायगा, एवं स्वयम्भू आदि चारों पर्व इसके अनुचर मानें जायँगे। यही दूसरा स्थित्यात्मक प्रतिपदनुचर-भाव है। सृष्टि की दृष्टि से पादस्थानीया पृथिवी प्रतिपत् मानी जायगी, शेष चारों पर्व अनुचर मानें जायँगे। एवं यही तीसरा दृष्टयात्मक प्रतिपदनुचरभाव कहलाएगा। तात्पर्य्य–उत्पत्तिरूपा सृष्टि की अपेक्षा स्वयम्भू सर्वमूल है, एवं स्थितिरूपा सृष्टि की अपेक्षा सूर्य्य सर्वमूल है, एवं दृष्टिरूपा सृष्टि की अपेक्षा पृथिवी सर्वमूला है। क्योंकि स्थितिमूलक सृष्टिविज्ञान के अनुसार सूर्य्य ही प्रतिपत् है। अतएव तत्प्रसूता सूर्य्यस्थानीया बुद्धि को भी अवश्य ही 'प्रतिपत्' कहा जासकता है। आध्यात्मिक अव्यक्त,–महानात्मा, प्रज्ञान, भूतात्मा, चारों खण्डात्मपर्व मध्यस्था बुद्धि के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** के अनुसार बुद्धिनाश से सब कुछ विनष्ट है, एवं बुद्धिस्थिति से सबकुछ सुरक्षित है। बुद्धि के इस सर्वाश्रयभूत धर्म्म की अपेक्षा से ही इसे **'प्रतिपत्'** कहना अन्वर्थ बनता है।

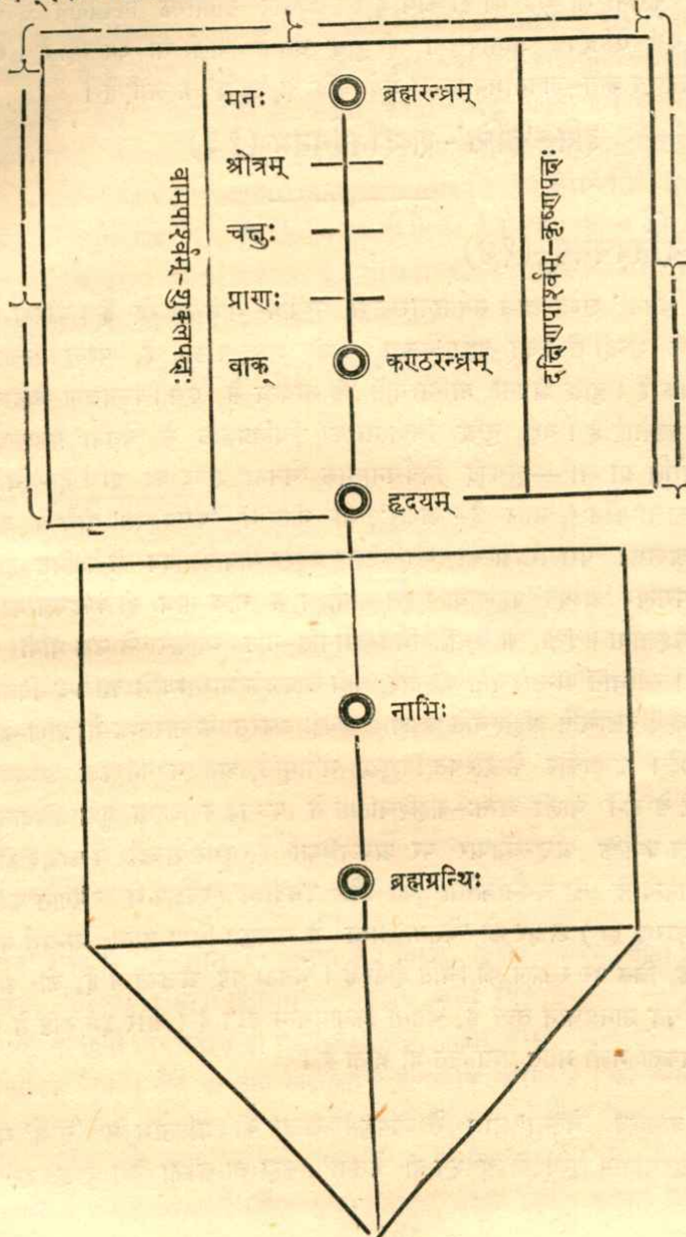
प्रतिपत् की अन्तिम सीमा का ही नाम अमावास्या है, एवं प्रतिपत् की अन्तिम सीमा का ही नाम पूर्णिमा है। अमागर्भिता तिथियों की, तथा पूर्णिमागर्भिता तिथियों की आश्रयभूमि भी यही प्रतिपत् है। प्रतिपत्स्थानीय सूर्य्य के आधार पर ही चान्द्र अमान्त–पूर्णिमान्त तिथियों का आविर्भाव तिरोभाव होता है। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समझिए। शिरोमूललक्षण ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर हृदयस्थान–पर्य्यन्त प्रदेश वह आकाश है, जिसमें चन्द्रमास्थानीय प्रज्ञानमन परिक्रमा लगाता हुआ तिथि-भावों का अनुगामी बना रहता है। हृदयस्थान में विज्ञानात्मक सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इससे ज्योति का विनिर्गम हो रहा है। प्रज्ञानमन अर्करूप से हृदय से चल कर ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त अनुधावन करता है। वहाँ से चल कर पुनः हृदयस्थान में अपीत हो जाता है। दक्षिणपार्श्व सौराग्निप्रधान होने से आध्यात्मिक कृष्णपक्ष है, वामपार्श्व चान्द्रसोमप्रधान होने से शुक्लपक्ष है। प्रज्ञानरूप चन्द्रमा का हृदयस्थान से वामपार्श्व की ओर ऊर्ध्व गमन आरम्भ हुआ। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि, शुक्लप्रतिपत्स्थानीय हृदय से चन्द्रमा वामपार्श्वानुगत शुक्लपक्ष की ओर चलने लगा। वामपार्श्व के तेजोनाड्यनुगत शुक्लपक्षगर्भित (वामपार्श्वगर्भित) कण्ठस्थान–समतुलित वाग्भाग (मुखभाग) के समीप आते आते मन आधा (एक चतुर्थांश) प्रकाशित हो गया। यही इसकी शुक्लाष्टमी कहलाई। यहाँ से क्रमशः ऊपर जाता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच गया। **'अग्निर्वाग्–भूत्वा मुखं प्राविशत्'** के अनुसार अग्निस्थानीय मुख पृथिवी (भूपिण्ड) स्थानीय माना गया है। वाक्–प्राण–चक्षु, तीनों इन्द्रियों का अग्नि–वायु–रवि से ही तो निर्म्माण हुआ है। ये तीनों क्रमशः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोक के ही तो प्राण हैं। अतएव तदात्मिका वाक् (मुख), प्राण (नासिका), चक्षुर्गोलकों को अवश्य ही आध्यात्मिक पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोक कहा जा सकता है। जब चन्द्रमा और सूर्य्य, दोनों के मध्य में भूपिण्ड आजाता है, दूसरे शब्दों में जब चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा लगाता हुआ सूर्य्य से वियुक्त होकर पृथिवी और सूर्य्य के ठीक सामने आजाता है, तभी इस पर सूर्य्य का प्रकाश पड़ता है, एवं यही पूर्णिमाकाल माना गया है। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समझिए। हृदय स्थान में विद्यात्मलक्षण सूर्य्य प्रतिष्ठित है। मुखस्थान भूपिण्ड है। ब्रह्मरन्ध्रस्थान हृदय से ठीक सामने का स्थान है। जब

यहाँ पर मनोरूप चन्द्रमा पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में जब चन्द्ररूप मन पृथिवीरूप मुखस्थान की परिक्रमा लगाता हुआ सूर्य्यरूपा बुद्धि से वियुक्त होकर पृथिवीरूप मुखस्थान की ओर बुद्धिरूप सूर्य्य के ठीक सामने आजाता है, तभी इस पर बुद्धिरूप सूर्य्य का प्रकाश पड़ता है, एवं यही इसका पूर्णिमाकाल है। यही विज्ञान-भाषा में 'जाग्रदवस्था' कहलाई है। ब्रह्मरन्ध्र से नीचे नीचे प्रतिष्ठित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्म्मेन्द्रियाँ ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित-बुद्धिज्योति से ज्योतिष्मान् बने हुए मन की ज्योति से युक्त होकर प्रकाशित होतीं हुईं स्वव्यापार आरम्भ कर देतीं हैं एवं यही जाग्रदवस्था है, जिसका आध्यात्मिक-पूर्णिमाकाल से सम्बन्ध है। ब्रह्मरन्ध्र की चरम सीमा पर पहुँच कर मन अब दक्षिणपार्श्व की ओर से हृदयाभिमुख बना। यही उपक्रमस्थान कृष्णपक्ष की प्रतिपत् तिथि कहलाया। दक्षिणपार्श्व के तेजोनाड्यनुगत-कृष्णपक्षगर्भित (दक्षिणपार्श्वगर्भित), कण्ठस्थानसमतुलित वाग्भाग (मुखस्थान) के समीप आते आते प्रकाश आधा रह गया, यही इसकी आध्यात्मिक कृष्णाष्टमी कहलाई। यहाँ आकर चेतना अन्तर्मुख बन गई। यहाँ से ऊपर की ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार तो अवरुद्ध होगया। केवल मुख, तथा हस्त-पादादि को थोड़ा प्रकाश मिला। यही आध्यात्मिक-'स्वप्नावस्था' कहलाई, जिसमें वाग्व्यापार (बड़बड़ाना), हस्त-पादादि प्रक्षेप-अस्तव्यस्तरूप से होते रहते हैं। चेतना की आत्यन्तिक अपीति नहीं है, इसलिए तो इस अवस्था को सुषुप्ति नहीं कहा जासकता। चेतना के आत्यन्तिक उद्रेक का अभाव है, इसलिए इसे जाग्रति नहीं कहा जासकता। अपितु उभयधर्म्म-समावेश से इसे 'सान्ध्यावस्था' ही माना गया है, जैसा कि-**'सन्ध्ये सृष्टिराह हि'** इत्यादि व्याससूत्र से प्रमाणित है। यहाँ से मन ज्यों-ज्यों हृदयाभिमुख होता गया, त्यों त्यों इसका इन्द्रियानुगत ऊर्ध्वभाग तमोरूप में परिणत होने लगा। जब यह हृदयस्थान में पहुँच कर सूर्य्यरूपा बुद्धि से मिल कर पुरीततिनाड़ी में चला गया, तो ऊर्ध्वभाग आत्यन्तिक रूप से तमोभाव में परिणत होगया। इन्द्रियवर्ग प्रकाश से सर्वथा वञ्चित होगया। यही तीसरी सुषुप्त्यवस्था कहलाई, जिसका-**'स्वमपीतो भवति'** निर्वचन से 'स्वपिति' शब्द के द्वारा अभिनय किया जाता है। **'दर्शः सूर्य्येन्दुसङ्गमः'** के अनुसार सूर्य्य के साथ चन्द्रमा के मिल जाने का ही नाम अमावास्या है। जब पृथिवी की परिक्रमा करता हुआ चन्द्रमा सूर्य्य की ओर चला जाता है, सूर्य्यसम्मुख होजाता है, तो इसका पितृप्राणप्रधान ऊर्ध्वभाग तो प्रकाशित होजाता है, एवं पृथिव्यनुगत अधोभाग अप्रकाशित होजाता है, यही अमावास्या है। पृथिवीस्थानीयमुख की परिक्रमा लगाता हुआ चन्द्रस्थानीय मन जब सूर्य्यस्थानीया बुद्धि की ओर चला जाता है-सम्मुख होजाता है, तो इसका बुद्ध्यनुगत-अतएव अधोलक्षण (इन्द्रियानुगत) अर्द्धभाग अप्रकाशित हो जाता है, और यही आध्यात्मिक अमावास्याकाल है। इसप्रकार अधिदैवतवत् चान्द्र-परिभ्रमणानुगता अधिदैवतसंस्था की भाँति मनःपरिभ्रमणानुगता इस अध्यात्मसंस्था में भी दर्श-पौर्णमास हुआ करता है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा प्रतिपत् ही है।

प्रकृति में सूर्य्यस्थानसंलग्न चन्द्रोपक्रमस्थान का नाम शुक्लप्रतिपत् है, एवं सौरमहिमामण्डलान्तःसीमानुगत चन्द्रावसानस्थान का नाम कृष्णप्रतिपत् है। सूर्य्यस्थान उक्थस्थान है, सूर्य्यमण्डलस्थान अर्कस्थान है। इस दृष्टि से सूर्य्य ही उभयप्रतिपत्स्वरूप बन रहा है। अतः सूर्य्य को ही प्रतिपत् कहा जायगा, चाहे वह शुक्लप्रतिपत् हो, अथवा कृष्णप्रतिपत्। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समझिए। हृदय में सूर्य्यरूपा बुद्धि उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस स्थान से संलग्न चन्द्ररूप मनका उपक्रम स्थान ही शुक्लप्रतिपत् है। हृदयस्थ उक्थ विज्ञानात्मा की रश्मियाँ ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त व्याप्त रहतीं हैं। ब्रह्मरन्ध्रानुगत विज्ञानरश्मिमण्डल ही अर्कमण्डल है। इस बुद्धिरश्मि-मण्डल की अन्तिम सीमारूप ब्रह्मरन्ध्रानुगत मनोगत्यवसान-स्थान का ही नाम

कृष्णप्रतिपत् है। इसप्रकार अधिदैवतवत् अध्यात्म में भी बुद्धिरूप सूर्य्य ही उभयप्रतिपत् का स्वरूपसमर्पक बना हुआ है। बुद्धिस्वरूपसंग्राहक 'प्रतिपत्' शब्द हमें आदेश दे रहा है कि, मुझ से (प्रतिपत् शब्द से) बुद्धि की मनोऽनुगता उस स्थिति का ग्रहण करो, जिसका आध्यात्मिक दर्श-पूर्णिमा-प्रवृत्ति से सम्बन्ध है। यही 'प्रतिपत्' शब्द का दूसरा वैज्ञानिक निर्वचन है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण होरहा है।

प्रतिपत्स्वरूपदिग्दर्शनपरिलेखः—



इति-'प्रतिपत्'-शब्दनिर्वचनम् (१२)

६६–'ज्ञप्ति'–शब्दनिर्वचनम्–(१३)

'ज्ञप-मिच' (चु० प० से०) धातु से बाहुलकात् क्तिन् प्रत्यय के द्वारा 'ज्ञप्ति' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—ज्ञान, और ज्ञापन, जैसा कि–**'अयं ज्ञाने, ज्ञापने च वर्त्तते'** इस दीक्षितपङ्क्ति से प्रमाणित है। ज्ञान का अर्थ है जानना, एवं ज्ञापन का अर्थ है 'जनाना'। इन्द्रियद्वारा संस्काररूप से प्रज्ञानमन पर आए हुए विषयों को जानना भी बुद्धि का ही काम है, एवं स्वचित्–प्रदानद्वारा प्रज्ञान मन के सहयोग से इन्द्रियों को विषयज्ञान कराना भी बुद्धि का ही काम है। इसप्रकार सांसारिक विषयबोध से वही बुद्धि जानने वाली भी बन रही है, एवं ऐन्द्रियक ज्ञानापेक्षया वही बुद्धि जनाने वाली भी बन रही है। संस्कारावच्छिन्ना, तथा इन्द्रियानुगता, अतएव ज्ञान–ज्ञापनोभयात्मिका ऐसी बुद्धि ही **'ज्ञप्ति'** कहलाई है।

इति–'ज्ञप्ति'–शब्दनिर्वचनम् (१३)

——*——

६७–'चेतना'–शब्दनिर्वचनम्–(१४)

'चित्'–और 'चेतना' शब्द आज सर्वसाधारण में पर्य्याय मानें जा रहे हैं। कारण यही प्रतीत होता है कि, बुद्धितत्त्वसंग्राहक शब्दों में चित्–और चेतना, दोनों शब्द पठित हैं, परन्तु तत्त्वतः दोनों शब्द विभिन्नार्थों के ही वाचक हैं। बुद्धि अपनी अग्निचिति के सम्बन्ध से, एवं चिल्लक्षण चिदात्मा की विकास-भूमि होने से 'चित्' कहलाई है। यही बुद्धि चिदात्मा की चितिप्रवृत्ति से 'चेतना' कहलाई है। **'चीयते-अनया सा'—'चिनोति या सा'**—इत्यादि निर्वचनात्मक 'चेतना' शब्द का अर्थ है–'चिति करने वाला तत्त्व'। चिति करने वाला कौन ?, उत्तर है–'अक्षर', जो गीता में 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सर्वबलविशिष्टरसैकघन अखण्ड परात्परब्रह्म का यत्किञ्चित् प्रदेश मायाबलोदय से सीमित हो गया। माया–वच्छिन्न वही निष्कल परात्पर 'अव्यय' कहलाया। इस मायोदय के साथ साथ ही केन्द्रबल का उदय हुआ। यही केन्द्रबल अक्षर कहलाया। इसी के स्थितिगर्भित-आगति–गति व्यापार से उस मायी अव्ययपुरुष पर रस–बल की चिति हुई। रसचिति अन्तश्चिति कहलाई, यही रसबलके तारतम्य से आनन्द–विज्ञान–भेद से दो भागों में विभक्त हो गई। बलचिति बहिश्चिति कहलाई। यही बलरस के तारतम्य से प्राण–वाक् भेद से दो भागों में विभक्त हो गई। इसप्रकार केन्द्रस्थित विशुद्ध मनोमूर्त्ति, अतएव निष्कल अव्ययपुरुष हृदयरूपा अक्षरप्रकृति के व्यापार से होने वाली अन्तः–बहिश्चितियों से पञ्चकल बनता हुआ चिदात्मा बन गया। चिदात्मा का चिदात्मत्त्व क्योंकि अक्षरव्यापार पर अवलम्बित है, दूसरे शब्दों में अक्षर ही स्वव्यापार से मनोमूर्त्ति अव्यय पर आनन्दादि का चयन करता हुआ उसे 'चिदात्म' स्वरूप मे परिणत करता है, अतएव (इस चितिप्रवृत्ति के कारण ही) अक्षर को 'चेतना' नाम से व्यवहृत किया जाना अन्वर्थ बनता है। चित् स्वयं वह अव्ययपुरुष है, जिस पर रसबल की चिति होती है। चेतना वह अक्षरतत्त्व है, जो आदान–विसर्ग–द्वारा चिति करता है। चित् ज्ञानप्रधान तत्त्व है, चेतना क्रियाप्रधान तत्त्व है। और इस दृष्टि से चित्–चेतना–शब्दों की विभिन्नार्थवाचकता भली भाँति प्रमाणित हो जाती है।

चितिप्रवर्त्तक, अतएव 'चेतना' नाम से व्यवहृत अक्षर की प्रतिष्ठाभूमि 'सूर्य्य' माना गया है। अतएव आधिदैविक बुद्धिस्थानीय सूर्य्य को अवश्य ही 'चेतना' कहा जा सकता है। बुद्धि इसी अक्षरप्रधान

सूर्य्य का अंश है। अतएव इसे भी निःसंदिग्धरूप से इस चितिप्रवृत्त्यपेक्षा से 'चेतना' कहना अन्वर्थ बन रहा है। अधिदैवत में यदि सौर अक्षरद्वारा चिदात्मा का स्वरूप विकसित होता है, तो अध्यात्म में बुद्धिभुक्त अक्षरद्वारा चिदात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है। यह चितिभाव बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। अव्ययप्रधाना आत्मचिति बीजचिति है। अक्षरप्रधाना प्राणचिति देवचिति है। क्षरप्रधाना वाक्चिति भूतचिति है। भूतचिति स्थूलशरीर की, देवचिति सूक्ष्मशरीर की, एवं बीजचिति कारणशरीर की मूलप्रतिष्ठा बनती है। इन तीनों चितियों की समष्टि ही शरीरत्रयी है। इस चितित्रय-सम्बन्ध से ही शरीरत्रयी की समष्टिरूप शरीर को 'काय' कहा गया है। इन तीनों चितियों की प्रवृत्ति मध्यस्थ अक्षरात्मा से ही हुई है। अतएव अक्षर को ही 'चेतना' कहना सार्थक बनता है। ज्ञानजनित संस्कार 'भावना' कहलाए हैं, कर्म्मजनित संस्कार 'वासना' कहलाए हैं। प्रज्ञानमनोऽनुगत-प्रज्ञाभुक्त भावनासंस्कारपुञ्ज **'विद्याचिति'** है। प्रज्ञानमनोऽनुगत-प्राणभुक्त-वासनासंस्कारपुञ्ज **'कर्म्मचिति'** है। इन दोनों प्रज्ञान-चितियों की प्रवृत्ति भी अक्षरात्मिका बुद्धि के सहयोग पर ही निर्भर है। इस दृष्टि से भी अक्षरात्मिका बुद्धि को 'चेतना' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। तात्पर्य्य-अपने प्रातिस्विक अक्षरधर्म्म की अपेक्षा से वही बुद्धितत्त्व अपने चितिप्रवर्त्तक अर्कभाव से 'चेतना' कहलाया है।

इति-'चेतना'-शब्दनिर्वचनम् (१४)



६८-'विज्ञान'-शब्दनिर्वचनम्-(१५)

अवस्थाकृत भेदनिबन्धन-पूर्व प्रतिपादित बुद्धि, मनीषा, धिषणा, आदि शब्द जिस सीमा पर्य्यन्त समानार्थक हैं, उस सीमा पर्य्यन्त इन्हें परस्पर अभिन्नार्थक भी माना जा सकता है। परन्तु एकहेलया सर्वत्र सभी स्थलों में सभी शब्दों का प्रयोग कर देना, 'कोश में पठित हैं', इस कारणमात्र से इनमें पर्य्यायसम्बन्ध मान बैठना सर्वथा तत्त्वदृष्टि-विरुद्ध है। अपने उक्थ-अर्क-रूपों से विभिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से बुद्धि-मनीषा-प्रज्ञा-आदि चौदह विवर्त्तभावों में विभक्त यह सौराक्षरात्मक बुद्धितत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में **'विज्ञानात्मा'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रसङ्गोपात्त बुद्धि के इस 'विज्ञान' शब्द का भी तात्त्विक समन्वय कर लेना चाहिए। तत्तद्विशेषाकाराकारित तत्तद्विशेष नाम हीं स्वयं अपना तात्त्विक निर्वचनार्थ हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। यही तो संस्कृतभाषा का इतर समस्तभाषापेक्षया सर्वोत्कृष्टत्व, पूर्णत्व, विलक्षणत्व, तथा विज्ञानत्व है। 'विज्ञान' शब्द स्वयं ही अपने तात्त्विक अर्थ का स्पष्टीकरण कर रहा है।

'विज्ञान' शब्द में **'वि-ज्ञान'** दो विभाग हैं। विरुद्ध, विशेष, विविध, तीनों अर्थों का 'वि' उपसर्ग से सम्बन्ध है। अतः **'विरुद्धं ज्ञानं विज्ञानम्'—'विशेषं ज्ञानं विज्ञानम्—' —'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्'** —विज्ञान शब्द के तीनों निर्वचनार्थ हो सकते हैं। ज्ञान, और कर्म्म, दोनों तत्त्वों के तीन तीन विवर्त्त मानें गए हैं। वास्तविक ज्ञान (जैसे को तैसा समझना) ज्ञानात्मक **'ज्ञान'** है। जो जैसा है, उसे उससे विरुद्ध समझना विरुद्धज्ञानात्मक **'विज्ञान'** है। अज्ञानावृत-मोह-लक्षण ज्ञान **'अज्ञान'** है। इसप्रकार 'ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान' भेद से ज्ञान के तीन विवर्त्त हो रहे हैं। वास्तविक कर्म्म (जैसा करना चाहिए, वैसा करना) कर्म्मात्मक **'कर्म्म'** है। विपरीत कर्म्म (जैसा करना चाहिए, उससे विरुद्ध करना) विरुद्ध कर्म्मात्मक **'विकर्म्म'**

है। एवं अकर्म्मावृत-आलस्य-लक्षण कर्म्म '**अकर्म्म**' है। इसप्रकार 'कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म' भेद से कर्म्म के भी तीन हीं विवर्त्त हो रहे हैं। ज्ञान कर्म्म का अनुयायी है, विज्ञान विकर्म्म का, एवं अज्ञान अकर्म्म का अनुगामी है। इस ज्ञान-कर्म्मत्रयी में पठित विज्ञान, और विकर्म्म शब्दों का 'वि' उपसर्ग 'विरुद्ध' भाव का समर्थक है, न कि विविधज्ञान, विशेषज्ञान का, एवं विविध कर्म्म, तथा विशेष कर्म्म का। कारण स्पष्ट है। ज्ञानवञ्चित कर्म्म ही विरुद्ध होता है। एवं ज्ञानविरुद्ध ज्ञान ही विरुद्ध बनता है। इसप्रकार तत्तत्-प्रकरणों की दृष्टि से ही 'वि' उपसर्ग के विरुद्ध-विविध-विशेष-भावों का समन्वय करना चाहिए। बुद्धि को '**विज्ञानात्मा**' कहा है। विज्ञानात्मा आत्मलक्षण प्राकृतिक ज्ञान है। यह विविध भावापन्न भी है, और विशेष भी है। अतः इसका 'विविधं ज्ञानं' भी निर्वचन हो सकता है, एवं 'विशिष्ट ज्ञानं' भी निर्वचन हो सकता है। परन्तु इसका 'विरुद्धं ज्ञानं' निर्वचन नहीं हो सकता। क्योंकि प्राकृतिक ज्ञान कभी विरुद्ध ज्ञान नहीं बना करता। इस दशा में 'विज्ञानात्म' पठित 'विज्ञान' शब्द के 'वि' उपसर्ग से प्रकृत में उक्त तीनों अर्थों में से 'विविध', और विशेष, ये दो ही अर्थ मानें जायँगे। और इसी दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का निर्वचन किया जायगा।

आत्मतत्त्व तत्त्वतः ज्ञानप्रधान है। ज्ञानप्रधान यह आत्मतत्त्व जिस महामायावच्छिन्न महाविश्व का आत्मा बना हुआ है, वह महाविश्व तत्त्वतः विज्ञानप्रधान है। ज्ञानात्मक आत्मा, और विज्ञानात्मक विश्व, दोनों के समन्वित रूप का ही नाम 'विश्वेश्वर' है। इस दृष्टि से सर्वव्यापक आत्मब्रह्म के दो विवर्त्त हो जाते हैं। समस्त विश्वविज्ञानों को स्वगर्भ में लीन करते हुए अपने विशुद्ध ज्ञानरूप से विकसित रहना आत्मब्रह्म का ज्ञानप्रधान प्रथम विवर्त्त है। '**सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म**' श्रुति के द्वारा इस ज्ञानप्रधान विवर्त्त का ही विश्लेषण हुआ है। समस्त ज्ञान को स्वगर्भ में लीन करते हुए अपने ज्ञानगर्भित विज्ञानरूप (विश्वरूप) से विकसित रहना आत्मब्रह्म का विज्ञानप्रधान दूसरा विवर्त्त है। '**नित्यं-विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म**' श्रुति के द्वारा इस विज्ञानप्रधान विवर्त्त का ही विश्लेषण हुआ है। सत्य-ज्ञान-अनन्तलक्षण वही आत्मा आत्मा है। नित्य-विज्ञान-आनन्दमय वही आत्मा विश्व है। आत्मलक्षण आत्मब्रह्म ज्ञानात्मा है, विश्वलक्षण आत्मब्रह्म विज्ञानात्मा है। विज्ञानगर्भित ज्ञानात्मा आत्मा है, ज्ञानगर्भित विज्ञानात्मा विश्व है। आत्मा ज्ञानप्रधान है, एक है। विश्व विज्ञानप्रधान है, विविधभावापन्न है। इसप्रकार एक ही आत्मतत्त्व अपने आत्मरूप से एकत्वलक्षण ज्ञानद्वारा 'आत्मा' बना हुआ है। एवं वही आत्मतत्त्व अपने विश्वरूप से अनेकत्वलक्षण विज्ञानद्वारा 'विश्व' बना हुआ है। आत्मविज्ञान 'ज्ञान' है, विश्वज्ञान विज्ञान है। एकत्वनिबन्धन आत्मविज्ञान ज्ञान है, अनेकत्वनिबन्धन विश्वज्ञान विज्ञान है। सृष्टिदशा में ज्ञान ही विज्ञान है। मुक्तिदशा में विज्ञान ही ज्ञान है। तात्पर्य्य-एक से अनेक की ओर आना-विविध भावानुगमन करना 'विविधं ज्ञानं' लक्षण 'विज्ञान' है। यही सृष्टिदशा है। अनेक से एक की ओर जाना 'ज्ञान' है, यही मुक्तिदशा है। एक अनेक कैसे बन गया ?, इस रहस्य को जानना भी विज्ञान है। एवं अनेक एकरूप में कैसे परिणत हो जाता है ?, इस रहस्य को जानना भी ज्ञान है। एक आत्मब्रह्म अनेकरूपों में परिणत कैसे हो गया ?, यही भारतीय विज्ञानपरिभाषा है। नानाभावापन्न विश्व एक आत्मरूप में कैसे परिणत हो जाता है ?, यही भारतीय ज्ञानपरिभाषा है। आत्मविद्या ज्ञान है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ज्ञानशास्त्र है। विश्वविद्या विज्ञान है; तत्प्रतिपादक शास्त्र विज्ञानशास्त्र है। कर्म्मात्मक विश्वविज्ञान-प्रतिपादक संहितायुक्त ब्राह्मणारण्यकभाग विज्ञानशास्त्र है। ज्ञानात्मक आत्मज्ञानप्रतिपादक उपनिषद्भाग

ज्ञानशास्त्र है। परन्तु हमारा गीताशास्त्र आत्मदृष्ट्या सर्वमूलभूत अव्ययज्ञान का, तथा कर्म्मदृष्ट्या सर्वमूलभूत बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ 'ज्ञानविज्ञानशास्त्र' है, जैसा कि निम्न लिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

—गीता ७।२।

सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का मूलभूत आत्मतत्त्व एक, वही–**'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'** सिद्धान्तानुसार विश्वरूप में परिणत हुआ। उस एक आत्मतत्त्व से उत्पन्न विश्व नानागुण–धर्म्मों से आक्रान्त कैसे हो गया?, विभिन्न गुण–धर्म्मों के द्वारा विविधज्ञानात्मक बनता हुआ विश्व विज्ञानरूप में कैसे परिणत हो गया?, जबकि इसका मूल एक था?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका निराकरण अक्षरद्वारा किया गया है। आत्मा अव्ययप्रधान है, समभावात्मक है, एकरूप है, यह सब कुछ ठीक है। परन्तु महामायी अव्यय के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृद्बलमूर्त्ति योगमायात्मक अक्षर योगमायानुगत त्रैगुण्य धर्म्म के कारण नानाभावात्मक है। **'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया'** सिद्धान्तानुसार योगमायात्मिका, अतएव त्रिगुणभावमयी, इस अक्षरप्रकृति के द्वारा ही वह महामायी, अतएव गुणातीत, अतएव निर्द्वन्द्व, अतएव एकरूप, अतएवच ज्ञान–प्रधान अव्ययात्मा विश्वसर्ग में प्रवृत्त होता है। इस गुणात्मक, अतएव नानाभावापन्न अक्षर के सम्बन्ध से ही एक भी आत्मा नानाभाव में परिणत होता हुआ 'विविधं ज्ञानलक्षण विज्ञानस्वरूप में भुक्त हो जाता है। अक्षर की विकासभूमि सूर्य्य है। यही व्यक्तीभाव के द्वारा विविध ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता है। सूर्य्यप्रादुर्भाव से पहिले पहिले 'इदं सर्वम्' एकाकार बनता हुआ अव्यक्तावस्था में ही परिणत रहता है। सूर्य्य ही अव्यक्त को नाना व्यक्तभावों में प्रकट करता है। क्योंकि अक्षरात्मक सूर्य्य ही विविध व्यक्तियों को अभिव्यक्त करता हुआ आत्मज्ञान को विविधज्ञानलक्षण विज्ञानस्वरूप प्रदान करता है, अतएव इसे हम अवश्य ही आधिदैविक **'विज्ञानात्मा'** कह सकते हैं। विश्वविज्ञानप्रतिष्ठाभूत सौर विज्ञान सहस्र रश्मियों के सहस्रधा व्यूहन से आगे जाकर अनन्त विज्ञानभावों में परिणत होता हुआ अपने विज्ञानधर्म्म को व्यक्त कर रहा है। चान्द्रसुषुम्णा–नाड़ी के द्वारा अध्यात्मसंस्था में ब्रह्मरन्ध्रद्वार से भुक्त यह सौर विज्ञानात्मा ही आध्यात्मिक सूर्य्य है, जिसे हम 'बुद्धि' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। सुषुम्णानाड़ी के द्वारा आकाशस्थ नक्षत्र–ग्रहादि का भी रस अध्यात्म में भुक्त होता है, जो रस विभिन्न शक्तिगुण–धर्म्मोपेत है। अतएव तद्युक्ता बुद्धि भी तत्तद्विशेषरसानुगत गुण-धर्म्मभावों से युक्त हो जाती है। इस विशेष गुणधर्म्मसमावेश से विविधज्ञानलक्षण विज्ञान विशेषज्ञानलक्षण भी बन जाता है। इसप्रकार विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि विविध ज्ञानमयी भी बन जाती है, एवं विशेषज्ञानमयी भी बन जाती है। प्रत्येक प्राणी की बुद्धि विभिन्न, प्रत्येक विभिन्न प्राणी की विभिन्न बुद्धि विविध ज्ञानमयी, और विशेषज्ञानमयी। यही तो विविध–विशेष ज्ञानलक्षण विज्ञान का विज्ञानत्त्व है। श्वानप्राण विज्ञान की विशेष योगयता रखता है। इसी के बल पर यह पलायित चोर का अन्वेषण करने में समर्थ हो जाता है। ज्ञानगर्विष्ठ पुरुष में इस विशेषज्ञान का अभाव है। काक भविष्यविज्ञान का वेत्ता है। मूषक पार्थिव रस का परिज्ञाता है–**'आखवो ह वै अस्या रसं विदुः'** (शत०)। मयूर वर्षाविज्ञान से परिचित हैं। गृद्ध दृष्टिविज्ञान में निष्णात हैं। इसप्रकार प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा विविधज्ञान–योग्यता के साथ साथ विशेषज्ञान से युक्त हो

रहा है। इसी विशेष प्राकृतिक विज्ञान के तारतम्य से एक विद्वान् भी सभामञ्च पर कुण्ठित हो जाता है, एक मूर्ख भी अच्छा बोल लेता है। इसी विज्ञान की कृपा से दिन भर बोझ ढोहने वाला एक श्रमजीवी जहाँ चार छ आना मात्र प्राप्त करता है, वहाँ एक न्यायाधीश थोड़े परिश्रम से प्रभूत वेतन का अधिकारी बन रहा है। मूल्य विज्ञान का है, प्रज्ञान का नहीं। प्रज्ञान (मन) पार्थिव अन्न से उत्पन्न होता हुआ अपने घर की वस्तु है। **'अतिपरिचयादवज्ञा'** इस लोकसूक्ति के अनुसार घर की वस्तु विशेष सम्मान नहीं पाती। विज्ञान सूर्य्य की वस्तु है, विदूर की वस्तु है। अतएव उसका विशेष समादर होता है। प्रज्ञानमन सब पार्थिव प्राणियों में समान है। अतएव तदनुगत आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि धर्म्म प्राणिमात्र में समान हैं। इन में कोई विशेषता नहीं है। यदि हमनें अच्छे से अच्छा खा लिया, सोते रहे, डरते रहे, विषयपरायण बन कर जीवन बिता दिया, तो एक गर्दभ में और हमारे में क्या अन्तर हुआ—**'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'**। विशेषता तो विशेषगुणशालिनी बुद्धि से ही सम्बन्ध रखती है। इसी विशेषबुद्धि के कारण प्रज्ञानद्वारा समधरातल पर भी प्रतिष्ठित रहने वाले मानवसमाज में गुरु-शिष्य-राजा-प्रजा-स्वामी-सेवक-आदि विशेष भेदव्यवहार प्रतिष्ठित रहते हैं। श्रमजीवी का यह दावा कि, हमें अतिपरिश्रम करने पर भी थोड़ा मिलता है, और न्यायाधीश थोड़े श्रम से ही आशातीत प्राप्त कर लेता है, इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि, उसमें उस विशेष बुद्धि का अभाव है, जिसका मूल्य आँका जाता है। हाँ-प्रज्ञानसम्मत आहारादि धर्म्मों में वह, और न्यायाधीश समान है। अन्नचिन्ता में दोनों समानधर्म्मा हैं। यदि श्रमजीवी की अन्नचिन्ता भी उसके श्रम से दूर नहीं होती, तो यह विशेषबुद्धिशाली-राष्ट्रसञ्चालकों का अन्याय है। अन्न-वस्त्र-मर्य्यादा से सब समतुलित, यही भारतीय साम्यवाद है। व्यवहारमर्य्यादा से सब अपने अपने नियत क्षेत्र में प्रतिष्ठित, यही समदर्शनानुगता, किन्तु विषमव्यवहारमूला विज्ञानसिद्धा भारतीय साम्यवादपद्धति है, जिसमें विज्ञान-प्रज्ञान, दोनों का एकत्र समन्वय हो रहा है। अस्तु, प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, अक्षरानुगत बुद्धितत्त्व 'विविधज्ञान' तथा 'विशेषज्ञान', के सम्बन्ध से ही 'विज्ञान' नाम से व्यवहृत हुई है। बुद्धि को विज्ञान शब्द से उसी दशा में व्यवहृत किया जायगा, जब कि बुद्धि के विविधज्ञानभाव, तथा विशेषज्ञानभाव की अपेक्षा होगी। बुद्धि-शब्दवत्, तथा प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा-शब्दों की भाँति 'विज्ञान' शब्द का भी उक्थभाव से ही सम्बन्ध है। इसप्रकार निरूपित १५ शब्दों में से बुद्धि, प्रज्ञा, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चित्, संवित्, प्रतिपत्, विज्ञान, इन नौ शब्दों का तो उक्थभाव से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है, एवं मनीषा, धिषणा, धीः, शेमुषी, ज्ञप्ति, चेतना, इन ६ शब्दों का अर्कभाव से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। और यही बुद्धितत्त्वसंग्राहक शब्दों का संक्षिप्त निर्वचन है, जिसे यथावत् लक्ष्य बनाए बिना 'बुद्धि' तत्त्व के तात्त्विक स्वरूप पर दृष्टि नहीं जा सकती।

इति-'विज्ञान'-शब्दनिर्वचनम् (१५)

६६-'योग'-शब्दनिर्वचनोपक्रम—

'बुद्धि' शब्द के अनन्तर 'योग' शब्द की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। यह स्मरण रखने की बात है कि, जिस प्रकार विशुद्ध **अव्ययात्मा**[1], अव्ययगर्भित **अक्षरात्मा**[2], अक्षरगर्भित **आत्मक्षरात्मा**[3], आत्मक्षरगर्भित **विकारक्षरात्मा**[4], इन चार आत्मविवर्त्तों का क्रमशः **स्मार्त्ती उपनिषत् (गीता)**[1], **श्रौती**[2]

उपनिषत् (ईशादि) [3]आरण्यक, [4]ब्राह्मणभाग से (एवं उप[1]निषदनुगत शारीरकदर्शन, [2]आरण्यकानुगत [3]प्राधानिकदर्शन, ब्राह्मणानुगत, [4]वैशेषिकदर्शन का क्रमिक सम्बन्ध माना जा सकता है), तथैव अव्ययानुगत **'बुद्धियोग,'** अक्षरानुगत **'ज्ञानयोग,'** आत्मक्षरानुगत **'भक्तियोग,'** एवं विकारक्षरानुगत **'कर्म्मयोग,'** इन चारों योगों का भी इन्हीं चारों शास्त्रों से क्रमिक सम्बन्ध है । आत्मा ब्रह्म है, योग कर्म्म है । चारों हीं शास्त्रों नें यद्यपि ब्रह्मकर्म्मसमष्टि का ही निरूपण किया है । तथापि चारों में प्रतिपादित ब्रह्म-कर्म्मद्वन्द्व विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं । अव्ययात्मा केवल गीता का प्रतिपाद्य विषय है, अतएव गीता में ही 'अव्यय' तत्त्व की स्पष्टरूप से उपलब्धि हुई है । 'बुद्धियोग' का विश्लेषण केवल गीता में हीं हुआ है । यही कारण है कि 'बुद्धियोग' शब्द भी केवल गीताशास्त्र में हीं प्रयुक्त हुआ है । योग, ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, राजयोग, हठयोग, जपयोग, अमनस्कयोग, ध्यानयोग, आदि आदि योगों के नाम तो सर्वत्र उपलब्ध होते हैं । परन्तु सम्पूर्ण वेदशास्त्र का, तथा दर्शनशास्त्र का अन्वेषण कर जाइए, गीता को छोड़ कर कहीं भी आपको 'बुद्धियोग' शब्द उपलब्ध नहीं होगा । यही कारण है कि, गीताशास्त्र को दर्शनशास्त्र की प्रतिच्छाया से युक्त कर इसकी व्याख्या करने वाले व्याख्याताओं की, एवं तदनुगामी गीताभक्तों की दृष्टि में गीता का यह वास्तविक सिद्धान्तरूप 'बुद्धियोग' नामक योग तिरोहित बना रहा । सभी व्याख्याताओं नें गीताप्रतिपादित योग का अर्थ-ज्ञान, भक्ति, कर्म्म, तीन योगों पर विश्रान्त मान लिया । और इसप्रकार विज्ञानदृष्टि के अभाव से, तथा तथा दार्शनिकदृष्टि के अनुग्रह से विगत शताब्दियों से गीता का अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग सिद्धान्त सर्वथा गुप्त ही बना रह गया ।

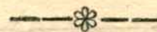
७०-गीताशास्त्रानुगत'योग' शब्द का अन्वेषण—

गीता में तीन स्थलों पर तो अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग का 'बुद्धियोग' नाम से ही संग्रह हुआ है । तीन के अतिरिक्त इस बुद्धियोग के लिए केवल 'योग' शब्द व्यवहृत हुआ है । गीतोक्त विशुद्ध योग शब्द केवल बुद्धियोग का ही वाचक है । निम्न लिखित वाक्यों में पठित योग शब्द 'बुद्धियोग' का ही संग्राहक बना हुआ है—

१—दूरेण ह्यवरं कर्म्म-'बुद्धियोगात्'-धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। (गीता० २।४६।) ।

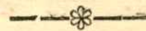
२—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ।। (गीता० १०।१०।) ।

३—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि सन्यस्य मत्परः ।
'बुद्धियोग'-मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। (गीता० १८।५७।) ।



१—एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः, योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ।। (गीता० २।३६) ।

२—योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्त्वं 'योग' उच्यते ॥ (गीता० २।४८।)।
३—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्मात् 'योगाय' युज्यस्व 'योगः' कर्म्मसु कौशलम् ॥ (गीता० २।५०।)।
४—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यसि निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा 'योग'मवाप्स्यसि ॥ (गीता० २।५३।)।
५—इमं विवस्वते 'योगं' प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (गीता० ४।१।)।
६—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता 'योगो' नष्टः परन्तप ! ॥ (गीता० ४।२।)।
७—स एवायं मया ते ऽद्य 'योगः' प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तो ऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (गीता० ३।४।)।
८—तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं 'योग'-मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥ (गीता० ४।४२।)।
९—मय्यासक्तमनाः पार्थ ! 'योगं' युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ (गीता० ७।१।)।
१०—एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सो ऽविकम्पेन 'योगेन' युज्यते नात्र संशयः ॥ (गीता० १०।७।)।
११—ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव 'योगेन' मां ध्यायन्त उपासते ॥ (गीता० १२।६।)।
१२—धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
'योगेना'-व्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ (गीता० १८।३३।)।
१३—व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
'योगं' योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥ (गीता० १८।७५।)।



१—संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
'योगयुक्तो' मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता० ५।६।)।

२—'योगयुक्तो' विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (गीता ५।७।) ।

३—नैते सृती पार्थ ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु 'योगयुक्तो' भवार्जुन ! ॥ (गीता ८।२७।) ।

४—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते 'योगयुक्तात्मा' सर्वत्र समदर्शनः (गीता ६।२६।) ।

५—मय्यावेश्य मनो ये मां 'नित्ययुक्ता' उपासते ।
श्रद्धया परमोपेतास्ते मे 'युक्ततमा' मताः ॥ (गीता १२।२।) ।

६—योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥ (गीता ४।४१।) ।

७—आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ (गीता ६।३।)

८—यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गीता ६।४।) ।

—:□०□:—

१—कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ (गीता ५।११।) ।

२—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
'युक्त' इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (गीता ६।८।) ।

३—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स 'योगी' परमो मतः ॥ (गीता ६।३२।) ।

४—तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ (गीता ६।४६।) ।

———○*○———

१—कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (गीता २।५१।) ।

२—इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ! ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ! ॥ (गीता १५।२०।) ।

———*———

७१–सिद्ध बुद्धियोग, एवं साध्य बुद्धियोग का तारतम्य—

उक्त वचनप्रामाण्यानुसार हमें 'बुद्धियोग' शब्द के–'योग' शब्द का निर्वचन करते हुए 'बुद्धियोग' नामक गीता के 'समत्त्वयोग' को ही आधार बनाना पड़ेगा। 'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है–'मेल' 'सङ्गति'। अमुक का अमुक से योग है, इसका अर्थ है–अमुक का अमुक से मेल है। मेल दो भावों की अपेक्षा रखता है। फलतः 'योग' शब्द की द्विनिष्ठता सिद्ध होजाती है। द्विनिष्ठ यह योग सिद्ध, साध्य, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। दो वस्तुओं का मिल कर एकरूप बन जाना 'सिद्धयोग' है। एवं दो वस्तुओं का मेल कराने वाली द्विनिष्ठा क्रिया 'साध्ययोग' है। वस्तुतः सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो योग का साधनमात्र है। तथापि सिद्धयोगार्थ प्रवृत्ता यह साध्य–योगानुगता क्रिया भी ताच्छब्द्यन्याय से 'योग' कहलाने लग गई है। सिद्धावस्थापन्न योगावाचक योग शब्द **'युज–समाधौ'** (दि० आ० अ०) धातु से घञ् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है। एवं साध्यावस्थापन्न योगक्रियावाचक योगशब्द **'युजिर्–योगे'** (रु० उ० अ०) धातु से घञ् प्रत्यय के द्वारा सम्पन्न हुआ है। मेल योग है, यही सिद्धयोग है, यही गीता की 'समाधि' अवस्था है*। मेल कराने वाली क्रिया साध्ययोग है, योगप्रवर्त्तिका क्रिया है। सिद्धयोगानुगत योगी गीता के शब्दों में 'आरूढ–युक्त' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। एवं साध्ययोगानुगत योगी 'आरुरुक्षु–युञ्जान–' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। सिद्धयोग नित्य है, शाश्वत है, अव्ययविशिष्ट है। साध्ययोग के द्वारा ही इस सिद्धयोग की प्राप्ति होती है। **'ददामि बुद्धियोगं तम्'** का बुद्धियोग वह सिद्धयोग है, जो साध्यबुद्धियोग के अनुष्ठाता को अव्ययात्मा के द्वारा कालान्तर में प्राप्त होता है। तभी तो उस के लिए-'ददामि' कहना अन्वर्थ बनता है। **'तत्स्वयं योग-संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (गी० ४।३८) वाक्य में पठित **'योगसंसिद्धः'** वाला योग साध्ययोग है, एवं **'कालेनात्मनि विन्दति'** वाला योग सिद्धयोग है। **'तदा योगमवाप्स्यसि'** (२।५३।) वाला योग 'सिद्ध–योग' है। एवं-**'दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय'** (२।४६।) वाला योग साध्ययोग है। **'योगाय युज्यस्व'** (गी०२।५०।) का **'योगाय'** सिद्धयोग की ओर सङ्केत कर रहा है, एवं–**'युज्यस्व'** शब्द साध्ययोग को लक्ष्य बना रहा है, जिस साध्ययोग का (क्रियात्मक योग का) **'योगः कर्म्मसु कौशलम्'** (गी० २।५०) इस उत्तरवाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

७२–सिद्धयोगानुगत कृतात्मा, एवं साध्ययोगानुगत विधेयात्मा—

सिद्धयोगावस्थापन्न आरूढ युक्त योगी 'कृतात्मा' कहलाया है, एवं साध्ययोगावस्थापन्न आरुरुक्षु–युञ्जानयोगी–'विधेयात्मा' कहलाया है ÷। रागद्वेषपरित्यागपूर्वक संयमद्वारा नियतकर्म्मलक्षण साध्य–

---

* श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
—गी० २।५३।

÷ १–पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।
—मुण्डकोप० ३।२।२।

२–रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
—गीता २।६४।

बुद्धियोगानुष्ठान में प्रवृत्त रहने वालों का विधेयात्मा शनैः शनैः अव्ययात्मक कृतात्मा के प्रसादगुण की ओर अग्रेसर होता हुआ विकसित होता जाता है। विकास की चरमावस्था में पहुँच कर जब यह विधेयात्मा कृतात्मरूप में परिणत होजाता है, तो उस स्थिति (सिद्धयोगस्थिति) में पहुँचने पर अव्ययात्मा के पूर्ण प्रसाद (विकास) से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होजाती है। चिद्ग्राहिका बुद्धि सर्वथा स्थिर होजाती है। यही सिद्धयोगाविर्भावकाल माना गया है *।

७३—योगवञ्चित विमूढात्मा, और उनका प्राकृत विषययोग

तीसरा विभाग **'विमूढात्मा'** का है। पहुँचे हुए कृतात्मा हैं, पहुँचने की इच्छासे तदनुगत मार्ग पर आरूढ विधेयात्मा हैं। दोनों बुद्धियोगसम्पत् से युक्त हैं। एक युक्त हैं, दूसरे युञ्जान हैं। बुद्धि के अव्ययानुगत होने मात्र से विधेयात्माओं में पहुँचने की इच्छा जाग्रत हो पड़ती है। परन्तु जिनकी बुद्धि मर्त्यप्रधान विषयों में आसक्त रहती हुई अव्यययोग से वियुक्त रहने के कारण अयुक्त है, अतएव जिनकी बुद्धि विषयों में आत्म-समर्पण करती हुई अपना स्वरूप ही खो बैठी है, उन आत्मानुग्रहवञ्चित-विषयभोगपरायण व्यक्तियों में पहुँचने की इच्छा भी नहीं होती। ऐसे ही व्यक्ति सर्वज्ञानविमूढ कहलाए हैं, जिन्हें भगवान् की ओर से **'विद्धि नष्टानचेतसः'** यही पुरस्कार मिला है। ऐसे ही महापुरुष ! विमूढात्मा कहलाए हैं ÷। बुद्धियोगवञ्चित इन विमूढात्माओं को कभी शान्ति-सुख उपलब्ध नहीं होसकते। क्योंकि—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्ति, रशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

—गी० २।६६।

अयुक्ता बुद्धि भावनाशून्या है। किसकी भावना ?, कर्म्मात्मक अव्ययपुरुष की भावना। ब्रह्म-कर्म्म-भावनारूप अव्यय ही तो प्रसादलक्षणा स्थिरशान्ति का प्रवर्त्तक है। जब उसके योगरूप बुद्धियोग का ही अभाव है, तो शान्ति कैसे, और क्यों मिले ?। अस्तु इन सब विषयों का स्वयं मूलभाष्य में विस्तार से विश्लेषण

***—प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥

—गीता २।६५

÷ सम्भवतः इसी विज्ञानदृष्टि के आधार पर शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय (बल्लभसम्प्रदाय) ने जीव वर्ग के पुष्ट, मर्य्यादित, प्रवाही, भेद से तीन विवर्त्त मानें हैं। लोक-विषयों में रत-जायस्व-म्रियस्व-लक्षण जन्म-मृत्युप्रवाह में प्रवाहित-भगवदनुग्रहवञ्चित यथाजात अज्ञानी जीव प्रवाही हैं, ये ही विमूढात्मा हैं। शास्त्रीय-मर्य्यादामार्ग पर आरूढ गुणज्ञ जीव मर्य्यादित हैं। ये ही विधेयात्मा हैं। भगवदनुग्रहलक्षण 'पोष' से युक्त शुद्ध-जीव 'पुष्ट' हैं, ये ही कृतात्मा हैं। षड्विध भगों के सम्बन्ध से भगवान् बने हुए अव्ययात्मानुग्रह से अनुगृहीत सिद्धावस्थापन युक्त योगी ही पुष्ट हैं। अव्ययात्मप्राप्ति के शास्त्रीय मार्ग में आरूढ-साध्यावस्थापन्न युञ्जान योगी हीं मर्य्यादित हैं। एवं अनुग्रहवञ्चित-सर्वज्ञानविमूढ संसारप्रवाहनिमग्न जीव ही प्रवाही हैं। क्या वर्त्तमानयुग में शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय में ये तीनों विभाग इसी रूप से संगृहीत हैं ?, त एव प्रष्टव्याः।

होने वाला है । प्रकृत में तो हमें उस 'योग' शब्द की ही मीमांसा करना है, जो योग द्विनिष्ठ बना हुआ है । किसका किसके साथ योग ?, यह प्रश्न उपस्थित है, जिसका उत्तर है–अव्ययात्मा के साथ विद्याबुद्धि का योग । क्या प्रस्तुत दशा में बुद्धि का अव्यय के साथ योग नहीं है ?, है और अवश्य है । बिना योग के तो प्रज्ञान एवं इन्द्रियादि का व्यापार ही नहीं हो सकता । फिर 'योग' की क्या अपूर्वता रही ? । उत्तर उक्तप्राय है । साधारण दशा में अव्यय का बुद्धि के साथ योग है, बुद्धि का अव्यय के याथ योग नहीं है । और एवंविध योग का पर्य्यवसान आसक्तिमूलक विषयों पर ही विश्रान्त है । अतएव इस यथाजात मानवानुगत प्राकृत योग को 'बुद्धियोग' न कह कर 'विषययोग' ही कहा जायगा ।

७४–विषययोगानुगता आत्मपर्वपरम्परा—

अध्यात्मपर्वपरम्परा को लक्ष्य बना कर विषय का समन्वय कीजिए । सब से प्रथम स्थान अव्ययात्मा का है ! इससे आगे स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा प्रतिष्ठित है । तदनन्तर पारमेष्ठ्य महानात्मा प्रतिष्ठित है । अव्यक्तात्म-गर्भित महानात्मा में अव्ययात्मा गर्भीभूत है । अतएव अव्यय–अव्यक्त–महान्, तीनों की समष्टि को एक विभाग माना जायगा । एवं अव्यक्तगर्भित महानात्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित अव्ययात्मपर्य्यन्त अव्ययात्मा की ही प्रातिस्विक सत्ता मानी जायगी । इससे आगे विज्ञानात्मा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है । अनन्तर प्रज्ञानात्मा (मन) प्रतिष्ठित है । प्रज्ञान और इन्द्रियवर्ग के मध्य में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण देही भूतात्मा (जीवात्मा) प्रतिष्ठित है । अनन्तर इन्द्रियवर्ग, अनन्तर शरीर, और सर्वान्त में बाह्य भौतिक विषयप्रपञ्च । अव्यय का योग हुआ बुद्धि से, बुद्धि का मन से, मन का भूतात्मा से, भूतात्मा का इन्द्रियों से, एवं इन्द्रियों का शरीरद्वारा बाह्य-विषयों से । इस पारम्परिक योग का तात्पर्य्य यही हुआ कि, इन्द्रियों की विषयज्ञानशक्ति इन्द्रियों में भूतात्मा से, भूतात्मा में मन से, मन में बुद्धि से, एवं बुद्धि में अव्यय से आई है । जिसका फलितार्थ यह निकला कि, बुद्धि–मन–भूतात्मा–इन्द्रिय–शरीर–द्वारा अव्यय का योग बाह्य विषयों पर विश्रान्त है । मूल से प्रवाहित ज्ञान-स्रोत विषयों पर जाके रुकता है । अतएव इस योग को 'विषययोग' कहा जायगा । **'अन्ते मतिः सा गतिः'** न्याय से इस अव्यययोगात्मक बुद्धि–मनः–भूतात्मा–इन्द्रिय–शरीर–विषयानुबन्धी बुद्धियोग–मनोयोग–भूतात्मयोग–इन्द्रिययोग–शरीरयोग–विषययोग–इन सब स्वाभाविक योगों की गति अन्तिम योगस्थानीय विषय-योग ही बन रहा है ।

७५–बुद्धियोगस्वरूपदिग्दर्शन—

विषययोग का परिणाम क्या हुआ ? । स्वाभाविक अव्यययोग के स्वाभाविक विकास का तिरोभाव । कैसे ?, श्रूयताम् ! बुद्धिपर्य्यन्त तो अव्ययविकास स्वस्वरूप से सुरक्षित रहा । परन्तु प्रज्ञान पर पहुँच कर इसका स्वरूप आवृत हो गया । मन पर विषयसंस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं । संस्कार विजातीय हैं । इन संस्कारों से युक्त प्रज्ञान मन से मन सबल बना हुआ है । अतएव तत्प्रतिबिम्बिता बुद्धि निर्बल बनती हुई अपने आपको मन के प्रति समर्पित किए हुए है । दूसरे शब्दों में बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर मनोरूप में परिणत हो रही है । संस्कारावरणावृता, स्वस्वरूपविच्युता, मनोऽनुगता, अतएव मनोवत् इन्द्रियद्वारेण विषयसंसक्ता यही बुद्धि अविद्याबुद्धि कहलाई है, जिसमें रागद्वेषात्मिका आसक्ति, अज्ञानलक्षणा अविद्या, अधर्मलक्षण अभिनिवेश, एवं अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता, ये चार पाप्मा उदित रहते हैं । इन चारों अविद्याविपर्य्ययों के उदय से (जो

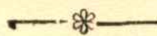
आगन्तुक हैं) बुद्धि के स्वाभाविक अनासक्तिलक्षण वैराग्य, विद्यालक्षण ज्ञान, नियत्याचरणलक्षण धर्म्म, विकारलक्षण ऐश्वर्य्य, चारों विद्याओं का अभिभव हो रहा है। अव्यय स्वस्वरूप से प्रकाशयुक्त है। किन्तु अविद्यावरण से वह भी उसी प्रकार मलीमस बना रहता है, जैसेकि स्वस्वरूप से श्वेतवर्ण भी सौरप्रकाश कृष्णवर्णरञ्जित आदर्श (काच) के भीतर प्रविष्ट होकर कृष्णवर्णात्मक बन जाता है। इसप्रकार संस्कारों के अनुग्रह से अव्ययात्मा, और विद्याबुद्धि, दोनों के मध्य में अविद्यावरण उपस्थित हो रहा है। इस मध्यस्थ विजातीय आवरण से अव्ययात्मयोग स्वाभाविक विद्यायोग के स्थान में अविद्यायोगात्मक बन रहा है। यही अव्ययात्मा के स्वाभाविक विकास के तिरोभाव का मूल कारण है। यहाँ आकर यह कहा जा सकता है कि, अव्यय का न तो बुद्धि के साथ ही योग है, न बुद्धि का अव्यय के साथ ही योग है, अपितु अविद्या के साथ ही बुद्धि का योग है। अविद्यात्मक इस अव्यययोग, एवं बुद्धियोग से न तो अव्यय का विद्याभाग ही विकसित रहता, एवं न बुद्धि का विद्याभाग ही विकसित रहता। अविद्या विषयसंस्काररूपा है। अतएव तद्रूप अव्यययोग, तथा बुद्धियोग, दोनों वस्तुगत्या विषययोग ही बन रहे हैं। यही विषययोग अशान्ति-दुःख-क्लेशादि की प्रवृत्ति का मूलकारण है। तन्निराकरणार्थ विद्यायोग अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थ साध्यलक्षण बुद्धियोग अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थ रागद्वेषादि के परित्यागपूर्वक कर्म्मानुष्ठान अपेक्षित है, तत्प्राप्त्यर्थ ब्रह्मचर्य्य-तपः-सत्य-वेदानुपालन-अहिंसादि विद्याविभूतियों का अनुगमन अपेक्षित है। तभी उक्तलक्षण कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्ति होगी। तभी बुद्धि का साध्यलक्षण योग होगा, तभी अव्ययात्मा का विद्याभाग विकसित होगा, तभी **'तदा योगमवाप्स्यसि'** के अनुसार सिद्धावस्थापन्ना बुद्धियोगसम्पत्-प्राप्त हो सकेगी, एवं तभी अशान्ति-दुःख-क्लेशादि की आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव बन सकेगी, जिसके लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इत्थंभूत विद्यात्मक 'योग' से युक्ता बुद्धि ही **'बुद्धियोग'** नाम से व्यवहृत हुई है। यही 'बुद्धि' और 'योग' शब्दों से कृतरूप 'बुद्धियोग' का संक्षिप्त स्वरूपनिर्वचन है, जिसके चार विवर्त्त हो रहे हैं। एक ही बुद्धियोग के चार विवर्त्त कैसे हो गए?, इस प्रश्न का उत्तर है-'विद्यातत्त्व'। योगस्वरूपसम्पादक विद्यातत्त्व क्योंकि चतुर्द्धा विभक्त है, अतएव तदनुगत, किंवा तद्रूप बुद्धियोग भी चार ही विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। अगले प्रकरण में इन्हीं चारों विद्याविवर्त्तों का, तथा तदनुगत चारों बुद्धियोगों का विश्लेषण अपेक्षित है।

इति—बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे

'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्' नामकः

चतुर्थस्तम्भः

(१)—४



श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

"बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

——*——

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक–पूर्वखण्ड–का

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमप्रकरण–उपरत

१



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक–पूर्वखण्ड–का

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन'

नामक

द्वितीयप्रकरण

२



श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे

'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
प्रथमस्तम्भः

(२)-१

------*------

श्रीः

धर्म्मबुद्धियोगानुगतम्–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

प्रथमस्तम्भः

——❀——

१–भारतीय शास्त्र के चतुर्द्दश (१४) विवर्त्त—

'बुद्धियोग' शब्द का मूलाधार क्या है ?, 'बुद्धियोग' शब्द का क्या अर्थ है ?, 'बुद्धियोग' ही गीता का तात्त्विक सिद्धान्त क्यों माना गया ?, इत्यादि प्रश्नों का पूर्वप्रकरण में समाधान करने की चेष्टा की गई। अब प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धियोगानुगता विद्याचतुष्टयी के, एवं तदनुगता बुद्धियोगचतुष्टयी के स्वरूपविश्लेषण की चेष्टा हो रही है। इस विद्याचतुष्टयी की, तथा योगचतुष्टयी की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि 'विद्या' तत्त्व है, अतः सर्वप्रथम 'विद्या' शब्द के तात्त्विक स्वरूपपरिचय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। सर्वप्रथम लौकिक-व्यवहारदृष्टि से 'विद्या'-शब्दार्थ का समन्वय कीजिए। लोक में यह प्रसिद्ध है कि, 'अमुक व्यक्ति चौदह विद्यानिधान है'। शक्तिग्राहकशिरोमणि * इस लोकानुगत वृद्धव्यवहार से विदित होता है कि, शब्दराशिरूप विभक्त चौदह शास्त्रों का ही नाम ही चौदह विद्या है। भारतीय चौदह विद्याओं के ये विभाग क्रमशः इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं—१-शिक्षा, २-कल्प, ३-व्याकरण, ४-निरुक्त, ५-ज्योतिष, ६-छन्द, ७-ऋग्वेद, ८-यजुर्वेद, ९-सामवेद, १०-अथर्ववेद, ११-मीमांसा, १२-न्याय, १३-धर्म्मशास्त्र, १४-पुराण। शास्त्रों में चौदह के स्थान में यत्र तत्र १८ विद्याविभाग भी स्वीकृत हुए हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, इन चार के समन्वय से १४ के स्थान में १८ विभाग हो जाते हैं। निम्न लिखित वचनानुसार दोनों ही विभाग शास्त्रसम्मत हैं—

> [६] [४] [१] [१]
> **अङ्गानि–वेदाश्चत्वारो–मीमांसा–न्यायविस्तरः।**
> [१] [१]
> **धर्म्मशास्त्रं–पुराणञ्च–, विद्या ह्येताश्चतुर्द्दश ॥१॥**
> [१] [२] [३]
> **आयुर्व्वेदो–धनुर्व्वेदो–गान्धर्व्वश्चेति वै त्रयः।**
> [४]
> **अर्थशास्त्रं–चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥२॥**
>
> —विष्णुपुराणे

२–वर्णधर्म्मानुगता शास्त्र–शस्त्र–वाणिज्य–शिल्प–विद्याचतुष्टयी—

'विजानाति यया–ज्ञानं सम्पादयति यया–सा ज्ञानसाधनभूता शब्दब्रह्मात्मिका वाग्देवी विद्या' इस निर्वचन के अनुसार शब्दावच्छिन्न ज्ञान उत्पन्न करने वाला वाङ्मय शब्दराशिलक्षण शास्त्र ही 'विद्या' है।

---

* 'शक्तिग्रहं–व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च'।
तत्र–शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य (वृद्धव्यवहारस्य)।

इस **शास्त्रविद्या** का जहाँ प्रधानतः ब्राह्मणवर्ग से सम्बन्ध है, वहाँ **शस्त्रविद्या** का प्रधानतः क्षत्रियवर्ग से सम्बन्ध माना गया है। तीसरे वैश्यवर्ण के लिए **वाणिज्यविद्या**, तथा चौथे शूद्रवर्ण के लिए **शिल्पविद्या** प्रधानरूप से अनुग्राहिका मानी गई है। इस दृष्टिकोण के अनुसार **शस्त्र, शास्त्र,** **वाणिज्य, शिल्प,** भेद से लौकिक-वैदिक-शास्त्र (शब्दात्मिका ज्ञानसाधनभूता विद्या) वर्णक्रमानुसार चार भागों में विभक्त हो रहे हैं। इन चारों शास्त्रों, किंवा विद्याओं को क्रमशः **ब्राह्मणविद्या, क्षत्रियविद्या, वैश्यविद्या, शूद्रविद्या,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। चारों हीं विद्याएँ दो दो भागों में विभक्त की जा सकतीं हैं। **निगमविद्या,** तथा **आगमविद्या,** भेद से दो विभाग ब्राह्मणविद्या के हैं। **अस्त्रविद्या,** तथा **शस्त्रविद्या,** दो विभाग क्षत्रियविद्या के हैं। **कृषिविद्या, वाणिज्यविद्या,** दो विभाग वैश्यविद्या के हैं। **शिल्पविद्या, कलाविद्या,** ये दो विभाग शूद्रविद्या के हैं। वर्णानुगता इन आठों विद्याओं में यच्चयावत् लौकिक पारलौकिक विद्याओं का अन्तर्भाव हो रहा है। यही भारतीय विद्या का वर्णव्यवस्थानुगत एक प्रकार का दृष्टिकोण है। हम जहाँ तक अनुमान करते हैं, अधिकांश भारतीय जनता अपने देश की इन विद्याओं के रहस्य से तो क्या, नाममात्र से भी परिचित न होगी। आर्षप्रजा होने के नाते उसका यह तो कर्त्तव्य हो ही जाता है कि, कम से कम वह अपने देश की विद्याओं का नाम तो जान ले। इसी दृष्टि से उन आठों विभागों के सामान्य नाम यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१	१-१-निगमविद्या २-२-आगमविद्या	शास्त्रविद्या—ब्राह्मणविद्या—ज्ञानविद्या—ब्राह्मणानाम्।
२	३-१-अस्त्रविद्या ४-२-शस्त्रविद्या	शस्त्रविद्या—क्षत्रियविद्या—क्रियाविद्या—क्षत्रियाणाम्।
३	५-१-कृषिविद्या ६-२-वाणिज्यविद्या	व्यवहारविद्या-वैश्यविद्या—अर्थविद्या—वैश्यानाम्।
४	७-१-शिल्पविद्या ८-२-कलाविद्या	भूतविद्या—शूद्रविद्या—गुणविद्या—शूद्राणाम्।

१–ज्ञानशक्तिप्रधानं—'ब्रह्म' वीर्य्यम्—तदनुगता शास्त्रविद्या—तस्याः फलं—'विद्वत्ता'

२–क्रियाशक्तिप्रधानं–'क्षत्र' वीर्य्यम्—तदनुगता शस्त्रविद्या—तस्याः फलं—'पौरुषम्'

३–अर्थशक्तिप्रधानं–'विड्' वीर्य्यम्—तदनुगता व्यवहारविद्या-तस्याः फलं—'व्यवहारकौशलम्'

४–गुणशक्तिप्रधानं–'शौद्रम्' वीर्य्यम्-तदनुगता भूतविद्या—तस्याः फलं—'चातुरी'

—❀—

१–कारणशरीरगर्भितं-आत्मक्षेत्रम्——आत्मप्रधानक्षेत्रम्—ज्ञानक्षेत्रम्—तदनुगता शास्त्रविद्या

२–सूक्ष्मशरीरगर्भितं–कारणशरीरक्षेत्रम्–कारणश०प्र०क्षेत्रम्–क्रियाक्षेत्रम्–तदनुगता शस्त्रविद्या

३–स्थूलशरीरगर्भितं–सूक्ष्मशरीरक्षेत्रम्—सूक्ष्मश०प्र०क्षेत्रम्–अर्थक्षेत्रम्—तदनुगता व्यवहारविद्या

४–सर्वगर्भितं——स्थूलशरीरम्——स्थूलश०प्र०क्षेत्रम्–क्रियाक्षेत्रम्—तदनुगता भूतविद्या

—❀—

१–मस्तकयन्त्रे—ज्ञानशक्तेर्विकासः—(ब्रह्माक्षरानुगतः)—तच्छक्तिप्रधानाः-ब्राह्मणाः–तदनुगता ब्राह्मणविद्या

२–उरोयन्त्रे——क्रियाशक्तेर्विकासः—(इन्द्राक्षरानुगतः)—तच्छक्तिप्रधानाः-क्षत्रियाः–तदनुगता क्षत्रियविद्या

३–उदरयन्त्रे——अर्थशक्तेर्विकासः—(विष्णवक्षरानुगतः)तच्छक्तिप्रधानाः-वैश्याः—तदनुगता वैश्यविद्या

४–शरीरयन्त्रे—गुणभावस्य विकासः-(अग्नीषोमाक्षरानुगतः)तद्गुणप्रधानाः-शूद्राः—तदनुगता शूद्रविद्या

—❀—

१–निगमागमस्वाध्यायरताः पुरुषाः—ब्राह्मणाः (ज्ञानोपजीविनः)। —चतुर्थाः

२–अस्त्रशस्त्रप्रहारदक्षाः पुरुषाः—क्षत्रियाः (शस्त्रोपजीविनः)। —तृतीयाः

३–कृषि-वाणिज्यरताः पुरुषाः—वैश्याः (वाणिज्योपजीविनः)।—द्वितीयाः

४–शिल्पकलाप्रवीणाः पुरुषाः—शूद्राः (कलोपजीविनः)। —प्रथमाः

—❀—

३–चारों विद्याओं की प्रतिष्ठा का तारतम्य—

उक्त चारों विद्याओं की स्थानप्रतिष्ठा का समन्वय कीजिए। शिल्प–कलानुगता शूद्रविद्या की मूल–प्रतिष्ठा कृषि–वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या ही मानी गई है। कारण स्पष्ट है। जिस राष्ट्र का अर्थबल (कोष) सुरक्षित, तथा स्वायत्त बना रहता है, उसी राष्ट्र में शिल्प–कला पनप सकते हैं, पनपते हैं। अर्थबल की मूलप्रतिष्ठा है कृषि, एवं कृषि से उत्पन्न द्रव्यों का विनिमयात्मक वाणिज्य। 'धातु' का प्राधान्य इस देश में

कभी नहीं रहा । दूसरे शब्दों में यहाँ धातुखण्ड (रुपय्या-पैसा) कभी राष्ट्र की मौलिक सम्पत्ति का स्थान ग्रहण न कर सके, अपितु यहाँ 'राष्ट्र' की सम्पत्ति मुख्य रूप से 'अन्न' ही माना गया। देश के जिन ग्रामों में देश के सौभाग्य से वर्त्तमान सुशिक्षा ? का प्रवेश नहीं हो पाया है, वहाँ आज भी अन्न ही मुख्य सम्पत्ति मानी जा रही है, एवं अन्न के पारस्परिक विनिमय से ही ग्रामवासियों के लौकिक व्यवहार सञ्चालित हो रहे हैं। हमारा ऐसा विश्वास है कि, देश की योग-क्षेम चिन्ता के इस भयावहरूप का बहुत कुछ उत्तरदायित्व धातु-प्राधान्यवाद पर अवलम्बित है। धातुसंग्रह की कुत्सित मनोवृत्ति से ही देश की अन्नसम्पत्ति उन शिल्प-कलोप-जीवी मानवों तक नहीं पहुँच पाती, जिनमें उस घातक-वृत्ति का सर्वथा अभाव है, जिसके कि द्वारा धातुसम्पत्ति के संग्रह का मार्ग प्रशस्त ? बन जाया करता है। उनके कोष में धातुसंग्रह नहीं, जिनके कोष में संग्रह है-उनके अनुग्रह से अन्नसम्पत्ति बन गई बहुमूल्य, फलस्वरूप भूखों मरते हुए देश के श्रमजीवी शिल्पी, और कलाविदों का क्रमिक ह्रास आरम्भ हो गया। धातुसंग्रह के आधार पर, साथ ही अन्नसम्पत्ति को धातु के साथ मिला कर कभी देश के शिल्प, और कला विकसित नहीं किए जा सकते। क्या देश में खेती नहीं होती ?, होती है। क्या खेती से अन्नसम्पत्ति उपलब्ध नहीं होती ?, होती है। फिर अन्नचिन्ता क्यों ?। उत्तर-वर्त्तमान युग की वह वाणिज्यव्यवस्था, जिसने दुर्भाग्य से धातुसंग्रहवासना को आधार बना लिया है। पहिले अन्नसम्पत्ति के लिए अन्नसम्पत्ति का विनियम होता था। जो वस्तु जहाँ नहीं होती थी, विनियम से वह वहाँ पहुँच जाती थी। और इसप्रकार योगक्षेम का निर्वाह होता रहता था। आगे जाकर अन्नसम्पत्ति के विनियम के साथ साथ धातुविनियम ने भी स्थान ग्रहण कर लिया। वस्तुओं का विनिमय हुआ, परन्तु धातु को लक्ष्य बना कर। मुगलशासनकाल ऐसे ही विनिमय का उदाहरण माना जा सकता है। धातु सर्वथा प्रधान नहीं बन पाया, अतएव इस काल में भी अन्नसम्पत्ति का अभाव संत्रासजनक नहीं बन सका। खाने-पहिनने को मिलता रहा। फल-स्वरूप देश की शिल्प-कलाएँ यथाकथञ्चित् उस युग में बनीं रह गईं। और बृटिश-शासनकाल में क्या हुआ ?, यह आदर्शवत् स्पष्ट है। अन्नसम्पत्ति के विनियम का स्थान धातुविनिमय ने एक बार ही छीन लिया। जिन नियत स्थानों में घोर-घोरतम चीत्कारों के द्वारा आज वाणिज्य होता है, वहाँ चले जाइए। हजारों-लाखों की बेचो खरीदी सुनाई पड़ेगी। परन्तु जिन वस्तुओं के आधार पर यह सब कुछ सुनने सुनाने को मिलेगा, उन वस्तुओं के दर्शन भी आप न कर सकेंगे। हाँ वाणिज्यावसान पर धातु के विनियम का अवश्य साक्षात्कार हो जायगा। भारतवर्ष के वाणिज्य-व्यवसायप्रधान जिन नगरसेठों के आपणों (दूकानों) में किसी युग में जहाँ प्रचुर अन्नसम्पत्ति परिपूर्ण रहती हुई देश की समृद्धि का परिचय दे रही थी, आज उन आपणों में मिलेंगे आपको थोड़े कागजों का संग्रह (बहीखाते), और धातुखण्डों को सुरक्षित रखने वालीं तिजोरियाँ। अन्नसम्पत्ति गल जायगी, सड़ जायगी, नष्ट हो जायगी, परन्तु तब तक जनता के सामने न आ सकेगी, जब तक कि हमारा धातुप्रिय वैश्यवर्ग उससे पर्य्याप्त धातुसंग्रह न कर लेगा। इसप्रकार धातु वाणिज्य के लिए नहीं रहा, अपितु वाणिज्य धातु का सेवक बन गया। कृषि-वाणिज्य, दोनों नें धातु की दासता स्वीकार कर ली। अब जिनके कोष में धातु हैं, वे कृषि से लाभ भले ही उठालें, परन्तु जिनके कोष मे शिल्प-कला-विद्या-आदि मौलिक सम्पत्तियाँ हैं, वे भूखों हीं मरेंगे। परिणाम यह हो रहा है कि, शिल्पी शिल्पकौशल छोड़ रहे हैं, कलावित् कला को जलाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं, और विद्यारसिक विद्या को नमस्कार कर बैठे हैं। एवं सर्वसमर्पणरूप से ये भी अनुगत हो रहे हैं उस धातुसंग्रह कर्म्म की ओर, जो आज एकमात्र योगक्षेम का साधक बना दिया गया है।

४–धातु का व्यामोहन, और अन्नसम्पत्ति का क्षय—

कृषि–वाणिज्य–कर्म्म में धातु क्यों प्रधान गया ?, इसका भी एक मनोरञ्जक इतिहास है । और वह इतिहास है–'हमारी आवश्यकतावृद्धि' । एवं इसका मुख्य कारण है–'आवश्यकतावृद्धि को प्रधानता देने वाले धातुलोलुप प्रतीच्य-परराष्ट्रों का सुसङ्ग ?। वे आए अतिथि बन कर, अतिथियों का हमनें सत्कार किया । सत्कार से प्रभावित होकर वे बन गए हमारे कुटुम्बी । हम देखते गए, उनकी ओर से प्रत्युपकार में जो उपहार हमें मिलते गए, हम उनकी सभ्यता के चाकचिक्य में पड़ कर उनका सादर ग्रहण करते गए, परिणामस्वरूप हमारी आवश्यकताएँ बढ़नें लगीं । आवश्यकतावृद्धि को अधिकाधिक उत्तेजना देने वाले उपहार भारत की शान्त मण्डियों की शान्ति का दर्पदलन करने लगे । और इसप्रकार हम अपना सादा जीवन छोड़ कर सर्वथा सभ्य बन गए, जिस सभ्यता की रक्षा के लिए उन अतिथियों के द्वारा समर्पित उपहारों को अपनाना आज हमारे लिए अनिवार्य्य बन गया है । वे उपहार अन्नविनियम से कैसे प्राप्त हो सकते हैं । उनके लिए तो धातु अपेक्षित है । अन्नसम्पत्ति हमारे शरीरभवन को सुरक्षित रख सकती है । परन्तु इससे भव्यप्रासाद, प्रासाद-योग्य बाह्य उपकरण तो अन्नद्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते । अन्न ही क्या, सर्वस्व भी देकर हमें अपनी सभ्यता की रक्षा जो करनी है । अन्न जाय, धन जाय, आदर्श–संस्कृति–प्राच्यगौरव–सब कुछ चला जाय, रह जाय किसी प्रकार हमारी वर्त्तमान सभ्यता, पूरीं होतीं रहें–हमारी ये प्रवृद्ध आवश्यकताएँ, और मिलता रहे इसके लिए हमें प्रचुर धन, किसी भी सत्–असत् उपाय से ही सही । यही वह मनोरञ्जक, किन्तु सर्वनाशक इतिहास है, जिसके अनुग्रह ने भारतराष्ट्र के कृषि और वाणिज्य पर धातुखण्डों का प्रभाव स्थापित किया है । कृषि–वाणिज्य के स्वरूप को नष्ट–भ्रष्ट करने वाले इस प्रभाव का ही यह असत् परिणाम है कि, आज राष्ट्र का शिल्प, एवं कला सर्वथा उच्छिन्नप्राय है । प्रश्न है इनके पुनरुज्जीवन का । यह तभी सम्भव है, जब कि राष्ट्र की कृषि–वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या अपने वास्तविक कृषि, और तद्विनियमरूपात्मक वाणिज्यरूप से पुनः विकसित हो । इसी स्थिति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, शूद्रविद्या की प्रतिष्ठा वैश्यविद्या ही है । दूसरे शब्दों में शिल्प–कला का प्रचार–प्रसार–रक्षा–विकासादि कृषि–वाणिज्य प्रचार प्रसार–रक्षा विकासादि पर ही अवलम्बित है । कृषि–वाणिज्य ही राष्ट्र का कोषबल है, यही भारतीय परिभाषा में राष्ट्र का कोष (सम्पत्ति) है । वह आज परायत्त है, कुछ धातुप्रेमियों के अनुग्रह से स्वस्वरूप से विकृत है । जब तक धातुसंग्रह है, तब तक शिल्प–कलाभ्युदय असम्भव है–'**भूखे भजन न होय गुसांई**' प्रसिद्ध है ।

५–सर्वस्वघातिका अर्थसञ्चयप्रवृत्ति, और राष्ट्र का पतन—

भारतीय कृषिवाणिज्यानुगता वैश्यविद्या की दुर्द्दशा क्यों हुई ?, क्यों यह परायत्त बनी, क्यों इस पर धातु–आवरण ने प्रभाव जमा लिया ?, इत्यादि प्रश्नों का एक समाधान पूर्व में किया जा चुका है । कृषि-वाणिज्य–लक्षण अर्थ से योग–क्षेम की रक्षा होती है । प्रत्येक शरीरधारी अपनी जीवनयात्रा के लिए इस अर्थ का अनिवार्य्यरूप से अनुगमन करता है । प्राकृतिक रहस्यज्ञान से अपरिचित सर्वसाधारण मानववर्ग अतीत, और वर्त्तमान की अपेक्षा भविष्य के आशापाश में विशेषरूप से आबद्ध रहता है । इस अप्रकाशित भविष्यचिन्ता से ही इसमें स्वभावतः संग्रहवृत्ति का उदय होता है । 'अधिक से अधिक अर्थसम्पत्ति सञ्चित रखना' इसका स्वाभाविक लक्ष्य बन जाता है । परिणाम इस वृत्ति का यह होता है कि, अर्थसम्पत्ति का विनियम रुक जाता है, और फलस्वरूप जो सञ्चय नहीं कर सकते, उनका योगक्षेम संदिग्ध बन जाता है । सञ्चय कौन

करता है ?, जिसके पास शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति नहीं। क्योंकि आध्यात्मिक शक्ति तो सञ्चय की विरोधिनी है। आधिभौतिक शक्ति ही इस सञ्चय का साधन बनती है। इसी शक्ति से शक्तिमान् बने हुए राष्ट्र उन अन्य अशक्त राष्ट्रों की अर्थसम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण कर लेते हैं, जिन अशक्त राष्ट्रों के पास इन आततायी राष्ट्रों के निरोध के साधन नहीं रहते। दण्डात्मक वही साधन भारतीय परिभाषा में **'क्षत्रबल'** कहलाया है। क्षत्रबल के साधन हैं–'शस्त्रास्त्र'। शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित, पौरुषयुक्त, दण्डधारी, क्षत्रियसमाज जिस राष्ट्र के कृषि–वाणिज्य की रक्षा में सतर्क रहता है, उस राष्ट्र पर आततायियों का वश नहीं चला करता। यदि राष्ट्र का क्षत्रिय समाज सुप्त है, तो कृषिवाणिज्य अरक्षित है। ऐसा अरक्षित कोष ही परायत्त बना करता है। और यही वह दूसरा मुख्य कारण है, जिसके अनुग्रह से हमारा अर्थबल हमसे छिन गया है। मानना पड़ेगा कि, कृषिवाणिज्यात्मिका वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा अस्त्रशस्त्रात्मिका क्षत्रियविद्या ही है। यदि आक्रान्ता यह समझता है कि, अमुक राष्ट्र उसके शस्त्रास्त्रसुसज्जित क्षत्रिय समाज से सुरक्षित है, तो वह भूल कर भी उसकी सम्पत्ति पर दृष्टि डालने का साहस नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त स्वयं उस राष्ट्र का कृषि-वाणिज्यव्यवस्थापक वैश्यसमाज भी दण्डभयनिग्रह से सञ्चयपथ का अनुगामी नहीं बन सकता। पराक्रमण होता नहीं, स्वविनियम रुकता नहीं। फलस्वरूप इस क्षत्रशासन में प्रतिष्ठित कृषि–वाणिज्य, और शिल्पकला उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं। बिना क्षत्रबल के एक अहिंसावाद तो क्या, सहस्र सहस्र अहिंसावादियों के मुख से प्रतिक्षण सहस्र सहस्र बार विनिर्गत भी अहिंसावाद देश की अर्थसम्पत्ति को आततायियों के आक्रमण से नहीं बचा सकता। निष्कर्षतः क्षत्रियविद्या ही वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा मानी जायगी।

६–शस्त्रवर्ग के द्वारा प्रजा का निर्म्मम शोषण—

क्या देश में क्षत्रियों का उत्पादन अवरुद्ध हो गया ?, अस्त्रविद्या के साथ साथ क्या शस्त्रविद्या भी लुप्त हो गई ?, हाँ, और ना, दोनों ही उत्तर समीचीन प्रतीत होते हैं। क्षत्रिय हैं, शस्त्र भी हैं, शस्त्र न भी रहे हों, तो उनके निर्म्माण की विद्या, और उपादानभूत साधन अभी तक उपलब्ध हैं। फिर देश का कृषि-वाणिज्य क्यों परायत्त बन गया ?। इसलिए कि, रक्षक वर्ग ने भक्षकवृत्ति को प्रधान मान लिया। **'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः'** चरितार्थ करने वाले क्षत्रियवर्ग के शस्त्र का उपयोग जहाँ रक्षाकर्म्म में होना चाहिए था, वहाँ इसका भी लक्ष्य कृषिवाणिज्य ही बन गया। भूस्वामी कृषकों का स्थान इन्होंनें छीन लिया। सञ्चयवृत्ति का निरोधक यह वर्ग स्वयं ही सञ्चयानुगामी बन गया। अर्थ, और शासन, दोनों का समान क्षेत्र बन गया। फलस्वरूप शान्तिस्थापन के स्थान में यह वर्ग वैश्यवर्गापेक्षया भी कहीं अधिक शोषक बन गया। रक्षणवृत्ति के आत्यन्तिक अभाव ने, तथा शोषणकर्म्म की पूर्ण प्रभुता ने इस क्षत्रबल को भी निस्तेज बना डाला। शस्त्रास्त्रविद्या का स्थान अर्थविद्या ने ग्रहण कर लिया। देश का शासक रक्षक न रह कर वैश्य बन गया, व्यापार का अधिष्ठाता बन गया। कारण 'आवश्यकतावृद्धि से सम्बन्ध रखने वाली वही विलासलीला'। 'हमें किसका भय है, हमारे हाथ में शस्त्र है,' इस साधन बल ने इनकी रक्षात्मिका हिंसा को भक्षणवृत्तिरूप में परिणत कर डाला। क्यों क्षात्रधर्म्म स्वरक्षाकर्त्तव्य से च्युत हो गया ?, प्रश्न का एकमात्र तात्त्विक उत्तर है–'ब्राह्मणविद्या' की विलुप्ति। विद्याविलुप्ति न कह कर ब्राह्मणवर्ग की मृत्यु को ही कारण मानना अधिक समीचीन होगा। क्या ब्राह्मणजाति का मूलोच्छेद हो गया ?, हाँ इसलिए कहना पड़ेगा कि, निगमागम, दोनों हीं विद्याओं का इस जाति ने सर्वथा परित्याग कर दिया, जो निगमागम-

विद्या इस जाति के जीवन की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। सूर्यविद्या निगमविद्या है, पृथिवीविद्या आगमविद्या है। निगमविद्या यज्ञप्रधाना है, आगमविद्या मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र-प्रधाना है। जब जब भी देश का क्षत्रबल उच्छृङ्खल हुआ, तब तब ही ब्राह्मणों नें इस उभय विद्याबल से इस वर्ग का नियन्त्रण किया। क्षत्रबल बहुत बड़ा बल है, यह ठीक है। परन्तु निगमागमात्मक विद्यातपोबल इससे भी उत्कृष्ट बल है। 'ब्रह्मतेजोबलं बलम्' लक्षण ब्रह्मबल के सामने क्षत्रबल को भी नतमस्तक होना पड़ता है। कारण यही है कि, क्षत्रबल जहाँ आधिभौतिक बाह्य बलप्रधान है, वहाँ ब्रह्मबल आध्यात्मिक आभ्यन्तर बलप्रधान है। आध्यात्मिक बल ही आधिभौतिक बल की प्रतिष्ठा है। दूसरे शब्दों में ज्ञानबल ब्राह्मणबल है, कर्म्मबल क्षत्रियबल है। जब कर्म्मबल ज्ञानबल का सहयोग खो देता है, तो ज्ञानवञ्चित कर्म्म अज्ञानमय बनता हुआ स्वरूपरक्षा के स्थान में स्वरूपनाश का ही कारण बन जाता है। 'मैत्रावरुणग्रहविज्ञान' का विश्लेषण करते हुए स्वयं वेदभागवान् ने इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण किया है। वहाँ बतलाया गया है कि—

७–मित्र और वरुण की प्रतिद्वन्द्विता से राष्ट्रवैभव का अभिभव—

"आरम्भ में मित्र ब्रह्म, और वरुण क्षत्र, दोनों पृथक् पृथक् थे। मित्र ब्रह्म अभिगन्ता (मार्गप्रदर्शक-उपदेशक) था, वरुण क्षत्र कर्त्ता था। दोनों बल विभिन्न पथानुगामी बन रहे थे। क्षत्र से पृथक् रहकर ब्रह्म ने अपना विकास तो अवश्य रोक लिया, परन्तु इसकी स्वरूपहानि न हुई। उधर ब्रह्मसहयोग से वञ्चित क्षत्र का जीवित रहना ही कठिन हो गया। कारण स्पष्ट है। बिना कर्म्म के ज्ञान का विकासमात्र रुक सकता है, परन्तु ज्ञान की स्वरूपहानि नहीं होती। उधर यदि कर्म्म ज्ञान का सहयोग छोड़ देता है, तो कर्म्म का स्वरूप हीं नष्ट हो जाता है। वरुण क्षत्र ने मित्रब्रह्म की उपेक्षा कर जो भी कर्म्म किया, वही समृद्धि के स्थान में सर्वनाश का कारण सिद्ध हुआ। फलतः क्षत्र को ब्रह्म का आमन्त्रण करना पड़ा। दोनों के मेल से ही 'मैत्रावरुणग्रह' का स्वरूप सम्पन्न हुआ। यह आवश्यक है कि, अपने प्रत्येक कार्य्य में क्षत्रिय ब्राह्मण को अभिगन्ता (परामर्श देने वाला–परामर्शदाता) बनावे, तभी ज्ञानसहकृत इसका कर्म्म समृद्ध बन सकेगा। ब्रह्मप्रसूत (ज्ञानसहकृत) कर्म्म ही समृद्धि का जनक बना करता है। देखिए—

"तत्–अवक्लृप्तमेव–यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत–समृद्धं तत्। एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं-यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृद्ध्यते। तस्मात्-क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेन-उपसत्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्म ऽर्ध्यते"।

—शत० ब्रा० ४।१।३।६। ।

८–तात्कालिक उपचारों की व्यर्थता—

राजनीतिदक्ष वर्त्तमानयुग के राजनैतिक देशदुर्दशा के कारणों का विश्लेषण करते हुए कहा करते हैं कि, भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है, अतएव यहाँ की अधिक जनता ग्रामों में निवास करती है। शासनदोष

से ही इस प्रजा का अत्यधिक शोषण हुआ, अतएव देश को समृद्ध बनाने के लिए ग्रामजनता का उद्धार आवश्यक है। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर आज 'ग्रामोद्धार'–'ग्रामसंगठन'–'ग्राम-शिक्षामण्डल' आदि अनेक संस्थाएँ इतस्ततः पनप रहीं हैं। और इसप्रकार इन रचनात्मक-कार्य्यों का सेहरा बंधवा कर राजनैतिक सन्तुष्ट से प्रतीत हो रहे हैं। उधर ग्रामीण जनता समझ रही है–हमारे बच्चों के लिए स्कूल खुल रहे हैं, दुर्भिक्ष के समय हमें अन्न-वस्त्र मिलता है, जलप्रलयावसरों पर हमारी रक्षा की जाती है, रोगदशा में औषधियाँ बाँटी जातीं हैं। इसप्रकार रक्षक रक्षित, दोनों हीं वर्ग सन्तुष्ट हैं। कार्य्य सात्विक है, आवश्यक, और उपादेय भी। परन्तु·········।

९–धर्म्मानुगति, और राष्ट्रसंरक्षण—

परन्तु क्या यह उपचार वास्तविक उपचार मान लिया जायगा ?, क्या इन क्षणिक उपायों से हम राष्ट्र का वास्तविक हितसाधन कर लेंगे ?। विश्वास कीजिए। जब तक सर्वसाधारण मानववर्ग के मनोभाव प्राकृतिक नित्यनियमसंघलक्षण धर्म्मभावना को आधार नहीं बना लेंगे, तब तक हमारी मानवप्रकृति सुस्थिर न बन सकेगी। जब तक मानवप्रकृति सुस्थिर न बन जायगी, तब तक प्रकृतिमण्डल शान्त न बन सकेगा। अशान्तप्रकृति आए दिन भूकम्प, जलप्रलय, दुर्भिक्ष, महामारी, जनपदविध्वंसिनी, आदिरूप से आक्रमण करती ही रहेगी। हम अपने क्षणिक प्रयास करते करते थक थक जायँगे, परन्तु इस प्राकृतिक कोप को तबतक शान्त न कर सकेंगे, जब तक कि मानवसमाज स्वधर्म्म पर आरूढ न होगा। शासकवर्ग मदान्ध बन कर अपनी विलासलीला में मत्त रहे, धनिक समाज अर्थसञ्चय में निमग्न रहे, ब्राह्मणवर्ण निद्रानिमग्न बना रहे, शूद्रवर्ग उच्छृंखल बना रहे, और कभी कभी आँसू पोंछने के लिए दो चार पैसे ग्रामीण जनता पर फैंक दिए जाँय, इस निदान, और चिकित्सा से कभी मानवसमाज का वास्तविक हितसाधन नहीं होसकता। आन्दोलनों के लिए ही होने वाले इन आन्दोलनों के गर्भ में हमारा वैय्यक्तिक स्वार्थ गुप्तरूप से पनपता रहे, और हम इससे अपने आप की प्रतारणा करते रहें, क्या यही 'मानवधर्म्म' है ?। स्थावर विश्व, और जङ्गम जगत् (प्राणी), दोनों की प्रतिष्ठालक्षण मानवधर्म्म से कभी प्रकृति का कोप सम्भव नहीं। प्रकृति शान्त बनी रहे, देश का ब्रह्मबल ज्ञाननिष्ठ बना रहे, शासनबल शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर आततायियों के आक्रमण रोकता रहे, विड्वल कृषि-वाणिज्य का विकास करता रहे, शूद्रवर्ग शिल्प-कलानुगत बना रहे, इसप्रकार चारों वर्ण स्व-स्व मानवधर्म्म में आरूढ रहें, प्रकृति अवश्य शान्त रहेगी, निश्चयेन रहेगी। पर्जन्य का समय समय पर अनुग्रह होता रहेगा, इस भाँति राष्ट्र अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करता हुआ शान्तिपूर्वक योग-क्षेमनिर्वाह में समर्थ बना रहेगा। यही तो हमारे राष्ट्र की वे मौलिक कामनाएँ हैं, जिनमें मानवमात्र का अभ्युदय निहित है। यही हमारी राष्ट्रकल्पना है, यही हमारे राष्ट्र की तात्विक परिभाषा है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा ब्रह्मबल माना गया है, एवं जिसका केवल एक ही मन्त्रद्वारा स्पष्टीकरण हो रहा है। देखिए !

१०–भारतीय राष्ट्रकल्पना, और तत्स्वरूपसंरक्षक आर्षसूत्र—

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् !
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः !
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् !
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु !
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !
योगक्षेमो नः कल्पताम् !

यजुःसंहिता २२ अ०।२२ मं०।

अतीत राष्ट्रकल्पना का वर्त्तमानराष्ट्र कल्पना के साथ समतुलन कीजिए। भारतीय मानवसमाज की सबसे पहिली कामना है–'हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हों'। सबसे पहिले ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणवर्ग की माँग क्यों की गई !, इसका उत्तर स्पष्ट है। आप के राष्ट्र में अन्न वस्त्र की कमी नहीं, पशुसम्पत्ति की कमी नहीं, वृष्टि भी पर्य्याप्त होती है, ओषधिवनस्पतियाँ भी समय पर उत्पन्न होतीं रहतीं हैं। दुधारी गाएँ, भारवाही बैल, तेज दौड़ने वाले घोड़े, विजय की इच्छा रखने वाले योद्धा, सभी तो साधन–सामग्रियाँ आपके राष्ट्र में विद्यमान हैं। फिर आपका योग–क्षेम क्यों नहीं होता ?। प्रसिद्ध है कि, 'मूर्खों की सम्पत्ति का उपभोग बुद्धि–मान् ही किया करते हैं'। ज्ञान में हीं भोगसामर्थ्य है। जिस राष्ट्र की तदनुरूपा ज्ञानसम्पत्ति जर्ज्जरित है, उस राष्ट्र की सम्पत्ति का उपभोग स्वयं वह नहीं कर सकता। फलतः सब साधनों में ज्ञानसाधन का ही प्राधान्य प्रमाणित होरहा है। ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मणसमाज के द्वारा यदि निगमागमात्मक ज्ञान सुरक्षित है, तो राष्ट्र की सम्पत्ति का कोई भी आततायी अपहरण नहीं कर सकता। इसी लिए मानवधर्म्मप्रचारक राष्ट्रवादी महर्षियों नें सबसे पहिले ज्ञानकामना को ही प्रधान स्थान देना आवश्यक माना।

ज्ञानसम्पत्ति का विकास शान्त–वातावरण की अपेक्षा रखता है। यह तभी सम्भव है, जबकि राष्ट्र का एक नियत मानवसमाज राष्ट्र की शान्ति के लिए सदा सन्नद्ध रहे। यही राष्ट्र की दूसरी मांग हुई, जिसके बिना पहिली माँग सुरक्षित नहीं रक्खी जासकती थी। वही दूसरा समाज शासकवर्ग कहलाया। कैसा शासक–वर्ग !, शरीर से बलवान् (शूर), धनुर्द्धारी (इषव्यः शस्त्रास्त्रसुसज्जित), नीरोग (अतिव्याधि), और वाहनसम्पत्ति से युक्त (महारथः)। ज्ञानप्रदाता ब्राह्मण, रक्षक शासक, के अनन्तर कृषि-वाणिज्य के मूलभूत गोवंश की माँग हुई, भारवाही बैल माँगे गए, सेनाव्यूहार्थ तेज दौड़ने वाले घोड़े माँगे गए, और सभाप्रिय युवा यजमानपुत्र की (वैश्य की) माँग हुई। ब्राह्मण,–क्षत्रिय,–वैश्य, तीनों स्वधर्म्मनिष्ठ कब उत्पन्न हों, जब देश का नारीसमाज सुसंस्कृत हो। 'पुरंधिर्योषा' से ऋषि यह माँगना भी न भूले। सब कुछ तो माँग लिया। अब शेष रहा प्रकृति का अनुग्रह। 'समय समय पर वर्षा होती रहे, ओषधियाँ पकतीं रहें, और इसप्रकार राष्ट्र का योगक्षेम निर्विघ्न सुसम्पन्न होता रहे' इन शब्दों में सबके अन्त में 'योगक्षेम' की कामना की गई।

११-वर्त्तमान राष्ट्र की कामनाएँ, एवं उनकी आपातरमणीयता-

आज हमारा राष्ट्र क्या चाहता है ? । सबके श्रीमुखों ? से एकस्वर से 'योग-क्षेम' कामना का ही उद्घोष निकल रहा है । अन्नवस्त्र चाहिए, उदरचिन्ता निवृत्त होनी चाहिए । यही तो आज आबालवृद्धवनिता, सबकी मुख्य कामना बनी हुई है, जो भारत की दृष्टि से किसी समय सब से अन्त की कामना थी । जिन्हें समय पर भोजन-वस्त्र नहीं मिलता, उनका उद्घोष तो फिर भी क्षम्य माना जासकता है । परन्तु देखते, और सुनते हैं- जिन्हें सहस्रमित वेतन मिलता है , जिनके पास अतुलधनराशि सुरक्षित हैं, वे समर्थ भी अहर्निश-'क्या करें, काम नहीं चलता, खर्चा कैसे चले' इस असद्वाणी के जपकर्म में हीं संत्रस्त रहते हैं । हमारे वर्त्तमान राष्ट्र-वादियों को स्वतन्त्रता से बड़ा प्रेम है । प्रेम स्वाभाविक है, प्रत्येक मानव का आवश्यक धर्म्म भी । परन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ समझा, और समझाया जारहा है-'अन्नवस्त्र की चिन्ता दूर हो' । मानों मानवजीवन केवल भोजन के लिए ही नियत हो । यही तो पश्चिमी राष्ट्र की प्रधान देन है, जिसका मुख्य उद्देश्य है-"खाने पीने, और मौज़ उड़ाने के लिऐ जीते रहो, दूसरे मरें अथवा जीवित रहें, तुम जीते रहो" । ऋषि कहते हैं-"जीवित-रहो, और दूसरों को भी जीवित रहने दो । भोजन जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं । अपने स्वधर्म्म पर अनन्यनिष्ठा से दृढ़ बने रहो, योगक्षेमनिर्वाह का भार जगन्नियन्ता पर छोड़ दो" । 'स्व' का अर्थ है 'आत्मा', तन्त्र का अर्थ है-'आत्मव्याप्तिस्थान' । आत्मा का अपने स्थान में रहना हीं उसका 'स्वातन्त्र्य' है, यही वास्तविक स्वतन्त्रता है । आत्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय है । सृष्टिक्रमानुसार पहिले मनोमय ज्ञान है, अनन्तर प्राणमयी क्रिया है, सर्वान्त में वाङ्मय अर्थ है । अतएव ज्ञान सबसे पहिले, अनन्तर कर्म्म, और सर्वान्त में अर्थलाभ । इस क्रम के विपरीत सबसे अन्त के अर्थतन्त्र में आत्मा को प्रतिष्ठित कर देना 'स्व-तन्त्र' का स्वरूप बिगाड़ लेना है । अर्थतन्त्रानुगत आत्मा तो पर-तन्त्रानुगामी बनता हुआ 'परतन्त्र' है । फलतः योगक्षेमात्मक अर्थतन्त्र को आधार बना कर हमारे सामने आने वाली वर्त्तमान स्वतन्त्रता भारतीय दृष्टिकोण से विशुद्ध परतन्त्रता का ही समर्थन कर रही है ।

१२-राष्ट्रीय शिक्षा का विकृत स्वरूप-

जिस राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्र-बल सुप्त हो जाते हैं, उस राष्ट्र का पराभव निश्चित है । क्योंकि ज्ञान, और कर्म्म हीं राष्ट्रगुप्ति के मुख्य आलम्बन हैं । आश्चर्य्य है कि, हमारे वर्त्तमान आन्दोलनों में ब्रह्म-क्षत्र शब्दों का भी समावेश नहीं । अछूतों का उद्धार करो, देश का व्यापार बढ़ाओ, आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करो, ग्रामसंगठन करो, बालिकाविद्यालय खोलो, रचनात्मक कार्य्य करो, रेजीसंघ स्थापित करो, सड़कें बनाओं, पार्क बनाओ, हाईस्कूल खोलो, सब कुछ आँख मींच कर सपाटे से करते जाओ । परन्तु राष्ट्र के मौलिक धन ब्रह्म-क्षत्र बल की ओर दृष्टि डालने का भी कष्ट न उठाओ । जिस ब्रह्मसाहित्य से मानवधर्म्म की शिक्षा प्राप्त होती है, जिस क्षत्रबल से राष्ट्र आततायियों के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है, वे ब्रह्म-क्षत्र-बल हमारे वर्त्तमान राष्ट्रवादियो की दृष्टि में स्वप्नजगत् की वस्तु बने हुए हैं । देश की राष्ट्रीय संस्था (कांग्रेस) से क्या हम यह पूँछने की धृष्टता कर सकते हैं कि,—'भारतवर्ष को स्वतन्त्र बना देने वाली हमारी राष्ट्रीयसंस्था ने कभी अपने राष्ट्र के प्राणभूत मौलिक-साहित्य के सम्बन्ध में भी भूल से ही सही-- कभी दो शब्द कहने का भी अनुग्रह किया ? । 'जिस राष्ट्र को आप निष्प्राण बनाना चाहें, उसके मौलिक साहित्य को कुचल डालिए' राजनीति-कुशल नैतिकों के इस घातक-स्वार्थ-साधक सिद्धान्त का मर्म्म क्या

हमारे अहिंसावादी राष्ट्रपतियों नें नहीं सुना–समझा ?। नहीं, तो वे कैसे राष्ट्र······, और राजनीति शून्या उनकी कैसी यह राष्ट्रीय संस्था ?। यदि सुना समझा, तो आज तक उसका प्रतीकार क्यों नहीं किया गया ?। क्यों नहीं हमारे राष्ट्रीय नेताओं नें विदेशियों के कुचक्र से अपने भारत राष्ट्र की मौलिक साहित्यविभूति को निकालने का प्रयास किया ? । प्रयास न करते, इस सीमा तक भी भारतीय राष्ट्रप्रजा सम्भवतः मन मसोसे उदासीन बनी रहती। परन्तु देखते हैं, और दुःखपूर्ण आश्चर्य्य के साथ सुन रहे हैं कि, इधर कुछ समय से हमारी राष्ट्रीय संस्था ने 'राष्ट्रीयशिक्षा' के नाम से जिस 'वर्धाशिक्षापद्धति' का नवीनतम आविष्कार करने का अनुग्रह किया है, जिस राष्ट्रीय शिक्षापद्धति में मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम, तथा जगन्माता सीता के लिए 'बादशाह राम, और बेगम सीता' जैसे आदर्श ? वाक्यों का उद्घोष हुआ है, उसे राष्ट्रीय शिक्षा क्या, 'शिक्षा' भी कहें, अथवा नहीं, यह भी विचारणीय है।

१३–राष्ट्रीय विद्याक्षेत्र, और तत्सञ्चालक वर्ग–

हमें क्या चाहिए ?, हमारे राष्ट्र का जीवनसाधन क्या है ?, प्रश्नों का उत्तरदायित्व हमारे उस भारत राष्ट्र पर अवलम्बित है, जिसमें त्रयीवेदमूर्त्ति कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव जो भारत-राष्ट्र त्रयोविद्यामूलक, किंवा निगमागमविद्यामूलक मानवधर्म्म के आधार पर प्रतिष्ठित है। उस मानवधर्म्म के आधार पर जिसका आदर्श (मोटो) है—**'सर्वे सन्तु निरामयाः, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'** यह। उस मानवधर्म्म के आधार पर, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है ज्ञान–विज्ञानात्मक निगमागमशास्त्र, अतएव जो मानवधर्म्म प्राकृतिक बनता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से विभूषित हुआ है। जिस सनातनधर्म्म के प्राङ्गण में सत्त्व–रज–स्तमोमयी गुणभूता प्रकृति के गुण–कर्म्म–भेदों के आधार पर समाजनिबन्धन चातुर्वर्ण्य धर्म्म, व्यक्तिनिबन्धन आश्रमधर्म्म, राजनीतिनिबन्धन राजधर्म्म, तथा प्रजाधर्म्म, देशधर्म्म, जातिधर्म्म, कुल–धर्म्म, आदि विभिन्न शाश्वतधर्म्मलक्षण विभिन्न कर्त्तव्य–कर्म्म (स्वधर्म्म) पुष्पित पल्लवित हुए हैं। ऐसे ज्ञान–विज्ञानसिद्ध यच्चयावत् प्राकृतिक अवान्तर धर्म्मों की समष्टि ही तो 'सनातनधर्म्म' है, और यही तो हमारे भारत राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा है। इसकी रक्षा ही हमारी राष्ट्ररक्षा है, एवं इस रक्षा का अन्यतम साधन है—'निगमागमविद्या'। यही विद्या हमारी राष्ट्रविद्या है, जिसके प्रचार–प्रसार का भार ब्राह्मण पर डाला गया है। तभी तो निगमागमवित् ब्राह्मण को प्रत्येक राष्ट्रीय कर्म्म में भगवान् मनु ने प्रधान स्थान दिया है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्त्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

—मनुः १२।१००

१४–प्रजापति के द्वारा धर्म्मसृष्टि–

दृश्य विश्व कर्म्मप्रधान है। उधर चारों वर्णों में कर्म्मप्रधान वर्ण क्षत्रियवर्ण ही माना गया है। ऋषियों का यह सिद्धान्त है कि, धर्म्म ही कर्म्मप्रधान विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव चारों वर्णों का अन्तिम शास्ता धर्म्म ही माना गया है। जब ब्रह्म स्वयं विश्वकर्म्म के सञ्चालन में असमर्थ रहा, तो उसने अपने से भी श्रेष्ठ क्षत्ररूप उत्पन्न किया। इससे भी निर्वाह न हुआ, तो विड्बल उत्पन्न किया। इस पर भी

सन्तोष न हुआ, तो 'शूद्रवर्ण' उत्पन्न किया। चारों वर्ण उत्पन्न हो गए, विश्वकर्म्मसिद्धि के ज्ञान (ब्रह्म) कर्म्म (क्षत्र), अर्थ (विट्), गुण (शूद्र), ये चारों साधन भी प्रस्तुत हो गए। परन्तु अभी तक सर्वसिद्धि न हुई। चारों अपने अपने नियत कर्म्मों में आरूढ रहें, तभी तो विश्वकर्म्म का सुव्यवस्थितरूप से सञ्चालन सम्भव है। इसी व्यवस्थिति के लिए ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको नियतिलक्षण सत्य-स्वरूप से प्रकट किया। वही सत्यरूप चारों को स्व-स्व नियत भावों में प्रतिष्ठित रखता हुआ, चारों के द्वारा धृत रह कर चारों को स्व-स्वरूप से धारण करता हुआ 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ (देखिए शत०ब्रा०१४।४।२।२६।, अथवा गी०भू०कर्म्म० 'ख' विभाग, वर्णव्यवस्थाविज्ञान)। सर्वापेक्षया प्रधानीभूत धर्म्म स्वयं अतीन्द्रिय तत्त्व है। यह भी स्वविकास के लिए किसी बाह्य-भौतिक-इन्द्रियसापेक्ष साधन की अपेक्षा रखता है। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः धर्म्म-परायण होते हैं। उनको धर्म्म में प्रवृत्त रखने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रेरणा-दण्डभयादि की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि घोरप्रकृतिक मनुष्यों को स्वधर्म्मारूढ रखने के लिए अवश्य ही किसी भौतिक नियन्त्रण की आवश्यकता हो जाती है। वह नियन्त्रणसूत्र दण्ड-भयात्मक होना चाहिए। प्रजा को यह भय रहना चाहिए कि, यदि मैं धर्म्म की अवहेलना करूंगी, तो मुझे आर्थिक-शारीरिक दण्ड सहना पड़ेगा। यह ठीक है कि, धर्म्ममार्ग से स्खलित अधर्म्मपरायणों को प्रकृति की ओर से दण्ड अवश्य मिलता है। परन्तु यह प्राकृतिक दण्ड प्रकृतिपरिपाक के कारण विलम्बसापेक्ष है। यही क्यों, धर्म्मरहस्यवेत्ता भगवान् मनु के शब्दों में तो अधर्म्मपथानुगामी मनुष्य पहिले कुछ समय के लिए तो इसलिए समृद्धिशाली बन जाता है कि, असत्यलक्षण अधर्म्मसंस्कार से तत्सजातीय तमोगुण अभिवृद्ध हो जाता है। अभिवृद्ध तमोगुण तत्प्रधाना भूतवृद्धि का उत्तेजक बन जाता है। फलस्वरूप भूतवैभवप्राप्ति होने लगती है, सांसारिक उत्सव होने लगते हैं, प्रवृद्ध भूतबल पर शत्रुदमन आरम्भ हो जाता है। यह मदोन्मत्तता जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तो प्रकृति का विस्फोटन हो जाता है, और उसी क्षण वह अधर्म्मी स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता है ❀। इस कालान्तरभावी प्राकृतिक दण्ड के कारण वर्त्तमानप्रिय प्रजा के हृदय में इस अधर्म्मवासना का उदय हो जाता है कि, 'धर्म्म नाम की वस्तु नहीं है'। तभी तो 'अमुक व्यक्ति अधर्म्म करता हुआ भी सुसमृद्ध बना हुआ है'। यह सिद्ध विषय है कि, अधर्म्म में जब भी मनुष्य प्रवृत्त होता है, आरम्भ में आत्मज्योति के विकास से उसका मन ग्लानि करने लगता है। आरम्भ में मद्यपान, हिंसा, अथवा तत्सम और किसी अधर्म्म कार्य्य में प्रवृत्त होने वाले पर उसका हृदयस्थ अन्तर्य्यामी रोक लगाता है। यदि दुःसंगादि के कारण मनुष्य उस समय अन्तर्य्यामी की शब्दध्वनि की उपेक्षा कर मद्यपानादि में प्रवृत्त हो जाता है, तो अन्तर्य्यामी का स्वाभाविक प्रकाश इस क्रमिक अधर्म्मजनित आवरण से आवृत हो जाता है। अन्ततोगत्वा आवरण के घन हो जाने पर आत्मप्रकाश सर्वथा अभिभूत हो जाता है। और तब वह निरोधात्मिका शब्दध्वनि भी सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। उस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर आरम्भदशा में अधर्म्म-कार्य्यों से भय करने वाला वही व्यक्ति बड़े अभिमान से कहा करता है कि-'उस समय हम बड़े निर्बल थे, धर्म्म से डरते थे, परन्तु आज विदित हुआ, धर्म्म कर्म्म कोई वस्तु नहीं है'। पतन की इसी

❀ अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥
—मनुः ४।१७४

चरम सीमा पर पहुँचे हुए महापुरुषों ! के लिए ही तो भगवान् ने कहा है-"सवज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"। कहने का अभिप्राय है-अधर्म्मरत प्रजा के सम्पर्क से धार्मिक प्रजा में भी व्यामोह होने की आशङ्का रहती है। दण्ड मिलता है विलम्ब से, वैभवप्राप्ति प्रतीत होती है तत्काल, अतएव अनुकरणप्रिय मानवहृदय इस ओर आकर्षित हो जाता है। अपिच मानवीय मन स्वभावतः ऋतधर्म्मा है। ऋतसोम का प्रथमज मानव सत्यधर्म्म से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है। सोम आप्य तत्त्व है। अप्तत्त्व स्वभावतः निम्नगामी है। अतएव पतनकार्य्यों की ओर इसकी स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है। यही कारण है कि, यदि किसी को यह कहा जायगा कि-'आप सूर्य्योदय से पहिले उठ कर स्नानादि से निवृत्त होकर ईश्वरस्मरण किया करें' तो वह कठिनता से इस कर्म्म में प्रवृत्त होगा। यदि यह कहा जायगा कि-'आप तो सुबह ९ बजे शय्या छोड़ें, यदि भूँख लगे-तो शय्या पर ही चाय-विष्कूट (बिस्कुट) भक्षण कर डालें, ऐसा करने से बड़ा पुण्य होगा' तो निश्चयेन वह तत्काल इस कर्म्म में प्रवृत्त हो जायगा। इसी ऋतभाव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है कि, देवता-पितर-असुर-पशु-मनुष्य, इन पाँचों प्रजाओं में से कोई भी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है- **'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति'** (शत० २।४।२।६।)।

१५-राष्ट्रीय बलों के पारम्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वाभाविक ऋतप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्म्मपथारूढ, अतएव थोड़े समय के लिए समृद्ध बने हुए व्यक्तियों के आदर्श ! से बचाने के लिए, यह आवश्यक है कि, धर्म्मानुगमनप्रवृत्तिरक्षा के लिए भौतिकदण्ड की व्यवस्था की जाय। उसी दण्ड से चारों वर्ण स्वस्वधर्म्म में नियमितरूप से आरूढ हो सकेंगे। धर्म्मप्रवृत्तिरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र के ज्ञानबल, और अर्थबल विकास के लिए भी किसी ऐसे दण्डधारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के ज्ञान अर्थबल परराष्ट्रों के, तथा स्वराष्ट्रीय आततायियों के आक्रमण से बचे रहें। इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-चारों बलों की धर्म्ममार्गानुगति के लिए, तथा ब्रह्मानुगता विद्या, विडनुगत कृषिवाणिज्य, शूद्रानुगत शिल्प-कला, के विकास के लिए क्षत्रिय का सहयोग सर्वथा अपेक्षित है। क्योंकि एकमात्र क्षत्रिय के दण्डभय से ही चारों वर्णों की धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित है, एवं इस दण्डरक्षा से रक्षित राष्ट्र के ही विद्या, वाणिज्यादि पुष्पित पल्लवित हो सकते हैं। अतएव श्रुति ने इस वर्णचतुष्टयात्मक विश्व-कर्म्म की दृष्टि से चारों वर्णों में से 'क्षत्रियशासक' को ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पद प्रदान किया है, जैसाकि श्रुति के- **'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति'** इस वचन से प्रमाणित है। तात्पर्य्य-राष्ट्र के उत्थान, पतन का प्रधानरूप से क्षत्रियसमाज पर ही उत्तरदायित्व है। जिस राष्ट्र में क्षत्रबल जाग्रत है, वही राष्ट्र विद्या-कृषि-वाणिज्य-शिल्प-कला आदि का अधिकारी बन सकता है। अतएव हम कहेंगे, और आग्रहपूर्वक साभिनिवेश कहेंगे, कि-यदि हमारे राष्ट्रवादी वास्तव में राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, यदि वे वास्तव में राष्ट्र की मौलिक संस्कृति-सभ्यता-आदर्शप्रचारक साहित्य की, कृषिवाणिज्य की, शिल्प-कला की समृद्धि के कामुक हैं, तो उन्हें सर्वप्रथम राष्ट्र के क्षत्रबल को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। क्षत्रबल की उपेक्षा करना तो सर्वनाश का ही आमन्त्रण करना है।

क्षत्रबल विकसित क्यों था ?, और आज उसका पतन क्यों हो गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका उत्तर मिलता है-हमें-**'नानेवासतुः'** इस श्रुति से। 'क्षत्र' कर्म्म है, क्रियाशक्तिप्रधान है। दण्डबल का उस दशा में दुरुपयोग अनिवार्य्य बन जाता है, जबकि इस आधिभौतिक बल के नीचे से आध्यात्मिक-

ज्ञानबल हटा लिया जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान के नियन्त्रण से नियन्त्रित आधिभौतिक दण्डबल जहाँ रक्षण-कर्म्म में उपयुक्त होता है, वहाँ अध्यात्मज्ञानवञ्चित दण्डबल भक्षणकर्म्म का अनुगामी बनता हुआ समृद्धि-नाश का कारण बन जाता है। क्षत्रियसामन्तों के यहाँ क्या दण्डविधान नहीं है ?। है, और अवश्य है। क्या उस दण्डनीति का प्रजारक्षणकर्म्म में उपयोग होता है ?, नहीं। क्यों ?। इसलिए कि, उनकी दण्डनीति ने अध्यात्मज्ञान का आश्रय छोड़ दिया है। उस अध्यात्मज्ञान का, जिसके सन्देशवाहक निगमागमविद्याचार्य्य ब्राह्मण थे। भारतीय शासनपद्धति के महत्त्वपूर्ण विभाग पुरायुग में जिस वेदवित्–ब्राह्मण के आधार पर छोड़े जाते थे, वही ब्राह्मणसमाज सत्ताश्रय से वञ्चित होकर आज अपने आध्यात्मिक ज्ञानविकास में भी असमर्थ बन रहा है। श्रद्धालुवर्ग–'नमस्कार पं० जी महाराज' कह कर ब्राह्मण से पीछा छुड़ा लेता है, अश्रद्धालुवर्ग उपेक्षा से मुख मोड़ लेता है। और इसप्रकार सत्ताश्रय से वञ्चित, तिरस्कृत देश का वह ब्राह्मणसमाज, जिसे देश के ज्ञान का प्रतिनिधि बनाया गया था, आज पददलित बनाया जारहा है। क्या फिर भी क्षत्रियसमाज अपना गौरव सुरक्षित रख सकता है ?, श्रुति कहती है—'असम्भव'।

यह ठीक है कि, भौतिकदण्डनेतृत्त्व का अधिष्ठाता क्षत्रियसमाज उच्चासन का अधिकारी है। परन्तु इसे स्मरण रखना चाहिए कि, इसकी योनि ब्रह्मबल ही है। ज्ञान के आधार पर ही कर्म्म का उद्भव हुआ है। ब्रह्म ज्ञानमय होने से शाश्वत है, नित्य है। क्षत्र क्रियामय होने से क्षणधर्म्मा है। यदि क्षणिक क्रियामय क्षत्र को शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है, तो इसे शाश्वत ब्रह्मबल को पुरोधा बनाना पड़ेगा। बिना वेदवित्-ब्राह्मणपुरोधा के शास्ता अपनी सत्ता भी सुरक्षित नहीं रख सकता। उधर ब्राह्मण यदि सत्ताश्रय से वञ्चित रह जायगा, तो उसका विकासमात्र रुक जायगा, परन्तु स्वरूपहानि नहीं होगी। अतएव श्रुति को कहना पड़ा कि—'जो शास्ता ब्राह्मण के सहयोग के बिना दण्डनीति का अनुगमन करता है, वह कभी समृद्ध नहीं बन सकता। जिस ब्राह्मण को सत्ताश्रय प्राप्त नहीं होता, उसका ज्ञान विकसित नहीं होता। इसलिए राष्ट्र–अभ्युदयेप्सु का कर्त्तव्य है कि, वह अपने कार्य्य में ब्राह्मणपुरोधा को ही अभिगन्ता बनावे। ब्रह्म–क्षत्र के समन्वय से ही राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है—(देखिए शत० ४।१।४।६।)।

१६–राष्ट्रीय ब्राह्मणवर्ग की जीवन्मृत्यु—

क्षत्रबल ने ब्रह्मबल का आश्रय क्यों छोड़ दिया ?, यह प्रश्न उपस्थित हुआ, इसका उत्तर है–'ब्रह्मबल की मृत्यु', जिसका कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। जिस प्रकार शास्त्रों में 'जीवन्मुक्ति' नाम की विदेह-मुक्ति प्रसिद्ध है, एवमेव 'जीवन्मृत्यु' का भी स्थान समझना चाहिए, जिसके आधार पर–'जीता ही मरा हुआ' किंवदन्ती प्रचलित है। जीता हुआ ही ब्राह्मण कौनसा मरा हुआ कहलाएगा ?, इसका समाधान करते हुए आचार्य्यों नें कहा है—'ब्राह्मण' शब्द की प्रतिष्ठा ब्रह्मवीर्य्य है। ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा निगम, और तदनुगत आगमशास्त्र है। जो ब्राह्मण ब्राह्मणयोनि में जन्म लेकर भी स्वप्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मवीर्य्यविकासक वेद-शास्त्र का अध्ययन नहीं करता, उसका ब्राह्मणत्त्वसम्पादक ब्रह्मवीर्य्य अभिभूत हो जाता है। निगमागमशास्त्र-ज्ञानवञ्चित ऐसे ही नाम के ब्राह्मण जीवित ही मृत हैं, अथवा शूद्रसम हैं +। इसप्रकार शास्त्रानभ्यास ही

\+ योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्त्वमाशु गच्छति सान्वयः॥
—मनुः २।१६८।

ब्राह्मण की मृत्यु का पहिला, एवं प्रधान कारण बन रहा है। ब्रह्मवीर्य्य एक प्राकृतिक दिव्यप्राणात्मिका दिव्य-विभूति है। श्वेतवस्त्र की निर्म्मलता सुरक्षित रखने के लिए जैसे उसे तदनुरूप स्थानादि में सुरक्षित रखना पड़ता है, एवमेव इस ब्रह्मवीर्य्य की विद्यानुगता दिव्यशक्ति की रक्षा के लिए सन्ध्या-तर्पण-बलिवैश्वदेव-गायत्रीजप-द्रव्यशुद्धि-आहारशुद्धि-आदि आचारधर्म्मों का पालन करना अनिवार्य्य होता है। इस आचार-धर्म्म के परित्याग से भी ब्रह्मवीर्य्य मुकुलित हो जाता है। यही ब्राह्मण की मृत्यु का दूसरा कारण है। योग्यता है, शक्ति है, साधन हैं, परन्तु प्रमादवश न वेदाभ्यास में प्रवृत्ति होती, न आचारसेवन होता। इस प्रमादलक्षण आलस्य से भी ब्राह्मण जीवन्मृत बन जाता है। इन तीनों मृत्युकारणों का मूलकारण है-अन्नदोष। अन्न से रसासृक्मांसमेदअस्थिमज्जाशुक्र-ओज के द्वारा सर्वान्त में 'मन' बनता है। मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है, बुद्धि वीर्य्यात्मिका है। गुणभेद से अन्न विभिन्न गुण-धर्म्मोपेत हैं। अतएव यद्गुणक असत्-सत्-अन्न खाया जायगा, तद्गुणक ही असत्-सत् मन बनेगा। मन की अनुरूपता से ही बुद्धि में असत्-सद्वीर्य्यों का आधान होगा। जो ब्राह्मण अन्नमर्य्यादा का अतिक्रमण कर जाते हैं, बिना विवेक के चाहे जिसका अन्न, चाहे जो अन्न, चाहे जितना अन्न, चाहे जिस समय, चाहे जिस अवस्था में भक्षण-चर्वणादि आरम्भ कर देते हैं, वे मृत्यु का साक्षात्रूप से आमन्त्रण कर रहे हैं। यही अन्नदोष मृत्यु का चौथा कारण बनता है। अन्नदोष से ही आलस्य का उदय होता है, आलस्य से ही आचार का परित्याग होता है, आचारपरित्याग से ही वेदाभ्यास-निरोध होता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, चारों मृत्युकारणों में अन्नदोष ही मुख्य द्वार है। सौभाग्य से ! आज ब्राह्मणवर्ग के यहाँ चारों हीं कारणों नें सर्वात्मना आतिथ्य स्वीकार कर रक्खा है। चारों में सर्वाग्रणी बना हुआ ब्राह्मणसमाज जीवन्मृत न बने, तो महा आश्चर्य्य है। और ऐसे जात्युपजीवी ब्राह्मणसमाज की शास्ता समाज उपेक्षा न करे, तो महा आश्चर्य्य है। जीवित जातियों का भय माना जाता है। ब्राह्मण जीवित हैं कहाँ ?, भयसाधक निगमागमबल उसके कोष में है कहाँ !, जिसके भय से बलपूर्वक वे सत्ताबल का उद्बोधन कराने में समर्थ बन सकें। तात्पर्य्य यह निकला कि—

१७-सर्वविद्याप्रतिष्ठात्मिका विद्या—

राष्ट्र-अभ्युदय के लिए शिल्प-कला अपेक्षित, तद्रक्षार्थ कृषि-वाणिज्य अपेक्षित, तद्रक्षार्थ अस्त्रशस्त्रानुगत क्षत्रबल का प्रबोधन अपेक्षित, तदर्थ निगमागमानुगत ब्रह्मबल का उद्बोधन अनिवार्य्य, एवं तदर्थ अध्यात्मशिक्षाप्रधान भारतीय शास्त्रों का प्रचार-प्रसार नितान्त अपेक्षित। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि, शिल्प-कलात्मिका शूद्रविद्या की प्रतिष्ठा कृषि-वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या है। वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा अस्त्रशस्त्रानुगता क्षत्रियविद्या है। एवं इन सब विद्याओं की मूलप्रतिष्ठा सर्वविद्यागर्भिता निगमानुगता ब्राह्मणविद्या है, जो स्वयं ब्राह्मणवर्ग को अध्यात्मविद्यानिष्ठ बनाती है, क्षत्रियवर्ग को अस्त्र-शस्त्रशिक्षा प्रदान करती है, वैश्यवर्ग को कृषि-वाणिज्य कौशल सिखाती है, एवं शूद्रवर्ग को शिल्प-कला में दक्ष बनाती है। तभी तो एतद्देशप्रसूत द्विजाति को सर्वविद्यागुरु माना गया है, जिसका राजर्षिमनु ने निम्न लिखित शब्दों में उद्घोष किया है—

÷ अनभ्यासेन वेदानामाचरस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

—मनुः ५।४।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—मनुः २।२०।

चारों वर्णों से सम्बन्ध रखने वालीं चारों विद्याओं की स्थानप्रतिष्ठा का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराया गया । अब दो शब्दों में इन विद्याओं के नामों का भी उल्लेख कर दिया जाता है, जिससे हमारे सामान्य-श्रद्धालु वर्ग को अपने राष्ट्र की इस मूलनिधि के नाममात्र-श्रवण का पुण्यलाभ तो हो जाय । सर्वप्रथम ब्राह्मणानुगता, ब्रह्मवीर्य्यप्रधाना निगमागमविद्या के नाम ही उपस्थित किए जा रहे हैं ।

१८–ब्रह्मवीर्य्यानुगता निगमागमविद्या–(१)–निगमशास्त्रम्–

अपने आप प्रकट होने वाली विद्या **'स्वयं निर्गता सा'** निर्वचन से 'निगमविद्या' कहलाई है, एवं निगमविद्या के द्वारा आई हुई निगमूला विद्या **'निगमादागता सा'** निर्वचन से 'आगमविद्या' कहलाई है । स्वयं प्रादुर्भूता निगमविद्या का नाम ही 'वेदविद्या' है । इस अपौरुषेयलक्षणा वेदविद्या का प्रतिपादक शब्दशास्त्र ही **'निगमशास्त्र'**, किंवा **'वेदशास्त्र'** है । निगमविद्यामूला आगमविद्या का प्रतिपादक शब्दशास्त्र ही **'आगमशास्त्र'** है । ये ही दो भारतीय मुख्य शास्त्र हैं । निगमशास्त्र में प्रतिपादिता निगमविद्या सूर्य्यविद्या है, पुरुषविद्या है । आगमशास्त्र में प्रतिपादिता आगमविद्या पृथिवीविद्या है, प्रकृतिविद्या है । पुरुषविद्या केवल 'विद्या' है, प्रकृतिविद्या 'महाविद्या' है । दोनों विद्याओं की समष्टि ही 'सृष्टिविद्या' है । **'क्षरःसर्वाणि भूतानि'** के अनुसार विश्व क्षरप्रधान है । अतएव तल्लक्षणा इस सृष्टिविद्या (विश्वविद्या) को विज्ञानभाषा में **'क्षरविद्या'** कहा जायगा । क्षरविद्यात्मिका विद्यालक्षणा निगमविद्या, एवं महाविद्यालक्षणा आगमविद्या, दोनों के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण 'गी० भू० भक्तियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड' में किया जा चुका है । अतएव तत्सम्बन्ध में पिष्टपेषण अनावश्यक है । प्रकृत में दोनों विद्यात्मक शास्त्रों के नाममात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं । क्रमप्राप्त पहिले निगमविद्या को ही लीजिए ।

१९–मन्त्रब्राह्मणात्मक प्राजापत्यशास्त्र—

भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान, तीनों कालों में समानरूप से अप्रतिहतगति से काम करने वाली, तपःप्रभाव से प्राप्त होने वाली, इन्द्रियातीत विषयों का भी प्रत्यक्ष करने वाली, योगजदृष्टि नाम की दिव्यदृष्टि से देखने वाले महामहर्षियों के द्वारा शब्दराशिरूप में गुम्फित स्वतःप्रमाणभूत शास्त्र ही वेदशास्त्र है, यही निगमशास्त्र है । प्रत्यक्षप्रमाण की अपेक्षा से ही यह शास्त्र 'श्रुतिशास्त्र' कहलाया है । वेदशास्त्र ऋषियों की जहाँ प्रत्यक्षदृष्टि है, वहाँ वही हमारे लिए 'श्रुति' है । दृष्टि ही श्रुति है, यही श्रुति का श्रुतित्व है । ज्ञातव्य, कर्त्तव्य, भेद से इस शास्त्र के आगे जाकर दो विभाग हो गए हैं । प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान, इतिहास, देवस्तुति, ये तीन विषय जानने के हैं । एवं बुद्धियोगसापेक्ष निवृत्तिकर्म्मप्रधान ज्ञानयोग, प्रवृत्तिनिवृत्यात्मक भक्तियोग, तथा प्रवृत्तिकर्म्मप्रधान कर्म्मयोग, ये तीन विषय कर्त्तव्यात्मक हैं । ज्ञातव्यविषयत्रयी ज्ञानप्रधाना बनती हुई 'ब्रह्म' है । कर्त्तव्यविषयत्रयी कर्म्मप्रधाना बनती हुई 'कर्म्म' है । ब्रह्म-कर्म्म की समष्टि ही प्रजापति है । अतएव ज्ञातव्य-कर्त्तव्यात्मक निगमशास्त्र को हम इस दृष्टि से **'प्रजापतिशास्त्र'** भी कह सकते हैं । प्रजापतिशास्त्र का

ज्ञातव्यभाग **'मन्त्रवेदशास्त्र'** कहलाया है, एवं कर्त्तव्यभाग **'ब्राह्मणवेदशास्त्र'** कहलाया है। विज्ञान-स्तुति-इतिहास-प्रधान मन्त्रवेद के **ऋक्-यजुः-साम-अथर्व**, ये चार विभाग हैं। प्रत्येक विभाग क्रमशः २१-१०१-१०००-९-संख्याओं में विभक्त है। फलतः मन्त्रवेदशास्त्र की पुस्तकें शाखाभेद से **११३१** हो जातीं हैं। ज्ञानयोगप्रधान ब्राह्मणभाग **'उपनिषत्'** नाम से, भक्तियोगप्रधान ब्राह्मणभाग **'आरण्यक'** नाम से, तथा कर्म्मयोगप्रधान ब्राह्मणभाग **'विधि'** नाम से सम्बोधित हुआ है। मन्त्रात्मक ज्ञातव्य वेदभाग की प्रत्येक शाखा के साथ ब्राह्मणात्मक कर्त्तव्य वेदभाग के तीनों विभागों का सम्बन्ध है। शाखात्मिका मन्त्रसंहिता, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, इन चार पर्वों के समन्वय से एक शाखा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। फलतः कर्त्तव्यवेदभाग के विधि-आरण्यक-उपनिषत्-तीनों विभागों की प्रत्येक की शाखाभेद से ११३१ संख्या हो जातीं हैं। सम्भूय ज्ञातव्य मन्त्रवेद, एवं कर्त्तव्य ब्राह्मणवेद-विभागात्मक निगमशास्त्र की पुस्तकें ४५२४ (चारहजार पाँसौ चोवीस) हो जातीं हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

* १-ऋग्वेदशाखाग्रन्थाः २१——	विधिग्रन्थाः २१	आरण्यकग्रन्थाः	२१	उपनिषद्ग्रन्थाः	२१		
२-यजुर्वेदशाखाग्रन्थाः १०१——	,, १११	,,	१११	,,	१११		
३-सामवेदशाखाग्रन्थाः १०००——	,, १०००	,,	१०००	,,	१०००		
४-अथर्ववेदशाखाग्रन्थाः ९——	,, ९	,,	९	,,	९		
११३१	११३१		११३१		११३१		

४५२४ (चार-हजार-पाँसौ-चौवीस-ग्रन्थ)

१-मन्त्रवेदः -ज्ञातव्यवेदः (विज्ञानेतिहासस्तुतिनिरूपकः-ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः) }
२-ब्राह्मणवेदः -कर्त्तव्यवेदः (ज्ञानभक्तिकर्म्मयोगनिरूपकः-विध्यारण्यकोपनिषल्लक्षणः) } वेदनामधेयम्

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्याहुराचार्य्याः—

—*—

२०-दृष्टिभेद से वेदशास्त्र का समन्वय—

दूसरी दृष्टि से 'वेदशास्त्र' का समन्वय कीजिए। अङ्गी, अङ्ग, भेद से वेदशास्त्र दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। अङ्गी वेदशास्त्र का उपकारक अङ्गभूत शास्त्र प्रथमाङ्ग, मध्यमाङ्ग, उत्तराङ्ग, भेद से तीन भागों में विभक्त है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-संहिताचतुष्टयी अङ्गीभूत वेदशास्त्र है। ऋक्-यजुः-साम-अथर्व, चारों अङ्गीभूत वेदशास्त्रों के क्रमशः अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, ये चार उपवेद हैं। यही प्रथमाङ्गशास्त्र है। वाक्संस्कारक-शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण, प्राणसंस्कारक छन्द-कल्प,

* ऋगादि के तात्त्विक स्वरूप क्या हैं ?, इनका २१-१०१-इत्यादि नियमित संख्याविभाग क्यों माना गया ?, इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान उपनिषत्-विज्ञानभाष्यभूमिका १-२-३ खण्डों में देखना चाहिए।

एवं मनःसंस्कारक गणित–फलित–सिद्धान्तात्मक त्रिभावापन्न ज्योतिष, इन ६ शास्त्रों की समष्टि मध्यमाङ्ग है, यही आज कल 'वेदाङ्ग' नाम से प्रसिद्ध है। इतिहासयुक्त पुराण, योग, न्याय, मीमांसा, इनकी समष्टि 'उत्तराङ्ग' है। इस दृष्टि से अङ्गीशास्त्र के ४ विभाग हो जाते हैं। अङ्गभूत प्रथम–मध्यम–उत्तराङ्ग–विभाग–त्रयी के क्रमशः ४–६–४–विभाग हो जाते हैं। ४ अङ्गीशास्त्र, १४ अङ्गशास्त्र, सम्भूय १८ विभाग हो जाते हैं। 'विद्या ह्यष्टादशैव ताः' से इन्हीं १८ विभागों का संग्रह हुआ है, जैसाकि स्तम्भारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है।

२१–विभिन्न दृष्टि से निगमशास्त्र का समन्वय—

अन्य दृष्टि से निगमशास्त्र का समन्वय कीजिए। 'श्रुति–स्मृति' भेद से भारतीय विद्या के दो विभाग मानें जा सकते हैं। इनमें मन्त्रब्राह्मणात्मक–४५२४ संख्यात्मक–ज्ञातव्य–कर्त्तव्यात्मक–वेदशास्त्र ही मुख्यरूप से निगमशास्त्र है, यही श्रुतिशास्त्र है। एतदतिरिक्त चारों उपवेद, शिक्षादि षडङ्ग, इतिहासादि, सर्वविध आगमग्रन्थ, सम्पूर्ण शब्दप्रपञ्च श्रुतिरूप निगमशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित रहता हुआ 'स्मृतिशास्त्र' है। 'श्रुतिपथ का अनुगमन करने वाला ही स्मृतिशास्त्र कहलाया है'। इसी आधार पर व्याख्याताओं नें गीतादि वचनों के सम्बन्ध में भी 'तथा चाह स्मृतिः' इत्यादि रूप से 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है। इस स्मृति–शास्त्रके ही आगे जाकर अनेक अवान्तर विभाग हो जाते हैं। कुछ विभाग तो निगमशास्त्र के उपकारक बनते हैं, एवं कुछ विभाग आगमशास्त्र के उपकारक बनते हैं। निगमोपकारक स्मृतिशास्त्र का निगमविद्या में अन्तर्भाव कर लिया जाता है। एवं आगमोपकारक स्मृतिशास्त्र का आगमविद्या में अन्तर्भाव कर लिया जाता है। पुराणादि कुछ एक शास्त्र ऐसे भी हैं, जिनका तन्मध्यन्याय से निगम, आगम, दोनों के साथ सम्बन्ध माना जाता है। उभयनिष्ठ होने के कारण इनकी स्वतन्त्ररूप से 'पुराण' नाम से भी गणना हो जाती है। आचार्य्य-भेद से प्रत्येक स्मृतिशास्त्र के ग्रन्थ बहुसंख्या में विभक्त हैं। प्रत्येक शास्त्र शत–सहस्रादि ग्रन्थों में विभक्त हो रहा है। आचार्य्यभेदभिन्न यत्त्वयावत् शिक्षाग्रन्थात्मक **शिक्षाशास्त्र**, श्रौतसूत्रग्रन्थ–गृह्यसूत्रग्रन्थ–साम–याचारिक सूत्रग्रन्थ (मन्वादि स्मृतियाँ)–समष्टिरूप **कल्पशास्त्र**, व्याकरणग्रन्थात्मक **व्याकरणशास्त्र**, छन्दो–ग्रन्थात्मक **छन्दःशास्त्र**, निरुक्तग्रन्थात्मक **निरुक्तशास्त्र**, ज्योतिषग्रन्थात्मक **ज्योतिःशास्त्र**, इन ६ स्मृतिशास्त्रों का प्रधानतः वेदशास्त्र से सम्बन्ध है। बिना इनके वेदार्थपरिशीलन का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अतएव इन्हें 'वेदाङ्ग' नाम से व्यवहृत किया गया है। अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, इन चारों उपवेदात्मक स्मृतिशास्त्रों का भी निगमशास्त्र में ही अन्तर्भाव है। मानवेतिवृत्तात्मक इतिहासग्रन्थ (महभारतादि) समष्टिरूप इतिहासशास्त्रलक्षण स्मृतिशास्त्र का भी निगम में ही अन्तर्भाव है।

२२–अष्टादश विषयात्मक निगमागमानुगत भारतीय पुराणशास्त्र—

सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, वंशानुचरित, मन्वन्तर, गाथा, कल्पशुद्धि, पुराण, संहिता, डामर, यामल, ज्योतिष्चक्र, भुवनकोश, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, हेतु, अपाश्रय, इन अठारह तात्विक विषयों से युक्त चतुर्लक्षश्लोकात्मक १८ पुराण, और उपपुराणशास्त्र का सृष्ट्यादि–सम्बन्ध से जहाँ निगमशास्त्र में अन्तर्भाव है, वहाँ डामर–यामलादि के सम्बन्ध से आगमशास्त्र में भी अन्तर्भाव है। कारण–सृष्टिविज्ञानादि जहाँ निमगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं, वहाँ डामर–यामलादि आगमशास्त्र के मुख्य विषय मानें गए हैं। **'इतिहास–पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** इत्यादि रूप से स्पष्ट ही पुराण को निगमशास्त्रोपोद्बलक माना गया है।

'सृष्टिवाद, अवतारवाद, मतवाद, आयतिवाद, आयतनवाद,' भेद से १८ पुराण क्रमशः '६-६-४-१-१-' इन संख्याओं में विभक्त हैं। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, ये ६ पुराण सृष्टिवादात्मक हैं। लिङ्ग, वामन, वराह, कूर्म्म, मत्स्य, स्कन्द, ये ६ पुराण अवतारवादात्मक हैं। अग्नि, भविष्य, मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त्त, ये चार पुराण मतवादात्मक हैं। गरुड़पुराण आयतिवादात्मक है। एवं ब्रह्माण्डपुराण आयतनवादात्मक है। निम्न लिखित परिलेख से इनकी कल्पानुगता श्लोकसंख्या का स्पष्टीकरण हो रहा है—

पुराणनामानि		कल्पनामानि	श्लोकसंख्या	(४००००० श्लोकात्मकं पुराणशास्त्रम्)
१-ब्रह्मपुराणम्	(१)	सर्वकल्पानुगतम्	१००.०	-सृष्टिवादे षट् (६)
२-पद्मपुराणम्	(२)	हिरण्मयकल्पानुगतम्	५५०००	
३-विष्णुपुराणम्	(३)	वाराहकल्पानुगतम्	२३०००	
४-वायुपुराणम्	(४)	श्वेतकल्पानुगतम्	२४०००	
५-भागवतपुराणम्	(५)	सारस्वतकल्पानुगतम्	१८०००	
६-नारदपुराणम्	(६)	बृहत्कल्पानुगतम्	२५०००	
७-लिङ्गपुराणम्	(१)	आग्नेयकल्पानुगतम्	११०००	-अवतारवादे षट् (६)
८-वामनपुराणम्	(२)	कूर्म्मकल्पानुगतम्	१००००	
९-वराहपुराणम्	(३)	मानवकल्पानुगतम्	२४०००	
१०-कूर्म्मपुराणम्	(४)	लक्ष्मीकल्पानुगतम्	१७०००	
११-मत्स्यपुराणम्	(५)	सप्तकल्पानुगतम्	१४०००	
१२-स्कन्दपुराणम्	(६)	तत्पुरुषकल्पानुगतम्	८११००	
१३-अग्निपुराणम्	(१)	ईशानकल्पानुगतम्	१५४००	-मतवादे चत्वारि (४)
१४-भविष्यपुराणम्	(२)	अघोरकल्पानुगतम्	१४५००	
१५-मार्कण्डेयपुराणम्	(३)	शकुनिकल्पानुगतम्	६०००	
१६-ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्	(४)	रथन्तरकल्पानुगतम्	१८०००	
१७-गरुड़पुराणम्	(१)	गारुडकल्पानुगतम्	१९०००	-आयतिवादे-एकम् (१)
१८-ब्रह्माण्डपुराणम्	(१)	भविष्यकल्पानुगतम्	१२०००	-आयतनवादे-एकम् (१)

२३–निगमागमानुगत भारतोय दर्शनशास्त्र के ३६ विवर्त्त—

दर्शनशास्त्र भी भारतवर्ष का एक मुख्य स्मृतिशास्त्र है, जिसके कुछ एक षट्कों का तो निगम में अन्तर्भाव है, एवं कुछ एक षट्क आगमशास्त्र से सम्बद्ध हैं। गीताभूमिका–द्वितीयखण्ड के 'आत्मपरीक्षात्मक' 'क' विभाग में इन ६ ओं षट्कों से सम्बन्ध रखने वाले ३६ सों भारतीय दर्शनों का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। लोकायतिक, माध्यमिक, वैज्ञानिक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, स्याद्वादिक, इन ६ अनीश्वरदर्शनों का निगमागमविरुद्ध अनीश्वरवाद से सम्बन्ध है। **सांख्यप्रवचन, शैव, नकुलीशपाशुपत, कारुकसिद्धान्त, कापालिक, वैशेषिक,** इन ६ स्वतन्त्रेश्वरदर्शनों का, तथा **निर्विशेषाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, चैतन्यवाद,** इन ६ प्रकृतितन्त्रेश्वरदर्शनों का निगमशास्त्र में अन्तर्भाव है। **सौर, शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, स्मार्त्त,** इन ६ विभूतितन्त्रेश्वरदर्शनों का निगम–आगम, दोनों से सम्बन्ध है। **ऊर्ध्व,–पूर्व–दक्षिण–पश्चिम–उत्तर–अधः**–इन ६ ओं सम्प्रदायदर्शनों का केवल आगमशास्त्र से सम्बन्ध है। **शाब्दिक, मीमांसक, नैय्यायिक, आलङ्कारिक, पौराणिक,** इन ६ दर्शनाभासों का विभूतितन्त्रेश्वरदर्शनवत् निगमागम–दोनों से सम्बन्ध है। इस प्रकार ३६ दर्शनशास्त्रों में से ३० दर्शनशास्त्रों का निगमागमशास्त्र में अन्तर्भाव होरहा है। यही निगमविद्यानुगत अन्य दृष्टिकोण है। इन सबके अतिरिक्त अर्वाचीन मर्म्मज्ञ आचार्य्यों के द्वारा प्रणीत निगमानुगता निबन्धग्रन्थों का भी हम निगमशास्त्र में हीं अन्तर्भाव मानेंगे, जो प्रायः उक्त सभी निगमपर्वों पर लिखे गए हैं। यदि इस दृष्टि से निगमानुगत ग्रन्थसंख्या का अन्वेषण किया जाता है, तो यह संख्या एक प्रकार से संख्यातीत भाव पर विश्राम कर रही है। जिन दृष्टिकोणों का अबतक उल्लेख हुआ है, निम्न लिखित क्रमिक परिलेखों से उनका स्पष्टीकरण होजाता है।

द्वितीयदृष्टिकोणानुगतः परिलेखः —

विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतो ऋग्वेदः (१) विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतो यजुर्वेदः (२) विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतः सामवेदः (३) विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतोऽथर्ववेदः (४)	अर्थवेदः (१) धनुर्वेदः (२) गान्धर्ववेदः (३) आयुर्वेदः (४)	शिक्षा[१], छन्दः[२] व्याकरणम्[३] निरुक्तम्[४] कल्पः[५], ज्योतिषम्[६]	इतिहास-पुराणानि[१] न्यायः[२] मीमांसा[३] योगः[४]
अङ्गिशास्त्रम् ४	प्रथमाङ्गशास्त्रम् ४	मध्यमाङ्गशास्त्रम् ६	उत्तराङ्ग–शास्त्रम् ४
निगमशास्त्राणि ४ (४५२४)	निगमाङ्गशास्त्राणि १४		
निगमशास्त्रम्—१८ पर्वात्मकम्—'विद्या ह्यष्टादशैव ताः' इत्याहुरभियुक्ताः			

ऋग्वेदशाखाग्रन्थाः २१	(१) अर्थवेदग्रन्थाः	(१०) श्रौतसूत्रग्रन्थात्मकाः कल्पग्रन्थाः
यजुर्वेदशाखाग्रन्थाः १०१	(२) धनुर्वेदग्रन्थाः	(११) गृह्यसूत्रग्रन्थात्मकाः कल्पग्रन्थाः
सामवेदशाखाग्रन्थाः १०००	(३) गान्धर्ववेदग्रन्थाः	(१२) सामयाचारिकसूत्र० कल्पग्रन्थाः
अथर्ववेदशाखाग्रन्थाः ६	(४) आयुर्वेदग्रन्थाः	(१३) सोपपुराणानि १८ महापुराणानि
विधिभागग्रन्थाः ११३१	(५) शिक्षाग्रन्थाः	(१४) ३६ दर्शनशास्त्रेषु २४ दर्शनानि
आरण्यकभागग्रन्थाः ११३१	(६) व्याकरणग्रन्थाः	
उपनिषद्भागग्रन्थाः ११३१	(७) छन्दोग्रन्थाः	
श्रुतिशास्त्रम्	(८) निरुक्तग्रन्थाः	
	(९) ज्योतिषग्रन्थाः	
	निगमानुगतं--स्मृतिशास्त्रम्	
श्रुति-स्मृतिलक्षणं-निगमशास्त्रं-निगमविद्यात्मकम्		

२४-सर्ववीर्य्यानुगता आगमविद्या (२)-आगमशास्त्रम्—

दूसरा क्रमप्राप्त आगमशास्त्र है, जिसका दुर्भाग्य से वर्त्तमान में प्रायः प्रचाराभाव होगया है। आगम-शास्त्र पार्थिवशास्त्र है। अतएव सूर्य्यानुगत निगमशास्त्र की अपेक्षा यह सद्यः फलप्रद माना गया है। कहना पड़ेगा कि, आगमसिद्धियों के निकल जाने से ही ब्राह्मण का भयदण्ड निर्वीर्य्य बन गया है। यदि सौभाग्य से अंशरूप से भी ब्राह्मणसमाज आगमबल प्राप्त कर ले, तो आज भी वह इतर वर्णों का नियन्ता बन सकता है। जिस प्रकार निगमविद्या के ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भेद से ७ प्रधान पर्व हैं, एवमेव यह आगमविद्या सिद्धान्त, संहिता, कल्प, यामल, डामर, तन्त्र, इन ६ भागों में विभक्त है। जिस प्रकार निगमशास्त्र के अवान्तर पर्व ४५२४ भागों में विभक्त है, तथैव इस आगम शास्त्र के अवान्तर पर्व १२० भागों में विभक्त हैं। यही मुख्य आगमशास्त्र है। सेतिहासपुराणों का, कतिपय दर्शनों का इस आगमशास्त्र में भी अन्तर्भाव माना गया है, जैसा कि निगमशास्त्रप्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। १८ संहिताओं में इतिहासपूर्वक प्रकीर्णक तात्त्विक विषयों का निरूपण हुआ है। १४ सिद्धान्तग्रन्थों में रसायनादि वैज्ञानिक विद्याओं का विश्लेषण हुआ है। ६ कल्पग्रन्थों में क्रमशः ऊर्ध्वाम्नायानुगत योगरहस्य (१), पूर्वाम्नायानुगत यज्ञरहस्य (२), पश्चिमाम्नायानुगत शब्दरचनात्मक शाबरमन्त्ररहस्य (३),

उत्तराम्नायानुगत पञ्चमकारात्मक शक्त्युपासनारहस्य (४), दक्षिणाम्नायानुगत पञ्चदकारात्मक देवोपासनारहस्य (५) एवं अधराम्नायानुगत अघोरतत्त्वरहस्य (६), इन रहस्यों का विश्लेषण हुआ है। १० भागों में विभक्त यामलग्रन्थों में वृष्टिविज्ञानादि लक्षण नैमित्तिक विज्ञानों का विश्लेषण हुआ है। ८ भागों में विभक्त डामरग्रन्थों में अभिचारप्रयोगों का स्पष्टीकरण हुआ है। एवं ६४ भागों में विभक्त तन्त्रग्रन्थों में मणि-मन्त्र-ओषधि-प्रभावविज्ञानों, एवं तदुपायों का उपबृंहण हुआ है।

आगमशास्त्रविभागाः (१२०)

(१) संहिताग्रन्थाः-१८—इतिहासादयो नानाप्रकीर्णकविषयाः

(२) सिद्धान्तग्रन्थाः-१४--रसायनादयो वैज्ञानिकविषयाः

(३) कल्पग्रन्थाः---६——षडाम्नायाः

(४) यामलग्रन्थाः--१०—वृष्टिविज्ञानादि-नैमित्तिकविज्ञानानि

(५) डामरग्रन्थाः—८——अभिचारविद्याः

६) तन्त्रग्रन्थाः——६४—मणिमन्त्रौषधिविज्ञानानि

——❀——

२५–निगमागमविद्यामूला दिव्यविद्याचतुष्टयी—

उक्त निगमागमविद्याओं के आधार पर–जिन्हें हम 'प्राकृतविद्या' कहेंगे–भारतीय महर्षियों नें आत्मबल के आधार पर जिन चार दिव्य विद्याओं का आविष्कार किया है, वह दिव्यविद्याचतुष्टयी भारतीय ज्ञानकोष की एक अद्भुत सम्पत्ति है। आध्यात्मिक प्रज्ञानमन, आध्यात्मिक ज्ञानेन्द्रियवर्ग, आध्यात्मिक कर्मेन्द्रियवर्ग, आधिभौतिक भूतवर्ग, क्रमशः इन चार तत्त्वों के आधार पर चारों के बलों से चार दिव्य विद्याओं का वितान हुआ है, जिन्हें हम क्रमशः **मनोविद्या, ज्ञानेन्द्रियविद्या, कर्म्मेन्द्रियविद्या, भूतविद्या,** इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। प्रत्येक विद्या के अवान्तर दो दो मुख्य विभाग हैं। प्रत्येक अवान्तर विभाग आठ आठ प्रत्यवान्तर विभागों में विभक्त है। इस क्रम से ४ के ६४ विभाग होजाते हैं। यही भारतीयचतुःषष्टि दिव्यविद्याएँ हैं, जिसके आविर्भाव का श्रेय एकमात्र भारतवर्ष को ही प्राप्त है।

मनोविद्या १	ज्ञानेन्द्रियविद्या २	कर्म्मेन्द्रियविद्या ३	भूतविद्या ४
१–योगविद्या (८)	१–तपोविद्या (८)	१–आगममन्त्रविद्या (८)	१–महौषधिविद्या (८)
२–दिव्यदृष्टिविद्या (८)	२–देवबलसिद्धिविद्या (८)	२–आगममन्त्रविद्या (८)	२–यन्त्रविद्या (८)
१६	१६	१६	१६

६४–दिव्यविद्याप्रभेदाः

२६–मनोविद्यानुगतः–षोडशविद्याविभागः–

१–मनोविद्या (मनोबलानुगता)—

मनःसंयमादुत्पन्ना— योगसिद्धयः–अष्टौ—	इन्द्रियसंयमादुत्पन्ना दिव्यदृष्टयः–अष्टौ—
(१) १–अणिमा	(९) १–अतीतानागतज्ञानं, जन्मान्तरज्ञानञ्च
(२) २–महिमा	(१०) २–दूर-परोक्षज्ञानम्
(३) ३–गरिमा	(११) ३–सर्वभूतरुतज्ञानम्
(४) ४–लघिमा	(१२) ४–मनोविज्ञानम्
(५) ५–प्राप्तिः	(१३) ५–भूगर्भज्ञानम्
(६) ६–प्राकाम्यम्	(१४) ६–भुवनज्ञानम्
(७) ७–ईशित्वम्	(१५) ७–ओषधिप्रभावज्ञानम्
(८) ८–वशित्वम्	(१६) ८–ताराज्योतिःप्रभावज्ञानम्

(१) सैषा–योगविद्या ८ (२) सैषा दिव्यदृष्टिविद्या ८

—मनोविद्या–षोडशविधा—

—१—

२७-इन्द्रियविद्यानुगताः-षोडशविद्याविभागाः-

२-ज्ञानेन्द्रियविद्या (ज्ञानेन्द्रियबलानुगता)—

हृदयसंयमादुत्पन्नास्तपोबलसिद्धयोऽष्टौ—प्राणसंयमादुत्पन्ना देवबलसिद्धयोऽष्टौ

(१७) १-देवसाक्षातकार-छायापुरुषसिद्धिः	(२५) १-कायव्यूहः
(१८) २-वल्गा-कृत्यानाम्नी	(२६) २-परकायप्रवेशः
(१९) ३-आत्मोत्क्रमसाक्षातकारः	(२७) ३-प्राणहारिणी
(२०) ४-मृतपुरुषसाक्षात्कारः	(२८) ४-मृतसंजीवनी
(२१) ५-विश्वरूपदर्शनम्	(२९) ५-स्थाणुसंजीवनी
(२२) ६-मायाव्यामोहनम्	(३०) ६-छायानिग्रहणी
(२३) ७-उपश्रुतिविद्या	(३१) ७-आकृतिपरिवर्त्तिनी
(२४) ८-संस्कारोपधानी	(३२) ८-लिङ्गपरिवर्त्तिनी
(१) सैषा तपोविद्या	(२) सैषा देवबलसिद्धिविद्या
८	८

——ज्ञानेन्द्रियविद्या-षोडशविधा——

——२——

२८—कर्म्मेन्द्रियविद्यानुगताः-षोडशविद्याविभागाः

३—कर्म्मेन्द्रियविद्या (कर्म्मेन्द्रियबलानुगता)—

निगममन्त्रबलोत्पन्नाः सिद्धयोऽष्टौ

(३३) १-सर्पाकर्षिणी
(३४) २-अग्निजलस्तम्भिनी
(३५) ३-अक्षयकरणी
(३६) ४-निग्रहानुग्रहणी
(३७) ५-पुत्रसंजननी-पुत्रेष्टिः
(३८) ६-प्रावृषेण्या-जलवर्षिणी
(३९) ७-आपोनप्त्रीयम्
(४०) ८-मधुविद्या

(१)—सैषा निगममन्त्रविद्या
८

आगममन्त्रबलोत्पन्नाः सिद्धयोऽष्टौ

(४१) १-मारणम्
(४२) २-मोहनम्
(४३) ३-उच्चाटनम्
(४४) ४-वशीकरणम्
(४५) ५-विद्वेषणम्
(४६) ६-स्तम्भनम्
(४७) ७-आकर्षणम्
(४८) ८-संरक्षणम्

(२)—सैषा आगममन्त्रविद्या
८

—कर्म्मेन्द्रियविद्या-षोडशविधा—

२९—भूतविद्यानुगताः—षोडशविद्याविभागाः

४—भूतविद्या (शिल्प-कला-विज्ञानानुगता-शरीरानुगता च)—

महौषधिबलादुत्पन्नाः सिद्धयोऽष्टौ

(४९) १-मृतसंजीवनीगुटिका
(५०) २-संजीवनकरणी
(५१) ३-विशल्यकरणी
(५२) ४-सावर्ण्यकरणी
(५३) ५-संधानकरणी
(५४) ६-अरिष्टभैषज्या
(५५) ७-डिम्भप्रसाविनी
(५६) ८-बलातिबले

(१)—सैषा महौषधिविद्या
८

यन्त्रबलानुगताः सिद्धयोऽष्टौ

(५७) १-दिव्यविमानं त्रिचक्रं रथाकारम्
(५८) २-पुष्पकविमानं हंसरथो वर्द्धिष्णुः
(५९) ३-सौभविमानं नगराकारम्
(६०) ४-सूतविमानं नौकाकारम्
(६१) ५-हर्य्यश्वविमानं हययुग्माकारम्
(६२) ६-प्लवविमानं पद्याकारम्
(६३) ७-अमृतगवी विश्वरूपा
(६४) ८-शिलासन्तरणी-सन्तरणशिला

(२)—सैषा यन्त्रविद्या
८

—भूतविद्या-षोडशविधा—

३०–ब्रह्मबलानुगता निगमागमविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

जिस समृद्धिशाली युग में उक्त निगमागमविद्याएँ पुष्पित पल्लवित थीं, उस युग में होने वाली घटनाएँ आज इन विद्याओं की विलुप्ति से असम्भव प्रतीत हो रहीं हैं। विषय अप्राकृत है, तथापि हम लोभ-संवरण नहीं कर सकते। भारतीय महापुरुषों नें इन दिव्यविद्याओं को केवल पुस्तकों का ही विषय नहीं बनाया था, अपितु–राष्ट्र अभ्युदय के लिए वे इनका समय समय पर उपयोग भी करते रहते थे। जिस राष्ट्र में ब्रह्मवीर्यानुगता इन दिव्यविद्याओं का प्रचार हो, अन्य किस राष्ट्र की शक्ति है कि, वह उस राष्ट्र की ओर आँख उठा कर भी देख सके। हमारा ब्राह्मणसमाज आज योग–क्षेम जैसी सामान्य चिन्ता भी दूर करने में असमर्थ है। वह ब्राह्मणसमाज, जिसके दिव्यविद्याबल के प्रभाव से बड़े बड़े साम्राज्य विकम्पित हो पड़ते थे। और आज ?, आज वे ही भूदेव पाकाचार्य्य की उपाधि प्राप्त करने में हीं अपने आपको भाग्यशाली मान रहे हैं। जो क्षत्रिय-वैश्यसमाज ब्राह्मणसमाज को पाकादि स्वसेवाकर्म्म में नियुक्त रखने का पुण्यलाभ ! कर रहे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, यदि ब्राह्मणसमाज का अभ्युत्थान न हुआ, तो उनका यह उद्दण्डतापूर्ण शासन, और उनका प्रवृद्ध वाणिज्य स्मृतिगर्भ में विलीन ही नहीं हो जायगा, अपितु वे अपना स्वरूप ही खो बैठेंगे। **'छिन्ने मूले नैव शाखा न वृक्षः'** न्याय उन्हें नहीं भुला देना चाहिए। यदि वास्तव में वे अपना, और अपने राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो उन्हें सब से पहिले ब्राह्मणसमाज का उद्बोधन कराना चाहिए। एवं तदर्थ सामदामादि उपायों से विद्याविमुख, अतएव मृतप्राय ब्राह्मणों को निगमागमविद्याभ्यासङ्ग में प्रवृत्त कराना चाहिए। अन्यथा तो सभी अन्यथा हो ही रहा है। जो शेष है, वह और अन्यथा हो जायगा। सौभाग्य से अभीतक राष्ट्र को निगमागमशास्त्र प्राप्त है। जिन दिव्यविद्याओं का उल्लेख हुआ है, वे भी सोपकरण शब्दरूप से अभी तक सुरक्षित हैं। इस ओर ध्यान आकर्षित होने मात्र में विलम्ब है। योग्यतानुरूपता से सभी को आज भी व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया जा सकता है। राष्ट्र को पङ्गु बनाने वाले, अकर्म्म बनाने वाले, विशुद्ध भाग्यवाद के द्वारा पुरुषार्थहीन बनाने वाले झञ्झा–ताल–मृदङ्ग–व्यासङ्ग को छोड़ कर जब तक राष्ट्र मानवधर्म्मप्रचारक–निगमागमशास्त्र–व्यासङ्ग का अनुगामी नहीं बन जायगा, तब तक अहोरात्र रचनात्मक-कार्य्य करते हुए थक थक जाने पर भी, असच्छूद्रसमाज को मन्दिरशिखर पर विराजमान कर देने पर भी, स्त्रीसमाज को घुड़दौड़ में पारङ्गत बना देने पर भी, एवं एतत्सम अन्यान्य प्रयत्नाभाससहस्रों से भी हमारा राष्ट्र और राष्ट्रवादी स्वप्न में भी राष्ट्र का वास्तविक–स्थायी अभ्युदय नहीं कर सकेंगे। जिन ६४ विद्याओं की तालिका पूर्व में उद्धृत हुई है, उनमें से आरम्भ की षोडश विद्याओं के व्यावहारिक उदाहरण उद्धृत किए जारहे हैं कि। ये विद्याएँ केवल वर्त्तमानयुग की भाँति पूर्व युगों में केवल पुस्तकों का ही विषय नहीं रहीं हैं। अपितु राष्ट्र–अभ्युदय के लिए इनका अवसरविशेषों में उपयोग भी होता रहा है।

१–अणिमाविद्या—

अपने पाञ्चभौतिक शरीर को यथेच्छ छोटा बना लेने की विद्या ही 'अणिमा' है। आप इस विद्या के प्रभाव से अपने शरीर को इच्छामात्र से क्षणभर में मच्छर के समान छोटा बना सकते हैं, इस से भी सूक्ष्माकार में परिणत कर सकते हैं। सुप्रसिद्ध वीर्य्यशाली हनुमान् इसी अणिमा के प्रभाव से मच्छरवत् सूक्ष्म बन कर सुरसा के शरीर से निकलने में समर्थ हुए थे।

२–महिमाविद्या—

अपने पाञ्चभौतिक शरीर को यथेच्छ बड़ा बना लेने की विद्या ही 'महिमा' है । आप इस विद्या के प्रभाव से शरीर को इच्छामात्र से क्षणभर में पर्वताकार, इससे भी बृहत् बना सकते हैं । महाभारत के सुप्रसिद्ध योद्धा हिडिम्बागर्भज भीमपुत्र घटोत्कच ने इसी महिमा के बलपर अपने शरीर को इतना विशाल बना लिया था कि, जब कर्ण के द्वारा फैंकी गई 'एकपुरुषघातिनी' शक्ति (अस्त्र) से वह मरा, तब उसके विशाल शरीर से कौरवों की एक अक्षौहिणी सेना दब मरी थी ।

३–गरिमाविद्या–

अपने पाञ्चभौतिक शरीर को यथेच्छ भारी बना लेने की विद्या ही 'गरिमा' है । आप इच्छामात्र से अपना शरीर पर्वतसम भारी बना सकते हैं । निषधपर्वत की ओर जाते हुए स्ववरदपुत्र भीम के बलाभिमान को दूर करने के लिए श्रीमारुति ने इसी विद्या के प्रभाव से अपना शरीर ऐसा भारी बना लिया था कि, युवा भीम भी जराग्रस्त मारुति को टस से मस न कर सके थे । बलवान् भी राक्षससमूह अङ्गद का पैर रावण सभा में न हटा सके थे । बालक श्रीकृष्ण के मुक्के के भार से बलिष्ठ भी चाणूरमल्ल तिलमिला उठा था ।

४–लघिमाविद्या–

अपने शरीर को यथेच्छ हल्का बना देने वाली विद्या ही 'लघिमा' है । पार्थिव आकर्षण का नाम ही शरीरभार है । इसी भार से हम भूतल छोड़ने में असमर्थ रहते हैं । 'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल--समापत्तेश्चाकाशगमनम्' (यो० द० ३।४१) सिद्धान्तानुसार शरीरतत्त्व का भारशून्य आकाशतत्त्व के साथ ग्रन्थिबन्धन–सम्बन्ध स्थापित कर देने से शरीर पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होता हुआ रूई के समान हल्का हो जाता है । और उस दशा में वह व्यक्ति बिना किसी साधन के शरीरमात्र से पक्षी--वत् आकाश में उड़ सकता है । इसी विद्याबल पर केवल वायु के आधार पर भगवान् मारुति समुद्रोल्लंघन में समर्थ हुए थे । सुप्रसिद्ध भक्त नारद आकाशमार्ग से अनेक वार श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ द्वारिका में, एवं अन्यत्र जाया आया करते थे । **'वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः'** प्रसिद्ध है । **'खात् पपातावनिं हृष्टो भक्तैरनुचरैः सह:'** (वा० रा० यु० १६) के अनुसार भक्तराज विभीषण इसी विद्या से आकाश मार्ग के द्वारा रामसेना में पहुँचे थे ।

५–प्राप्तिविद्या–

जिस विद्या से अपने स्थान पर बैठे बैठे ही सैंकड़ों कोस दूर रहने वाली वस्तु का अपने सामने जैसा प्रत्यक्ष कर लिया जाता है, वही 'प्राप्तिविद्या' है । चन्द्रग्रहण हो रहा है आकाश में, आप देख रहे हैं–अपनी आँखों के सामने । आप भूतल पर खड़े खड़े ही पर्वत की चोटी पर लगे वृक्षों के फल–पुष्प तोड़ रहे हैं । व्यासप्रदत्ता इसी विद्या के बल पर सञ्जय धृतराष्ट्रभवन में बैठे बैठे ही युद्ध के दृश्यदर्शन–वर्णन में समर्थ हुए थे ।

६–प्राकाम्यविद्या–

पार्थिवादि आत्रेय आवरणों को निरावरणभाव में परिणत कर देने वाली यह अद्भुत विद्या ही 'प्राकाम्यविद्या' कहलाई है, जिसके द्वारा आप यथेच्छ गमन कर सकते हैं । सरोवर की भाँति भूमि में डुबकी

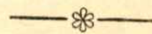
लगा सकते हैं, पाषाणशिला में प्रविष्ट हो सकते हैं, पानी में घन्टों रह कर भी पानी के कष्ट से बच सकते हैं, अग्नि आप को जला नहीं सकता, वायु आपको स्थानच्युत नहीं कर सकता, खुले मैदान में आप अदृश्य बन सकते हैं, छायारूप में परिणत हो सकते हैं, जेल के बंद फाटक से बाहिर निकल सकते हैं। जब जरासन्ध के सैनिकों नें रैवत पर्वत पर पहुँचे हुए श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर लिया था, तो आप इसी विद्या के प्रभाव से अदृश्य बन कर द्वारिका पहुँच गए थे। गृहद्वार भले ही आपके आकार से छोटा हो, आपको झुकने की आवश्यकता नहीं है। इच्छामात्र से द्वार आपके अनुरूप बड़ा हो जायगा। दृष्टिमात्र से शून्य भी घट जल से भर जायँगे। तृणसमूह दृष्टिमात्र से प्रज्वलित हो जायगा। हाथों से मसले जाकर भी पुष्प अपना विकास न छोड़ेंगे (देखिए म० वनपर्व ७५ अ०)। सुप्रसिद्ध भारतीय सम्राट 'नल' इस प्राकाम्यविद्या में पूर्ण निष्णात थे।

७–ईशित्त्वविद्या–

पूर्वोक्त अणिमादि ६ओं विद्याओं को अन्य विद्याभावों में परिणत कर देने की अलौकिक शक्ति ही 'ईशित्त्व' है। अपनी लघिमा के प्रवेश से हनुमान ने द्रोणाचल को लघिमायुक्त कर दिया था। भगवान् कृष्ण ने गोवर्द्धन के भार को लघिमारूप में परिणत कर दिया था। विश्वामित्र ने राजा त्रिशङ्कु को आकाश में रोक दिया था। द्वारिका में बैठे बैठे ही कृष्ण ने हस्तिनापुर में द्रौपदी का चीर बढ़ा दिया था। अगस्त्य समुद्र का शोषण कर गए थे। मत्स्य ने जलप्रलयनौका को अपने शृङ्ग पर रोक लिया था। 'अन्तर्द्धान–विद्या' का भी इसी विद्या में अन्तर्भाव माना गया है, जिसका—**'कायरूपसंयमात्–तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्द्धानम्'** (पा० यो० ३।२०।) इत्यादि योगसूत्र से विश्लेषण हुआ है।

८–वशित्त्वविद्या–

अपने से अधिक शक्तिशाली को वश में कर लेना हीं वशित्त्व है। ततःपूत महर्षियों के तपःप्रभाव से हिंसक सिंहादि पशु ग्रामसिंह (श्वान) वत् बने रहते हैं। श्रीकृष्ण ने इसी के प्रभाव से नागराज का वशीकरण किया था। कालबेलिए सर्प पर प्रभाव जमा लेते हैं। सुप्रसिद्ध तान्त्रिक 'वशीकरणविद्या' का भी इसी में समावेश माना गया है।



९–अतीतानगतज्ञानविद्या–

वर्त्तमान के अतिरिक्त भूत, और भविष्यत् की स्थितियों का वर्त्तमानवत् बोध करा देने वाली विद्या ही 'अतीतानागतविद्या' है। महाराज वसिष्ठ ने इसी के प्रभाव से राजा दिलीप को यह संकेत किया था कि, तुमने कामधेनु की पुत्री नन्दिनी का अपमान किया था। उसी के शाप से तुम सन्तति से वञ्चित हो। महामुनि वाल्मीकि ने इसी के द्वारा रामचरित्र का संकलन किया था। भगवान् वेदव्यास ने इसी के द्वारा आदिपर्व में कौरव–पाण्डवों के पूर्वजन्मों का उपवर्णन किया है। इसप्रकार इस विद्या के प्रभाव से भूतकाल की सम्पूर्ण घटनाओं का साक्षात्कार किया जा सकता है। **'धर्म्मलक्षणावस्थापरिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्'** (पा० यो० ३।१६) इत्यादि से इसी का विश्लेषण हुआ है। 'जन्मान्तरज्ञान' का भी इसी में अन्तर्भाव है, जिसका—**संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्'** (पा० यो० ३।१८) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

इसी के आधार पर भगवान् ने कहा है—'अर्जुन ! तू, और मैं, अनेक जन्म ले चुके हैं। परन्तु मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता'। इन अतीत ज्ञानों के अतिरिक्त कल्कि आदि के भविष्य का भी भारतीय ज्ञान प्रसिद्ध है। पुराणों में आगामी राजवंशों का वर्णन इसी के आधार पर हुआ है। कलियुग में होने वाले विपरीत धर्म्मों का शताब्दियों से पहिले पुराणों में जो वर्णन हुआ है, उसकी सत्यता का आज हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। उदाहरण के लिए—"**शूद्राश्च ब्राह्मणाचाराः, ब्राह्मणाः शूद्रवृत्तयः**' यह भविष्योक्ति आज सर्वात्मना चरितार्थ हो रही है। ब्राह्मणवर्ग शूद्रवत् आचरण कर रहा है, और शूद्र ब्राह्मण बनने के लिए उतावले हो रहे हैं। स्पृश्य अस्पृश्य कोटि में आ रहे हैं, अस्पृश्य स्पृश्य बनाए जा रहे हैं। तभी तो देश के एक महान् नेता ने किसी जिज्ञासु के इस प्रश्न का—'यदि अस्पृश्य स्पृश्य बन जायँगे, तो ब्राह्मणों का क्या स्थान रहेगा'-उत्तर दिया था कि—'ब्राह्मण चाहेंगे, तो अस्पृश्य मान लिए जायँगे' यह समाधान किया था। होने वाले सूर्य्य चन्द्रग्रहणों का परिज्ञान भी इसी विद्या से सम्बद्ध है। सुप्रसिद्ध 'कालज्ञान' का भी इसी में अन्तर्भाव है। इसी से मृत्युज्ञान हो जाता है। 'छायापुरुषसिद्धि' का भी इसी में अन्तर्भाव है।

१०—दूरातिक्रान्तदर्शनविद्या—

जिस विद्या के प्रभाव से अपने से सर्वथा विदूर, साथ ही इन्द्रियपरोक्ष विषयों का ज्ञान हो जाता है, वही 'दूरातिक्रान्तदर्शनविद्या' कहलाई है। इसी के प्रभाव से द्वारिका में बैठे बैठे श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के वस्त्रापहरणकर्म्म का साक्षात्कार कर लिया था। इन्द्रियों से नहीं दिखाई देने वाले सूक्ष्म पदार्थों का, भित्ति-पर्दा आदि के उस पार रक्खी हुई वस्तुओं का, देशान्तर में स्थित वस्तुओं का, इसप्रकार सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, तीनों भावों का इससे साक्षात्कार हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-शब्द भी इसके द्वारा सुन लिए जाते हैं। द्रौपदी की करुणपुकार इसी के द्वारा सुन ली गई थी। कृष्णार्जुनसंवाद-रूपा गीता का संजय ने व्यासप्रदत्त इसी विद्या के द्वारा धृतराष्ट्रभवन में बैठे बैठे ही श्रवण कर लिया था। '**प्रवृत्त्या लोकन्यासात् सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्**' (पा० यो० ३।२४।)—'**श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्**' (पा० यो० ३।४०) सूत्रद्वयी से इसी का स्पष्टीकरण हुआ है।

११—सर्वभूतरुतज्ञानविद्या—

'**न ह्यशब्दमिवास्ति**'—'**अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते**' *—'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार यच्चयावत् प्राणी व्यक्त-अव्यक्त वाणी का प्रयोग करते रहते हैं। '**ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे**' रहस्यशास्त्र (दुर्गासप्तशती) के अनुसार प्राणी-मात्र में जब ज्ञानशक्ति है, तो अवश्य ही उनमें शब्दशक्ति का भी समावेश मानना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान का अभिनय शब्द से ही सम्भव है। सिद्ध है कि, पिपीलिका (चींटी) आदि जिन प्राणियों को हम निःशब्द समझते हैं, वे भी बोलते हैं। इन समस्त प्राणियों की व्यक्ताव्यक्तभाषा का परिज्ञान जिस विद्या से होता है, वही 'सर्वभूतरुतज्ञानविद्या' कहलाई है। इसी के द्वारा युधिष्ठिर-विदुरादि पक्षीभाषा का उल्लेख करने में

---

* **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाक्यपदी।

समर्थ हुए हैं। प्रसिद्ध है कि, ब्रह्मदत्त और काम्पिल्य महाराज पिपीलिका के शब्दों का परिज्ञान रखते थे। **'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्'** (पा॰ यो॰ ३।१७) सूत्र ने इसी विद्या का विश्लेषण किया है।

१२–मनोविज्ञानविद्या—

अन्य प्राणियों के मनोभावों का बोध करा देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है। बाह्य वातावरण ही इस विद्या की प्रतिष्ठा बनता है। शरीर के चारों ओर व्याप्त भूतवायु 'बाह्यवायु' है, इसे ही 'वातावरण' (वायु का आवरण) कहा गया है। आध्यात्मिक प्राणवायु–जो रोमकूपों से बाहिर निकल कर आवरणरूप बाह्यवायु में उच्चावचभाव उत्पन्न किया करता है–के आधार पर यह वातावरण प्रतिष्ठित है। एवं प्रज्ञानमन के आधार पर प्राणवायु प्रतिष्ठित है। मन में जैसे भी उच्चावच संकल्प–विकल्प उठते रहते हैं, तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राणवायु में भी वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस मनोऽनुगत प्राणवायु के प्रत्याघात के अनुरूप ही शारीर बाह्य वायु में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं। इस बाह्य वातावरण को पहिचान कर यह बतलाया जा सकता है कि, अमुक व्यक्ति इस समय अमुक इच्छा कर रहा है। यही मनोविज्ञानविद्या है। मन्त्रश्रुति कहती है कि–'मनसे जो संकल्प होता है, वह प्राणवायु पर आता है (प्राणवायु से भूतवायु पर)। एवं यह वातावरण ही विद्वानों को यह बतला देता है कि, हे पुरुष ! इस समय तू यह चाहता है *। ब्राह्मणश्रुति ने भी इसी भाव का निम्न लिखित शब्दों में समर्थन किया है—

"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति । मनसा संकल्पयति-तत् प्राणमभिपद्यते । प्राणो वातम् । वातो देवेभ्य आचष्टे–यथा पुरुषस्य मनः" ।

—शत॰ ब्रा॰ ३।३।३

'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' (पा॰ यो॰ ३।१६।) के अनुसार दूसरों की मानस–स्थिति को जान लेना हीं मनोविज्ञान है। यह निश्चित है कि, मानस वृत्तियों के अनुरूप ही बाह्य वातावरण की सुसूक्ष्म चेष्टाओं में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं, जिनका बुद्धिमान् मनुष्य बिना भी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरचेष्टाओं से भी अंशतः अनुमान लगा लिया करते हैं। मन में जैसे भी विचार होते हैं, वाणी, दृष्टि, गति, आदि शरीरव्यापारों में भी वैसे ही चेष्टाओं का उदय होता रहता है। इन शरीरचेष्टाओं से भी हम दूसरों की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा लिया करते हैं।

१३–भूगर्भविज्ञानविद्या—

अथर्ववेदोपवर्णित महौषधियों से चक्षुरिन्द्रिय का संस्कार करने पर इसमें पारदर्शकता का उदय हो जाता है। सुप्रसिद्ध अत्रिप्राण ही पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है। जिस पार्थिव पदार्थ में

*** मनसा संकल्पयति, तद्वातमभिगच्छति ।**
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥

अत्रिप्राण जितनी अधिक मात्रा में रहता है, वह पदार्थ उसी अनुपात से अधिकाधिक घनावयव बना रहता है। पाषाण में अत्रिप्राण अधिक है। अतएव पाषाणस्तर से उस पार रक्खी हुई वस्तु हम नहीं देख सकते। काच में अत्रिप्राण अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके उसपार रक्खी वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। वायु में अत्रिप्राण नहीं के समान है। अतएव वायु प्राणवत् अधामच्छद बना रहता है। महौषधिविशेष के द्वारा चक्षु में अत्रिप्राणनिराकरणशक्ति का समावेश हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी महौषधि से संस्कृत चक्षुरिन्द्रिय से घन पदार्थों के अन्तस्तल में भी चक्षुर्व्यापार अप्रतिहत बन जाता है, एवं यही 'भूगर्भविज्ञानविद्या' है। जमीन से १० हाथ नीचे तक की वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि महौषधि से सम्पन्न दिव्य अञ्जन से चक्षु में इतनी हीं शक्ति का समावेश होता है।

१४–भुवनज्ञानविद्या—

जिस विद्या के द्वारा सातों लोकों का साक्षात्कार हो जाता है, वही भुवनज्ञानविद्या है। जिस प्रकार क्षुद्रविराट्–स्वरूप आध्यात्मिक जीवप्रजापति के शरीर का आकार अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से आठ प्रादेशमित बनता हुआ ८४ अङ्गुल का है, एवमेव महाविराट्स्वरूप आधिदैविक ईश्वरप्रजापति के शरीर का आकार भी सात वितस्तियों के सम्बन्ध से ८४ अङ्गुल का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की वे सातों वितस्तियाँ हीं क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः, सत्यम्, इन नामों से व्यवहृत हुईं हैं। सुप्रसिद्ध भूपिण्ड 'भू लोक' है। भूपिण्ड के मेरुपृष्ठ से आरम्भ कर ग्रह–नक्षत्र–तारादि युक्त ध्रुवपर्य्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही भुवर्लोक है। इससे आगे का पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, पञ्चविंश, ब्रध्नस्यविष्टप् भेद से पञ्चधा विभक्त सौर माहेन्द्रलोक तीसरा स्वर्लोक है। सूर्य्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक प्राजापत्य-लोक है, यही चौथा महर्लोक है। परमेष्ठी जनल्लोक है, परमेष्ठी और स्वयम्भू के मध्य का लोक तपोलोक है, एवं स्वयम्भू सत्यलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'ब्राह्मलोक' है *। इन सात लोकों में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूः, से सम्बद्ध सत्य–जनत्–स्वः–भूः–ये चार तो सत्यलोक हैं, एवं चारों के सन्धिभागों से सम्बद्ध तपः–महः–भुवः–तीनों ऋतलोक हैं। ऋतसत्यात्मक ये सातों लोक ही सप्तभुवन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। सप्तभुवनदर्शन के लिए इसी मध्यस्थ सूर्य्य में चक्षुरिन्द्रिय का संयम करना पड़ता है। इस संयम से चक्षु में विश्वद्रष्टा सूर्य्य के विश्वदर्शनधर्म्म का समावेश हो जाता है, और यही भुवनज्ञान–विद्या है, जिसका **'भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्'** (पा० यो० ३।२५।) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५–ओषधिप्रभावज्ञानविद्या—

कुछ एक ओषधियों में अपूर्व दिव्यशक्तियाँ रहतीं हैं, जिनके स्पर्शमात्र से अद्भुत प्रभाव का अनुभव होता है। सोम, हरीतकि, बिभीतक (बहेड़ा), जङ्गिड़, अपामार्ग, आदि एवंविध ओषधियों के अचिन्त्य–अद्भुत प्रभावों का अथर्ववेद में बड़े विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इन ओषधिप्रभावों का यथावत् परिज्ञान सामान्य लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषदृष्टि अपेक्षित है, जो

***–ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः, प्राजापत्यस्ततो महान्।**
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

'दिव्यदृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी से ओषधिप्रभाव परिज्ञात होते हैं, जिस दिव्यदृष्टि का भगवान् भर्तृहरि ने निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण किया है—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥१॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

—वाक्यपदीय ६।३।१०।६।

१६–ताराज्योतिःप्रभावज्ञानविद्या—

प्राणतत्त्व ही प्राणी-जगत् की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-शून्य अधामच्छद यह प्राणतत्त्व ही 'ऋषि' कहलाया है। असल्लक्षण, आध्यात्मिक, आदि विविध भेदानुगत इन ऋषिप्राणों में से 'रोचनालक्षण ऋषिप्राण' का सृष्टिकर्म्म में अपना प्रधान हस्तक्षेप रखता है। आकाश में प्रतिष्ठित भूतपिण्डात्मक नक्षत्र विभिन्न प्राणों की राशि है। तत्तन्नक्षत्र-द्वारा अध्यात्म में तत्तत् प्राणों का समावेश होता रहता है। चान्द्रस्थिति के अनुपात से इन नाक्षत्रिक प्राणों के भोग में तारतम्य होता रहता है। इन नक्षत्रप्राणों के अचिन्त्य प्रभावों का परिज्ञान जिस विद्या से सम्भव है, वही 'ताराज्योतिः-प्रभावज्ञानविद्या' है, जिसका उदय चन्द्रतत्त्वसंयम पर निर्भर है, जैसाकि–**'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्'** (पा० यो० ३।२६।) इस सूत्र से प्रमाणित है।

——१६——

सैषा–ब्रह्मवीर्य्यानुगत्ता निगमागमविद्या–ब्राह्मणविद्या प्रथमा

——१——

३१–क्षत्रवीर्य्यानुगता शस्त्रास्त्रविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

क्षत्रवीर्य्यानुगता विद्या भी निगमागममूला ही है, जिसके अस्त्रविद्या, शस्त्रविद्या, भेद से दो विवर्त्त मानें गए हैं। मन्त्रात्मिका प्रहारविद्या अस्त्रविद्या है, भूतात्मिका प्रहारविद्या शस्त्रविद्या है। अस्त्रायुध मन्त्रशक्तिप्रधान हैं, एवं इनके मन्त्रायुध, मन्त्रयुक्त शस्त्र भेद से दो विवर्त्त हैं। विशुद्ध मन्त्रों की शक्ति से काम लेना मन्त्रायुध विभाग है। मन्त्र से युक्त भूतास्त्रों से काम लेना मन्त्रयुक्त शस्त्रविभाग है। **'हुङ्कारेणैव तं भस्म सा चकाराम्बिका ततः'** यह मन्त्रात्मक आयुध का उदाहरण है। अपने स्थान पर बैठे बैठे ही मन्त्रबल से शत्रुपराभव कर डालना हीं मन्त्रात्मक आयुध का कर्म्म है। इन्दुमती स्वयम्वर के अवसर पर इक्ष्वाकुवंशज अज के द्वारा 'सम्मोहनास्त्र' प्रक्षेप से राजन्यसमूह का मोहनिद्रा में निमग्न होजाना मन्त्रयुक्त भूतायुध का उदाहरण है। बिना मन्त्र के केवल शस्त्रों से उपयोग लेना शस्त्रविद्या से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार आत्मबलानुगता ब्राह्मणविद्या ६४ भागों में विभक्त है, एवमेव मन्त्रानुगता क्षत्रियविद्या से सम्बद्ध अस्त्रविद्या के भी ६४ ही विभाग मानें गए हैं, जो विद्याचतुःषष्टि **'दिव्यास्त्रविद्या'** नाम से प्रसिद्ध है। इन ६४ अस्त्र विद्याओं के **'दैवास्त्रविद्या, यौनास्त्रविद्या, भौतास्त्रविद्या, कर्म्मास्त्रविद्या,** भेद से मुख्य चार श्रेणि–विभाग मानें गए हैं। चारों १६-१६ अवान्तर भागों में विभक्त हैं। सम्भूय ६४ बिभाग हो जाते हैं।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण में दण्डचक्रादि ५० दिव्यास्त्रों का प्रकारान्तर से उल्लेख हुआ है । वहीं इन पचासों दिव्यास्त्रों के दिव्यास्त्रसंहारों का स्पष्टीकरण हुआ है । दिव्यास्त्रों की शक्ति को रोकने वाला अस्त्र ही 'दिव्यास्त्रसंहार' कहलाया है । यह अस्त्रविद्या केवल भारतवर्ष की प्रातिस्विक सम्पत्ति हैं । लौकिक शस्त्र-विद्या के प्रधान १८ विभाग मानें गए हैं । नीचे लिखी तालिकाओं से इन अस्त्र-शस्त्र-विद्याओं के नाममात्र से परिचय हो जाता है—

दिव्यास्त्राणि—६४

१-दैवास्त्र (१६)	२-यौनास्त्र (१६)	३-भौतास्त्र (१६)	४-कर्म्मास्त्र (१६)
१-ब्रह्मशिरोऽस्त्र	१-स्कान्दास्त्र	१-मकरास्त्र	१-उन्मादास्त्र
२-ब्रह्मास्त्र	२-प्रमथास्त्र	२-सौपर्णास्त्र	२-स्तम्भनास्त्र
३-पाशुपतास्त्र	३-वैनायकास्त्र	३-भारुण्डास्त्र	३-कम्पनास्त्र
४-वैष्णवास्त्र	४-कूष्माण्डास्त्र	४-उलूकास्त्र	४-जृम्भणास्त्र
५-वारुणास्त्र	५-गणास्त्र	५-गालणास्त्र	५-जम्भकास्त्र
६-नारायणास्त्र	६-गान्धर्वास्त्र	६-पाषाणास्त्र	६-मूर्च्छनास्त्र
७-ऐन्द्रास्त्र	७-राक्षसास्त्र	७-कालकूटास्त्र	७-निमीलनास्त्र
८-प्राजापत्यास्त्र	८-पैशाचास्त्र	८-चाक्रास्त्र	८-उत्पातास्त्र
९-आग्नेयास्त्र	९-भौतास्त्र	९-ऐषीकास्त्र	९-प्रस्वापनास्त्र
१०-वायव्यास्त्र	१०-वैतालास्त्र	१०-बलास्त्र	१०-ज्वरास्त्र
११-कौबेरास्त्र	११-शरभास्त्र	११-अतिबलास्त्र	११-भ्रामकास्त्र
१२-पार्जन्यास्त्र	१२-तार्क्ष्यास्त्र	१२-औदुम्बरास्त्र	१२-अचेतनास्त्र
१३-त्वाष्ट्रास्त्र	१३-शाबरास्त्र	१३-राजसास्त्र	१३-मोहनास्त्र
१४-कालास्त्र	१४-फैरवास्त्र	१४-हैमनास्त्र	१४-वैद्युतास्त्र
१५-याम्यास्त्र	१५-मातङ्गास्त्र	१५-गुह्यास्त्र	१५-तिमिरास्त्र
१६-दानवास्त्र	१६-नागास्त्र	१६-शौरास्त्र	१६-तमसास्त्र
१६	१६	१६	१६

६४

दिव्यास्त्राणि–५० (वाल्मीकिमते)

१–दण्डचक्रास्त्र (१)
२–धर्म्मचक्रास्त्र (२)
१ ३–कालचक्रास्त्र (३)
४–विष्णुचक्रास्त्र (४)
५–ऐन्द्रचक्रास्त्र (५)

६–धर्म्मपाशास्त्र (१)
२ ७–कालपाशास्त्र (२)
८–वारुणपाशास्त्र (३)

---

३ ९–शुष्काशन्यस्त्र (१)
१०–आर्द्राशन्यस्त्र (२)

---

४ ११–मोदकीगदास्त्र (१)
१२–शिखरीगदास्त्र (२)

---

५ १३–कङ्कालमुसलशक्त्यस्त्र (१)
१४–कापालकिङ्कणीशक्त्यस्त्र (२)

१५–वज्रास्त्र (१)
१६–शैवास्त्र (२)
१७–शूलवतास्त्र (३)
६ १८–ब्रह्मशिरोऽस्त्र (४)
१९–ऐषीकास्त्र (५)
२०–ब्राह्मास्त्र (६)

२१–पिनाकास्त्र (१)
७ २२–नारायणास्त्र (२)
२३–आग्नेयास्त्र (३)
२४–वायव्यास्त्र (४)
२५–हयग्रीवास्त्र (५)
२६–क्रौञ्चास्त्र (६)

२७–विद्याधरास्त्र (१)
२८–गान्धर्वास्त्र (२)
२९–प्रस्वापनास्त्र (३)
३०–प्रशमनास्त्र (४)
३१–सौम्यास्त्र (५)
३२–वर्षणास्त्र (६)
३३–शोषणास्त्र (७)
३४–सन्तापनास्त्र (८)
३५–विलापनास्त्र (९)
३६–मादनास्त्र (१०)
३७–कन्दर्पास्त्र (११)
३८–मानवास्त्र (१२)
८ ३९–पिशाचास्त्र (१३)
४०–तामसास्त्र (१४)
४१–सौमनास्त्र (१५)
४२–सम्वर्तास्त्र (१६)
४३–मौसलास्त्र (१७)
४४–सत्यास्त्र (१८)
४५–मायास्त्र (१९)
४६–सौरास्त्र (२०)
४७–सौम्यास्त्र (२१)
४८–त्वाष्ट्रास्त्र (२२)
४९–दारुणास्त्र (२३)
५०–मानवास्त्र (२४)

(देखिए वा०रा०बा० २७ सर्ग)

दिव्यास्त्रसंहाराः—५०

१—सत्यवान्	१८—रत्नाभ	३५—पित्र्य
२—सत्यकीर्त्ति	१९—ज्यौतिष	३६—सौमनस
३—धृष्ट	२०—शकुन	३७—विधूत
४—प्रतीहार	२१—नैरास्य	३८—मकर
५—अपराङ्मुख	२२—विमल	३९—परवीर
६—अवाङ्मुख	२३—योगधर	४०—रति
७—लक्ष्य	२४—विनिद्र	४१—धन
८—अलक्ष्य	२५—दैत्य	४२—धान्य
९—दृढनाभ	२६—प्रथमत	४३—कामरूप
१०—सुनाभ	२७—शुचिबाहु	४४—कामरुचि
११—दशाक्ष	२८—महाबाहु	४५—मोह
१२—शतवक्त्र	२९—निष्कलि	४६—आवरण
१३—दशशीर्ष	३०—विरुचि	४७—जृम्भक
१४—शतोदर	३१—सार्चिमाली	४८—सर्पनाथ
१५—पद्मनाभ	३२—धृतिमाली	४९—पन्थान
१६—महानाभ	३३—वृत्तिमान्	५०—वरुण
१७—दुन्दुनाभ	३४—रुचिर	

लौकिक-भूतशास्त्राणि—१८

संख्या	संस्कृत	पर्य्याय	हिन्दी
१—	खड्गः-सचर्म्मा	कृपाणः, ऋष्टिः असिः, करवालः,	तलवार, खाँडा
२—	धनुः-सशरम्	चापः, धन्वः,	तीर—कमान
३—	परिघः-कालदण्डः	परिघातिनी	लाठी
४—	पट्टिशम्	❀ ❀ ❀	सेल
५—	तोमरः	सर्वला	गुरगूज
६—	कुन्तः	प्रासः	भाला, बल्लम
७—	खेटः	ईलः करवालः	कटारी, गुप्ती
८—	गदा	❀ ❀ ❀	गुर्ज
९—	परशुः	परश्वधः, स्वधितिः, कुठारः	फरसा, कुठार, कुल्हाड़ी
१०—	चक्रम्	❀ ❀ ❀	चक्र
११—	शूलम्	❀ ❀ ❀	शूल
१२—	शक्तिः	कासः	बर्छी
१३—	मुग्दरः कूटमुग्दरः	घनः, द्रुघणः	मुग्दर
१४—	पाशः	❀ ❀ ❀	फाँस
१५—	हलमुसलम्	❀ ❀ ❀	हल-मूसल
१६—	भिन्दिपालः	सृगः	गोफ्या-ढेलवाँस
१७—	छुरिका	शस्त्री, असिपुत्री	छुरी-छुरा
१८—	शतघ्नी-भुशुण्डी	❀ ❀ ❀	तोप-बन्दूक

सैषा-क्षत्रवीर्य्यानुगता-अस्त्रशस्त्रविद्या क्षत्रियविद्या द्वितीया
ब्राह्मणविद्यायां-प्रतिष्ठिता

—२—

—❀—

३२—विड्वीर्य्यानुगता कृषिवाणिज्यविद्या का दिग्दर्शन—

विड्वीर्य्यानुगता कृषिविद्या, तथा वाणिज्यविद्या का भी उक्त विद्याद्वयी की भाँति बहुविस्तार है। कृषि की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि गोवंश है। अतएव गीताचार्य्य ने **'कृषि–गोरक्ष–वाणिज्यं, वैश्यकर्म्मस्वभावजम्'** इत्यादि रूप से तीनों को वैश्यवर्ण के सहजकर्म्म मान लिए हैं। इन तीनों कर्म्मों के भेद से वैश्यवर्ण के कृषिवल, गोवल, वाणिज्यवल, ये तीन विभाग हो जाते हैं। विशुद्ध खेती करने वालों का समुदाय पृथक् है। गोवंशपालक समुदाय पृथक् है। एवं कृषि से उत्पन्न अन्नसम्पत्ति, तथा शुद्रसमाज के द्वारा निर्मित शिल्प–कलाओं के यातायात की व्यवस्था करने वाला वैश्यसमाज पृथक् है। फलपाकान्त ओषधिवर्ग, वनस्पतिवर्ग, कृषि के ये दो मुख्य विभाग हैं। गोरक्षाकर्म्म पशुरक्षामात्र का उपलक्षण है, जिसमें अश्वविद्या, हस्तिविद्या आदि विभिन्न पशुविद्याओं का भी अन्तर्भाव है। रत्नपरीक्षा, धातूपधातुपरीक्षा,रसोपरसपरीक्षा, विषोपविषपरीक्षा, खनिजद्रव्यपरीक्षा, शिल्पकलानुगत वस्तुक्रयविक्रय, आदि विभाग वाणिज्यविद्या में अन्तर्भूत है। दुःख है कि, ब्रह्म–क्षत्रवत् विड्वीर्य्य ने भी आज अपने इस स्वधर्म्म–लक्षण स्वकर्म्म का परित्याग कर दिया है। कारण पूर्व में बतलाया जा चुका है। धातुतृष्णा की पूर्त्ति का एकमात्र साधन वाणिज्य है। अतः वैश्यवर्ण का प्रधान लक्ष्य केवल वाणिज्य ही रह गया है। वाणिज्य भी कैसा ?, जिसका स्वरूपनिर्म्माण होता है शूद्रवर्ण के द्वारा, और इस का लाभ उठाता है केवल वैश्यसमाज। इसी अनुचित लाभ–लालसा ने कृषिप्रधान भारत की कृषि का, तथा गोवंश का ह्रास किया है। शूद्रसमाज के द्वारा सम्पादित कृषिधन भी आज इसी वैश्यसमाज के अनुग्रह से वाणिज्य की वस्तु बन गया है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्त्तमान संकटकाल है। जिनके पास अन्नकोष सुरक्षित है, वे अपनी धातुलालसा के कारण उसे महर्घतम बना रहे हैं। फलस्वरूप धातुवञ्चित सामान्यवर्ग योगक्षेमचिन्ता से भी त्राण नहीं पा रहा। परिश्रम करता है–सामान्यवर्ग, लाभ उठाते हैं–धातुपति (पूँजीपति)। कारण–ब्रह्म–क्षत्र की निर्बलता। शासन अवश्य है। परन्तु वर्त्तमान शास्ता भी तो धातु-परायण ही हैं। फिर वह समानधर्म्मा वैश्यवर्ण का नियन्त्रण करे, तो कैसे करे, एवं क्यों करे। इसप्रकार ब्रह्म–क्षत्र के अभिभव से आज विड्वीर्य्यानुगता वैश्यविद्या भी अभिभूत ही हो रही है। यही योगक्षेमालम्बनभूता कृषि–वाणिज्यविद्या का संक्षिप्त दुःखपूर्ण इतिवृत्त है।

सैषा-विड्वीर्य्यानुगता-कृषिवाणिज्यविद्या-वैश्यविद्या-तृतीया-
क्षत्रविद्यायां-प्रतिष्ठिता

—३—

———*———

३३—शूद्रवर्णानुगता शिल्पकलाविद्या का दिग्दर्शन—

कृषि–वाणिज्य ही अर्थचिन्तानिवृत्ति का मुख्य द्वार है। जब वही पराप्त बन गया, तो देश की शिल्प–कला कैसे, किस आधार पर प्रतिष्ठित रह सकती थी। किन किन शिल्प–कलाओं नें भारत का मस्तक उन्नत किया था ?, इस प्रश्न का भी अधिकार आज हमारे हाथ से छिन चुका है। प्रजापति कश्यप के प्राकृतिक शिल्प की तुलना करने वाले भारतीयों के जिस शिल्प ने किसी युग में समस्त विश्व को अपने अनुरूप, प्रतिरूप, तथा उभयविध शिल्पों से चमत्कृत किया था, वही भारतीय शिल्प धातुलोलुपों के अनुग्रह से

आज स्मृतिगर्भ में विलीन हो रहा है । इतर विद्याओं की भाँति ६४ कलाएँ भी आज पुस्तकों का ही विषय रह गईं हैं । सम्पन्न शास्ता-पुरुषों, श्रेष्ठियों के जो भवन किसी युग में भारतीय शिल्पकलासौष्ठव का यशोगान करते थे, आज वे ही भवन पश्चिमी-परिग्रह पर अश्रुमोचन कर रहे हैं । अजन्ता की शिल्पकल्पा का उदाहरण क्या अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है ? । दक्षिण भारत के मन्दिरों की शिल्प-कला के साथ क्या वर्त्तमानयुग की शिल्पकलाएँ समता कर सकतीं हैं ? । क्या आज वैसे शिल्पी, वैसे कलावित् नहीं रहे ? । नहीं । परन्तु उन्हें किसी ओर से प्रोत्साहन नहीं मिल रहा । एक चने की दाल पर दो हाथियों का युद्ध अङ्कित करने वाले, एक चाँवल के दोनों पुटों पर **'यतो धर्म्मस्ततो जयः'-'महाराजाधिराज चिरायु रहें'** लिख डालने वाले, इमली के पत्तों से केवल सीकों से छिद्ररहित पत्तल दोने बनाने वाले, आकर्षक मूर्तियों का निर्म्माण करने वाले, पश्चिमी देशों के बड़े से बड़े कारखाने में निर्म्मित बन्दूक की स्वप्रतिभा से प्रतिकृति बनाने वाले शिल्प-कलावित् आज भी विद्यमान हैं । परन्तु वे विचारे कहीं से एक 'धन्यवाद' शब्द भी प्राप्त करने में असमर्थ हैं । इसीलिए यह परम्परा क्रमशः उच्छिन्न होती जा रही है । शिल्प-कला का स्थान आज यन्त्रों नें (मशीनरी ने) छीन लिया है । यन्त्रों के द्वारा मानवीय जीवन में कहाँ तक विकास हुआ है ?, इस प्रश्न का समाधान तो यन्त्राविष्कारक ही भलीभाँति कर सकते हैं । हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में ऐसा मन्तव्य है कि, यन्त्रों की प्रचुरता, वैश्यसमाज की धातुलोलुपता, प्रतीच्य-नीति का अन्धानुकरण, आदि कारणों से ही भारतीय शिल्प-कला का ह्रास हुआ, एवं होता जा रहा है । ह्रास किस सीमा पर पहुँच चुका है ?, प्रश्न का समाधान इसी से हो रहा है-कि, गृहस्थ के उपयोग में आने वाले सुई-डोरों तक के लिए हमें समुद्रपार की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । भारतीय नाट्यकला, नृत्यकला, वाद्यकला, गीतकला, आदि आदि यच्चयावत् ललितकलाओं पर भी पश्चिमी ताण्डवकलाओं नें अपना एकाधिपत्य इसलिए स्थापित कर लिया है कि, शिल्प-कलासंरक्षक भारतीय शासक स्वयं आत्मस्वरूप खो बैठे हैं ।

पार्थिव 'पूषा' प्राण ही भौतिक 'पुष्टि' का आधार माना गया है, जिसका पाञ्चभौतिक शरीर से ही प्रधान सम्बन्ध है । अतएव पूषाप्राणनिबन्धन पार्थिव-भौतिक-शिल्प, तथा कला-वर्गों को मनोगर्भित शरीर-प्रधान ही माना जायगा । निष्कर्षतः आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, मानव के इन चार आध्यात्मिक पर्वों में से शिल्प-कला का सम्बन्ध मनोगर्भित शरीर से ही माना जायगा । आत्मगर्भिता बुद्धि जहाँ मानव की **'संस्कृति'** का आधार है, वहाँ मनोगर्भित शरीर मानव की **'सभ्यता'** का आधार माना गया है । संस्कृति जहाँ शाश्वत है, सदैकरसप्रवाहशीला है, वहाँ सभ्यता युगधर्म्मानुपात से परिवर्त्तनशीला है । और संस्कृति, तथा सभ्यता में में यही वह महान् विभेद है, जिसे न समझनें के कारण ही वर्त्तमान युग का सभ्य मानव शिल्प-कलादि को 'संस्कृति' नाम से उद्घोषित करते रहने की भयावहा भ्रान्ति का अनुगामी बना हुआ है ।

युगधर्म्मों के सञ्चालक शासक मानें गए हैं, जैसाकि-**'राजा कालस्य कारणम्'** (महाभारत) इत्यादि से स्पष्ट है । यही कारण है कि शासक की मानसिक-शारीरिक वृत्तियों के अनुपात से युग-युग में तन्निबन्धना मनः-शरीरनिबन्धना शिल्प-कलानुगता सभ्यताओं में परिवर्त्तन होता रहता है, जबकि आत्मबुद्धिमूला संस्कृति इस युगधर्म्मानुगत शासनसत्तानिबन्धन परिवर्त्तन से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बनी रहती है **भवननिर्म्माणशिल्प, काष्ठशिल्प, वस्त्रनिर्म्माणशिल्प, स्यूतवस्त्रशिल्प, चर्म्मपरिग्रहनिर्म्माणशिल्प, केशप्रसाधनशिल्प,** ये ६ शिल्प के प्रधान अङ्ग मानें गए हैं,जिनमें शरीरानुगत मनोभाव का ही प्राधान्य है । इस षड्विध शिल्प के अवान्तर भेद संख्यातीत हैं ।

तक्षा च, तन्तुवायश्च, नापितो, रजकस्तथा ।
पञ्चमश्चर्म्मकारश्च, कारवः, शिल्पिनो मताः ॥

इत्यादि सूक्ति के अनुसार लकड़ी की कारीगरी का अधिष्ठाता ही तक्षा है, जिसे **'रथकार'** (खाती) कहा गया गया है । वस्त्रनिर्म्माता ही 'तन्तुवाय' है, जो लोकभाषा में 'जुलाहा' कहलाया है । केशविन्यासशिल्प का अधिष्ठाता ही-**'नापित'** (नाई) कहलाया है । निर्म्मित वस्त्रों को कौशल प्रदान करने वाला शिल्पी **'रजक'** (धोबी) कहलाया है । चमड़े के शिल्प का अधिष्ठाता **'चर्म्मकार'** (चमार) कहलाया है । एवं सर्वविध वास्तु (भवन) शिल्प का अधिष्ठाता 'कारु' कहलाया है, जिसे **'कुम्भकार-प्रजापति-कारीगर-शिल्पी-विश्वकर्म्मा** आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है ।

आज जिसे सभ्यता की भाषा में **'पुरातत्त्व'** कहा जाता है, उसका तथ्योपवर्णित शिल्प में ही अन्त-र्भाव है, जो पुरातत्त्व शासनसत्तानिबन्धना-युगधर्म्मानुगता-सभ्यता का ही परिचायक माना गया है । यह पुनः संस्मरणीय है कि, इत्थंभूत पुरातत्त्व का, एवं तदनुबन्धी शिल्पों का हमारी संस्कृति से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । संस्कृति का परिचायक तो एकमात्र निगमागमपुराणादि मौलिक साहित्य ही माना गया है, जिसमें प्रधानरूप से आत्मबुद्ध्यनुगत तत्त्वों का उपबृंहण हुआ है । यही स्थिति शिल्पानुबन्धिनी कला के सम्बन्ध में विघटित है, जिसके नृत्य-गीत-वाद्य-चित्र-आदि कतिपय भेदों का घन्टाघोष आज 'संस्कृति' के नाम से सर्वत्र प्रतिध्वनित है । मनस्तन्त्र के अधिष्ठाता सोममय चन्द्रमा के गन्धर्वप्राण, तथा अप्सराप्राण से सम्बन्ध रखनें वालीं इन कलाओं का भी स्पष्टतः मनःशरीरभावों से ही सम्बन्ध अभिव्यक्त हो रहा हैं, जिसका मनःशरीरप्रधान बालवृन्द-नारीवृन्द-तथा चतुर्थ वर्ग से ही प्रधान सम्बन्ध प्रकृतिसिद्ध है । निःसीम दुर्भाग्य है आज इस संस्कृतिनिष्ठ भारतवर्ष का कि, यह भी एकमात्र परदर्शनानुगता मनःशरीरनिबन्धना सर्वनाशकारिणी भावुकता के आवेश में आकर नृत्य-गीत-वाद्यादि को ही अपना महान् ! सांस्कृतिक प्रचार ! मानने मनवाने के व्यामोह का अनुगामी बनता जा रहा है । अहो दुरधिगम्येयं कालमहिमा ।

भारतीय षड्विध, किंवा असंख्यविध शिल्प, एवं चतुःषष्टिविध (६४) कला, दोनों का तो आज की शिल्प-कल्पाओं से समतुलन भी सम्भव नहीं है । उदाहरण के लिए केवल भारतीय प्रासादनिर्म्माणशिल्प को ही लक्ष्य बनाइए । जिस दिन से 'सीमेन्ट' नामधारी भयावह जन्तु का भारतीय प्रासादशिल्प में समावेश हुआ है, देश का सम्पूर्ण शिल्पकौशल ही उच्छिन्न हो गया है । प्रासादनिर्म्माणोपयोगी सब प्रकार के परिग्रह भारत में प्रचुरता से विद्यमान है । अतीत भारत ने अपने घर के इन्हीं सुलभ प्राकृतिक पार्थिव भूत-परिग्रहों के द्वारा वैसे सुदृढ़तम कलापूर्ण-महिमागरिमामय शिल्पों का निर्म्माण किया था, जिनकी तुलना में आज के सीमेन्ट तत्त्व ! से विनिर्म्मित शिल्पों का कुछ भी तो महत्त्व नहीं है । वे साधन यद्यपि आज भी सुलभ हैं । और सौभाग्य से उन्हीं प्राकृतिक परिग्रहों से शिल्पनिर्म्माता शिल्पी भी अद्यावधि तो विद्यमान है । किन्तु सीमेन्ट के प्रलोभन ने इस समस्या को ऐसी जटिल बना दिया है कि, मानों इस दुर्लभ पदार्थ के बिना हम जीवित ही नहीं रह सकते । कसी विडम्बना है !, और कैसा है यह हमारा भावुकतापूर्ण व्यामोहन । यही योगक्षेमसाधनभूता भारतीय शिल्पकलाविद्या का दुःखपूर्ण इतिवृत्त है, जो कलानामसन्निवेश के द्वारा उपरत हो रहा है ।

ता वा एताः शैवतन्त्रोक्ताः-चतुःषष्टिकलाः (६४)—

१-गीतम् (१)
२-वाद्यम् (२)
३-नृत्यम् (३)
४-नाट्यम् (४)
५-आलेख्यम् (५)
६-विशेषकच्छेद्यम् (६)
७-तण्डुलकुसुमबलिविकाराः (७)
८-पुष्पास्तरणम् (८)
९-दशनवसनाङ्गरागाः (९)
१०-मणिभूमिकाकर्म्म (१०)
११-शयनरचनम् (११)
१२-उदकवाद्यम् (१२)
१३-उदकघातः (१३)
१४-चित्रायोगाः (१४)
१५-माल्यग्रथनविकल्पाः (१५)
१६-शेखरापीड़योजनम् (१६)
१७-नेपथ्ययोगाः (१)
१८-कर्णपत्रभङ्गाः (२)
१९-गन्धयुक्तिः (३)
२०-भूषणयोजनम् (४)
२१-ऐन्द्रजालम् (५)
२२-कौचुमारयोगाः (६)
२३-हस्तलाघवम् (७)
२४-चित्रशाकपूपभक्ष्यविकारक्रिया (८)
२५-पानकरसरागासवयोजनम् (९)
२६-सूचीवापकर्म्माणि (१०)
२७-सूत्रक्रीड़ा (११)
२८-प्रहेलिका (१२)
२९-प्रतिमाला (१३)
३०-दुर्व्वचकयोगाः (१४)
३१-पुस्तकवाचनम् (१५)
३२-नाटिकाख्यायिकादर्शनम् (१६)
३३-काव्यसमस्यापूरणम् (१)
३४-पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः (२)
३५-तर्क्कुकर्म्माणि (३)
३६-तक्षणम् (४)
३७-वास्तुविद्या (५)
३८-रूप्यरत्नपरीक्षा (६)
३९-धातुवादः (७)
४०-मणिरागज्ञानम् (८)
४१-आकरज्ञानम् (९)
४२-वृक्षायुर्वेदयोगाः (१०)
४३-मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः (११)
४४-शुकसारिकाप्रलापनम् (१२)
४५-उत्सादनम् (१३)
४६-केशमार्जनकौशलम् (१४)
४७-अक्षरमुष्टिकाकथनम् (१५)
४८-म्लेच्छितकविकल्पाः (१६)
४९-देशभाषाज्ञानम् (१)
५०-पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम् (२)
५१-यन्त्रमातृका (३)
५२-धारणमातृका (४)

सैषा-शूद्रवर्णानुगता-शिल्पकलाविद्या-शूद्रविद्या चतुर्थी
विड्विद्यायां प्रतिष्ठिता

—४—

———*———

३४–'विद्या'–स्वरूपपरिचयोपक्रम—

प्रत्यक्षदृष्टि से विचार करने पर भारतीय 'विद्या' के सम्बन्ध में पूर्वप्रदर्शित चतुर्विद्याविभाग ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। 'विद्या' का क्या स्वरूपपरिचय ?, प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मानुगता **निगमागमविद्या, क्षत्रानुगता अस्त्रशास्त्रविद्या,** विडनुगता **कृषिवाणिज्यविद्या,** एवं शूद्रानुगता **शिल्पकलाविद्या,** ये चार विद्याएँ हीं हमारे सामने आतीं है, जिनका शब्दात्मक शास्त्र से ही सम्बन्ध है। गीता की योगचतुष्टयी से सम्बन्ध रखने वाली विद्याचतुष्टयी का क्या इन चारों शास्त्रात्मिका विद्याओं में से किसी के साथ सम्बन्ध है ?, अथवा तो गीता का 'विद्या' पदार्थ चारों से कोई विभिन्न तत्त्व है ?, इस प्रश्न के समाधान से पहिले 'विद्या' शब्द के वैज्ञानिक स्वरूप का परिचय अवगत कर लेना आवश्यक होगा।

३५–पराव्यय, एवं अवरक्षर से संश्लिष्ट परावर अक्षर की परा-अपरा-विद्याएँ—

पारस्थानीय 'पर' नामक ज्ञानमूर्त्ति अव्यय के सम्बन्ध से सर्वज्ञ बने हुए, अवरस्थानीय 'अवर' नामक 'अर्थमूर्त्ति' क्षर के सम्बन्ध से 'सर्ववित्' बने हुए, एवं मध्यस्थानीय, अतएव अवर क्षर की अपेक्षा पर होने के कारण, तथा पर अव्यय से अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परावर' नाम से प्रसिद्ध सर्वशक्तिमय अक्षर को ही भौतिक विश्व का निमित्तकारण माना गया है। यह अक्षरज्ञान अव्यय के सम्बन्ध से 'परज्ञान' है, एवं क्षर के सम्बन्ध से अवरज्ञान है। अक्षरतत्त्व परअव्यय की पराप्रकृति कहलाई है, एवं क्षरतत्त्व अव्यय की अपराप्रकृति कहलाई है। पराप्रकृतिरूप अक्षर प्रकृति है, अपराप्रकृतिरूप क्षर प्रकृतिविकृति है, एवं 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इस सांख्यसिद्धान्तानुसार अव्ययतत्त्व पुरुष कहलाया है। अव्ययपुरुष की पराप्रकृति (अक्षरज्ञान) ही–**'पराविद्या'** है, एवं अपराप्रकृति (क्षरज्ञान) ही **'अपराविद्या'** है। **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** इस गीतासिद्धान्तानुसार भौतिक विश्व क्षरात्मक है, मर्त्य है। फलतः मर्त्या, नामरूपकर्म्मात्मिका विश्वविद्या ही 'अपराविद्या' है। भौतिक विश्वाधारभूत अक्षर अमृत है। यही नामरूपकर्म्मातीता

आत्मविद्या है, यही पराविद्या है । पराविद्या सामान्यसत्तात्मिका बनती हुई अशेषभेदशून्या महाविद्या है, जिसे वैज्ञानिकों नें 'ब्रह्मज्ञान' * नाम से व्यवहृत किया है । अपराविद्या विभिन्नसत्तात्मिका बनती हुई केवल 'विद्या' है, जिसे वैज्ञानिकों नें 'नामज्ञान' नाम से व्यवहृत किया है । सामान्यसत्तात्मिका अक्षरविद्या (पराविद्या) विद्यात्मिका विद्या है, एवं विभिन्नसत्तात्मिका क्षरविद्या (अपराविद्या) अविद्यात्मिका विद्या है । मर्त्यभाव ही अविद्या है । अतएव तत्प्रधाना अपरा क्षरविद्या को अवश्य ही अविद्यात्मिका विद्या कहा जा सकता है । अमृत-भाव ही विद्या है, अतएव तत्प्रधाना परा अक्षरविद्या को अवश्य ही विद्यात्मिका विद्या कहा जा सकता है । अविद्यात्मक क्षर, विद्यात्मक अक्षर, दोनों का शास्ता विद्या-अविद्यातीत (अक्षर-क्षरातीत) वही तीसरा अव्ययपुरुष है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

—श्वे० उप० ५। ।

उक्त मीमांसा से निष्कर्ष यह निकला कि, ज्ञान का नाम विद्या है । एवं यह विद्या अक्षरज्ञान, क्षरज्ञान, भेद से पराविद्यात्मिका अमृतप्रधाना आत्मविद्या, तथा अपराविद्यात्मिका मृत्युप्रधाना विश्वविद्या, इन दो भागों में विभक्त है । वर्णसृष्टि का प्रभव क्षरतत्त्व है । अतएव पूर्व में बतलाईं गईं निगमागमादि चारों विद्याओं को हम 'क्षरविद्या', किंवा विश्वविद्या ही कहेंगे, जो विश्वविद्या शब्दतन्मात्रप्रभवा बनती हुई केवल 'नामविद्या' मानी गई है । सुप्रसिद्ध वेदवित् नारद जब ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा लेकर महर्षि सनत्कुमार की सेवा में उपस्थित होते हैं, तो उनसे सर्वप्रथम प्रश्न किया जाता है कि, नारद ! तुम पढ़ने तो आए हो । परन्तु पहिले यह बतलाओ कि, अबतक तुमने क्या पढ़ा है ? । उत्तर में नारद जिन अधीत विद्याओं की नामावली सनतकुमार के सम्मुख उपस्थित करते हैं, उनके सम्बन्ध में सनत्कुमार का यही निर्णय होता है कि, नारद ! अभी तुमने 'नामविद्या' का ही अध्ययन किया है, जिस उत्तर का तात्पर्य्य है–'विश्वविद्या' × । नामविद्यात्मिका क्षररूपा

---

* प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥

× "अधीहि भगव ! इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः । तं होवाच-यद्वेत्थ-तेन मा (मां) उपसीद । ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति । स होवाच–'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं चतुर्थम् । इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् । पित्र्यं–राशिं, दैवं–निधिं, वाकोवाक्यं, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्यां,–एतद्भगवोऽध्येमि । सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित् । * * । तं होवाच (सनत्कुमारः)–यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठाः–नामैवैतत् ।"

विश्वविद्या की अधिष्ठात्री अक्षरात्मिका आत्मविद्या है, जिसे 'पराविद्या' कहा गया है, एवं जिसका मूल आगमशास्त्रोक्ता महाविद्या में निगूढ माना गया है। इसप्रकार अक्षर-क्षर के भेद से विद्यातत्त्व 'परा-अपरा' इन दो भागों में विभक्त हो रहा है, जिन दोनों विभागों का निम्न लिखित श्रुति से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है—

"तस्मै स होवाच—'द्वे विद्ये वेदितव्ये'—इति ह यद् ब्रह्मविदो वदन्ति 'परा' चैव, 'अपरा' च। तत्र अपरा-'ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्व्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते"—मुण्डकोपनिषत् १।१।४,५,।

३६-अपराविद्यात्मिका क्षरविद्या के तीन विवर्त्त—

पराविद्यात्मिका अक्षरविद्या की चर्चा थोड़ी देर के लिए छोड़िए, एवं पहिले अपराविद्यात्मिका क्षरविद्या का समन्वय कीजिए। क्षरविद्या को विद्या न कह कर 'क्षरब्रह्म' कहना ठीक होगा, जिसका अर्थ है-'क्षरज्ञान'। 'क्षरज्ञान' का तात्पर्य्य है 'विश्वज्ञान'। विश्वज्ञान मृत्युभावापन्न है, एवं-**'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति'** के अनुसार मृत्युतत्त्व नानात्वनिबन्धन है। अतएव मृत्युनिबन्धन विश्वज्ञान को ज्ञान न कह कर 'विज्ञान' (विविधं ज्ञानं विज्ञानम्) शब्द से व्यवहृत करना अधिक समीचीन होगा। विविध-ज्ञानात्मिका, अतएव विज्ञानात्मिका इस क्षरविद्या की मूलप्रतिष्ठा वह अक्षरविद्या है, जो अपने एकत्व-निबन्धन अमृतभाव से विशुद्ध ज्ञानैकरसात्मिका है। ज्ञानविद्या अक्षरविद्या है, विज्ञानविद्या क्षरविद्या है। ज्ञानविद्या आधार है, यही विश्वमूल है। विज्ञानविद्या आधेय है, यही विश्व है। मायादि परिग्रहों के सम्बन्ध से ज्ञानविद्या ही अपने अविकृतपरिणामभाव से विज्ञानविद्यास्वरूप में परिणत हो रही है। **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** सिद्धान्तानुसार वह एक ज्ञान ही नाना ज्ञानभावों में परिणत हो रहा है-**'अक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते'**। ज्ञानात्मक अक्षर से समुद्भूत विज्ञानब्रह्म के यों तो असंख्य विवर्त्त हैं। परन्तु उन सबका संग्रह तीन विवर्त्तों में हो जाता है। यच्चयावत् विविध ज्ञानों का अन्तर्भाव तीन विवर्त्तों में माना जा सकता है। वे ही तीनों विवर्त्त विज्ञानभाषा में क्रमशः-**'विद्या'-'ब्रह्म'-'वेद'** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। उपाधिदृष्ट्या तीनों पृथक् रहते हुए भी निरुपाधिदृष्ट्या तीनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। इसी आधार पर तीनों के सम्बन्ध में-**'त्रयी विद्या'-'त्रयं ब्रह्म'-'त्रयो वेदाः'** यह अभेदव्यवहार प्रतिष्ठित है।

३७-वेद-ब्रह्म-विद्या-त्मिका क्षरविद्या, एवं तद्रूपा निगमागमविद्या—

विश्वज्ञान इन्हीं तीन भागों में विभक्त है। शब्द, विषय, संस्कार, ये तीन हीं ज्ञानसाधन हैं। हमें तत्तद्विषयवाचक तत्तच्छब्दों के सुनने से तत्तद्विषयों का तात्कालिक ज्ञान होता है। यह शब्दावच्छिन्न तात्-कालिक ज्ञान ही 'वेद' है। जिस प्रकार शब्द सुनने से हमें शब्दवाच्य विषयों का ज्ञान होता है, एवमेव विषयों के देखने से भी उन विषयों का तात्कालिक ज्ञान होता है। यह विषयावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान ही 'ब्रह्म' है। शब्द सुने से उत्पन्न होने वाला, एवं विषय देखने से उत्पन्न होने वाला तात्कालिक ज्ञान मनोराज्य की प्रवणता से कालान्तर में संस्काररूप में परिणत होता हुआ दृढमूल बन जाता है। यही 'विशेषज्ञान' कहलाया

है। संस्कारावच्छिन्न यह विशेष स्थायी ज्ञान ही 'विद्या' कहलाया है। संस्कारात्मक विद्याज्ञान ही व्यवहार की प्रतिष्ठा बनता है। देख-सुन कर जिन्हें स्मरण नहीं रहता, वे विद्याशून्य हैं। इसप्रकार शब्दश्रवणावच्छिन्न ज्ञान, विषयदर्शनावच्छिन्न ज्ञान, एवं संस्कारावच्छिन्न ज्ञानभेद से विश्वविज्ञानात्मक ज्ञान के 'वेद-ब्रह्म-विद्या' ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। शब्दविद्या वेदविद्या है, विषयविद्या ब्रह्मविद्या है, संस्कारविद्या विद्यात्मिका विद्या है। एवं इन तीनों सोपाधिक विद्याओं (ज्ञानों) का पूर्वोक्ता 'नामविद्या' में ही अन्तर्भाव है, जिसके वर्णभेदनिबन्धन चारों विवर्त्तों का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

३८–गीतानुगता अव्ययविद्या, एवं लोकानुगता क्षरविद्यात्रयी—

आत्मज्ञानात्मिका पराविद्या आधिदैविक तत्त्व है, एवं विश्वविज्ञानात्मिका अपराविद्या आधिभौतिक तत्त्व है। विशुद्ध पराविद्या निर्गुणब्रह्म है, विशुद्ध अपराविद्या सविकार-साञ्जन-विश्व है। इन्हीं दो विभिन्न लक्ष्यों के आधार पर गीतोक्त सुप्रसिद्ध सांख्य, तथा योग-निष्ठाओं का आविर्भाव हुआ है। पराविद्यात्मक, कर्म्ममात्र से विमुक्त, विशुद्ध ज्ञानब्रह्म (पराविद्या) सांख्यनिष्ठात्मक ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा माना गया है, जिसमें साध्य भी ज्ञान है, तथा साधन भी ज्ञान है। अपराविद्यात्मक, विशुद्ध विश्वकर्म्म (अपराविद्या) योगनिष्ठात्मक कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा माना गया है, जिसमें साध्य भी कर्म्म है, तथा साधन भी कर्म्म है। इन दोनों निष्ठाओं के माध्यम से एक तीसरी उभयनिष्ठा और प्रादुर्भूत हो गई है, जिसमें पराविद्या का ज्ञान साध्यरूप से, तथा अपराविद्या का कर्म्म साधनरूप से समाविष्ट माना गया है। यही उभयनिष्ठा 'भक्तियोग' नाम से व्यवहृत हुई है। यही प्राचीनाभिमता योगत्रयी है, जिसका भक्तिपरीक्षा-पूर्वखण्ड में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कहना है कि, शास्त्रों में अव्यक्त-व्यक्तरूप से उपवर्णित परा, अपरा-विद्याओं के आधार पर ही लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों की कल्पना हुई है। परापरविद्याओं की मूलप्रतिष्ठारूपा अव्ययविद्या, एवं अव्ययविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित बुद्धियोग, इनके प्रचार-प्रसार का, तथा आविर्भाव का एकमात्र श्रेय अव्ययावतार गीताचार्य्य को ही प्राप्त है। अव्ययपुरुष स्वयं गूढोत्मा है, अप्रत्यक्ष है। अतएव तद्विद्या, तथा तद्योग सर्वसाधारण की दृष्टि में निगूढ ही बना हुआ है। यही कारण है कि, लोकनिष्ठात्रयी के अनुगामी व्याख्याताओं की दृष्टि में गीता की वह अव्ययविद्या, एवं तदनुगत बुद्धियोग, दोनों अप्रत्यक्ष ही बने रह गए, और इसप्रकार अव्ययविद्यात्मक गीताशास्त्र इतर शास्त्रवत् केवल साम्प्रदायिक शास्त्र ही बना रह गया, एवं रह गया केवल लोकप्रचलित योगत्रयी का समर्थक। इसी भ्रान्ति के उन्मूलन के लिए विद्यास्वरूपपरिचय कराना आवश्यक समझा गया, जिसका निष्कर्ष यही है कि, अव्ययानुगता सर्वविद्या अव्ययविद्या है, तदनुगत योग बुद्धियोग है। पराविद्या अक्षरविद्या है, तदनुगत योग ज्ञानयोग है। अपराविद्या क्षरविद्या है, तदनुगत योग कर्म्मयोग है। परापरविद्या अक्षरक्षरविद्या है, तदनुगत योग भक्तियोग है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर ही गीतोक्ता विद्याविभूति, तथा योगविभूति का समन्वय करना चाहिए।

* परापरातीतविद्या—अव्ययविद्या—तदनुगतो बुद्धियोगः (सर्वसाधनसाध्यरूपः) } —गीतानिष्ठा

१–पराविद्या——अक्षरविद्या——तदनुगतो ज्ञानयोगः (आधिदैविकसाधनसाध्यरूपः)
२–परापरविद्या——अक्षरक्षरविद्या–तदनुगतो भक्तियोगः (आधिदै०साध्य, आधिभौ०साधनरूपः)
३–अपराविद्या——क्षरविद्या——तदनुगतः कर्म्मयोगः (आधिभौतिकसाधनसाध्यरूपः)
} —लोकनिष्ठा

३९–गीताशास्त्र की अव्ययविद्या, एवं तदनुगता योगचतुष्टयी—

अपरात्मिका क्षरविद्या का, परात्मिका अक्षरविद्या का, एवं तदनुगता लोकनिष्ठात्रयी का स्वरूपपरिचय कराया गया। अब दो शब्दों में गीताराद्धान्तिता अव्ययविद्या का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लीजिए। अव्ययब्रह्म यच्चयावत् भूतसर्गों में समरूप से अवस्थित है, जिसके लिए–'**समं सर्वेषु भूतेषु**'–'**अविभक्त-विभक्तेषु**'–'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं। सर्वत्र समरूपेण अवस्थिति ही अव्यय-विद्या का साक्षात्कार है, जिसका मूलसूत्र है–'रागद्वेष' की आत्यन्तिक निवृत्ति, एवं वैराग्य की यथार्थप्राप्ति। राग में भी आत्मक्षेत्र विषम बना रहता है, द्वेष में भी आत्मा वक्री रहता है। अतएव रागद्वेषयुक्त मन विषम बना रहता है। मनकी विषमता बुद्धि को विषमा बनाए रहती है। विषमबुद्धि अव्ययात्मा के अनुकूल योग से वञ्चित रहती हुई बुद्धियोग से बहिष्कृत रह जाती है। यही कर्म्मभोक्ता जीवात्मा के दुःख का मूल कारण है। क्षरविद्या, अक्षरविद्या, अपने प्रातिस्विकरूप से त्रिगुणभावापन्ना बनती हुई जहाँ दुःख का कारण है, वहाँ ये ही विद्याएँ अव्ययविद्याधारेण उपयोग में आतीं हुईं त्रिगुणातीता बन कर शाश्वत आनन्दविकास का कारण बन जातीं हैं। व्यवहार हो क्षरविद्या का, अथवा अक्षरविद्या का, किन्तु दृष्टि रहे अव्ययविद्या पर, यही मानव का परम पुरुषार्थ है। समदर्शन अव्ययविद्यामूलक है, विषमवर्त्तन क्षरविद्यामूलक है। विषमव्यवहारसापेक्ष विश्वमर्य्यादाओं की सुव्यवस्था के लिए जहाँ वर्णाश्रमानुगता क्षरविद्या का अनुगमन गीता आवश्यकरूप से अनिवार्य्य मानती हुई हमारे सम्मुख ऐहिक सुखसम्पत्ति का साम्राज्य उपस्थित करती है, वहाँ साथ साथ त्रिगु-णासक्ति से आत्मतन्त्र को बचाने के लिए समदर्शनात्मिका अव्ययविद्या को लक्ष्य बनाने के लिए आग्रह करती हुई हमारे सम्मुख पारलौकिक निःश्रेयससम्पत्ति का साम्राज्य उपस्थित कर रही है। केवल क्षरविद्या से ऐहिक सुख मिल सकता है, परन्तु आत्मशान्ति नहीं। केवल अक्षरविद्या से आत्मशान्ति का उद्रेक होसकता है, परन्तु ऐहिक सुख का नहीं। क्षराक्षरविद्या से आत्मशान्ति भी मिल सकती है, ऐहिक सुख भी प्राप्त होसकता है, परन्तु लोकाभ्युदय सम्भव नहीं। इन तीनों विभूतियों का संग्रह तो अव्ययदृष्टि पर ही अवलम्बित है। विषय-स्पष्टीकरण के लिए यों देखिए कि, क्षरविद्यात्मक काम्यकर्म्मयोग से लोकवैभव मिल सकता है, परन्तु आत्म-शान्ति नहीं। अक्षरविद्यात्मक ज्ञानयोग से आत्मशान्ति का कालान्तर में उदय हो सकता है, परन्तु लोकवैभव नहीं। क्षराक्षरविद्यात्मक भक्तियोग से आत्मा में प्रसादगुण का उदय भी सम्भव है, वैभवप्राप्ति भी सुलभ है, परन्तु लोकाभ्युदय नहीं। अवश्य ही हमें इन तीनों लोकनिष्ठाओं में से किसी भी एक के अनुगमन करते समय किसी वैसे तत्त्व को आधार बना लेना पड़ेगा, जो तीनों में समरूप से व्याप्त हो। वही सुप्रसिद्धा अव्यय-विद्या है। इसके समभाव को आधार बना कर क्षरविद्यात्मक कर्म्मयोग में प्रवृत्त होने वाले का कर्म्म निष्काम बनता हुआ आत्मशान्ति का, लोकसंग्रह का, तथा ऐहिक सुख का, तीनों का साधक बन जाता है। यही अवस्था अव्ययविद्यायुक्त क्षराक्षरविद्यात्मक भक्तियोग की होजाती है। कर्म्मयोगपेक्षया इसमें ईश्वरानुरक्तिप्राधान्य के कारण आत्मप्रसाद का विशेष उद्रेक रहता है। अतएव कर्म्मयोगापेक्षया इसकी स्थानप्रतिष्ठा उच्च मानी गई है। यही स्थिति अव्ययविद्यायुक्त अक्षरविद्यात्मक ज्ञानयोग की होजाती है। इसमें लोकसंग्रह का अभाव है, साथ ही–'**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्**' के अनुसार मार्ग भी कर्म्म–भक्त्यपेक्षया दुस्तर है। आत्मप्रसाद भी अन्तर्मुख रहता है। अतः योगत्रयी की स्थानतुलना में इसे कर्म्मयोग की अपेक्षा भी निम्न थान दिया गया है-।

स्व-क्षेत्र, परक्षेत्र, भेद से अव्ययविद्या दो भागों में विभक्त रहती है। स्वक्षेत्रानुगता-स्वतन्त्रा अव्यय-विद्या विभिन्न पथ है, तदनुगता विद्या विशुद्ध अव्ययविद्या है। यहाँ रागद्वेषात्मिका आसक्ति का आत्यन्तिक अभाव है। अतएव इस विशुद्ध अव्ययविद्या को **'वैराग्यविद्या'** कहा गया है, एवं तदनुगत बुद्धियोग **'वैराग्यबुद्धियोग'** कहलाया है। अक्षर- क्षरक्षेत्र अव्यय के लिए परक्षेत्र हैं। परक्षेत्रयुक्ता अव्ययविद्या के अक्षर-विद्या, अक्षरक्षरविद्या, क्षरविद्या, इन तीन परक्षेत्रों के भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अक्षरविद्यात्मक पर-क्षेत्र में भुक्ता अव्ययविद्या अक्षरात्मिका अव्ययविद्या है। यहाँ अविद्या का अभाव है, अतएव इस अक्षरा-त्मिका अव्ययविद्या को **'ज्ञानविद्या'** कहा गया है, एवं तदनुगत ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग **'ज्ञानबुद्धियोग'** कहलाया है। अक्षर-क्षरविद्यात्मक परक्षेत्र में भुक्ता अव्ययविद्या अक्षर-क्षरात्मिका अव्ययविद्या है। यहाँ अस्मिता का अभाव है। अतएव इस अक्षरक्षरात्मिका अव्ययविद्या को **'ऐश्वर्य्यविद्या'** कहा गया है, एवं तद-नुगत भक्तियोगात्मक बुद्धियोग **'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'** कहलाया है। क्षरविद्यात्मक परक्षेत्र में भुक्ता अव्ययविद्या क्षरात्मिका अव्ययविद्या है। यहाँ अभिनिवेश का अभाव है। अतएव इस क्षरात्मिका अव्ययविद्या को **'धर्म्मविद्या'** कहा गया है, एवं तननुगत कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग **'धर्म्मबुद्धियोग'** कहलाया है। धर्म्मबुद्धियोग विशुद्ध क्षरवि-द्यानुगत काम्य कर्म्मयोग का संशोधित रूप है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग विशुद्ध अक्षरक्षरविद्यानुगत काम्य भक्तियोग का संशोधित रूप है, ज्ञानबुद्धियोग विशुद्ध अक्षरविद्यानुगत कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का संशोधित रूप है, एवं वैराग्यबुद्धियोग विशुद्ध अव्ययविद्यानुगत विशुद्ध बुद्धियोग है, यही गीता का 'समत्वयोग' है, जिसकी प्रतिच्छाया से युक्त रहने के कारण लोकनिष्ठात्रयी को भी बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त हो गई है। स्थानप्रतिष्ठानुसार प्रथम स्थान वैराग्यबुद्धियोग का है, द्वितीय स्थान ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (भक्तियोग) का है, तृतीय स्थान धर्म्म-बुद्धियोग (कर्म्मयोग) का है, एवं अन्तिम स्थान ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) का है। इसप्रकार स्व-परक्षेत्र के सम्बन्ध से वैराग्यविद्यालक्षणा एक ही अव्ययविद्या वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-भेद से चार भागों में विभक्त होती हुई विद्याचतुष्टयी-रूप में परिणत हो रही है। एवं विद्याभेद से ही तदनुगत वैराग्यबुद्धियोगलक्षण एक ही योग वैराग्यादि चार भागों में परिणत हो रहा है।

४०-गीताराद्धान्तित 'विद्या'-स्वरूपोपसंहार-

जिस आदि युग में भगवान् ने सर्वप्रथम राजर्षि विवस्वान् के प्रति इस वैराग्यलक्षणा अव्ययविद्या, का एवं तदनुगत वैराग्यबुद्धियोग का उपदेश किया था, तब से आरम्भ कर यह विद्यापरम्परया प्रधानरूप से मनु-इक्ष्वाकु-जनक-आदि राजर्षिवंश में ही प्रतिष्ठित रही। अतएव यह अव्ययविद्या (वैराग्य-विद्या) **'राजर्षिविद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई। अव्यक्तनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग कपिलादि सिद्धपुरुषों (सिद्धजाति) में प्रधानरूप से प्रचलित था। भगवान् के द्वारा अव्ययविद्या के समावेश से सिद्धों की इस ज्ञान-विद्या में संशोधन हुआ। संशोधन भगवान् का था, परन्तु वस्तुतत्त्व सिद्धों का था। अतएव ज्ञानलक्षणा यह अव्ययविद्या **'सिद्धविद्या'** नाम से ही प्रसिद्ध हुई। भक्तिनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध भक्तियोग विशेषतः अम्बरीषादि राजवंश मे पुष्पित पल्लवित रहा। भगवान् ने ऐश्वर्य्यविद्या के समावेश से इसका भी संशोधन-मात्र किया। अतएव ऐश्वर्य्यलक्षणा यह अव्ययविद्या **'राजविद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई। योगनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध कर्म्मयोग का आविर्भाव हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मर्षि के द्वारा हुआ। एवं यह योग आगे भी ऋषिवंश-परम्परा में ही प्रचलित रहा। भगवान् ने धर्म्मविद्या के समावेश से इसका भी केवल संशोधन ही किया।

अतएव धर्म्मलक्षणा यह अव्ययविद्या 'आर्षविद्या' नाम से ही प्रसिद्ध हुई। इसप्रकार अव्ययविद्या के आधार पर एक अपूर्वयोग का, तथा तीन संशोधित योगों का आविर्भाव हुआ। यही अव्ययविद्या-विवर्त्तों का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है। गीताशास्त्र के १८ अध्यायों में ६-२-४-६ क्रम से इसी विद्याचतुष्टयी, तथा योग-चतुष्टयी का क्रमिक निरूपण हुआ है।

१-स्वक्षेत्रानुगता अव्ययविद्या ——— वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या) तदनुगतः-वैराग्यबुद्धियोगः (विशुद्धबुद्धियोगः)
२-अक्षरक्षेत्रानुगता अव्ययविद्या —— ज्ञानविद्या (सिद्धविद्या) तदनुगतः-ज्ञानबुद्धियोगः (सं० ज्ञानयोगः)
३-अक्षरक्षरक्षेत्रानुगता अव्ययविद्या — ऐश्वर्य्यविद्या (राजविद्या) तदनुगतः-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः (सं० भक्तियोगः)
४-क्षरक्षेत्रानुगता अव्ययविद्या ——— धर्म्मविद्या (आर्षविद्या) तदनुगतः-धर्म्मबुद्धियोगः (सं० कर्म्मयोगः)

—— * ——

गीताक्रमानुसार यद्यपि चारों का वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म, यही क्रम है। परन्तु क्योंकि वैराग्य-विद्या गीता का अपना मुख्य सिद्धान्त है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में विपरीत क्रम से ही चारों अव्ययविद्याओं का, तथा तदनुगत अव्यययोगों का स्वरूपविश्लेषण किया जायगा। सर्वप्रथम आर्षविद्या का, अनन्तर राजविद्या का, एवं सर्वान्त में राजर्षिविद्या का स्पष्टीकरण किया जायगा। यही स्पष्टीकरण 'बुद्धियोगपरीक्षा' की वास्तविक प्रतिष्ठा माना जायगा। उसी की ओर क्रमशः बुद्धियोगप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

इति-विद्यास्वरूपपरिचयः

—×—

४१-गीताशास्त्रप्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य-

ईश्वरसंस्था आधिदैविक नाम से, जीवसंस्था आध्यात्मिक नाम से, एवं जगत्संस्था आधिभौतिक नाम से प्रसिद्ध है। अव्ययतत्त्व आधिदैविक है, यह ज्ञानप्रधान है, एवं ईश्वरसंस्था में इसी की प्रधानता है। अक्षरतत्त्व आध्यात्मिक है, यह क्रियाप्रधान है, एवं जीवसंस्था में इसी की प्रधानता है। क्षरतत्त्व आधि-भौतिक है, यह अर्थप्रधान है, एवं जगत्संस्था में इसी की प्रधानता है। क्षर-अक्षरगर्भित अव्ययपुरुष ईश्वर है, अव्यय-क्षरगर्भित अक्षर जीव है, एवं अव्ययाक्षरगर्भित क्षर जगत् हैं। तीनों में तीनों का उपभोग हो रहा है, केवल प्रधानता अप्रधानता में अन्तर है। गीताशास्त्र आध्यात्मिक जीव की अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धि के लिए प्रवृत्त हुआ है। दूसरे शब्दों में गीतोपदेश का मुख्य लक्ष्य जीवात्मा है। जीवात्मा इस जीवन में भी पूर्ण सुखी रहे, एवं पाञ्चभौतिक शरीरत्यागानन्तर भी इसे पराशान्ति प्राप्त हो, इसी उद्देश्य से गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। जीवात्मा दुःखी क्यों रहता है ?, इसे ऐहिक सुख, और आमुष्मिक शान्ति क्यों नहीं मिलती ?, यह प्रश्न है, जिसका समाधान वैज्ञानिकों नें यह किया है कि, जीवात्मा अक्षरप्रधान है। अक्षरतत्त्व 'योगमाया' नाम की वह प्रकृति है, जिसमें सत्त्व-रज-स्तमो-गुणत्रयी का समावेश रहता है। इस गुणत्रयात्मिका योगमाया के आवरण से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित अव्ययपुरुष अपने स्वाभाविक विद्याविकास से वञ्चित रहता है। यह अव्ययात्मविकासाभाव ही जीवात्मा की अशान्ति का मूल कारण है।

४२–जीवात्मा की अशान्ति का मूल कारण–

अव्ययपुरुष 'आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्' भेद से पञ्चकोशात्मक माना गया है। पञ्चकोशात्मक इस अव्ययपुरुष के विद्याव्यय, अविद्याव्यय, भेद से दो विभाग रहते हैं। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्ययपुरुष रसप्रधान बनता हुआ विद्याव्यय है, यही मुक्तिसाक्षी ज्ञानात्मा है। मनःप्राणवाङ्मय वही अव्ययपुरुष बलप्रधान बनता हुआ कर्म्माव्यय है, यही अविद्याव्यय है, यही सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मा है। मुक्तिसाक्षी विद्याव्यय सृष्टिसाक्षी कर्म्माव्यय से आवृत रहता है। इसका कारण यही है कि—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'** के अनुसार गुणत्रयात्मिका योगमाया के द्वारा ही यह कर्म्माव्यय सृष्टिकर्म्म में प्रवृत्त होता है। इस योगमाया के सम्पर्क से ही अध्यात्मसंस्था का आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याव्यय तो स्वविकास से आवृत रह जाता है, एवं मनःप्राणवाङ्मय अविद्याव्यय प्रबल बन जाता है। यह अविद्याप्राबल्य ही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

योगमाया अक्षरात्मिका है, अक्षर मध्यस्थ है। इस मध्यस्थता से इसके त्रिगुणभाव का आधार 'विज्ञानात्मा' बनता है। अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–भूतात्मा, इन पाँच खण्डात्माओं में सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही मध्यस्थ है। यहीं अक्षरात्मिका, अतएव मध्यस्था योगमाया का बलप्रयोग होता है। बुद्धितत्त्व में चार विद्याभाग हैं, चार अविद्या भाग हैं, जिनका पूर्व प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ये चार विद्यातत्त्व हैं। इनके विकास से वही बुद्धि 'विद्याबुद्धि' कहलाई है। अभिनिवेश, अविद्या, आसक्ति, अस्मिता, ये चार अविद्यातत्त्व हैं। इनके विकास से वही बुद्धि 'अविद्याबुद्धि' कहलाने लगती है। अविद्याचतुष्टयी क्लेशप्रवृत्ति का कारण बनती हुई 'क्लेश' नाम से व्यवहृत हुई है, एवं विद्याचतुष्टयी क्लेशनिवृत्ति का कारण बनती हुई 'भग' नाम से व्यवहृत हुई है। जीवात्मा अक्षरप्रधान है, अक्षर गुणत्रयप्रधान है। अतएव तत्प्रधाना जीवसंस्था में गुणत्रयानुगता अविद्यात्मिका क्लेशचतुष्टयी प्रधान बनी रहती है, एवं इसकी प्रधानता से द्वन्द्वातीता विद्यात्मिका भगचतुष्टयी आवृत रहती है, और यही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

क्लेशात्मिका अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से अव्ययात्मा के कर्म्मात्मक अविद्याभाग को तो प्रोत्साहन मिलता है, एवं ज्ञानात्मक विद्याभाग आवृत हो जाता है। भगात्मिका विद्याबुद्धिचतुष्टयी से अव्ययात्मा के ज्ञानात्मक विद्याभाग को तो प्रोत्साहन मिलता है, तथा कर्म्मात्मक अविद्याभाग आवृत हो जाता है। इस स्थिति से निष्कर्ष यह निकला कि, विद्याबुद्धि का यदि अव्ययात्मा के साथ योग हो जाता है, तो अव्ययात्मा का विद्याभाग स्वस्वरूप से विकसित हो जाता है, फलस्वरूप सर्वविध क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यदि अविद्याबुद्धि का अव्ययात्मा के साथ योग सुरक्षित रहता है, तो अव्ययात्मा का विद्याभाग आवृत बना रहता है, फलस्वरूप सर्वविध क्लेश अनायासेन प्रवृत्त रहते हैं। धर्म्मादि बुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्यय के विद्याभाग का उपकार होता है। अतः विद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिचतुष्टयी को 'विद्याबुद्धि' कहना अन्वर्थ बनता है। अधर्म्मादि बुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्यय के अविद्याभाग को प्रोत्साहन मिलता है, अतः अविद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिचतुष्टयी को 'अविद्याबुद्धि' कहना अन्वर्थ बनता है। बुद्धि इसलिए 'विद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इससे अव्यय का विद्याभाग उपकृत है। बुद्धि इसलिए 'अविद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इससे अव्यय का अविद्याभाग उपकृत है।

भगबुद्धि विद्योपकारकत्वात् विद्याबुद्धि है, क्लेशबुद्धि अविद्योपकारकत्वात् अविद्याबुद्धि है, यही निष्कर्ष है। जीवसंस्था में स्वभावतः क्लेशबुद्धि का प्राधान्य है, और यही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

४३–गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष—

'यदेव विद्यया-करोति, श्रद्धया-उपनिषदा-तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'(छां०उप०१।१।१०।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार विद्या, श्रद्धा, उपनिषत्, के सहयोग से किया जाने वाला कर्म्म बलवत्तर होता है। यहाँ उपनिषत् शब्द मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखता है। मौलिक उपपत्तिके परिज्ञान से'**इदमित्थमेव,नान्यथा**' इत्याकारक विश्वास का उदय हो जाता है,जैसाकि उप०भू०प्रथमखण्ड के'उपनिषच्छब्दरहस्य' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। मनोयोग का नाम 'श्रद्धा' है, जो उपनिषत्परिज्ञान पर अवलम्बित है। कार्य्य–कारणसम्बन्ध–परिज्ञान ही 'विद्या' है। जिस प्रकार से, पद्धति से आत्मा का लक्ष्य के साथ योग होता है–वह विशेष प्रकार–जो कि कार्य्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानात्मक है–ही 'विद्या' है। भगबुद्धिचतुष्टयी का अव्ययात्मा के विद्याभाग के साथ योग हो जाना हीं जीवात्मा की शान्ति का मूलकारण है। यह योग कैसे हो ?, इसके लिए विद्या–उपनिषत्–श्रद्धा–तीनों साधन अपेक्षित हैं। योग के मौलिक स्वरूप का परिज्ञान'**योगोपनिषत्**' है। योग के साथ मनोयोग हो जाना '**योगश्रद्धा**' है। एवं कार्य्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानात्मक योगप्रकार जान लेना '**योगविद्या**' है। इसप्रकार योगविद्या (योगानुष्ठानप्रकार), योगश्रद्धा, एवं योगोपनिषत्, तीनों के समन्वय से ही क्लेशनिवर्तिका भगबुद्धि का अव्ययविद्या के साथ योग सम्भव है। सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निरूपणीय विषय है। अव्यय ब्रह्म है, तत् प्राप्तिप्रकारभूता विद्या 'ब्रह्मविद्या' है। ब्रह्मविद्या के द्वारा प्राप्तव्य अव्ययविद्या के साथ होने वाला बुद्धि का योग'योग'है। ब्रह्मविद्या, और योग,ये दो ही तो गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इसीलिए तो गीताध्यायोपसंहार में–'इति **श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु–'ब्रह्मविद्यायां–योगशास्त्रे'** यह उद्धृत हुआ है, जिसका तात्पर्य्य है–'**अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्रे**'। अव्यय–अक्षर–क्षर–ब्रह्मों में से जहाँ गीता मुख्यरूप से 'अव्ययब्रह्म' निरूपक शास्त्र है, वहाँ बुद्धि, ज्ञान, भक्ति, कर्म्म-योगों में से मुख्यतः 'बुद्धयोग' निरूपक शास्त्र है। अव्ययब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तत्प्राप्तिप्रकारभूता अव्यय–ब्रह्मविद्या का निरूपण करना, तथा उसके साथ होने वाले भगबुद्धियोग का निरूपण करना हीं गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष है।

४४–गीतानुगता विद्या, और योग—

भगचतुष्टयी के सम्बन्ध से अव्ययब्रह्मविद्यारूप योगप्राप्तिप्रकार चार भागों में विभक्त हैं। वे विद्यात्मक चारों प्रकार ही राजर्षिविद्या–सिद्धविद्या–राजविद्या–आर्षविद्या' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यही गीता की विद्याचतुष्टयी है, जिसका हमें क्रमिक विश्लेषण करना है। दूसरा है–'योग' पदार्थ। गुणत्रयात्मिका योगमाया के आवरण से आवृत, अतएव स्व–विद्याभाग से अविकसित-अप्रकाशित–अव्ययात्मा को विद्यारूप से प्रकाशित करने का साधन–उपाय ही 'बुद्धियोग' है। विद्याबुद्धि का अव्यय के विद्याभाग से योग हो जाना ही सिद्धलक्षण बुद्धियोग है, जिसके लिए–'ददामि बुद्धियोगं तम्' कहा गया है। ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त, अतएव स्वविद्याभाग से विकसित विद्याव्यय भी 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जायगा, जैसाकि–'**इमं विवस्वते**

योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' (४।१।) इस गीतावचन से प्रमाणित है। यहाँ स्पष्ट ही भगवान् ने योग को 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत किया है। इसप्रकार बुद्धियोगप्राप्ति–उपायरूप साध्ययोग भी बुद्धियोग है, अव्यय के साथ युक्ता बुद्धि भी बुद्धियोग है, एवं ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त विद्याव्यय भी बुद्धियोग है। राजर्षिविद्यानुगता वैराग्यबुद्धि का योग वैराग्यबुद्धियोग है, इससे 'आसक्ति' नाम के प्रतिद्वन्द्वी (अविद्याबुद्धि) की निवृत्ति होती है। सिद्धविद्यानुगता ज्ञानबुद्धि का योग ज्ञानबुद्धियोग है, इससे 'अविद्या' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। राजविद्यानुगता ऐश्वर्य्यबुद्धि का योग ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है, इससे 'अस्मिता' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। एवं आर्षविद्यानुगता धर्म्मबुद्धि का योग धर्म्मबुद्धियोग है, इससे 'अभिनिवेश' नामक प्रतिद्वन्द्वी निवृत्त होता है। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्र का संक्षिप्त इतिवृत्त है। चार विद्याएँ, चार योग, यही गीताशास्त्र का ज्ञातव्य विषय है। चारों विद्याओं में राजर्षिविद्या भगवद्विद्या है, शेष तीनों विद्याएँ परक्षेत्रानुगता हैं। चारों योगों में वैराग्यबुद्धियोग भगवद्योग है, शेष तीनों योग परक्षेत्रानुगत योग हैं जिनका लोकसंग्रहदृष्टि से संशोधनपूर्वक भगवान् ने गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है। यही गीता की विद्या के, तथा गीता के योग का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

४५–धर्म्म, और नीति का साहचर्य्य—

उक्त चारों विद्याओं में से सर्वान्त की आर्षविद्या का, तथा तदनुगत धर्म्मबुद्धियोग का गीता के १३ वें अध्याय से आरम्भ कर १८ वें अध्यायपर्य्यन्त ६ अध्यायों में प्रतिपादन हुआ है। सर्वप्रथम हमें इसी विद्या–योगविभूति की मीमांसा करनी है। इस विद्या-योग-की प्रतिष्ठा 'धर्म्म' तत्त्व है। अतः विद्या-योगविभूति की मीमांसा से पहिले दो शब्दों में 'धर्म्म' तत्त्व का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। धर्म्मशब्द के साथ 'नीति' शब्द बिना ही निमन्त्रण के उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा, और शरीर, दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, एवमेव धर्म्म, और नीति का भी भारतीय दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति शरीर–स्थानीया है, धर्म्म आत्मस्थानीय है। नीति वही नीति है, जो धर्म्मस्वरूप का संरक्षण करती है। धर्म्म वही धर्म्म है, जो अपने आधार पर प्रतिष्ठित नीति को लोकाभ्युदय में प्रवृत्त रखता है। वैसी नीति अनीति है, जो धर्म्मस्वरूप पर आक्रमण कर उसे स्वरूपच्युत कर देती है। वैसा धर्म्म अधर्म्म है, जो नीति को लोकसंरक्षण की विघातिका बना देता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर धर्म्म, एवं नीति का समन्वय कीजिए।

४६–धर्म्मपद्धति, और नीतिपद्धति—

अध्यात्मसंस्था का जिस पद्धति से जीवननिर्वाह होता है, वह पद्धति ही अध्यात्मसंस्था का धर्म्म, तथा नीति है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, और शरीर, ये दो मुख्य विभाग हैं। आत्मपर्व अन्तर्मुख है, शरीरपर्व बहिर्मुख है। अन्तर्मुख आत्मतत्त्व इन्द्रियातीत है, बहिर्मुख शरीरपर्व इन्द्रियदृष्ट है, प्रत्यक्ष है। आत्मा और शरीर के इन स्वरूपभेदों के आधार पर ही धर्म्म, तथा नीतिमार्ग व्यवस्थित हुए हैं। प्राणप्रधान आत्मा भूतप्रधान शरीर की प्रतिष्ठा है, अतएव धर्म्म को नीति की प्रतिष्ठा कहा जासकता है। दृश्यप्रपञ्च स्थावर–जङ्गम (जड़–चेतन) भेद से दो भागों में विभक्त है। स्थावरप्रपञ्च 'विश्व' है, जङ्गमप्रपञ्च 'जगत्' है। विश्व (जड़-प्रपञ्च), और जगत् (चेतन प्रपञ्च) दोनों दृश्य–भौतिक प्रपञ्चों की मूलप्रतिष्ठा धर्म्म ही माना गया है। इसी आधार पर–**'धर्म्मो विश्वस्य, जगतः प्रतिष्ठा'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राणात्मक धर्म्म–

पथ के आधार पर प्रतिष्ठित भूतात्मक नीतिपथ आगे जाकर 'धर्म्मपथ' में ही अन्तर्भूत होजाता है। यही कारण है कि, अन्तर्मुख धर्म्म, एवं बहिर्मुखा नीति के विभिन्न स्वरूपयुक्त होने पर भी भारतीय दृष्टिकोण से नीति भी धर्म्ममार्ग ही मान लिया गया है। तात्पर्य्य-भारतीय परिभाषा में नीति वही नीति है, जिसकी प्रतिष्ठा धर्म्म है। धर्म्ममार्गच्युत विशुद्ध नीतिमार्ग यहाँ अनीतिपथ ही माना गया है। लोकव्यवहार नीतिमार्ग पर प्रतिष्ठित है, पारलौकिक कौशल धर्म्म है। यदि लौकिक चातुरी केवल चातुरी है, इससे केवल लौकिक स्वार्थसाधन, साथ ही आत्मविकासतिरोभावपूर्वक पारलौकिक कौशल की हानि होती है, तो ऐसी चातुरी यहाँ नीति न मान कर अनीति ही मानी गई है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी' इस लोकसूक्ति के अनुसार चातुरी (नीति) वही चातुरी है, जिससे लोकव्यवहारसंरक्षणपूर्वक आत्मकौशल सुरक्षित बना रहता है। शरीरव्यवहार आत्मव्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ की नीति है, आत्मव्यवहार शरीर-व्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ का धर्म्म है। और इस दृष्टिकोण से धर्म्म-और नीति के पृथगवर्त्मा होने पर भी दोनों का एकत्र समन्वय होरहा है। इस समन्वय से कभी दोनों के संघर्ष का अवसर उपस्थित नहीं होता। यदि कभी किसी प्रसङ्ग पर नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर आक्रमण करता हुआ प्रतीत होने लगता है, तो उस दशा में यहाँ उस नीतिमार्ग की उपेक्षा कर दी जाती है। दोनों के काचित्क संघर्ष में धर्म्म का ही समादर किया जाता है। धर्म्मविरुद्ध नीतिमार्ग यहाँ सदा से उपेक्षणीय ही माना गया है। धर्म्ममार्ग का स्वरूपोपदेष्टा वेदवित् ब्राह्मण है, नीतिमार्ग का संरक्षक मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा है। राजा का नीतिमार्ग ब्राह्मण के धर्म्ममार्ग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। अतएव भारतीय नीतिमार्ग का प्रवर्त्तक-संरक्षक राजा यहाँ निष्कर्षतः धर्म्ममार्ग का ही संरक्षक माना गया है। राजा की राजनीति धर्म्ममार्ग का ही संरक्षण करती है। यहाँ आकर हम कह सकते हैं कि, यहाँ धर्म्म और नीति कहने भरके लिए दो विभिन्न पथ हैं। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। वेदशास्त्रसिद्ध धर्म्म ही यहाँ की राजनीति की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

क्रमेण शृणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियुज्यते ॥
आत्मा, सुतो, वा भार्य्या वा, तद्विशेषं शृणुस्व मे ॥१॥
ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् वयोवृद्धान् सुदक्षिणान् ॥
सेवेत प्रथमं विप्रानसूयापरिवर्जितान् ॥२॥
तेभ्यश्च शृणुयान्नित्यं वेदशास्त्रविनिर्णयम् ॥
यदूचुस्ते च तत् कार्य्यं प्राज्ञैश्चैतन्नृपश्चरेत् ॥३॥

—कालिकापुराण-राजनीति वि० प्र० ८५ अ०।

४७—मतवाद की विभीषिका—

नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर किस दशा में प्रतिष्ठित रहता है ?, इस प्रश्न का उत्तर आत्मप्रधानता पर निर्भर है। आत्मस्वरूप का सम्बन्ध इन्द्रतत्त्व से, एवं शरीरस्वरूप का सम्बन्ध वरुणतत्त्व से माना गया है, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड में-'शुक्ल-कृष्णरहस्य' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादन किया जाचुका है। पूर्व-

देशों में इन्द्र का प्राधान्य है, वरुण गौण है। अतएव इन्द्रानुगत आत्मतत्त्व यहाँ प्राधान है, वरुणानुगत शरीर गौण है। आत्मा के आधार पर यहाँ शरीर प्रतिष्ठित है। आत्मा के प्राधान्य से ही यहाँ आत्मा जहाँ समुज्ज्वल है, वहाँ वरुण–गौणता से शरीर कृष्ण है। पश्चिम दिशा के दिक्पाल वरुण पश्चिम देशों में प्रधान हैं, इन्द्र गौण हैं। अतएव वरुणानुगत शरीर वहाँ प्रधान है, इन्द्रानुगत आत्मा गौण है। शरीर के आधार पर वहाँ आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीरप्राधान्य से ही वहाँ शरीर जहाँ समुज्ज्वल शुक्ल है, वहाँ इन्द्र–गौणता से आत्मा तमोऽभिभूत है। यहाँ नीति धर्म्म के लिए है, वहाँ धर्म्म नीति के लिए है। यहाँ धर्म्म नीति का आधार है, वहाँ नीति धर्म्म का आधार है। यहाँ दोनों के संघर्ष में नीति की उपेक्षा की जाती है, वहाँ दोनों के संघर्ष में धर्म्म की उपेक्षा की जाती है। यहाँ का प्रतीक धर्म्म प्राकृतिक बनता हुआ धर्म्म है, वहाँ का धर्म्म मानवीय कल्पना से सम्बन्ध रखता हुआ 'मत' है। और यही धर्म्म, तथा मत में अहोरात्र का अन्तर है, जिसे न समझ कर ही मतवाद की भाँति भारतीय धर्म्म भी वर्त्तमान शिक्षित–प्रजा की दृष्टि में एक अनावश्यक, साथ ही शान्तिविघातक तत्त्व बनता जारहा है।

४८–मतवाद का स्वरूपपरिचय—

मतवाद, और धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप का निर्णय कर के ही हमें भारतीय धर्म्म की उपादेयता की मीमांसा करनी चाहिए। तत्तत्समयविशेषों में तत्तत्सामयिक परिस्थिति के अनुसार तत्तत्समय के व्यवहार–कुशल बुद्धिमान् समाजनेताओं के द्वारा सामाजिक स्थितिके संरक्षणके लिए तत्तत्समय के लिए ही जो नियमोंपनियम बनाए जाते हैं, उन तत्सामायिक–काल्पनिक–नियमोपनियमों की समष्टि का ही नाम 'मतवाद' है। भारतवर्ष में प्रचलित यच्चयावत् सम्प्रदाएँ, पश्चिमी देशों में प्रचलित विभिन्न धर्म्मपथ, सब मानवीय मन से सम्बन्ध रखते हुए 'मतवाद' हैं। जो भारतीय सम्प्रदाय वेदधर्म्म पर प्रतिष्ठित हैं (थी), उनको छोड़ कर समस्त विश्व के धर्म्मों को केवल 'मतवाद' ही कहा जायगा। सृष्ट्यारम्भ से आरम्भ कर प्रलयपर्य्यन्त समानरूप से प्रवाहित प्रकृतिसिद्ध शाश्वत नियमोपनियमसमष्टि ही 'धर्म्म' है, जिसके उद्‍भव का, प्रचार–प्रसार का एकमात्र श्रेय एतद्देशप्रसूत उन भारतीय तत्त्वद्रष्टा महर्षियों को ही मिला है, जिनकी दृष्टि का आधार वेदशास्त्र है, एवं जिनकी दृष्टि से दृष्ट मानवधर्म्म मनुस्मृति में प्रतिपादित हुआ है। धर्म्म कभी नहीं बदलता, बदलते हैं–मतवाद। धर्म्म, और नीति में कभी संघर्ष उपस्थित नहीं होता। संघर्ष होता है–मतवाद, तथा नीति में। यही कारण है कि, पश्चिमी देशों में धर्म्म नामक मतवाद के साथ नीति का भयानक संघर्ष होता रहा है। धर्म्म में विज्ञान, तर्क, युक्ति, आदि का समादर है। अतः इसमें संघर्ष के कारण उपस्थित ही नहीं होसकते। मतवाद में केवल अन्धश्रद्धा है, वहाँ विचारस्वातन्त्र्य का द्वार सर्वथा अवरुद्ध है। अतएव केवल असिधारा के बल पर सुरक्षित ऐसे मतवादों में संघर्ष का जन्म ले लेना स्वाभाविक है। रूस के साम्यवाद ने इसी मत–वाद के भ्रम से धर्म्म और ईश्वर की उपेक्षा करने में हीं अपना कल्याण समझा। साम्यवाद को जन्म देने वाले भारतीय धर्म्म की परिभाषा उसके लक्ष्य में न आई। मानते हैं मतवादलक्षण धर्म्म ही विश्वकी अशान्ति का कारण है। क्यों कि इसमें साम्यवाद की मूलप्रतिष्ठारूप समदर्शन का नितान्त अभाव है। मतवाद व्यक्ति–गत स्वार्थ को प्रोत्साहित करता है। प्रवृद्ध वैय्यक्तिक स्वार्थ ही समाजविघटन का कारण बनता है। दुःख है कि, भारतीय सनातनधर्म्म का स्थान भी आज सम्प्रदायरूप मववाद ने छीन लिया है, अथवा तो छीनता जारहा है। सभी सम्प्रदायवाद स्व स्व स्थान पर प्रतिष्ठित रहते हुए, साथ ही वेदसिद्ध धर्म्मरक्षा में आत्मसमर्पण

करते हुए जहाँ उपादेय, अतएव संरक्षणीय हैं, वहाँ अपने अपने सामयिक दृष्टिकोण को ही प्रधानता देते हुए, अपने आप ही को कल्याण का प्रवर्त्तक समझते हुए, साथ ही इतर सम्प्रदायों की निन्दा कर समाज-संघठन तोड़ने का महापातक करते हुए सर्वथा अनुपादेय, अतएव उपेक्षणीय ही हैं। सम्प्रदायवाद की घातक प्रतिच्छाया के अनुग्रह से ही आज धर्म्म की सार्वभौमिकता अस्तप्राय बन रही है। जो सनातनधर्म्म किसी युग में सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का सन्देशवाहक था, वही आज सम्प्रदाय के रंग से रञ्जित होकर अशान्ति का कारण बन रहा है। सम्प्रदायवाद के घातक अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्मी) से ही साम्यवाद के मूलभूत 'समदर्शन' का विनाश हुआ है, एवं समदर्शन का विनाश ही समाजशान्ति का उच्छेदक बना है।

शासनसत्ता के अनुग्रह से पश्चिमी देशों का पूर्व-देशों से सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध से दोनों की पुरातन संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ। परिणाम क्या हुआ ?, यह भी एक अनुरञ्जन की सामग्री है, जिसका दो शब्दों में विश्लेषण कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। हमनें उनसे क्या लिया ?, इसका उत्तर स्पष्ट है। विजेता की संस्कृति विजितों को विवश बन कर स्वीकार करनी पड़ती है। फलतः हमनें उनकी संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, साहित्य, को ही अपने अभ्युदय का कारण समझा। अपनापन छोड़ कर हम सर्वात्मना 'दासधर्म्म' में दीक्षित हो गए। हमारे वे सब आचार-व्यवहार हमारी ही दृष्टि में केवल ढोंग बन गए, जिनका हमनें उनके आचार-व्यवहार से विरुद्ध गमन देखा। उन्हें हम से क्या मिला ?, सब कुछ। इसप्रकार इस पारस्परिक सम्बन्ध में हमनें सब कुछ खो दिया, और उन्होंनें सब कुछ पालिया। वे वे ही बने रह कर जहाँ सब कुछ पा गए, वहाँ हमनें 'वे' बन कर सब कुछ खो दिया। हमनें वैदिक सिद्धान्तों की उपेक्षा की, उन्होंने वैदिक संस्कृति का मुक्तकण्ठ से यशोगान किया। हमनें भारतीय अध्यात्मवाद को केवल कल्पना समझा, उन्होंनें इसी को शान्ति का का कारण माना। उनके इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता के लिए एक दो उदाहरण उद्धृत कर देना भी अनावश्यक न माना जायगा।

४६-पश्चिमी साम्यवाद पर एक दृष्टि—

जर्मनी के अधिनायक हर हिटलर के आध्यात्मिक गुरु सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'नीत्शे' महोदय ने प्रायः विश्व के सम्पूर्ण मतों (ISM) का, तथा मज़हबों (RELISEON) का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, "मत, और मज़हब, दोनों मानवजीवन की स्वभाविक शान्ति के अन्यतम शत्रु हैं। न तो इनसे राष्ट्र का बौद्धिक विकास ही हो सकता, एवं न इनसे मानव की व्यक्तिसंस्था का ही कोई अभ्युदय सम्भव। क्योंकि इनके नियम संकुचित, अतएव दासता के प्रवर्त्तक हैं"। आगे जाकर जब नीत्शे को यह विदित हुआ कि, धर्म्मतत्त्व मत और मज़हब से कोई विभिन्न वस्तु है, जिसमें युक्ति-तर्क-विज्ञान का समादर है, जिसकी दृष्टि उदार है, जिसके नियम विकसित हैं, तो वे धर्म्मतत्त्व के परिज्ञान के लिए व्यग्र हो पड़े। आपने वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस वेदस्वाध्याय के अनन्तर वेदसिद्ध सनातनधर्म्म के सम्बन्ध में आपकी यह धारणा हो गई कि-"वेद से बढ़ कर कोई भी उत्तम वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं है, एवं न वेदसिद्ध मानवधर्म्म के अतिरिक्त कोई धर्म्म ही"। मानवधर्म्मप्रतिपादिका 'मनुस्मृति' के सम्बन्ध में आपका यह कथन था कि-"इसमें सूर्य्य का सा प्रकाश है। इसमें मानवजीवन को सफल बनाने वाले वैज्ञानिक-तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है। यदि मनुष्य मनु महाराज के बताए हुए सामाजिक नियमों का पालन करे, तो वह कभी दुःखी नहीं रह सकता"। सुप्रसिद्ध वेदाभ्यासी सर्वश्री मेक्समूलर महोदय के भी

इस सम्बन्ध में ये ही विचार थे। आपने एक समय एक महत्त्वपूर्ण परिषत् (सभा) में सभापतिपद से इस सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किए थे कि-"यदि मुझ से पूँछा जाय कि, किस देश के वायुमण्डल में मानसिक विकास की ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंनें जीवन-विज्ञान के गूढतम रहस्यों पर विचार किया है, जिसके अध्ययन की आवश्यकता प्लेटो, और कान्ट जैसे पण्डितों को भी है ?, तो मैं भारत की ओर इशारा करूँगा"। डॉक्टर बैलेन्टाइन की सम्मति में-"वेद संसार का सर्वोत्तम ग्रन्थ है, और भारतीय सब से सुसंस्कृत लोग"। बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत-प्रोफेसर माननीय ल्यूडर्स साहिब ने वैदिककालीन सामाजिक स्थिति का पर्य्याप्त अध्ययन किया। परिणाम में आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि-"यदि महात्मा कॉल मार्क्स (रूस के साम्यवाद के आचार्य्य) अपने जीवन में एक बार भी चन्द घन्टों के लिए मनुस्मृति का अवलोकन कर लेते, तो बहुत सम्भव था कि, वे साम्यवाद के प्रवर्त्तक होने के बजाय वैदिक-साम्यवाद के एक समर्थ प्रचारक बन जाते। किन्तु योरोप का दुर्भाग्य था कि, उन्हें ऐसा अवसर ही प्राप्त न हुआ"। जिस युग में पश्चिमी विद्वानों की रुचि वेद-स्वाध्याय की ओर अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी, उस रुचि को देख-सुन कर उस युग के सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइन्सटीन महोदय आकुल हो पड़े। आप अपने समय के कट्टर नास्तिक थे। आपका विश्वास था कि, "मनुष्य स्वयं ही अपना निर्म्माता है, इस मानवीय शक्ति से बढ़ कर कोई अन्य शक्ति नहीं है"। इस दृष्टिकोण को सिद्धान्त बना कर अपने वेद-धर्म्म की कटुपरीक्षा आरम्भ की। सब से पहिले आपने गीता का अध्ययन आरम्भ किया। केवल एक महिने के स्वाध्याय से ही आपका दृष्टिकोण बदल गया। वेदशास्त्रसम्मत पुनर्जन्मादि सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करते हुए आपने यह स्वीकार कर लिया कि-"अणु, तथा परमाणुओं की सुसूक्ष्म गतियों का आधार अवश्य ही सर्वव्यापक ईश्वरतत्त्व कोई सत्तासिद्ध पदार्थ है, जिसे स्वीकार किए बिना मानव का अभ्युदय असम्भव है"। आगे जाकर आपने यह विश्वास प्रकट किया कि, "उच्चतम शिखर पर पहुँच कर विज्ञान धर्म्म के गुह्यतम-अतीन्द्रिय तत्त्व में विलीन हो जाता है"। इसी प्रकार मिसेज मारग्रेट, नेली, स्लेड, पॉल, आदि विदुषियों, और विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से वेद-धर्म्म की उपादेयता स्वीकार कर सुप्त भारतीयों का उद्बोधन कराया है।

पश्चिमी विद्वान् इसप्रकार जहाँ उत्तरोत्तर हमारे धर्म्म की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं, वहाँ आत्मदासवृत्ति में निमग्न हम भारतीय,-विशेषत: शिक्षित भारतीय-उनके भूतवाद का अनुकरण करना हीं अपना परमपुरुषार्थ मान रहे हैं। अपने धर्म्म का विरोध, और पश्चिमी (रूस के) साम्यवाद का समर्थन करते हुए भारतीय सभ्यता कर कलङ्क के छींटे फैंकते हुए हम अपने हाथों हीं अपने सर्वनाश का आमन्त्रण करते हुए 'प्रगति' के सुख स्वप्नों की असम्भव कल्पना में तल्लीन हो रहे हैं। जैसाकि कहा गया है, कॉल मार्क्स का साम्यवाद कहने भर के लिए साम्यवाद है। तत्त्वत: यह विशुद्ध विषमवाद है। मानते हैं कि, जहाँ तक आर्थिक समस्या का प्रश्न है, वहाँ तक मार्क्स की विचारधारा थोड़ा सुधार कर सकती है। मार्क्स का यह कहना कि,-"मज़हब ग़रीब, मज़दूर, और किसान के लिए अफीम है, जो उसे अपने अधिकार का ज्ञान नहीं होने देता" कहना किसी सीमा पर्य्यन्त सत्य है। हम स्वयं मतवादलक्षण मज़हब को शान्ति का शत्रु मान रहे हैं। परन्तु इससे आगे बढ़ने में साम्यवाद से अभ्युदय नहीं माना जा सकता। प्रोफेसर ल्यूडर्स के शब्दों में मार्क्स को केवल युरोपीय मतों का ही ज्ञान था, जिसमें दोषों का कहना अनिवार्य्य है। अतएव मज़हब से ऊब कर उन्होंनें उसका विरोध किया। धर्म्म क्या है ?, धर्म्म, और मत में क्या अन्तर है ?, इस प्रश्न के समाधान का क्योंकि उन्हें अवसर नहीं मिला, अतएव उन्होंने 'साम्यवाद' की सृष्टि कर डाली। विज्ञान,

और ईसाइयत (मत) में परस्पर पर्य्याप्त संघर्ष हुए हैं । मार्क्स के युग में भी योरोप में मतवादों के अत्याचार ने प्रबलरूप धारण कर रक्खा था । ईसाईमत का पालन-पोषण राजाओं, तथा क्रूर पूँजीपतियों के द्वारा होता था । और इसप्रकार ईश्वर के नाम पर गरीबों का चूँसा हुआ रक्तकोष उसी प्रकार पूँजीपति पादरियों के उपासनामन्दिरों में सञ्चित होता रहता था, जैसाकि वर्त्तमान भारत के पूँजीपतियों के द्वारा पुष्पित पल्लवित सम्प्रदायाचार्य्यों के कोष मुग्ध अन्धश्रद्धालु आस्तिकप्रजा के शोषणकर्म्म से संग्रहीत अतुलद्रव्यराशि से परिपूर्ण हैं । ऐसी स्थिति में मार्क्स ने जो कुछ किया, ठीक किया । धर्म्म के नाम पर मतवाद का पोषण करने वालों के लिए यदि मार्क्स इस से भी कठिन दण्डव्यवस्था करते, तो हम उसका भी अभिनन्दन ही करते । परन्तु दुःख है कि, धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप न जानने कारण अनीश्वरवादात्मक ऐसे साम्यवाद का उनकी ओर से आविष्कार हो पड़ा, जो कहने भर के लिए शान्ति का कारण बनता हुआ भी तत्त्वतः अशान्ति का ही जनक सिद्ध हुआ । आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्मसंयम, और इच्छादमन की मूलप्रतिष्ठा है । आध्यात्मिक ज्ञानात्पक ईश्वरीय धर्म्म से वञ्चित मार्क्स के भौतिक साम्यवाद में भी मतवाद की भाँति आत्मसंयम, और इच्छादमन का अभाव है । अतएव केवल अर्थवादात्मक साम्यवाद आत्मशान्ति से कोसों दूर रहता हुआ मानवजीवन को सुशान्त बनाए रखने में नितान्त असमर्थ है, जिसका प्रत्यक्षप्रमाण प्रक्रान्ता अर्थलिप्सा ही पर्य्याप्त है * ।

५०-भारतीय साम्यवाद और धर्म्मदृष्टि-

भारतीय साम्यवाद की मूल प्रतिष्ठा वह धर्म्म है, जिसके सत्य, अहिंसा, दया, अस्तेय, आत्मसंयम, इच्छा दमन, आदि गुण मानें गए हैं । एवंविध धर्म्म से ही साम्यवाद विश्वशान्ति का कारण बन सकता है, जो साम्यवाद गीता के शब्दों में 'समत्त्वयोग' कहलाया है । समदर्शन ही इस समत्त्वयोग की आधारशिला है, एवं यही भारतीय साम्यवाद की मौलिक परिभाषा है, जिसे न समझ कर वर्त्तमान युग के कतिपय राष्ट्रीय गीताभक्तों नें गीता के साम्यवाद के साथ मार्क्स के साम्यवाद की तुलना कर डालने की भ्रान्ति कर डाली है । क्या पूँजीपति होना दोष है ?, नहीं । क्या सब समानरूप से सुखी रह सकते हैं ?, जब कि सुख-दुःख प्राप्ति का स्वकर्म्म-संस्कारों से सम्बन्ध है ?, नहीं । फिर साम्यवाद का क्या अर्थ ? । साम्यवाद यही आदेश करता है कि, यह ठीक है कि अमुक व्यक्ति अपने कर्म्मों से ही दुःखी है । परन्तु मानवता के नाते तुम्हारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, तुम उसके दुःख में हाथ बँटाओ । प्रकृतिसिद्ध अन्नव्यवस्था से उसकी पारिवारिक स्थिति को सँभालो । यह भावना तभी हो सकती है, जब आत्मा में दया-करुणा-अहिंसा-सर्वभूतहितरति, आदि गुणों का विकास हो । इन गुणों का विकास तभी सम्भव है, जब कि आत्मा धर्म्ममार्ग पर आरूढ हो । धर्म्मभावना के आधार पर प्रतिष्ठित समदर्शनमूला साम्य-भावना ही पूँजीपतियों की प्रकृतियों में सहज उदारता का समावेश कर सकती है । और धर्म्मात्मिका यह सहजोदारता ही दुःखी-असमर्थ-प्रजावर्ग को कष्ट में भी शान्ति का रसास्वादन करा सकती है । यही हमारा धर्म्ममूलक साम्यवाद है, जिसके स्रष्टा हैं ब्रह्मर्षि (ब्राह्मण), एवं

---

* श्वेतक्रान्तिमूलक भारतीय साम्यवाद, तथा रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य साम्यवाद, इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का विशद विवेचन 'भारतीय हितूमानव, और उसकी भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक सामायक निबन्ध के 'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक तृतीयखण्ड में देखना चाहिए ।

संरक्षक हैं–राजर्षि (क्षत्रिय)। धर्म्म मार्ग के उपदेशक ब्राह्मण, एवं धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रिय, दोनों भी विभाग आज सुप्त हैं। ऐसी स्थिति में अर्थकोषसंरक्षक गुप्तसमाज (वैश्यसमाज–पूँजीपति) यदि उच्छृंखल न बने, तो महा आश्चर्य्य है। और उभय रक्षाकर्म्म से वञ्चित ऐसे पूँजीपतियों के द्वारा असमर्थों का रक्तशोषण न हो, तो महा आश्चर्य्य है। तभी तो हम साभिनिवेश यह निवेदन करने की धृष्टता कर रहे हैं कि, यदि हम वास्तव में भारत राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो सर्वप्रथम हमें दरिद्र सामान्य प्रजा के दुःखों का सहयोगी बनना पड़ेगा। इसके लिए पूँजीपति वैश्यसमाज का ध्यान धर्म्ममूलक साम्यवाद की ओर आकर्षित करना पड़ेगा। इसके लिए धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रियसमाज का आश्रय लेना पड़ेगा। एवं क्षत्रियसमाज की दण्डनीति को धर्म्मानुगता बनाए रखने के लिए वेदशास्त्रसम्मत मानवधर्म्म के उपदेशक ब्राह्मणवर्ग का आश्रय लेना पड़ेगा। सर्वान्त में ब्राह्मणवर्ग को वर्त्तमान सम्प्रदायवाद (मतवाद) की संकुचित दृष्टि से बचा कर इसे शाश्वत आर्ष–मानवधर्म्म में पुनः दीक्षित करने के लिए विलुप्तप्राय वेदविज्ञान का पुनः उद्धार करना पड़ेगा। तभी भारतीय धर्म्म, और नीति की उक्त परिभाषाएँ पुष्पित पल्लवित हो सकेंगीं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन अन्य निबन्ध में हुआ है।

५१–आत्मानुगत धर्म्मतन्त्र, और शरीरानुगत नीतितन्त्र–

उक्त धर्म्म, और नीति स्वरूप विश्लेषण का निष्कर्ष यही हुआ कि, आत्मतन्त्र धर्म्मप्रधान है, शरीरतन्त्र नीतिप्रधान है। धर्म्मप्रधान आत्मा के आधार पर ही तो नीतिप्रधान शरीर प्रतिष्ठित है। नीतिप्रधान शरीर तो धर्म्मप्रधान आत्मा की आश्रयभूमि है। दोनों में मुख्य यद्यपि धर्म्मप्रधान आत्मा है, तथापि आत्मस्वरूप का रक्षा–विकास तो शरीरस्थिति पर ही अवलम्बित है। शरीर ही तो धर्म्मात्मक आत्मा का वह बाह्य वेष्टन है, जिसके स्वस्थ–सबल रहने पर ही आत्मा स्वधर्म्मानुगमन में समर्थ बनता है। इसी आधार पर–**'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि, बिना नीतिमार्ग को आगे किए धर्म्मरक्षा असम्भव है। विशुद्ध धर्म्म, दूसरे शब्दों में नीतिवञ्चित धर्म्म कभी सुरक्षित नहीं रह सकता। स्वधर्म्मरक्षा के लिए प्रत्येक दशा में नीतिमार्ग का अनुगमन अपेक्षित है। और इसीलिए भारतीय धर्म्म के साथ भारतीय राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। अतएव राजनीति का सञ्चालक भारतीय शास्ता यहाँ धर्म्मसञ्चालक–धर्म्मसंरक्षक माना गया है। अतएव स्वधर्म्म के अनन्योपदेष्टा भगवान् कृष्ण ने–**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्'** को आधार बना कर स्वधर्म्मरक्षा के लिए समय समय पर नीतिमार्ग का अवलम्बन किया है। शिखण्डी को आगे कर अर्जुन से भीष्म पर प्रहार कराना, 'अश्वत्थामा हतः–नरो वा कुञ्जरो वा' के आधार पर द्रोण का वध कराना, भीम के द्वारा दुर्योधन की जङ्घा पर गदाप्रहार करवाना, रथचक्रों के भूमि में फँस जाने पर असहाय कर्ण पर प्रहार करवाना, ये सब नीति मार्ग के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जिनका स्वधर्म्म रक्षा के लिए स्वयं भगवान् की ओर से प्रयोग हुआ है। यह ध्रुव सत्य है कि, बिना नीतिमार्ग के धर्म्ममार्ग कभी सुरक्षित नहीं रह सकता। तभी तो यहाँ धर्म्म के साथ नीति का अभेद सम्बन्ध माना गया है। नीतिमार्ग भी तो एक प्रकार का धर्म्म ही है। इसीलिए तो शास्ता के राजनैतिक मार्ग को यहाँ 'राजधर्म्म' नाम से ही व्यवहृत किया गया है। दुःख है कि, गत कुछ एक शताब्दियों से इस देश में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है कि, धर्म्ममार्ग एक स्वतन्त्र पथ है, एवं राजनीति एक स्वतन्त्र पथ है, दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में ऐसा

मन्तव्य है कि, इसी भ्रान्ति ने भारतीय साम्राज्य का अपहरण किया है। विगत शताब्दियों के धर्म्मप्रिय भारतीय राजाओं नें धर्म्मभावना का अनुचित समादर करते हुए आक्रान्ताओं को बार बार क्षमा कर अपना और अपने साम्राज्य का नाश करा लिया, जिसके उदाहरण भारत के अन्तिम सम्राट् पृथिवीराज चौहान हैं।

५२–मताभिनिवेश के दुष्परिणाम—

मताभिनिविष्ट यवनों के अनन्तर राजनीतिकुशल विदेशी शासकों की इस देश पर अनुग्रहदृष्टि हुई। नीति के तात्विक स्वरूप को भुला देने वाले हम भारतीयों के हृदय में पुनः इस आशङ्का का जन्म हो पड़ा कि, कहीं ये नवागन्तुक अतिथि भी हमारे धर्म्म पर तो प्रहार न कर बैठेगें। यही हमारी निर्बलता का मुख्य बीज था। हम भूल चुके थे इस सिद्धान्त को कि, नीतियुक्त धर्म्म पर कोई भी आक्रान्ता अपना आक्रमण सफल नहीं बना सकता। हम तो उक्त भ्रान्ति के अनुग्रह से कोरे धार्म्मिक बने रह गए थे। 'दूसरों की कमजोरी से लाभ उठाना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है' राजनीति के इस अव्यर्थ सिद्धान्त का मर्म्म समझने वाले उन नवागन्तुकोंनें भारतभूमि पर पैर रखते ही हमारी इस कमजोरी का पता पा लिया। फिर क्या था। महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में यह घोषणा कर दी गई कि, 'हमारी राजनीति किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप न करेगी'। हम भ्रान्त भारतीयों नें बड़ी प्रसन्नता से इस घातक घोषणा का अभिनन्दन करते हुए अपनी नग्न मूर्खता का स्वरूप विदेशी शासकों के सम्मुख रखने में अपने आपको गौरवान्वित माना। भूतलिप्साप्रधान उनकी राजनीति के प्रयोग आरम्भ हुए, इस कौशल से कि, जिनके द्वारा अप्रत्यक्षरूप से हमारा सर्वस्व दिन दहाड़े लुटने लगा। हम धर्म्म-धर्म्म चिल्लाते रहे, और उनकी राजनीति के महोदर में हमारा धर्म्म, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आचारव्यवहार, शिल्प, कला, वाणिज्य, सब कुछ विलीन होते गए। आगे जाकर उक्त घोषणा की भी उपेक्षा आरम्भ हुई। लेजिस्लेटिव में अन्तर्जातीय विवाहादि कानून उपस्थित होने लगे। उनके द्वारा नहीं, भारतीयों के ही द्वारा। इसलिए कि, राजनीति के व्यामोह ने उन्हें धर्म्मस्वरूपज्ञान से सर्वथा वञ्चित कर दिया था। तभी तो आज के शिक्षित भारतीयों के यह अनर्गल प्रताप देखे-सुने जा रहे हैं कि, विवाह का धर्म्म से क्या सम्बन्ध !, खान पान से धर्म्म का क्या सम्बन्ध !। मानों इनकी दृष्टि में धर्म्म तो एक वह लोकातीत-अव्यवहार्य्य पदार्थ है, जिसका मानवसमाज के ऐहिक प्रत्यक्षजीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जहाँ हमारी राजनीति तक धर्म्ममूला थी, वहाँ हमारा धर्म्मपथ भी धर्म्मसीमा से बहिष्कृत मान लिया गया। तब कहीं जाकर हमारे धर्म्मनेताओं (पण्डितसमाज) की आँखें खुलीं। विक्टोरिया की घोषणा दोहराई गई। परन्तु सुनता कौन था। व्यवहारजगत् में उसी की सुनी जाती है, जिसके हाथ में नीतिशास्त्र सुरक्षित रहता है। वह धर्म्मनेताओं के पास है कहाँ। फिर इन निर्बलों की कौन सुने, और क्यों सुनें। आज भी तो हम उसी भ्रान्तभावना को दोहराने का पाप कर रहे हैं। किसी भी धार्म्मिकमञ्च पर चले जाइए। पहिली घोषणा यह होगी कि, 'हमारी यह संस्था, यह सभा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। हमारा लक्ष्य एकमात्र धर्म्मप्रचार है'। घोषणा करने वालों से क्या हम यह पूँछ सकते हैं कि, धर्म्मावतार ! क्या राजनीति धर्म्म नहीं है ?। क्या आपके धर्म्मशास्त्रों में राजनीति का निरूपण नहीं हुआ !, क्या आपकी राजनीति को धर्म्म (राजधर्म्म) नाम से व्यवहृत नहीं किया गया !। फिर आपने किस आधार पर यह मान लिया कि, धर्म्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्मरण रखिए, यदि अब भी इसी भ्रान्ति में पड़े रहे तो धर्म्मरक्षा तो आप क्या करेंगे:—अपनी रक्षा भी आप न कर सकेंगे। धर्म्म को मूलप्रतिष्ठा बनाइए, राजनीति को धर्म्मप्रयोग का द्वार बनाइए। तभी तो आपके राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है। उधर विदेशियों

की नकल करने वाले वर्त्तमान राष्ट्रवादियों से हम यह निवेदन करेंगे कि, पण्डितसमाजानुग्रह से उनके सम्मुख धर्म्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ है, नीतिपथवञ्चित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत वह धर्म्म वस्तुतः मतवाद है, शान्तिविघातक सम्प्रदायविशेष है। एतावता ही भारतीय विज्ञानसिद्ध धर्म्म की ओर से उनका तटस्थ हो जाना श्रेयःपन्था नहीं है। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जिस अहिंसा के आधार पर वे भारतवर्ष के अभ्युदय की कामना कर रहे हैं, जिस राजनीति के द्वारा वे साम्यवाद के सुख स्वप्न देख रहे हैं, वह अहिंसा, वह साम्यवाद समदर्शनानुगत बनता हुआ धर्म्ममूलक ही है। बिना धर्म्म को आधार बनाए न तो उनको राष्ट्रकल्पना ही कभी पुष्पित पल्लवित हो सकती, एवं न धर्म्मवञ्चित, अतएव काल्पनिक अहिंसावाद को ही वे सुरक्षित रख सकते।

५३-धर्म्म, और अधर्म्म-वंशपरिचय—

अहिंसावादी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं-जगत् को अपना मित्र समझो! अहिंसा को मुख्य बनाओ!। सुस्वागतम्!!! परन्तु कैसे?। क्या वह विशुद्ध राजनीति-मार्ग विश्वमैत्री का अनुगामी बन सकता है, जिसका तमोगुणप्रधान रागद्वेषात्मक बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध है?। अर्थतन्त्ररक्षार्थ आवश्यकरूप से अपेक्षित हिंसापथ को अपनाने वाले राजनीति-पथ में क्या अहिंसावाद सुरक्षित रह सकता है?। कभी नहीं। यह तो धर्म्मभावना को मूलाधार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, अहिंसा, सन्तोष, सर्वभूतहितरति, आदि गुण धर्म्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता दोषदृष्टि से भी एकबार भी भारतीय धर्म्मतत्त्व पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते, तो धर्म्म के प्रति उनकी यह उपेक्षा न होती। धर्म्माधर्म्मवंशों का दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्र ने हमें बतलाया है कि, दक्षप्रजापति की ६० कन्याओं में १३ कन्याओं का धर्म्म के साथ पाणिग्रहण हुआ है। इन १३ पत्नियों से धर्म्म के १३ पुत्र उत्पन्न हुए हैं, यही धर्म्मवंश है। वे पत्नियाँ क्रमशः श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री (लज्जा), मूर्त्ति, इन नामों से प्रसिद्ध हैं (श्रीमद्भागवत)। भागवतोक्त इन १३ पत्नियों के क्रमशः श्रद्धा से **ऋत** (सत्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से **प्रसाद** (आत्मविकास), दया से **अभय**, शान्ति से **सुख**, तुष्टि से **सन्तोष**, पुष्टि से **गर्व्व** (आत्माभिमान), क्रिया से **योग** (धर्म्मबुद्धियोग), उन्नति से **दर्प** (आत्मनिर्भरता-स्वावलम्बिता), बुद्धि से **अर्थ** (लोकसम्पत्ति), मेधा से **स्मृति**, तितिक्षा (सहनशक्ति) से **क्षेम**, ह्री से **प्रश्रय**, एवं मूर्त्ति से **नरनारायण** (नर जीव, नारायण-ईश्वर, दोनों का सहजसम्बन्ध) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण को यदि पृथक् माना जाता है, तो १३ के स्थान में चौदह संख्या हो जाती है। पुराणान्तरों में इसी धर्म्मवंश का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

श्रद्धा[१]-लक्ष्मी[२]-धृति[३]-स्तुष्टिः[४]-पुष्टि[५]-र्मेधा[६]-तथा क्रिया[७]।
बुद्धि[८]-र्लज्जा[९]-वपुः[१०]-शान्ति[११]-सिद्धिः[१२]-कीर्त्ति[१३]-स्त्रयोदशी ॥
पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्म्मो दाक्षायणीः प्रभुः ॥ १ ॥

[1]श्रद्धा-कामञ्च, [2]श्री-दर्पं, [3]नियमं धृतिरात्मजम् ॥
[4]सन्तोषञ्च तथा तुष्टिं, [5]लोभं पुष्टिरसूयत ॥ २ ॥
[6]मेधा-श्रुतं, [7]क्रिया-दण्डं, [8]नयं-[9]विनयमेव च ॥
[10]बोधं बुद्धि, स्तथा [11]लज्जा विनयं, वपु-रात्मजम् ॥ ३ ॥
[12]व्यवसायं प्रजज्ञे वै, [13]क्षेमं शान्तिरसूयत ।
[14]सुखं सिद्धि, [15]यशः कीर्त्तिरित्येते धर्म्मसूनवः ॥ ४ ॥

अधर्म्मवंश का निरूपण करते हुए शास्त्र ने कहा है—हिंसा अधर्म्म की पत्नी है, इससे **अनृत** (मिथ्याभाषण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। **निकृति** नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से **नरक**, और **भय** नाम के दो पुत्र (अधर्म्म के दौहित्र) उत्पन्न हुए है। नरक का विवाद माया से हुआ है, भय का विवाह वेदना से हुआ है। माया से मृत्युपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है। मृत्यु से जरा, व्याधि, शोक, तृष्णा, क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यही अधर्म्म का संक्षिप्त वंशविस्तार है, जो वर्त्तमान युग में सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो रहा है। और निश्चयेन यही अधर्म्मवंश आज वर्त्तमान राष्ट्रकल्पना का मूलाधार बनता हुआ हिंसा, मिथ्याभाषण, माया, वेदना, व्याधि, शोक, तृष्णा, क्रोधादि का उत्तेजक सिद्ध हो रहा है। (मार्कण्डेयपुराण)। ब्रह्मचर्य्य, सत्य, तप, दान, नियम, क्षमा, शौच, अस्तेय, अहिंसा, सुशान्ति, इन दस अङ्गों से युक्त धर्म्म ही आत्मसंयमपूर्वक इच्छादमन का कारण बनता हुआ उस भारतीय साम्यवाद का पोषक बनता है, जिसमें धर्म्मात्मिक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समदर्शन को प्रधान बना कर नीत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमवर्त्तन (प्रकृतिभेदसिद्ध विभिन्न व्यवहार) पुष्पित पल्लवित हुआ है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियारामता, असत्य, कृपणता, उच्छृङ्खल आहारविहार, अशुचि, हिंसा, क्रान्ति, इत्यादि अङ्गों से युक्त अधर्म्म ही आत्मजड़तापूर्वक इन्द्रियेच्छाप्रवृत्ति का कारण बनता हुआ उस पाश्चात्य साम्यवाद का पोषक बन रहा है, जिसमें आत्मावरणमूलक अधर्म्मजनित विषमदर्शन, तथा शरीरानुगत समवर्त्तन (प्रकृतिभेदविरुद्ध अप्राकृतिक समानाधिकार) पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। दोनों साम्यवादों में से कौन उपादेय है ?, इस प्रश्न के निर्णय का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना पर्य्याप्त समझते हैं कि, किसी भी कार्य्यपद्धति की, किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्णीत होती है। परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें, अर्थलिप्सा में निमग्न रहें, व्यक्तिप्रतिष्ठा में मदोन्मत्त बने रहें, और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले यच्चयावत् मनुष्यों को समानाधिकार का पाठ पढाते हुए उन्हें स्वयोग्यतानुगत अधिकारसिद्ध विभक्त कर्म्मपथ से च्युत करते रहें, एवंविध विषमदर्शनानुगत, समवर्त्तनात्मक पश्चिमी साम्यवाद एक कार्य्यपद्धति है। इसका फल क्या हुआ ?, यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी राष्ट्रकल्पना से आज न केवल भारत ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज अप्रत्याशित सङ्कटों में निमग्न हो रहा है। इसी फल से इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। परस्पर में मैत्रीभाव रक्खें, अर्थलिप्सा से बचे रहें, व्यक्ति-

प्रतिष्ठा के मोह में न पड़ें, और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृतिक मनुष्यों को विभिन्न कर्म्मों में प्रतिष्ठित रखते हुए उन्हें स्वलक्ष्य पर आरूढ बनाए रहें। एवंविध समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनात्मक पूर्वी साम्यवाद एक कार्य्य-पद्धति है, पूर्ण परीक्षित सिद्धान्त है। इसका फल क्या हुआ था?, यह उस अतीत भारत से पूँछिए, जिसमें सुख-शान्ति का पूर्ण साम्राज्य था, इसी फल से इसकी आवश्यक उपादेयता प्रमाणित है, और प्रमाणित है भारतीय समदर्शनानुगत आत्मयुक्त धर्म्म, तथा विषमवर्त्तनानुगत शरीरयुक्त नीति की उपादेयता। यही धर्म्म, और नीति का प्रासङ्गिक स्वरूपविश्लेषण है।

५४–धर्म्मस्वरूपजिज्ञासा–

साम्यवाद के प्रसङ्ग में पूर्व में हमनें जिस धर्म्मतत्त्व का यशोगान किया, उसका तात्त्विक स्वरूप परिचय भी अपेक्षित है। मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्म्माचार्य्यों नें धर्म्म के जो लक्षण किए हैं, वे सुप्रसिद्ध हैं। तत्तत्-स्मृति ग्रन्थों में उनका अवलोकन किया जा सकता है। धर्म्म के मूलभूत विज्ञानतत्त्व के विलुप्तप्राय हो जाने से पश्चिमी विज्ञान के चाकचिक्य से प्रभावित होने वाले वर्त्तमान शिक्षित भारतीयों की दृष्टि में केवल शब्दप्रमाणात्मक स्मार्त्त धर्म्मलक्षणों का विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव प्रस्तुत परिच्छेदों में हमें विज्ञानदृष्टि से ही धर्म्मतत्त्व का स्वरूपपरिचय कराना है, जिस परिचय के अनन्तर किसी भी वैज्ञानिक को धर्म्म की शाश्वत उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं रह सकता। 'धर्म्म' शब्द का अक्षरार्थ है—'धारण करने वाला'। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से ('धृञ्' धारणे, भ्वादि–पा० सू० ८।२।२७) 'मन्' प्रत्यय के द्वारा 'धर्म्म' शब्द निष्पन्न हुआ है। किस को धारण करने वाला कौन तत्त्व धर्म्म है?, यह प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें सर्वप्रथम 'धारण' का अर्थ करने की आवश्यकता हुई। क्योंकि 'धारण' अर्थ आधाराधेयभाव से भी सम्बन्ध रखता है। सम्पूर्ण पदार्थों को पृथिवी ने धारण कर रक्खा है। इस दृष्टि से पृथिवी पार्थिव पदार्थों का धर्म्म है। शरीर पर वस्त्र हैं, वस्त्रों पर रंग है, मेज पर पुस्तक है, दवात में श्याही है। क्या इन सामान्य-सर्वानुभूत धारणभावों का ही नाम धर्म्म है?। तब तो अधर्म्म भी धर्म्म बन जायगा। क्योंकि अधर्म्मलक्षण पाप के आधार पर भी तो असत्यादि प्रतिष्ठित रहते हैं। क्या धारणार्थक धर्म्म की यही तात्त्विक परिभाषा है?।

५५–स्वधर्म्म, परधर्म्म–परिभाषा–

प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों नें धर्म्मतत्त्व के **'स्वधर्म्म'-'परधर्म्म'** भेद से दो श्रेणिविभाग माने हैं। जिस तत्त्व से जिस भौतिक पदार्थ का स्वरूप धृत रहता है, वही धारक तत्त्व उस भौतिक पदार्थ का स्वधर्म्म है। इस स्वधर्म्म के आश्रित अन्य आगन्तुक धर्म्म ही उस भौतिक वस्तु के लिए परधर्म्म है। यदि परधर्म्म आश्रित भौतिक पदार्थ की स्वरूपहानि नहीं करते, उसके स्वरूपरक्षक स्वधर्म्म को हानि नहीं पहुँचाते, तब तक तो ये परधर्म्म आश्रितधर्म्म कहलाते हैं। यदि इन परधर्म्मों से पदार्थ के स्वधर्म्म की हानि हो जाती है, तो वे ही परधर्म्म अधर्म्म कहलाने लगते हैं। इसप्रकार स्वधर्म्म, आश्रितधर्म्म, अधर्म्म भेद से धर्म्म तत्त्व के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। आश्रितधर्म्म, अधर्म्मरूप परधर्म्म प्रत्येक दशा में भयावह ही बना रहता है, जैसा कि—**'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः'** वचन से प्रमाणित है। भौतिक विज्ञान (पदार्थविद्या) की दृष्टि से पहिले तीनों के उदाहरणों का समन्वय कीजिए। **'अपां संघातो, विलयनं**

च तेजःसंयोगात्' (वै० ८०५।२।८।) सिद्धान्तानुसार 'ध्रुव' नामक घनाग्निधर्म्म के समावेश से वही पानी संघातभाव में परिणत होता हुआ तुषार (बर्फ) बन जाता है, एवं 'धर्त्र' नामक तरलाग्निधर्म्म के समावेश से वही पानी द्रवभाव में परिणत हो जाता है। जल में द्रवधर्म्म विज्ञानदृष्ट्या सांसिद्धिक (नित्य) नहीं है, अपितु नैमित्तिक है। घनाग्नि पानी को घन बना देता है, तरलाग्नि तरल बना देता है। पानी को तरलरूप में परिणत करने वाला तरलाग्नि पानी में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट हो रहा है। आत्मसमर्पणसम्बन्ध ही अन्तर्य्याम सम्बन्ध कहलाया है। तरलाग्नि के तापलक्षण स्वधर्म्म ने जल के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने ताप धर्म्म को जल के द्रवत्वरूप स्वधर्म्म में परिणत कर रक्खा है। वही ताप द्रवत्वरूप से जल का स्वधर्म्म बन रहा है। यही द्रवत्व जल का स्वरूपलक्षण स्वधर्म्म है। क्योंकि इसी द्रवधर्म्म की सत्ता में द्रवलक्षण जल की स्वरूपसत्ता है। जिस दिन वह द्रवत्व उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण जल का स्वरूप ही उत्क्रान्त हो जाता है। अतएव स्वधर्म्मरूप इस द्रवत्व को हम जल का स्वरूपधारक स्वधर्म्म कहने के लिए तय्यार हैं। स्वधर्म्मयुक्त इस जल को किसी पात्र में रख कर हमनें इन्धन के संयोग से इसमें आग्नेय ताप का बहिर्य्याम-सम्बन्ध से प्रवेश कराया। पानी गरम हो गया। यह आगन्तुक तापधर्म्म जलाश्रित बनता हुआ जल का आश्रित धर्म्मलक्षण परधर्म्म है। इसके आ जाने से पानी का कुछ बनता नहीं, निकल जाने से पानी का कुछ बिगड़ता नहीं। अतएव इसे आगन्तुकधर्म्म कहना अन्वर्थ बनता है। यदि अग्निसंयोग तीव्र कर दिया जाता है, तो आगन्तुक तापधर्म्म प्रवृद्ध बन जाता है। प्रवृद्ध तापधर्म्म जल को बाष्परूप में परिणत कर उसका स्वरूपनाश कर देता है। इस दशा में आश्रितधर्म्मलक्षण यही ताप जल के स्वधर्म्म का स्वरूप-विघातक बनता हुआ अधर्म्मलक्षण परधर्म्म बन जाता है। इसप्रकार बहिर्य्यामसम्बन्ध से प्रविष्ट आगन्तुकधर्म्म चरम सीमा पर पहुँच कर अधर्म्म बन जाता है। यही परधर्म्मात्मक अधर्म्म स्वधर्म्म का उच्छेदक बनता हुआ धर्म्मीपदार्थ के स्वरूपनाश का कारण बन जाता है। इस धर्म्मतत्त्व-निर्वचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, जिस प्राणात्मिका शक्ति के आधार पर वागात्मक (भूतात्मक) पदार्थों का बाह्य स्वरूप प्रतिष्ठित, सुरक्षित रहता है, वह धारक शक्तितत्त्व ही उस पदार्थ का धर्म्म, किंवा स्वधर्म्म है। एवं जिसके समावेश से पदार्थधर्म्मोच्छेदद्वारा पदार्थस्वरूप विनष्ट हो जाता है, वही उस पदार्थ के लिए अधर्म्म, किंवा भयावह परधर्म्म है। जब तक धर्म्मी पदार्थ स्वधर्म्म से युक्त है, धर्म्म पर प्रतिष्ठित है, तभी तक उस की स्वरूपस्थिति है। ताप-प्रकाश सूर्य्य के धर्म्म हैं, इनके निकल जाने पर सूर्य्य का कोई स्वरूप नहीं। शैत्य, प्रकाश, आह्लादादि चान्द्रधर्म्म हैं, इनके अभाव में चन्द्रमा का कोई मूल्य नहीं। तत्तत् पदार्थों की तत्तत् विभिन्नप्रकृति के भेद से विभिन्न तत्तत् स्वधर्म्म हीं तत्तत् पदार्थों के विभिन्न धर्म्म हैं। इसप्रकार प्रकृतिभेद से एक ही धर्म्म आगे जा कर चेतनधर्म्म, अचेतनधर्म्म, पशुधर्म्म, मानवधर्म्म देवधर्म्म, गन्धर्वधर्म्म, आदि अनन्त शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि, जो धर्म्म किसी के लिए स्वधर्म्म है, वही अन्य प्रकृति वाले के लिए अधर्म्म है। शैत्यधर्म्म चन्द्रमा का जहाँ स्वधर्म्म है, वही शैत्यधर्म्म अग्नि के लिए परधर्म्म बनता हुआ अधर्म्म है। इसी प्रकृति भेद के आधार पर धर्म्माधर्म्म की व्यवस्था हुई है। यहीं क्यों, देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा के तारतम्य से वही धर्म्म परिस्थितिविशेष में अधर्म्म बन जाता है, वही अधर्म्म धर्म्म बन जाता है। निरपराध को मारना अधर्म्म है, सापराध आततायी को मार देना धर्म्म है। वही हिंसा एक स्थान पर अधर्म्म बन रही है, अन्यत्र वही धर्म्म बन रही है। इसीलिए तो धर्म्म का कोई नियत लक्षण नहीं किया जा सकता। देश-कालादि की

अनुरूपता से धर्म्म का स्वरूप तात्कालिक बन कर ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसी आधार पर आगे जाकर धर्म्म के-देशधर्म्म, जातिधर्म्म, कुलधर्म्म, आदि अनेक वितर्त्त हो जाते हैं। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों नें धर्म्म का निम्न लिखित यौगिक लक्षण किया है—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म्मलक्षणम् ॥

—या॰ स्मृ॰ १।६।

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥

—या॰ स्मृ॰ आ॰ रा॰ ३४३।

जड़ हो, अथवा चेतन, पशु हो, अथवा मनुष्य, देवता हो अथवा ऋषि, जिसकी जैसी प्रकृति है, जिसका जैसा वर्ण है, वर्णानुगत उस प्रकृतिक वीर्य्य की स्वरूपरक्षापूर्वक जो धारक तत्त्व उस वस्तुतत्त्व की स्वरूपरक्षा करता है, वही उस वस्तुतत्त्व का धर्म्म है। हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्य्यामी ही प्रकृतितत्त्व है। यही प्रकृति उस वस्तुतत्त्व को नियतपथानुगामी बनाए रहती है। अतएव इस प्रकृति को 'नियतिःसत्य' कहा गया है। यही नियत सत्यभाव धर्म्मतत्त्व है (देखिए, शत॰ ब्रा॰ १४।४।२।२६।) जिसका वर्णावर्णसृष्टि के नियमन के लिए ब्रह्म की ओर से प्रादुर्भाव हुआ है। यही वह सनातन तत्त्व है, जिसका मौलिक विज्ञान तो श्रुतिशास्त्र (वेदशास्त्र) में निरूपित हुआ है, एवं व्यवहार्य्य आदेश स्मृतिशास्त्र में उद्धृत हुए हैं, जैसा कि गीताभूमिका 'ख' विभाग के आर्षधर्म्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकृतिभेद के आधार पर सुव्यवस्थित यही वैज्ञानिक धर्म्मभेद भारतीय सनातनधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। वैज्ञानिक विभिन्न धर्म्मवाद ही व्यवहारजगत् को अभ्युदय का अनुगामी बनता हुआ इसे निःश्रेयसप्रवर्त्तक बनाता है। इसी आधार पर महर्षि कणाद ने धर्म्म का लक्षण किया है—

'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' ।

—वैशेषिक दर्शन १।१।२।

५६-धर्म्मादेशविप्रतिपत्ति, और तन्निराकरण—

उक्त लक्षण धर्म्म प्रकृतिसिद्ध है, तो इसके लिए आदेश की आवश्यकता क्यों हुई ?। पशु, पक्षी, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सभी तो प्राकृतिक धर्म्मों में बिना किसी की प्रेरणा के ही आरूढ़ हैं। मनुष्य भी जब प्राकृतिक सर्ग है, तो उसके लिए शास्त्राडम्बर क्यों आवश्यक माना गया !, यह प्रश्न उपस्थित होता है। जिसका समाधान है-मनुष्य का स्वाभाविक अनृतलक्षण ऋतभाव। ऋत महान् ही इसकी योनि बनता है। ऋततत्त्व सत्यधर्म्म से स्वभावतः वञ्चित हैं। अतएव मानवसर्ग 'अनृतसंहित' * माना गया है। इसी प्राकृतिक अनृतभाव के कारण मनुष्य प्रज्ञापराध करता हुआ अपने स्वाभाविक मानवधर्म्म से स्खलित हो जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से भी प्रमाणित है—

* अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः। (शत॰ १।१।१।१।)
सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः (शत॰ १।१।१।४।)।

"ता इमाः प्रजाः-तथैवोपजीवन्ति-यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अति-क्रामन्ति, न पितरः, न पशवः । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" ।

—शत० ब्रा० २।४।२।५,६, ।

ऋतमूलक, अतएव अनृतात्मक मानवसुलभ प्रज्ञापराध से होने वाले इस मर्य्यादातिक्रमण के निरोध के लिए ही इसके लिए शास्त्रोपदेश अपेक्षित हुआ । कैसा शास्त्रोपदेश ? जिस के प्रवर्त्तक वे आप्तमहर्षि थे, जिन्होंनें इन्द्रियातीत, गुप्ततम प्राकृतिक रहस्यों का साक्षात्कार किया, एवं उन्हीं के आधार पर मानवधर्म्मात्मक प्राकृतिक नियमोपनियमों का शब्दरूप से सम्पादन किया । ऋषिप्रदिष्ट, विधि-निषेधात्मक वही सम्पन्न शब्द-राशि अनुशासनधर्म्म के सम्बन्ध से-'शास्त्र' कहलाया, जिसका निर्वचन गी० भू० प्रथमखण्डान्तर्गत 'शास्त्र-शब्दनिर्वचन' प्रकरण में किया जा चुका है । यही शास्त्र मानव कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का अन्यतम, तथा निर्भ्रान्त निर्णायक माना गया, जिसके सम्बन्ध में स्वयं गीताचार्य्य की-'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्या-कार्य्यव्यवस्थितौ**' यही सम्मति प्राप्त हुई है । तात्पर्य्य-श्रुति-स्मृति-पुराण-निबन्धों में प्रतिपादित, एतच्छा-स्त्रनिष्णात सद्विद्वानों के द्वारा अनुष्ठित प्रकृतिसिद्ध मानव-कर्म्मकलाप ही धर्म्म है, जिसके अनुगमन में मानव की स्वरूप-रक्षा है । जिसके परित्याग के मानव का स्वरूपविनाश है । यही भारतीय वैज्ञानिक धर्म्म का संक्षिप्तस्वरूप परिचय है, जिसका यथावत् बोध प्राप्त करने के अनन्तर कोई भी इसकी उपयोगिता का विरोध नहीं कर सकता । इस धर्म्म-परिभाषा को अवगत कर लेने पर हमारे नवशिक्षित भारतीयों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि, धर्म्म केवल पारलौकिक निःश्रेयस का ही साधक नहीं है, अपितु इसका ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । हमारे ऐहिक, आमुष्मिक, यच्चयावत् कर्म्मकलापों का साफल्य धर्म्मानुगमन पर ही सम्भव है । धर्म्मानुगत कर्म्म ही गीतापरिभाषा में सत्कर्म्म है, शेष धर्म्मविरुद्ध कर्म्म विकर्म्म, अकर्म्म बनते हुए आत्म-शरीर-पतन के ही कारण हैं-'**तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति**' ।

५७-विज्ञानसिद्ध धर्म्म के अवान्तर भेद—

यों तो विज्ञानसिद्ध इस धर्म्म के अनन्त भेद हैं, परन्तु बुद्धियुक्त प्राणिवर्ग की दृष्टि से इसका कतिपय संख्याओं से भी विश्लेषण किया जा सकता है । निरन्तर यज्ञ-तपो-दान लक्षण विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म्म का अनुगमन करते रहना, तात्त्विक बोधपूर्वक वेदादि सच्छास्त्रों में रत रहना, निरन्तर विष्णुपूजन-स्मृति का अनुगामी बने रहना, ये सब **देवधर्म्म**[1] हैं, तदनुगामी मनुष्य **भूदेव** हैं । बाहुपराक्रम से काम लेना, मत्सरता को आधार बनाए रखना, युद्धव्यापार में निरत रहना, विशुद्ध नीतिमार्ग का अनुगमन करना, ये सब **दैत्यधर्म्म**[2] हैं, तदनुगामी मनुष्य **दैत्य** हैं । ज्ञानयोग में रत रहना, ब्रह्मविज्ञान का अनुगमन करना, इत्यादि-**सिद्धधर्म्म**[3] हैं, तदनुगामी मनुष्य **सिद्ध** हैं । नृत्य-गीत-वाद्य-में रत रहना, सरस्वती की उपासना करना, ये सब **गान्धर्वधर्म्म**[4] हैं, तदनुगामी मनुष्य **गन्धर्व** है । साहस के कार्य्यों में प्रवृत्त रहना, विज्ञानतत्त्वा-नुगमन करना, जगदम्बा की उपासना करना, ये सब **विद्याधरधर्म्म**[5] हैं, तदनुगामी मनुष्य **विद्याधर** हैं । सर्वविध शिल्प-कलाओं में निपुण बने रहना, गान्धर्वविद्यानिष्ट बने रहना, **शिवोपासना** में रत रहना, ये

सब कैम्पुरुषधर्म्म[६] हैं, तदनुगामी मनुष्य किम्पुरुष हैं। ब्रह्मचर्य्य, मानराहित्य, योगाभ्यासरति, सर्वत्रकामचारित्व, ये सब पैतृकधर्म्म[७] हैं, तदनुगामी मनुष्य पितर हैं। ब्रह्मचर्य्य, नियमित आहारविहार, जपयज्ञ, ज्ञानगरिमा, नियमोपनियम सेवन, इत्यादि आर्षधर्म्म[८] हैं, तदनुगामी मनुष्य ऋषि हैं। शास्त्रस्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, दान, यजन, अकार्पण्य, अनायास, शौच, माङ्गल्य, शिव–शक्त्युपासन, इत्यादि मानवधर्म्म[९] हैं, तदनुगामी मनुष्य मानव हैं। धनसञ्चय, ऐन्द्रियक भोग, स्वाध्याय, शिवपूजन, अहङ्कार, अशौच, इत्यादि गुह्यकधर्म्म[१०] हैं, तदनुगामी मनुष्य गुह्यक हैं। परदारगमन, परधनलोलुपता, त्र्यम्बकोपासनादि धर्म्म राक्षसधर्म्म[११] हैं, तदनुगामी मनुष्य राक्षस हैं। परदारगमन, अविवेकता, मद्य–मांससेवन, अज्ञान, अपवित्रता, असत्यभाषण, इत्यादि पैशाचधर्म्म[१२] हैं, तदनुगामी मनुष्य पिशाच हैं। सुकेशी नामक राक्षस के प्रश्न करने पर महर्षियों ने इन्हीं द्वादश धर्म्मयोनियों का विश्लेषण किया है।

सुकेशिरुवाच–किं लक्षणो भवेद्धर्म्मः, किमाचरणसत्क्रियः।
यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु, तदुच्यताम्?॥
ऋषय ऊचुः–योनयस्तु द्वादशैताः सहधर्म्माश्च राक्षस!।
ब्रह्मणाः कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः॥

—वामनपुराण, ११ अध्याय।

५८–प्राकृतिक–धर्म्मस्वरूपपरिचय—

देव, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, किम्पुरुष, पितर, ऋषि, गुह्यक, राक्षस, पिशाच, ये ग्यारह सुप्रसिद्ध देवयोनियाँ हैं। इनका ईश्वरशरीर में यथास्थान आवास है। मनुष्य में इन ग्यारहों का समावेश हुआ है। जिस मनुष्य में जिस प्राकृतिक देव–दैत्यादि का प्राधान्य जन्मतः रहता है, वह तत्प्राणानुगत तद्धर्म्म की ओर ही अभिमुख रहता है। इसी आधार पर देवयुग में मानवसमाज में हीं उक्त बारह श्रेणिविभाग थे। तत्त्व यही है कि, मनुष्य तत्तद्देवादिधर्म्मों का अनुगमन करता हुआ अपने आपको तत्तद्देवादि भावों से युक्त कर सकता है। इन द्वादश धर्म्मयोनियों में मानवप्रजानुगत मानवधर्म्म इसलिए सर्वापेक्षया महत्त्व पूर्ण माना जायगा कि, इसमें ईश्वरवत् सर्वधर्म्मों का समन्वय हो रहा है जो **'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च'** सिद्धान्त ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है, वह अंशभूत पुरुष के लिए भी घटित हुआ है। इसी आधार पर **'पुरुषो ह वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। मनुष्य अपने से उच्चभूमिका में पहुँच कर देवता बन सकता है। निम्न भूमिका में पहुँच कर वही राक्षस, पिशाचकोटि का अनुगामी बन सकता है। जिस कोटि के धर्म्म का यह अनुगमन करेगा, यह उसी रूप में परिणत हो जायगा। क्योंकि पुरुष के श्रद्धारस का अपना कोई रूप नहीं है। अपितु श्रद्धेयरूप के अनुरूप ही श्रद्धा को परिणत हो जाना पड़ता है। **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'**–**'तं यथायथोपासते, तथैव भवति'** इत्यादि श्रौत–स्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार श्रद्धेयानुगता श्रद्धा ही इसके धर्म्म की आधारशिला बनती है। यही कारण है कि, श्रद्धारस के पाश्चात्य-

श्रद्धेयों के स्वरूप में परिणत हो जाने से आज हम भारतीयों की श्रद्धा स्वधर्म्म से विमुख होती जा रही है, एवं परधर्म्म का अनुगमन करती जा रही है। स्वयं भारतीयों की दृष्टि में उनका वेदसिद्ध सनातन-धर्म्म आज अश्रद्धेय बना हुआ है, एवं मतवादलक्षण परधर्म्म इनकी दृष्टि में श्रद्धेय बनता जा रहा है। यह व्यामोह तभी हट सकता है, जब कि हम भारतीय उस मानवधर्म्म का तात्त्विक स्वरूपपरिचय प्राप्त करें, जिसमें समाजोपकारक चातुर्वर्ण्यधर्म्म, तथा व्यक्त्युपकारक आश्रमधर्म्म पुष्पित पल्लवित हुए हैं। काममाता श्रद्धा से यही कामना करते हुए धर्म्मस्वरूपपरिचय उपरत हो रहा है *।

आर्षविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धर्म्म नाम की विद्याबुद्धि से युक्त 'धर्म्मबुद्धियोग' नामक योग ही गीताशास्त्र में **'निष्कामकर्म्मयोग'** नाम से व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से गीता को 'कर्म्मयोगशास्त्र' कहा जासकता है। 'कहा जासकता है,' इस साधारण वाक्य का प्रयोग इस लिए किया जारहा है कि, निष्काम-कर्म्मयोग गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय है-राजर्षिविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्य नामकी विद्याबुद्धि से युक्त 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक योग, जो गीताशास्त्र में 'बुद्धियोग'- 'योग' -'समत्त्वयोग' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। और इस दृष्टि से गीताशास्त्र को प्रधानतः 'बुद्धि-योगशास्त्र' कहना हीं सर्वात्मना सुसङ्गत बनता है। ऐसी स्थिति में जिन अर्वाचीन (तिलक) गीताव्याख्याताओं ने गीताशास्त्र को एकहेलया जो 'कर्म्मयोगशास्त्र' नाम से व्यवहृत कर दिया है, वह उनका आपातरमणीय' अतएव अमान्य सिद्धान्त ही माना जायगा। इसी अमान्य सिद्धान्त को प्रधानता देते हुए आज सर्वसाधारण के मुख से, विशेषतः गीताभक्त राष्ट्रीय दल के श्रीमुख से यह कहते सुना गया है-कि, गीता केवल निष्काम-कर्म्म का उपदेश दे रही है। अथ से इति पर्य्यन्त गीता में मुख्यरूप से केवल निष्कामकर्म्मयोग का ही प्रतिपादन हुआ है। भ्रान्ति का पर्य्यवसान यहीं समाप्त नहीं होजाता। अपितु जब हम उन निष्कामकर्म्म-पक्षपातियों की ओर से उपस्थित की गई कर्म्मपरिभाषा पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें आश्चर्य्यचकित इस-लिए रह जाना पड़ता है कि, जिस गीताशास्त्र को आधार बना कर वे अपने कर्म्मवाद का स्वरूप सामान्य प्रजा के सम्मुख उपस्थित करने के लिए आगे बढ़ते हैं, उस कल्पित कर्म्मवाद का गीताशास्त्र में एक शब्द से

* उक्त धर्म्मस्वरूपपरिचय-प्रसङ्ग में हमने यत्रतत्र धर्म्म को 'प्रकृतिसिद्ध' धर्म्म कहा है, जिसका अर्थ होता है 'प्राकृतधर्म्म'। प्रकृति जब अपनें प्रकृतिविकृतिलक्षण क्षरभाव से परिवर्त्तनशीला है, तो तद्रूप प्राकृतधर्म्म 'शाश्वतसनातन' कैसे हुआ ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका खण्डचतुष्टयात्मक सामयिक निबन्ध में विस्तार से समाधान हुआ है। प्रकृत में यही जानकर सन्तोष कर लेना चाहिए कि, पूर्व में 'विद्या' स्वरूप प्रसङ्ग में हमनें अक्षर-क्षर-मूला जिन परा-अपरा-विद्याओं (विश्वविद्याओं) का दिगदर्शन कराया है, प्राकृत धर्म्म का इन्हीं प्राकृत क्षराक्षरविद्याओं से सम्बन्ध है, जिसे हम 'विश्वधर्म्म' भी कह सकते हैं। सर्वाधारभूत अव्ययात्मा ही इस प्राकृत विश्वधर्म्म की प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठात्मक यही अव्ययात्मधर्म्म-**'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य'** (गीता) के अनुसार शाश्वत सनातनधर्म्म है, जो सर्वथा अप्रकृत (पुरुषात्मक) है। इस शाश्वत आत्मधर्म्म पर प्रतिष्ठित विश्वधर्म्म ही प्राकृतधर्म्म है, जिसे **'प्रतीकधर्म्म'** माना गया है। आत्म-धर्म्मानुगत यह प्रकृतिधर्म्म भी आत्मस्वरूप का संग्राहक बन जाता है। एतावता ही विभिन्न भावाक्रान्त इस प्राकृतधर्म्म को भी (प्रतीकधर्म्म को भी) 'शाश्वत सनातनधर्म्म' उपाधि से समन्वित मान लिया है। इस व्यवच्छेद-दृष्टि को लक्ष्य बना कर ही अत्र निरूपित 'धर्म्म' स्वरूप का समन्वय करना चाहिए।

भी कहीं भी समर्थन नहीं हुआ है। भारतीय वेदादि शास्त्रों में वर्णाश्रमधर्म्मविरोधी, हीनाचारविहारयुक्त, जो उच्छृङ्खल कर्म्मवाद एकान्ततः निषिद्ध माना गया है, समवर्त्तनानुगत विषमदर्शनयुक्त, अतएव अव्यवहार्य्य, अतएव विकर्म्म-अकर्म्मात्मक जो अशास्त्रीय कर्म्म स्वयं गीताशास्त्र में पदे पदे निम्न घोषित हुआ है, निष्कामकर्म्मभक्त राष्ट्रीय गीताभक्तों की द्रष्टि में निन्द्य-निषिद्ध-अशास्त्रीय कर्म्मवाद ही आज गीता का निष्कामकर्म्मयोग बना हुआ है। यदि वे शास्त्रसिद्ध, गीतासम्मत, वर्णाश्रमधर्म्मानुगत निष्काम वैदिककर्म्म को आगे कर गीता को निष्कामकर्म्मप्रधान घोषित करने का अनुग्रह करते, तब भी किसी सीमापर्य्यन्त उन का अपराध सभ्य था, परन्तु जब हम यह देखते हैं कि, गीताके नाम की अनन्यभक्ति प्रकाशित करते हुए जब वे गीता से एकान्ततः विरुद्ध अपने कल्पित कर्मवाद को ही गीतासम्मत मानने-मनवाने की धृष्टता कर रहे हैं, तो कहना पड़ता है कि, अभी वे गीताशब्द के अक्षरार्थ से भी अपरिचित हैं। सब के साथ समानरूप से व्यवहारकरो, ईश्वरीय सृष्टि में सब को समानाधिकार प्राप्त है, वर्णाश्रमव्यवस्था, एवं तदनुगत अधिकारसिद्ध पृथक्-पृथक् नियत कर्म्म केवल प्राचीनों की भ्रान्त कल्पना है, इत्यादि वाग्जाल का अहर्निश वितान करने वाले इन राष्ट्रीय निष्कामकर्म्मयोगियों को सम्भवतः अबतक यह भी विदित न हुआ-होगा कि, 'निष्कामकर्म्मयोग' का शब्दार्थ भी क्या है ?। यह तो है उनकी प्रज्ञास्थिति, और वैसा है उन का कर्म्मयोग, एवं सर्वोपरि गीताशास्त्र का अवलम्बन, ,एकैकमप्यनर्थाय'।

५६-निष्कामशब्द की निरर्थकता—

निष्कामशब्द का अर्थ है-'बिना कामना-इच्छा-के किया गया कर्म्म। तत्त्वदृष्टि से विचार कीजिए, क्या बिना इच्छा के कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव है ?। इसी निष्कामकर्म्म का दूसरा दृष्टिकोण है-'फलाशा का सर्वथा परित्याग, जिसका-'**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' इस वचन से ही स्पष्टीकरण हुआ है। यहाँ आकर 'निष्कामकर्म्म' का सिद्धान्ततः अर्थ होता है-'**किसी भी फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुए कर्म्म करना**। शास्त्र कहता है-कर्म्म करने वाला कर्म्मात्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय है। कारण-उस का स्वरूप '**स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः**' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मनः-प्राण-वाङ्-मय है। मनःपर्व ज्ञानशक्तिप्रधान है, प्राणपर्व क्रियाशक्तिप्रधान है, एवं वाक्पर्व अर्थशक्तिप्रधान है। इसके इन तीनों पर्वों से क्रमशः काम, तप, श्रम, इन तीन विभिन्न व्यापारों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानमय मन से, किंवा मनोमय ज्ञान से सर्वप्रथम 'इदं कुर्वीय, इदं मे स्यात्' इत्याकारक 'काम' (कामना-इच्छा) का उदय होता है। जिसके लिए वेद ने कहा है-'**कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**' (ऋक्सं०१०।१२६।४।)। कामना मन का ही रेत है, एवं प्रत्येक कर्म्मप्रवृत्ति से पहिले इसका उदित होना अनिवार्य्य है। लौकिक-पारलौकिक-सत्-असत्-कोई सा भी कर्म्म हो, प्रत्येक के मूल में मनोमयी कामना प्रतिष्ठित है। इस कामनाप्रवृत्ति का, उदय का मूल कारण है-'फलाशा'। यदि हमें यह बोध हो जाय, अथवा तो बोध करा दिया जाय कि, अमुक कर्म्म करने से कोई फल नहीं मिलेगा, तो यह ध्रुवसत्य है कि, उस कर्म्म में हमारी प्रवृत्ति ही न होगी। '**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते**' इस लौकिक न्याय के अनुसार बिना प्रयोजन-फल को लक्ष्य बनाए एक अज्ञ भी किसी काम में हाथ नहीं डालता। मुख से 'निष्काम' शब्द का उच्चारणमात्र कर देने की कथा तो दूसरी है। नहीं, तो हम पूँछते हैं, क्या विश्व का बड़े से बड़ा विद्वान्, नेता, अपने हृदय पर हाथ रख कर शपथ-पुरस्सर यह

कह सकता है कि, 'हम तो बिना फलेच्छा के ही, बिना कामना के ही कर्म्म कर रहे हैं' ? । फलेच्छा की जाति में अन्तर हो सकता है । किसी की फलेच्छा संकुचित हो सकती है, किसी की विशाल । परन्तु फलेच्छा का रहना प्रत्येक दशा में अनिवार्य्य इसलिए है कि, बिना इच्छा के प्राणव्यापारलक्षण तप (यत्न-कृति-चेष्टा) असम्भव है, एवं बिना तप के वाग्व्यापारलक्षण श्रम (शरीरव्यापारलक्षण बहिर्व्यापार) असम्भव है । हम क्षुद्रप्राणियों की तो बात ही क्या, जब कि सम्पूर्ण विश्व का अधीश्वर स्वयं जगदीश्वर भी स्वधर्म्मसिद्धि के लिए काम-तप-श्रम-लक्षणा व्यापारत्रयी का ही अनुगमन करता है, जैसाकि-**'ब्रह्म वा इदमग्र एक आसीत्, सोऽकामयत-'एकोऽहं, बहु स्याम्' । सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्' । तस्य कामयमानस्य श्रान्तस्य, तप्तस्य, सन्तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्ततान्गिः'** इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । प्रत्येक कर्म्म सर्वप्रथम कामना सापेक्ष है । हाथ हिलाना एक कर्म्म है । सर्वप्रथम 'हाथ हिलाऊँ' इस कामना का उदय होता है, यह कर्म्मात्मा की मनःकला का व्यापार है । इस मानसेच्छा के अव्यवहितोत्तर-काल में ही प्राणव्यापारलक्षण तप हो पड़ता है । इच्छा के होते ही हृदय से आरम्भ कर हस्तपर्य्यन्त हाथ उठाने का अन्तर्व्यापार हो पड़ता है, जिसे वेदभाषा में क्रतु, दर्शनभाषा में कृति, व्यवहारभाषा में यत्न-चेष्टा, एवं यावनीभाषा में 'कोशिश' कहा गया है । यही प्राणव्यापार है, जिसका हमें अपने अन्तर्जगत् में अनुभव होता है । इस अन्तर्व्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वाग्व्यापारलक्षण बहिर्व्यापार हो पड़ता है, हाथ हिल पड़ता है । यही कर्म्ममात्र की सामान्य-अनिवार्य्य व्यवस्था है । मूलाधार ज्ञानमय मन, इससे फललक्ष्यपूर्वक सर्वप्रथम इच्छा का उदय, तदनन्तर कृति का उदय, अनन्तर कर्म्म (बहिर्व्यापार) का उदय, एवं इच्छा-कृति-कर्म्म, इन तीनों आत्मव्यापारों से कर्म्म की स्वरूपनिष्पत्ति । इसी कर्म्मस्वरूप का निम्न लिखित वचनों से समर्थन हुआ है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ॥
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म, तदेतत् कृतमुच्यते ॥१॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ॥
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥२॥
—मनुः २।४।

६०—फलत्यागानुगत निष्कामकर्म्म का महान् व्यामोहन—

बिना श्रम (शरीरव्यापार) के कर्म्मसिद्धि असम्भव, बिना तप (प्राणव्यापार) के श्रम असम्भव, एवं बिना काम (मनोव्यापार) के तपःप्रवृत्ति असम्भव । फलतः यच्चयावत् कर्म्मसिद्धियों की अन्तिम विश्राम-भूमि कामना, इच्छा । अब बतलाइए, आपके 'निष्काम' कर्म्म का क्या महत्त्व रहा ? । निष्काम शब्द का यह अव्यवहार्य्यरूप क्या आपके कल्पित निष्कामवाद को सुरक्षित रख सकेगा ? । यदि हाँ, तो अनुग्रह कर बतलाइए कैसे ? । यदि नहीं, तो आज से ही यह कहना छोड़ दीजिए कि, निष्कामकर्म्म केवल कहने भर की वस्तु है, व्यवहारदशा में इसका कोई उपयोग नहीं । आप प्रश्न करेंगे-यदि ऐसा था, किंवा है, तो भगवान् ने यह कैसे, किस आधार पर कह डाला कि, 'तुम फलाशा को छोड़ते हुए कर्म्म करो' । उत्तर में हम आप से निवेदन करेंगे कि, भगवान ने तो कहीं भी यह नहीं कहा है कि, 'तुम फल को उद्देश्य बनाए बिना निरुद्देश्य

यथेच्छ कर्म्म में प्रवृत्त हो जाओ'। अपितु ठीक इसके विपरीत युद्धकर्म्म के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए भगवान् ने यही कहा है कि,-'तुझे अवश्य इस क्षत्रियवर्णोचित इस युद्धकर्म्म में इसलिए प्रवृत्त होना चाहिए कि, इस युद्धकर्म्म में तेरा दोनों भाँति लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा, जीत गया तो साम्राज्य सुख का उपभोग करेगा—**'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'** (गी० २।३७)। इसी फल को आगे कर भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिए सन्नद्ध करते हैं-**'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः'**। स्वर्ग, और साम्राज्यसुखोपभोग,-फलों को उद्देश्य बना कर अर्जुन को युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् ने 'फलाशा छोड़ते हुए कर्म्म करो' यह कहाँ, किससे, कब कह डाला ?, कम से कम उपलब्ध गीताशास्त्र में तो हमें कहीं भी ऐसी भगवदुक्ति उपलब्ध नहीं हुई। फिर आपने किस आधार पर अपने कल्पित निष्कामवाद को भगवत्सम्मत बतलाने का साहस कर डाला ?। ठहरिए, सम्भवतः गीता के **'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** इस वाक्य ने आपको भ्रम में डाल दिया है। हमनें निष्कामकर्म्मवादियों को शतशः गीता के इस वाक्य का उच्चारण करते सुना है। और इसका यह अर्थ भी सुना है कि, भगवान् कहते हैं, 'तुम केवल निष्कामकर्म्म करो, फल की इच्छा न करो'। सम्भवतः इसी भ्रान्त अर्थ ने आपको भ्रान्त निष्कामकर्म्मवादी बना डाला है। दुःख है कि, आपने स्वयं गीता का अध्ययन नहीं किया। केवल सुन-सुना कर ही आप गीताविद् बन गए। नहीं, तो उक्त वाक्य के सम्बन्ध में आपको भ्रान्ति न होती। लीजिए, पूरा श्लोक उद्धृत करते हुए आज हम इसके अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली भ्रान्ति का निराकरण किए देते [illegible]ताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता२।४७)।

६१-कर्म्म, और कर्म्मफल-मीमांसा—

"**ते कर्म्मणि एव अधिकारः, फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुरु, इति शेषः)। कर्म्मफलहेतुः-मा भूः। ते अकर्म्मणि सङ्गः-मा (भू-इति शेषः)**" इत्यन्वयात्मक श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि-'तेरा कर्म्म में हीं अधिकार है, (अतएव) फल में कभी अधिकार बुद्धि न कर। (तू) कर्म्मफल का कारण न बन, (साथ ही) तेरा अकर्म्म में सङ्ग न हो"। अब तात्पर्य्यार्थ पर दृष्टि डालिए। अग्निप्रज्वलित होता रहे, और पानी गरम न हो, यह असम्भव है। चलते रहें, और मार्ग न कटे, यह असम्भव है। तात्पर्य्य अनुकूल कर्म्म यदि सर्वाङ्गीण है, तो अवश्यमेव वह फल का जनक बनता है। कोई भी कर्म्म व्यवस्थितरूप से किया जाने पर अवश्यमेव तदनुरूप फल उत्पन्न करता है। इसप्रकार कर्म्मतत्त्व 'कर्म्म, और कर्म्मफल' इन दो धाराओं में विभक्त रहता है। अब अधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है। हम आप से पूँछते है कि, इन दोनों में से किस पर आपका अधिकार है ?। कर्म्म, और कर्म्मफल दोनों के जनक क्या आप ही हैं ?। इसी सम्बन्ध में भगवान् निर्णय करते हैं-तुम कर्म्ममात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति तुह्मारा कोई अधिकार नहीं है। बात यथार्थ है। जो जिस कार्य्य का कारण प्रवर्त्तक होता है, वही उस कार्य्य का अधिकारी माना गया है। फलसाधक कर्म्म का कारण कर्म्मात्मा है, अतएव कर्म्मात्मा अवश्य ही कर्म्माधिकारी माना जा सकता है, माना जाता है। परन्तु कर्म्मफल का कर्म्मात्मा कारण नहीं है। कर्म्मफल कर्म्मात्मा (हम) उत्पन्न नहीं करता।

कर्म्मफल उत्पन्न होता है–'कर्म्म' से । अतः कर्म्म को ही कर्म्मफल का कारण (प्रवर्त्तक–जनक) माना जायगा। और ऐसी स्थिति में कर्म्म को ही कर्म्मफल का अधिकारी माना जायगा। स्वयं पाचक (रसोइया) पाकद्रव्यरूप फल (भोज्य पदार्थ) का कारण नहीं है, अपितु पाचक का पाकद्रव्यसम्पादनानुरूप पाककर्म्म हीं पाकद्रव्य का कारण बनता है। सहजभाषा में–हम स्वयं कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा सुव्यवस्थित कर्म्म हीं कर्म्मफल का जनक बनता है । बस **'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन'** वचन से इसी विभक्त अधिकारमर्य्यादा का विश्लेषण हुआ है। भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, तुम्हारा (कर्म्मकर्त्ता का) अधिकार केवल कर्म्म में है, अतएव कर्म्मफलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो। बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई। अतएव उत्तरार्द्ध में भगवान् को कहना पड़ा कि,-**'मा कर्म्मफलहेतुर्भूः'**। तुम कर्म्मफल के कारण मत बनो । भगवान् का अभिप्राय यही है कि, कर्म्मफल के हेतु तुम नहीं हो, अपितु तुम्हारा कर्म्म कर्म्मफल का हेतु है। कारण–तुम कर्म्मफल उत्पन्न वही करते, अपितु तुम्हारे कर्म्म से कर्म्मफल उत्पन्न होता है । जब कर्म्मफल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बलात् तुम कर्म्मफल में अधिकारबुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो ?

६३–अधिकारानुगत कर्म्म—

अज्ञ जन भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं। जिस कर्म्मफल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि कह दिया जाय कि, 'तुह्मारा फल में कोई अधिकार नहीं है, तुह्मारा अधिकार है केवल कर्म्म में । फल का नाम लेना भी तुह्मारा अपराध है', तो अवश्यमेव वह अज्ञ मनुष्य अधिकारमर्य्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म्म की ओर से उदासीन बन सकता है। वह यह समझता हुआ कि, 'जिस फल के लिए मैं कर्म्म करने जा रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म्म करूँ ही क्यों ?' कर्म्म छोड़ बैठेगा, और अकर्म्मण्य बन जायगा, जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीप्सित नहीं है । इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि–**'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि,'** जिसका एक तात्पर्य्य यही है कि–'अधिकारमर्य्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कहीं तुम अकर्म्म में आसक्ति न कर बैठना, कर्म्म न छोड़ बैठना। विश्वास रक्खो ! कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता । यदि तुम अनन्यनिष्ठा के साथ कर्म्मस्वरूपसम्पादन कर लोगे, तो अवश्यमेव उससे फल उत्पन्न होगा। और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा । तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इसका तात्पर्य्य यह न समझो कि, तुम फल से वञ्चित हो रहे हो। अरे ! कर्म्म पूरा हो गया, तो फल तुह्मारे लिए ही सुरक्षित है। हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में तुम फल की चर्व्वणा से बचे रहो। यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझलो कि, कर्म्म के कारण हम हैं, और फल का कारण कर्म्म है। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि, तुम अनन्यनिष्ठा से कर्म्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे, कभी अकर्म्म में (कर्म्मपरित्याग में) तुह्मारी प्रवृत्ति न होगी। साथ ही फल भी यथासम्भव (कर्म्मस्वरूप परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा। अतः अधिकारमर्य्यादा के इस तत्त्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्म्मसङ्गी (कर्म्मपरित्यागी) नहीं बन जाना चाहिए। **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि'** वाक्य का यही एकप्रकार का सामान्य दृष्टिकोण है।

६४–'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' का समन्वय—

अब एक दूसरे तात्त्विक दृष्टिकोण से उक्त वाक्य का समन्वय कीजिए। क्रिया कर्म्म है, जिसका गुणभूतों के धाराबल से स्वरूप सम्पन्न हुआ है *। गुणात्मक यह क्रियारूप कर्म्म ही क्रिया, और अर्थ भेद से दो भागों में परिणत होता हुआ 'कर्म्म', और अकर्म्म', नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ गुणकूटात्मक है, जैसाकि–'**गुणकूटो द्रव्यम्**' से प्रमाणित है। इसी दृष्टिकोण से नास्तिकदर्शन के–'**अर्थक्रियाकारित्त्वं सत्**' इस सत्तालक्षण का समन्वय हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि, क्रियासमष्टि ही बलचिति की चरम सीमा पर पहुँच कर निष्क्रियभाव में परिणत होती हुई अर्थस्वरूप से प्रकट होती है। निष्क्रिय अर्थ क्रियात्मक कर्म्म का ही उत्तररूप है। अर्थ का पूर्वरूप क्रियात्मक कर्म्म है, कर्म्म का पूर्वरूप ज्ञान है। वही ज्ञान बलों के योग से कर्म्म बनता है,वही कर्म्म बलचिति से अर्थ बनता है। इसप्रकार बलचिति के अभाव में एकरूप बना हुआ ज्ञानब्रह्म ही बलचिति के तारतम्य से मनोमय ज्ञान, प्राणमय कर्म्म, वाङ्मय अर्थ, इन तीन विवर्त्त-भावों में परिणत हो रहा है, जैसाकि, '**आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्**'–'**एकं वा इदं वि वभूव सर्वम्**' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। ज्ञान, कर्म्म, अर्थ, तीनों में ज्ञान भी निष्क्रिय बनता हुआ 'अकर्म्म' तत्त्व है, एवं सर्वान्त का अर्थ (भौतिक विषय) भी निष्क्रिय बनता हुआ 'अकर्म्म' है। ज्ञानात्मक अकर्म्म तत्त्व तो असङ्ग ज्ञानधर्म्म से सर्वथा असङ्ग है, अतएव इसके साथ तो सङ्गात्मिका आसक्ति का प्रश्न ही नहीं खड़ा हो सकता। अतएव च–'**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि**' का अकर्म्म ज्ञानात्मक अकर्म्मतत्त्व से कोई सम्पर्क नहीं रखता। '**कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येत्, अकर्म्मणि च कर्म्म यः**' इस श्लोक में पठित '**अकर्म्म**' शब्द–'**तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः**'–'**अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृत आहितः**'इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपवर्णित ज्ञानात्मक अमृतलक्षण अकर्म्म ब्रह्म, एवं क्रियात्मक मृत्युलक्षण कर्म्म, दोनों के अन्तरान्तरीभाव–सम्बन्ध के समतुलन से जहाँ ज्ञानलक्षण अकर्म्म ब्रह्म का वाचक है, वहाँ–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' का 'अकर्म्म' शब्द 'सङ्ग' शब्दमर्य्यादा से अर्थात्मक अकर्म्म का ही वाचक माना जायगा। क्योंकि अर्थ ही आसक्तिरूप सङ्ग का जनक बनता है। इस दृष्टि से हम इस वाक्य के '**अकर्म्मणि**' का अर्थ '**फले**' करेंगे। कर्म्म तो क्रियात्त्वेन कर्म्म है। इस कर्म्म से उत्पन्न संस्काररूप फल अर्थत्त्वेन अकर्म्म है। भगवान् कहते हैं, इस अकर्म्मरूप फल में तुम्हारा सङ्ग (आसक्ति) नहीं होना चाहिए। यही दूसरा, तात्त्विक दृष्टिकोण है। फल के सङ्ग का तो क्या तात्पर्य्य ?, एवं फलसङ्ग से हानि क्या हो जायगी ?, यह विश्लेषण किए बिना'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' का मर्म्म समझ में नहीं आ सकता, अतः दो शब्दों में इसका स्पष्टीकरण भी कर लीजिए।

६५–इच्छा, और बन्धन–मीमांसा—

इच्छा, कर्म्म, कर्म्मजनित फल,और फलासक्ति, इन चार परिग्रहों में से बन्धन का कारण कौन ?, पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए। इच्छा (कामना) क्या बन्धन का कारण है ?। देखते हैं—स्वेच्छा से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्म्माण करता हुआ भी, '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' न्याय से स्वेच्छा से उत्पन्न विश्व

---

* **गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥**

के गर्भ में रहता हुआ भी सर्वकर्म्मा जगदीश्वर बन्धन से रहित है। इसी से सिद्ध है कि, इच्छा बन्धन का कारण नहीं है। कैसी इच्छा ?-स्वेच्छा, न कि परेच्छा। स्वेच्छा, और परेच्छा में अहोरात्र का अन्तर है। स्वाभाविक-नियत कर्म्मों की अधिष्ठात्री इच्छा स्वेच्छा कहलाई है, इसी को विज्ञानभाषा में 'कामः' कहा गया है। 'कम्' सुख का वाचक है, 'अकार' मन का वाचक है। सुख में ओतप्रोत मन का नाम ही 'कामः' है। 'क-अ-म्-अः' के समन्वय से ही 'कामः' शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है— 'सुख, मन, सुख' विषयानुगत मन तभी सुखी-शान्त रह सकता है, जबकि विषय उसकी इच्छा के आधीन बने रहते हैं। विषम ही मन का अन्न है। इस अन्न पर अपना प्रभुत्त्व रखने वाला, विषयों को दास बनाए रखने वाला मन ही सुखानुशायी बनता हुआ 'कामः' है, यही इसका अबन्धनरूप है। यही कामात्मिका इच्छा स्वेच्छा है। ईश्वर इस कामात्मिका इच्छा को मूल बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होता है। अतएव वह स्वयं विषयों पर अपना प्रभुत्त्व रखता है, विषय उसके दास बने रहते हैं। ऐसा स्वाभाविक सहज कामभाव रहता हुआ भी बन्धन से वियुक्त है। अतएव गीतापरिभाषा में ऐसा स्वेच्छात्मक कामभाव 'निष्कामभाव' कहलाया है। निष्कामभावात्मिका इच्छा ही काम, कामना स्वेच्छा, आत्मेच्छा, ईश्वरेच्छा, इत्यादि नामों से व्यवहृत हुई है।

दूसरी है-'परेच्छा'। आत्मा 'स्व' है, बाह्यविषय 'पर' है। विषयों के अधिकार से अधिकृत वही स्वेच्छा (आत्मेच्छा) पर विषयानुगता बनती हुई 'परेच्छा' बन जाती है। परेच्छात्मिका यही विषयेच्छा काम न कहला कर केवल 'इच्छा' शब्द से इसलिए सम्बोधित हुई है कि, इसमें कामवत् मन विषयों को अपना दास नहीं बनाए रहता, अपितु स्वयं अन्नात्मक विषयों का (भोग्य का) दास बन कर अपना स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मविकास आवृत कर लेता है,और यही विषयदास बने हुए मन की सुप्तावस्था है,जिसका 'इच्छा' शब्द से अभिनय हुआ है। भोग्य विषय अन्नात्मक होने से 'इट्' हैं, तत्र सुप्त मन ही 'इट्-अन्नं, तत्र शेते मनः' निर्वचन से इच्छात्मक है। विषयदासता में मन की स्वाभाविक शान्ति का इसलिए उच्छेद हो जाता है कि, विषय अनन्त हैं। अनन्त विषयों के कारण मन की बुद्धियोगानुगता एकतोगमनवृत्ति का निरोध हो जाता है। इतस्ततः अनुधावन से मन मञ्चल हो पड़ता है। यह चाञ्चल्य ही कामकामी (इच्छावशवर्त्ती) मन की अशान्ति का कारण बन जाता है-**'स शान्तिमाप्नोति, यः-निष्कामः, इच्छाधीनस्तु कामकामी न शान्तिमाप्नोति'**-(**'स शान्तिमाप्नोनि, न कामकामी'** (गी०२।२०।) । यही इच्छा परेच्छा, विषयेच्छा, जीवेच्छा, आदि नामों से व्यवहृत हुई है। तात्पर्य्य-विषयवशवर्त्तिनी इच्छा इच्छा है, एवं यह विषयासक्तिप्रवर्त्तिका बनती हुई बन्धन का कारण है। मनोवशवर्त्तिनी इच्छा काम है,यही निष्कामभाव है, एवं यह विषयासक्तिनिवर्त्तिका बनती हुई अबन्धना है।

अभी विषय सर्वात्मना स्पष्ट नहीं हुआ। इच्छाद्वयी के स्पष्टीकरण के लिए सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शब्दद्वयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शन में **'उत्थिताकांक्षा, और उत्थाप्याकांक्षा,** ये दो शब्द उक्त दो स्वेच्छा, परेच्छाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थिताकांक्षा है, यही स्वेच्छा, आत्मेच्छा किंवा बन्धननिवर्त्तिका ईश्वरेच्छा है। इस इच्छा का उद्भव तो यद्यपि मन से ही होता है। परन्तु यह मन बुद्धि का दास बना रहता है। बुद्धिदास मन असङ्ग-सौर तेजोलक्षण बुद्धितत्त्व के असङ्ग धर्म्म से आक्रान्त रहता हुआ अपने स्वाभाविक ससङ्ग-चान्द्र-स्नेहात्मक धर्म्म से अभिभूत रहता है।

अतएव ऐसा बुद्धियुक्त मन **'उभे सकृतदुष्कृते'** न्याय से पुण्यापुण्यविषयसंस्कारों की आसक्ति से पृथक् रह जाता है। **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** के अनुसार बुद्धि से परे महद्गर्भित ईश्वराव्ययात्मा प्रतिष्ठित है। बुद्धियुक्त मन में बुद्धिप्राधान्य से इस ईश्वराव्ययात्मा का स्वाभाविक अनुकूल–अनुग्रह रहता है। अतएव बुद्धियुक्ता मानस इच्छा ईश्वरेच्छारूप में परिणत रहती हुई बन्धननिवर्त्तिका बनी रहती है। यही उत्थिताकांक्षा का संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। विषयासक्तिजनित स्मृति के द्वारा उठाई गई इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है, यही परेच्छा, किंवा बन्धनप्रवर्त्तिका जीवेच्छा है। इस इच्छा का उद्भव भी यद्यपि होता मन से ही है। परन्तु यह मन बुद्धि को अपना दास बनाए रहता है। बुद्धिस्वामी यह मन असङ्ग बुद्धिधर्म्म को आवृत करता हुआ स्व ससङ्ग धर्म्म से प्रधान बना रहता है। अतएव बुद्धि का स्वाभाविक विद्याधर्म्म संस्कारात्मिका अविद्या से ग्रस्त हो जाता है। अविद्याबुद्धि से युक्त ऐसा मन सुकृत-दुष्कृत-संस्कारों में सर्वात्मना आसक्त हो जाता है। बुद्धि और मन के मध्य में पार्थिव कर्म्मात्मा (जीवात्मा) प्रतिष्ठित है। मनःप्राबल्य से जीवात्मा मनोऽनुगत बनता हुआ मानस इच्छा का क्रीतदास बना रहता है। अतएव मानस इच्छा जीवेच्छारूप में परिणत होती हुई बन्धनप्रवर्त्तिका बनी रहती है। यही उत्थाप्याकांक्षा का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है। नियत समय पर स्वप्रकृति के अनुकूल आहार-विहार कर्म्म जिस इच्छा से सञ्चालित होते हैं, वह स्वाभाविक इच्छा ही उत्थिताकांक्षा है। अनियत समय पर प्रकृतिविरुद्ध होने वाले आहार–विहारों की अधिष्ठात्री कृत्रिम इच्छा ही उत्थाप्याकांक्षा है। उत्थिताकांक्षारूपा कामनालक्षणा इच्छा से संस्कारासक्ति नहीं होती, अतएव ऐसी ईश्वरेच्छा बन्धननिवर्त्तिका है। उत्थाप्याकांक्षारूपा इच्छालक्षणा इच्छा से संस्कारासक्ति का उदय होता है, अतएव ऐसी इच्छा बन्धन प्रवर्त्तिका है।

६६–कर्म्म और बन्धन–मीमांसा—

इच्छा बन्धन का कारण है कि नहीं ?, प्रश्न की मीमांसा समाप्त हुई। अब कर्म्म को लक्ष्य बनाइए। क्या कर्म्म बन्धन का कारण है ?, इस प्रश्न की भी वही मीमांसा है, जो इच्छात्मक प्रश्न की मीमांसा पूर्व में हुई है। उत्थिताकांक्षा से सहकृत स्वाभाविक कर्म्म यज्ञार्थकर्म्म कहलाया है। एवं ऐसा कर्म्म निष्काम कर्म्म बनता हुआ अबन्धन है, जैसाकि–**'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'** इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। यज्ञार्थकर्म्म का तात्पर्य्य है–ईश्वरीय विश्वकर्म्म। सम्पूर्ण विश्व सर्वहुत यज्ञात्मक माना गया है। इस विश्वयज्ञात्मक कर्म्म का संचालक ईश्वर है। उसके इसी यज्ञकर्म्म से विश्वोद्भव–पालन होता रहता है। निरन्तर इस यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी ईश्वर अपने कामात्मक निष्कामभाव से इसमें अनासक्त है। यदि मानव का कर्म्म भी उत्थिताकांक्षा को मूल बना कर विश्वाभ्युदय के लिए प्रवृत्त है, तो उसका भी यह कर्म्म यज्ञार्थ (विश्वरक्षार्थ) बनता हुआ वैय्यक्तिक स्वार्थ से विमुक्त बन कर अबन्धन बन जाता है। मानव की अपनी इच्छा का वैय्यक्तिक स्वार्थ से सम्बन्ध है। व्यक्तिस्वार्थमूला इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है। तन्मूलक कर्म्म जीवानुगत योगमाया के सम्बन्ध से त्रिगुणभावापन्न बनता हुआ आसक्ति का जनक बन जाता है। अतएव उत्थाप्याकांक्षा से सहकृत कृत्रिम कर्म्म यज्ञमर्य्यादा से बहिष्कृत रहता हुआ सम्बन्धन बन जाता है। ईश्वरेच्छा सहकृत कर्म्म अधिकारसिद्ध कर्म्म है, जिसे वर्णाश्रमधर्म्म कहा गया है। यही प्राकृतिक–सहजकर्म्म है। अधिकारसिद्ध कर्म्म सदोष हो, अथवा निर्दोष, वह उस अधिकारी का स्वधर्म्म है। एवं स्वधर्म्मात्मक ऐसे आधिकारिक कर्म्म की इच्छा जीवेच्छा नहीं है, अपितु ईश्वरेच्छा है। अतएव ऐसा कर्म्म एकान्तः अबन्धन

है । उदाहरण के लिए-हिंसात्मक वधकर्म्म में नियुक्त वधिक के वध कर्म्म की इसलिए निन्दा नहीं होती कि, इस कर्म्म में वधिक की इच्छा का समावेश नहीं है, अपितु लोकतन्त्राध्यक्ष शासक की इच्छा से प्राप्त अधिकारमर्य्यादा के पालन के लिए यह वधकर्म्म में प्रवृत्त होता है । **'केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि, तथा करोमि'** ही अधिकारकर्म्म की व्याख्या है । इच्छा उसकी, निमित्तमात्र हम, फिर बन्धन कैसा ?। **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाच्चिन्'** से भी इसी अबन्धन युद्धकर्म्म का समर्थन हुआ है । अधिकारसिद्ध कर्म्म सदा ईश्वरेच्छा (उत्थिताकांक्षा-कामना) मूलक बनते हुए निष्कामकर्म्म हैं, और ये अबन्धन हैं । ये ही गीतापरिभाषा में 'सहजकर्म्म' कहलाए हैं, जिनके लिए भगवान् ने-**'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्'** यह व्यवस्था की है । जीवेच्छा-(उत्थाप्याकांक्षा)-मूलक, अतएव व्यक्तिस्वार्थानुगत, कर्म्म काममय बनते हुए सकामकर्म्म हैं, एवं ये सबन्धन हैं । **'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः'** से इसी के परित्याग का आदेश हुआ है । तात्पर्य्य-ईश्वरेच्छासहकृत कर्म्म अबन्धन हैं, तथा जीवेच्छा-सहकृत कर्म्म आसक्ति के द्वारा सम्बन्धन हैं ।

६७-फल, और बन्धन-मीमांसा—

क्या फलों से बन्धन होता है ?, प्रश्न के समाधान से पहिले फल के स्वरूप का अन्वेषण कीजिए । ईश्वर ने कर्म्म किया, इस कर्म्म से फल उत्पन्न हुआ, वही ईश्वर का अन्तर्जगत् कहलाया । 'संस्कार' का ही नाम अन्तर्जगत् है । अन्तर्जगत् ही कर्म्मजनित फल है । संस्कारप्रवर्त्तक जीवात्मा को दृष्टान्त बना कर अन्तर्जगत् के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए । **'सदसच्चाहमर्जुन !'** के अनुसार 'अहं'-शब्दवाच्य जीवात्मा ज्ञानलक्षण अमृतात्मक सत्, एवं कर्म्मलक्षण मृत्युरूप असत्, दोनों की समष्टि है । अपनी ज्ञानकला से जीवात्मा जानता है, कर्म्मकला से कर्म्म करता है । जानाति, करोति, इन दो व्यापारों पर ही जीव का पुरुषार्थ विश्रान्त है । इन दोनों कलाओं के व्यापार से जीवात्मा पर (जीवाभिन्न प्रज्ञानमनोधरातल पर) भावना, वासना, नामक दो प्रकार के संस्कार खचित होते रहते हैं । हम कुछ कर नहीं रहे, चुपचाप बैठे हैं, परन्तु अपने बौद्धजगत् में केवल ज्ञान के सहारे नवीन नवीन कल्पनाएँ करते रहते हैं । यही ज्ञानीय व्यापार है । इससे जो ज्ञानात्मक संस्कार उत्पन्न होता है, वही ज्ञानफल है । यही ज्ञानजनित संस्कार **'भावना'** कहलाया है । इसी प्रकार कर्म्म करने से जो मन पर एक प्रकार का अतिशय प्रतिष्ठित हो जाता है, वही कर्म्मजनित फल है, यही 'वासना' संस्कार कहलाया है । भावना, वासना-संस्कार ज्ञानीय, कर्म्मात्मक विषयभेद से असंख्य हैं । इन असंख्य, उभयविध संस्कारों की राशि ही हमारा 'अन्तर्जगत्' है । यही हमारे जीवन की मूलप्रतिष्ठा है । संस्कारों के उन्मूलन से जीव मुक्त हो जाता है । हम अपनी आखों से जिन सूर्य्य-चन्द्र-पशु-पश्वादि विषयों को देखते हैं, रसना से जिन स्वादों का अनुभव करते है, घ्राण से जिन गन्धों का आघ्राण करते हैं, मनसे जिन विषयों का मनन करते हैं, इन्द्रियानुभूत उन सब विषयों का हमारे सांस्कारिक अन्तर्जगत् से ही सम्बन्ध है । हम हमारे ज्ञानकर्म्म से ईश्वरीय अन्तर्जगत् (जीवापेक्षया बहिर्जगत्) के आधार पर इन्द्रियों के द्वारा निर्म्मित अपने सांस्कारिक अन्तर्जगत् का ही ऐन्द्रियक अनुभव करते हैं । विश्वास कीजिए ! जो सूर्य्य हम देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ सांस्कारिक सूर्य्य है । प्रकृतिसिद्ध सूर्य्यचन्द्रादि के आधार पर हमारे मानस पटल पर सांस्कारिक चन्द्र सूर्य्यादि का तात्कालिक निर्म्माण होता है । तत्त्वात्मक वेदवितान से वह दूरी भी हमारे अन्तर्जगत् में ही उत्पन्न हो जाती है । अतएव भान ऐसा होने लगता है, मानों हम सूर्य्य

को आकाश में विदूर देख रहे हैं। वस्तुतः यह दूरी, यह दृष्ट सूर्य्य हमारे अन्तर्जगत् में हीं प्रतिष्ठित है। यही ऐन्द्रियक विषयों के सम्बन्ध में घटित है। प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय सूर्य्य तो भूपिण्ड से भी कहीं सहस्रगुणित बृहत्काय है। उसे हम कैसे देखते हैं?। एक बात ओर–प्रकृतिसिद्ध सूर्य्यादि पदार्थ ईश्वर के ज्ञानात्मक अन्तर्जगत्–धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च ईश्वर का अन्तर्जगत् है। जब एक जीव अन्य जीव के भी अन्तर्जगत् को नहीं देख सकता, तो वह ईश्वरीय अन्तर्जगत् का साक्षात्कार कैसे कर सकता है?। अन्य व्यक्ति अमुक समय क्या कल्पना कर रहा है, उसमें कौन कौन सांस्कारिक ज्ञान–कर्म्म (भावना–वासना) प्रतिष्ठित हैं?, यह दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता। इसी आधार पर वैज्ञानिकों नें यह स्थिर किया है कि, प्रत्येक आत्मा स्व–स्व अन्तर्जगत् का ही द्रष्टा है। एवं प्रत्येक का अन्तर्जगत् उसके प्रातिस्विक ज्ञानकर्म्म से ही सम्पन्न हुआ है, जो सम्पन्नरूप भावना–वासना–संस्कारात्मक है।

उक्त स्थिति का ईश्वरीय कर्म्म के साथ समतुलन कीजिए। सत्तासिद्ध सूर्य्य–चन्द्रादि युक्त पाञ्चभौतिक महाविश्व ईश्वरीय ज्ञानकर्म्म से समुत्पन्न ईश्वरीय अन्तर्जगत् है। यह विश्व ही ईश्वरीय कर्म्म से उत्पन्न वह फल है, जो अन्तर्जगत् रूप से सदा ईश्वरीय ज्ञानकर्म्माधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसप्रकार ईश्वर स्व ज्ञान-कर्म्मजनित विश्वरूप फल से नित्य युक्त है। देखते हैं–विश्वात्मक फल से नित्य–युक्त रहता हुआ भी ईश्वर सहजकर्म्ममूला–निष्कामभावात्मिका कामना के सम्बन्ध से फल में आसक्त नहीं है। अतएव यह फल रहता हुआ भी ईश्वरस्वातन्त्र्य पर आक्रमण नहीं कर रहा। ठीक इसीप्रकार जो जीवात्मा अपने ज्ञान–कर्म्म–व्यापार का मूल ईश्वरेच्छा बना लेता है, उस जीवात्मा के ईश्वरेच्छासहकृत ज्ञानकर्म्म से समुत्पन्न फलात्मक भावना-वासनासंस्कारसंघरूप अन्तर्जगत् जीवस्वातन्त्र्य पर आक्रमण नहीं कर सकता। यदि जीव अपनी आसक्तिमूला उत्थाप्याकांक्षा को मूल बना कर कर्म्मफल उत्पन्न करता है, तो इस फल के प्रति उसकी अवश्यमेव आसक्ति हो जाती है। और इच्छा (जीवेच्छानुगत) ज्ञानकर्म्म से उत्पन्न ऐसा सांस्कारिक फल अवश्यमेव जीवस्वातन्त्र्य का विघातक बन जाता है।

६८–फलासक्ति, और बन्धन–मीमांसा—

अब शेष रह जाती है–'फलासक्ति', जिसका मूल है–मानस जीवेच्छा। यह आसक्ति ही जीवपारतन्त्र्य का मूलकारण है, जिसके मूल में राग–द्वेष व्यवस्थित हैं, जिन रागद्वेषों का 'राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग' स्तम्भ में विस्तार से विश्लेषण किया जाने वाला है। इसप्रकार इच्छा, कर्म्म, फल, फलासक्ति, चारों में से जीवेच्छानुगता फलासक्ति का ही बन्धनप्रवर्त्तकत्व सिद्ध हो जाता है। इच्छा रखिए, परन्तु ईश्वरेच्छात्मिका इच्छा, बन्धन न होगा। कर्म्म कीजिए, परन्तु ईश्वरेच्छासहकृत यज्ञार्थकर्म्म, कभी बन्धन न होगा। फलाभि-मुख बने रहिए, परन्तु इच्छा को ईश्वरेच्छारूप में परिणत रखिए, कभी फल आत्मस्वातन्त्र्य पर आक्रमण न करेंगे। ऐसा करने पर फलकामासक्ति स्वतः निवृत्त हो जायगी, फलों (संस्कारों) के साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध न होगा। ऐसी इच्छा रखते हुए भी आप निष्काम कहलाएँगे, ऐसी निष्कामभावना से किया हुआ कर्म्म भी निष्कामकर्म्म कहलाएगा, ऐसे कर्म्म से उत्पन्न फल (संस्कार) भी आपके स्वाभाविक आत्म-बिकास को आवृत न कर सकेंगे। इसप्रकार अकर्म्मरूप फल के प्रति सङ्ग (आसक्ति) न रखते हुए आप केवल कर्म्म के ही हेतु बने रहेंगे। फलभोक्ता भी बन जायँगे, फलासक्ति से भी बचे रहेंगे। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' (अकर्म्मात्मके सांस्कारिके फले ते सङ्गः–आसक्ति माभूत्)।

६९–फलसङ्गस्वरूपविश्लेषण—

फलसङ्ग (फलासक्ति) का क्या तात्पर्य्य ?, एवं फलासक्ति से हानि क्या हो जाती है ?, प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की गई। परन्तु अभी यथावत् स्पष्टीकरण नहीं हुआ। सहजभाषा में स्पष्टीकरण कीजिए। आप अधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्त हुए, कर्म्मप्रवृत्ति का लक्ष्य बनाया आपने कर्म्मजनित फल को, क्योंकि बिना फल को उद्देश्य बनाए तो आप तज्जनक कर्म्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। यहाँ तक परिस्थिति ठीक ठीक बनी रही। फलोद्देश्य को सफल बनाने के लिए आपने तदनुकूल कर्म्म आरम्भ किया। कर्म्मकाल में आपने बार बार भावी फल की ओर अनुधावन आरम्भ कर दिया। और यही एक ऐसी भयङ्कर भूल हो पड़ी, जिससे आपका कर्म्मकौशल बिगड़ गया। आपकी मानस शक्तियाँ परिमित हैं। एक समय में सर्वात्मना एक ओर ही इस शक्ति के समावेश से कर्म्मस्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न बन सकता है। आपने अपनी शक्ति को कर्म्म के साथ साथ भावी फल की चर्व्वणा में भी समाविष्ट कर दिया। कर्म्म में जिस अनन्यशक्ति का समावेश होना चाहिए था, न हो सका। कर्म्म अपूर्ण रह गया। पूर्ण कर्म्म ही तो पूर्ण फल का जनक बना करता है। अनन्यभावात्मिक पूर्णशक्ति के समावेश से ही तो कर्म्मपूर्णता का कारण बनता है। जब आपने कर्म्मानुष्ठानकाल में बार बार फलचर्व्वणा की ओर मानस–शक्तियों का दुरुपयोग कर डाला, तो जिस पूर्ण-शक्ति के समावेश से कर्म्म सर्वाङ्गीण बनता है, वह पूर्णशक्ति पूर्ण कहाँ रही ?। यही क्यों, कभी कभी तो इस फलचर्व्वणा का यह दुष्परिणाम होता देखा गया है कि, फलचर्व्वणात्मिका फलासक्ति में (काल्पनिक फल की आसक्ति में) ही मन की अधिक शक्ति समाविष्ट हो जाती है। और उस शेखचिल्ली की भाँति तब हमारी आँखें खुलतीं हैं, जब हम देखते हैं कि, फलजनक कर्म्म हमने पूरा किया नहीं, कर्म्म–(पुरुषार्थकर्म्म) साधक क्रत्वर्थ कर्म्मों का स्वरूप और बिगाड़ लिया। उदाहरण के लिए एक उस पाचक को लक्ष्य बनाइए, जो सब सामग्री लेकर पाककर्म्म में प्रवृत्त हो रहा है। पाचक रसोई बनाने बैठा। पाचक का पाककर्म्म पुरुषार्थ–कर्म्म है। क्योंकि पाककर्म्म से समुत्पन्न पाकफल का (सिद्ध-सम्पन्न-द्रव्यों का) पुरुषोपभोग से सम्बन्ध है। चूल्हा जलाना, बटलोही चढ़ाना, दुग्ध–शर्करा–तन्दुल–आदि का उसमें प्रक्षेप करना, आदि आदि अनेक कर्म्मों से पाककर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन अनेक कर्म्मों से पुरुषार्थलक्षण पाककर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अतएव इन पुरुषार्थसाधक पाचक के अवान्तर कर्म्मों को हम 'क्रत्वर्थ कर्म्म' (क्रतु-पुरुषार्थ-कर्म्म, तत्साधक अभावान्तरकर्म्म क्रत्वर्थकर्म्म) कह सकते हैं। दुर्भाग्य से पाचक इन कर्म्मों के साथ साथ ही फलचर्व्वणा आरम्भ कर देता है। कल्पना करने लगता है–अहा ! आज ऐसी बढ़िया रसोई बनेगी कि, खाने वाले प्रसन्न हो जायँगे। खीर ऐसी बनेगी, साग वैसे सुस्वादु बनेंगे। इन कल्पनाओं का परिणाम यह होगा कि, मन की जिस अवधानशक्ति से पाचक के क्रत्वर्थकर्म्म पुरुषार्थकर्म्म को सर्वाङ्गीण बनाते हुए कर्म्मफल (पाकद्रव्य) को पूर्ण करने वाले थे, वे क्रत्वर्थ कर्म्म फलचर्व्वणाजनिता अनवधनता से विकृत हो जायँगे। हाथ जल जायगा, खीर या तो कच्ची रह जायगी, अथवा जल जायगी, साग में नमक अधिक गिर जायगा। इसप्रकार कर्म्मकाल में फलचर्व्वणा से फलजनक कर्म्म, और तत्साधक क्रत्वर्थकर्म्मों का स्वरूप विकृत हो जायगा, परिणामस्वरूप कर्म्मफल आशाजनक न बन सकेगा।

मान लेते हैं–पाचक पाककर्म्म में बड़ा कुशल है। वह आँख मीच कर भी अन्दाज से जो भी करेगा, पाकफल उसी से निर्विघ्न पूर्ण होजायगा। इस स्थिति में फलचर्व्वणा में क्या दोष रहा ?, जब कि

फलचर्व्वणा करते हुए भी पाचक का पाककर्म्म सुसम्पन्न होगया ? इसका उत्तर है–आसक्तिरूप बन्धन। फलचर्व्वणा फलासक्ति है। इससे आत्मा में फलसंस्कार के साथ ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध अवश्य होजायगा, जो ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध स्मृति के द्वारा फलकामना की ओर मनको आकर्षित करता हुआ उसकी स्वाभाविक शान्ति भङ्ग किया करता है। इसी सम्पूर्ण परिस्थित को लक्ष्य बना कर भगवान् कहते हैं,–भाई ! तुम्हारा अधिकार केवल फलजनक कर्म्मों के लिए नियत है। कर्म्म करना तुम्हारा कर्त्तव्य है, कर्म्मफलोंको उत्पन्न करना तुम्हारा काम नहीं। यदि तुमने अनन्य–निष्ठा से कर्म्म का स्वरूप सर्वाङ्गीण बना लिया, तो फल अवश्य उत्पन्न होगा। अतएव फल की चिन्ता–चर्व्वणा–छोड़ कर तुम केवल कर्म्म के अधिकारी बने रहो, अपने आपको कर्म्म का हेतु बनाओ, कर्म्मफल का हेतु मत बनाओ। क्योंकि कर्म्मफल का हेतु तुम नहीं, तुम्हारा कर्म्म है। यदि तुम अनधिकारचेष्टा करते हुए कर्म्म के साथ साथ (कर्म्मानुष्ठान काल में) फल का भी हेतु अपने आप को बना लोगे, तो कर्म्म में अनन्यता न रहेगी, कर्म्मस्वरूप अपूर्ण रह जायगा, फलतः कर्म्मफल सुसम्पन्न न हो सकेगा। यदि घुणाक्षरन्याय से कर्म्मफल सुसम्पन्न बन भी जायगा, तो फलासक्ति से तुम अपने आप को न बचा सकेगो, जो फलासक्ति आत्म–अशान्ति, आत्मबन्धन का कारण मानी गई है। अतएव हम आग्रह करते हैं कि, तुम अकर्म्मरूप फल में आसक्ति न रक्खो–**'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि'**। ऐसा करने से तुम्हारे क्रत्वर्थ–पुरुषार्थकर्म्म भी सर्वाङ्गीण बन जायँगे, इस कर्म्मकौशल से फल भी सुसम्पन्न हो जायगा, और सबसे बड़ा लाभ होगा कि, तुम फलासक्ति से भी बचे रहोगे। इसप्रकार फलकामासक्ति-परित्याग के अनुग्रह से तुम करते हुए भी लिप्त न बनोगे-**'कुर्वन्नपि न लिप्यते'+'न करोति, न लिप्यते'*** ।

७०–इच्छानिबन्धना कर्म्ममीमांसा–

'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०' श्लोक की उक्त मीमांसा से स्पष्ट है कि, इस श्लोक का यह तात्पर्य्य सर्वथा असङ्गत है कि, 'तुम बिना इच्छा के कर्म्म करो'। भला ऐसी असम्भव आज्ञा भगवान् दे भी कैसे सकते थे। नाहीं इससे फलाशात्याग का समर्थन हुआ है। प्रत्येक कर्म्म की प्रवृत्ति भी कामनापूर्वक ही होगी, अब आशा रक्खें, अथवा न रक्खें, सुसम्पन्न कर्म्म से फल भी अवश्य ही उत्पन्न होगा। फल (संस्कार) का आत्मा से सम्बन्ध भी अनिवार्य्य होगा। ऐसी स्थिति में भ्रान्त कर्म्मवादियों के इच्छारहित निष्कामकर्म्म का, फलकामनात्याग का क्या अर्थ रहा ?, यह उन्हीं कल्पित निष्कामकर्म्मवादियों से पूँछना चाहिए। क्या निष्कामकर्म्म गीता का सिद्धान्त नहीं है ?। है, और अवश्य है। परन्तु न तो–'हम बिना इच्छा के कर्म्म करते हैं, अतएव हमारा कर्म्म निष्काम है', यह कहने मात्र से ही कर्म्म निष्काम बन जाता, एवं न ऐसे कथनमात्र पर अवलम्बित यथेच्छाचारविहारलक्षण उच्छृंखल कर्म्म ही गीतोक्त कर्म्म माना जासकता। अपितु गीतासम्मत 'निष्काम' शब्द का अर्थ है–ईश्वरेच्छा', एवं निष्कामकर्म्म का अर्थ है–ईश्वरेच्छासहकृत प्राकृतिक कर्म्म। हमारी अध्यात्मसंस्था में ईश्वर, जीव, दोनों प्रतिष्ठित हैं ईश्वरेच्छा कामना है, जीवेच्छा इच्छा है। ईश्वरीय कामना से युक्त कर्म्म प्राकृतिक कर्म्म निष्कामकर्म्म हैं। जैव इच्छा से

*** ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
गीता

युक्त कर्म्म इन्द्रियानुगत विषयानुगति से सकामकर्म्म हैं। सकामकर्म्म प्रत्येक दशा में फलासक्त्युन्मुख बनते हुए सबन्धन हैं, निष्कामकर्म्म फलासक्तिविरहित रहते हुए अबन्धन है, और यही गीता का कर्म्ममार्ग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा 'आर्षविद्या' मानी गई है, जिसका स्वरूपविश्लेषण ही प्रकृत स्तम्भ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

ईश्वरेच्छा सहज इच्छा है, वह स्वयं उत्थित होती हुई 'उत्थिताकांक्षा' कहलाई है। अतएव तदनुगत निष्कामकर्म्म भी गीतापरिभाषा में 'सहजकर्म्म' कहलाए हैं। जो यह कहते हैं-'हम तो निष्कामकर्म्म करते हैं,' सचमुच वे बड़ी भ्रान्ति में हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, निष्कामकर्म्म होते हैं, किए नहीं जाते। **'करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** के अनुसार निष्कामकर्म्म अपने आप होते रहते हैं, हमें निमित्त बना कर वे स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं। इनमें हमारी (जीव की) इच्छा का अणुमात्र भी समावेश नहीं है। यदि हम यह कहते समझते हैं कि, 'हम निष्काम कर रहे हैं,' तो यह निष्कामकर्म्म कहाँ रहा ?। अहन्तामूला इच्छा का तो हमने आरम्भ में हीं समावेश कर दिया। चाहिए, करते हैं, कर रहे हैं, करेंगे, आदि सब व्यवहार जीवेच्छाप्रधान बनते हुए सकामकर्म्म हैं। और इन्हीं का अनुगमन करने वाले वर्त्तमानयुग के गीताप्रेमी साभिनिवेश कहा करते हैं-'हम तो गीता के आदेश का पालन कर रहे हैं'। कैसी भ्रान्ति है ?।

७१-आर्षविद्याप्रतिष्ठात्मक ऋषितत्त्व—

छोड़िए इस विवाद को। आप तो गीता जो कर रही है, उसका समन्वय कीजिए। यह सिद्ध होचुका है कि, गीतोक्त कर्म्मवाद विशुद्ध शास्त्रीय कर्म्मवाद है। क्योंकि, शास्त्रीय कर्म्म ही प्राकृतिक हैं, प्राकृतिक कर्म्म ही ईश्वरेच्छानुगत सहज कर्म्म हैं, जिनकी मूलप्रवृत्ति 'ऋषिवंश' से हुई है। अतएव यह कर्म्मात्मक धर्म्मपथ 'आर्षधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। अतएव तन्मूला विद्या 'आर्षविद्या' कहलाई है। ऋषि ही ईश्वरीय कर्म्म की प्रतिष्ठा कैसे है ?, इसके लिए ऋषिमूलक सृष्टिविज्ञान का विश्लेषण आवश्यक होगा। वही संक्षेप से आर्षधर्म्मप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

धर्म्म, अधर्म्म पाप-पुण्य, सत्-असत्, अहः-रात्रि, विश्व, आदि आदि में से जिस समय किसी की सत्ता न थी, तो उस समय क्या था ?, दूसरे शब्दों में जब कुछ न था, तो क्या था ?, इस सृष्टिकारणात्मक प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्त्वद्रष्टा ऋषि ने हमें बतलाया कि-'आज जिस विश्वप्रपञ्च को तुम सद्रूप से अपने अनुभव का, अङ्गुली निर्देश का लक्ष्य बना रहे हो, सृष्टि से पहिले सत्-सृष्टि (विद्यमान विश्वप्रपञ्च) से पहिले यह सब कुछ 'असत्' ही था। (और यह असत् ही इस सल्लक्षण विश्व का मूलप्रभव था)-**'असद्वा इदमग्र आसीत्'**। सत् का अर्थ होता है-'भाव'। असत् का अर्थ माना गया है-'अभाव'। क्या भावात्मक (सत्तात्मक) विश्व का मूलकारण अभावार्थक असत् है ?, नहीं। क्योंकि अभाव किसी का उपादानकारण नहीं बन सकता। जो स्वयं 'नास्ति' रूप है, वह अस्ति का कारण कैसे बन सकता है ?। फिर श्रुति के 'असत्' का क्या अर्थ ?, इसी प्रश्न को लक्ष्य बना कर श्रुति ने स्वयं आगे चल कर यह प्रश्न किया कि, सद्विश्व का कारण अभावात्मक असत् तो बन नहीं सकता। फिर उस कारणात्मक 'असत्' का क्या स्वरूप ?-**'किं तदसदासीत्-इति'?'**। श्रुति स्वयं उत्तर देती है-'सृष्टि का मूलकारणरूप वह असत् तत्त्व (अभावात्मक-असत् नहीं, अपितु) 'ऋषि' नामक 'असत्' तत्त्व ही था'-**'ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्'**। ऋषि शब्द

भी सन्देहास्पद है। कारण–ऋषिशब्द की अनेकधा प्रवृत्ति देखी–सुनी जाती है। वेदतत्त्वद्रष्टा वसिष्ठ–कश्यपादि मानव ऋषि भी ऋषि कहलाए हैं। यही क्यों, सर्वसाधारण की दृष्टि में तो 'ऋषि' शब्द का अर्थ मानव ऋषि ही है, जो सत्–सृष्टिमर्य्यादा में अन्तर्भुक्त रहते हुए 'असल्लक्षण' ऋषि मर्य्यादा से बहिष्कृत है। अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि–'सद्विश्व का मूलभूत असल्लक्षण ऋषि क्या वस्तुतत्त्व है ?–'**के ते ऋषयः–इति ?**'। इसी ऋषितत्त्व का परिचय कराती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है–'प्राणतत्त्व का ही नाम ऋषि है'–'**प्राणा व ऋषयः**'। प्राण को ऋषि क्यों कहा गया ?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में श्रुति कहती है–'उन प्राणों नें इस विश्वसर्ग से पहिले क्योंकि इस विश्वसर्ग की इच्छा करते हुए श्रम, और तप से गमन किया था, अतएव–'**इच्छन्त श्रमेण तपसा अरिषन्**' इस निर्वचन से वैज्ञानिकों नें उस सृष्टिमूलक प्राणतत्त्व को 'ऋषि' नाम से व्यवहृत किया–'**ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मात्–इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्मात्–ऋषयः**" (देखिए–शत० ब्रा० ६।१।१।१)।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, इन पाँचों गुणभूतों (तन्मात्राओं) से असंस्पृष्ट, अधामच्छद (स्थान न रोकने वाला,) अतएव अमूर्त्त, अतएव केवल शक्त्यात्मक, अतएव इन्द्रियधर्म्मों से अतीत, अतएव च इन्द्रिय–अग्राह्य तत्त्वविशेष ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राण के समावेश से ही भौतिक वस्तु 'प्राणी' कहलाई है, जिसके जड़प्राणी चेतनप्राणी, भेद से दो विवर्त्त मानें गए हैं। पाषाण, लोष्ट, आदि जिन पदार्थों को हम 'जड़' कहते हैं, उनमें भी यह प्राणात्मा विद्यमान है, केवल इन्द्रियविकास का अभाव है। अतएव चेतन, अचेतन का मूलविभाजक इन्द्रिय, और इन्द्रियाभाव ही माना गया है, न कि प्राणात्माभाव, जैसाकि–'**सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्**' इत्यादि से भी प्रमाणित है। प्रत्यक्ष में भी जड़पदार्थों के 'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति' इन नैगमिक षड्भावविकारों के द्वारा प्राण का अनुमान हो रहा है। पाषाण जब पुराना हो जाता है, तो उसके क्षरात्मक भौतिक परमाणु श्लथ हो जाते हैं। जो पाषाण अपनी युवावस्था में दृढावयव था, वही वृद्धावस्था में आकर जीर्ण शीर्ण हो जाता है, उसके अवयव साधारण से बलप्रयोग से च्युत कर दिए जाते हैं, और उस दशा में पाषाण के लिए हमारे मुख से यही निकलता है कि, 'अब पत्थर में दम नहीं रहा'। यह अनुभूत 'दम' ही हमारा 'प्राण' तत्त्व है, जिसे हम देखते नहीं, किन्तु शक्तिरूप से अनुमान अवश्य लगा लेते हैं। इसप्रकार प्राणतत्त्व की जड़–चेतनोभयव्याप्ति सर्वात्मना सिद्ध हो जाती है। श्रुति ने इस प्राणतत्त्व को 'असत्'–'ऋषि' इन दो नामों से व्यवहृत किया है। जिस भौतिक जड़–चेतन पदार्थ में जब तक प्राणतत्त्व अन्तर्य्यामसम्बन्ध से समाविष्ट रहता है, तभी तक वह पदार्थ सत्ताभाव (अस्तिभाव) में परिणत रहता हुआ सत् (विद्यमान) कहलाता है। प्राणोत्क्रान्ति ही तत्तत् पदार्थों की सत्ता की उत्क्रान्ति है। सत्तोत्क्रान्ति ही सत् पदार्थ को असत् (अभाव) रूप में परिणत करती है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, पदार्थ प्राणसमावेश से ही 'सत्' कहलाते हैं। जिसमें प्राण रहता है, वही 'सत्' है, क्योंकि वस्तुतः प्राण ही 'सत्' है, इसका सद्भाव ही वस्तुसद्भाव की मूलप्रतिष्ठा है। '**घटे घटाभावः**' एतन्मूलक '**सामान्ये सामान्याभावः**' इस न्याय के अनुसार सत्प्राण में सत्प्राण का अभाव है। जैसे मनोमय, प्राणमय, अव्यय इसी न्याय के अनुसार 'अमना, अप्राण' कहलाया है, जिसका तात्पर्य्य होता है–'मनोरूपः–प्राणरूपः'। तथैव यह सत्प्राण भी असत् कहलाया है। जिसमें सत् (प्राण) रहता है, वह भौतिक वस्तु 'सत्' है। सत् (प्राण) में सत् (प्राण) क्या रहेगा, कैसे रहेगा ? एकमात्र इसी आधार पर सर्वथा सल्लक्षण भी

प्राणतत्त्व विज्ञानभाषा में 'असत्' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्पर्य्य निकलता है-'सद्रूपः' । इसीलिए तो **'असद्वा इदमग्र आसीत्'** श्रुति का अन्यत्र **'सदेवेदमग्रे सोम्य असदासीत्, कथमसतः सज्जायेत'** इस रूप से समन्वय हुआ है । असत् ही सृष्टि का मूल था, एवं वह सत् था । अभावात्मक असत् से भावात्मक सद्विश्व उत्पन्न भी कैसे हो सकता था । **'तत् सदासीत्'** से भी प्राण के इस सद्भाव का ही विश्लेषण हुआ है । तात्पर्य्य-प्राणतत्त्व की शुद्ध सद्रूपता ही इसके 'असत्' नाम व्यवहार का मूलकारण है ।

असल्लक्षण उक्त प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में श्रुति ने **'इच्छन्तः-श्रमेण-तपसा'** कहते हुए इसके साथ इच्छा, तप, श्रम, सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुबन्धों का सम्बन्ध माना है । इच्छा मन का व्यापार है, मन ज्ञानप्रधान है । तप प्राण का व्यापार है, प्राण क्रियाप्रधान है । एवं श्रम वाक् का व्यापार है, वाक् अर्थप्रधाना है । ज्ञानमय मन की इच्छा, क्रियामय प्राण का तप, अर्थमयी वाक् का श्रम, सृष्टिकर्म्म में तीनों अपेक्षित हैं, जैसाकि 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०' इत्यादि श्लोकमीमांसा करते हुए पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इच्छात्मक ज्ञानमय मन की अव्यय विकासभूमि है, यह सृष्टिकर्म्म का आलम्बन कारण बनता है, जिसे विज्ञानभाषा में **'अधिष्ठान'** कहा गया है, शब्दपरिभाषा में **'स्फोट'** कहा गया है । तपोलक्षण क्रियामय प्राण अक्षर की विकासभूमि है, जो शब्दपरिभाषा में **'स्वर'** कहलाया है । यही सृष्टि का निमित्तकारण बनता है । एवं श्रमात्मक अर्थमय वाकतत्त्व क्षर की विकासभूमि है, जो विज्ञानभाषा में **'आरम्भण'** एवं * शब्दपरिभाषा में **'वर्ण'** कहलाया है, यही सृष्टि का उपादानकारण बनता है । आलम्बन, निमित्त, उपादान, इन तीन कारणों के एकत्र समन्वय से हो सृष्टि कार्य्य का विकास हुआ है । इसी आधार पर तार्किकों का **'कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम्'-'(न तु कारणस्य)'** यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है । उत्पन्न कार्य्यरूप वस्तु के स्वरूपविश्लेषण से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है । प्रत्येक पदार्थ में पदार्थ का **'रूप'**, पदार्थ का **'कर्म्म'**, पदार्थ का **'नाम'**, इन तीन विभागों का समन्वय उपलब्ध होता है । रूप-कर्म्म-नाम, तीनों पदार्थ के मर्त्यभाव हैं । **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** के अनुसार नामपर्व क्षरात्मक वाक्तत्त्व पर प्रतिष्ठित है, कर्म्मपर्व अक्षरात्मक प्राणतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, एवं रूपपर्व अव्ययात्मक मनःपर्व पर प्रतिष्ठित है । मनः-प्राण-वागाधारेण प्रतिष्ठित रूप-कर्म्म-नाम की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है । इस विश्लेषण से हमें यह मान लेना पड़ेगा कि, केवल प्राणतत्त्व ही सृष्टि का मूल नहीं है, अपितु इच्छात्मक मन, श्रमात्मिका वाक्, दोनों से युक्त तपोलक्षण प्राण ही सृष्टि का मूल है । इसी लिए श्रुति को 'इच्छन्तः-श्रमेण-तपसा' कहना पड़ा है । इच्छन्तः-मनःसम्बन्ध का सूचक है, श्रमेण वाक्सम्बन्ध का सूचक है, एवं तपसा स्वयं प्राण के सम्बन्ध का सूचक बन रहा है । यदि ऐसा है, तो फिर श्रुति ने 'असत्' का अर्थ केवल प्राण ही क्यों किया ? । तब तो श्रुति को 'किं तदसदासीत्' प्रश्न के उत्तर में कहना चाहिए था । 'मनः आसीत्, प्राणः आसीत्, वाक् आसीत्' । इस प्रश्न का भी निराकरण कर लीजिए ।

७२-ऋषिप्राण की सर्वात्मकता—

अव्ययात्मक, इच्छाशक्तिघन, ज्ञानमय मन सृष्टिकर्म्म में आलम्बनरूप से अपेक्षित अवश्य है, परन्तु अपने स्वभाविक ज्ञानप्राधान्य के कारण यह 'कर्म्म' मर्य्यादा से असंश्लिष्ट रहता हुआ गतिशून्य है ।

* **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्-मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (·· ······) ।

एवमेव क्षरात्मक, श्रमशक्तिघन, अर्थमय वाक्तत्त्व ही यद्यपि सृष्टि का उपादान बनता है। परन्तु अपने स्वाभाविक अर्थप्राधान्य से यह जड़ है, गतिशून्य है। सृष्टिकर्म्म कर्म्म है, क्रियामय है, क्रियाप्रधान है, व्यापारसापेक्ष है। यह धर्म्म एकमात्र अक्षरात्मक, तपःशक्तिघन, क्रियामय प्राणतत्त्व का ही है। प्राण ही गतिधर्म्मा है। इसके अग्रगामी बनने पर मन की इच्छा, और वाक् का श्रम सृष्टिकर्म्म में सफल होता है। यहीं देख लीजिए न। आप केवल बड़ी बड़ी इच्छाएँ करते रहें, किसी कर्म्म की सिद्धि नहीं होगी। आपके सन्निकट श्रमात्मक शरीर भी है, श्रमात्मक अन्य द्रव्यादि भौतिक बाह्य साधन भी हैं। परन्तु जब तक आप प्राणव्यापार (चेष्टा) को अग्रगामी न बना लेंगे, तब तक आपकी इच्छा, आपका श्रम कभी सफल न होगा। इसी से एक तत्त्व और निकल आया। कितनें एक मनुष्य हाथ-पैर हिलाते तो प्रतीत होते हैं। परन्तु देखते हैं. फिर भी उनका कर्म्म सर्वात्मना सफल नहीं होता। कारण यही है कि, उन्होंनें इच्छा भी की, शरीरानुगत श्रम भी किया, परन्तु प्राणव्यापारलक्षण तप को उन्होंनें गौण बना डाला। अन्तर्व्यापार-लक्षण तप का इच्छा, और श्रमने ग्रास कर लिया। अतएव इनका कर्म्म सफल न हो सका। यही बर्त्तमान प्रगतियों का तत्त्व है। हमें अपनें राष्ट्रीय आयोजनों में सफलता क्यों नहीं मिलती ?, जब कि हम इच्छा करते हैं, दौड़भाग करते हैं, चेष्टा भी करते हैं ?। उत्तर है-तप का अभाव, प्राणव्यापार की शिथिलता। प्राणव्यापारात्मक 'तप' का ऋषियों नें लक्षण किया है-'**एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति**'। बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण है। 'उसे ही वैज्ञानिक 'तप' कहते हैं, जिसमें कर्म्मानुष्ठाता स्वयं अपने आपका दान कर देता है' यही उक्तलक्षण का तात्पर्य्य है। यही तप गीतापरिभाषा में 'अनन्यनिष्ठा' कहलाई है। अपनी आभ्यन्तर शक्तियों का सर्वस्व दान ही तप है, यही आत्मसमर्पण है। यही वास्तविक प्राणव्यापार है, यही कर्म्मसाफल्य का मूलद्वार है। यदि हमारी 'स्वदान' के स्थान में 'परादान' की ओर प्रवृत्ति है, यदि हम अपने प्राण को ध्यानशिला पर रख कर उपाश्वन्तर्य्याम-द्वारा उसे संघर्ष में नहीं डाल सकते, तो स्वप्न में भी हमारे परापहर-णात्मक ये वर्त्तमान निस्तत्त्व आयोजन कभी श्रेयःप्राप्ति का कारण नहीं बन सकते। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, मनः-प्राण-वाक्-तीनों में मन भी स्वतः निष्क्रिय है, वाक् भी स्वतः निष्क्रिया है। सक्रिय है एकमात्र अक्षरात्मक वह प्राणतत्त्व, जो ज्ञानमय मन, और अर्थमयी वाक्, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उस ओर के मनोमय ज्ञान से ज्ञानमय, इस ओर के वाङ्मय अर्थ से, अर्थमय, एवं स्वानुगता प्राणमयी क्रिया से युक्त रहता हुआ ज्ञान-क्रियार्थमय बन कर सर्वात्मक बनता हुआ सृष्टिकर्म्म में समर्थ हो जाता है। प्राण ही 'अरिषन्' (गतिधर्म्मा) है। इसके गमन से ही इच्छात्मक मन, श्रमात्मिका वाक्, दोनों सृष्ट्युन्मुख बनते हैं, एकमात्र प्राण के इसी गतिधर्म्म से श्रुति ने अक्षरात्मक प्राण को ही प्रधानरूप से सृष्टिकर्म्म का प्रवर्त्तक माना है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति ॥

स्वयं गीताशास्त्र भी इसी श्रौत सिद्धान्त का अनुगमन कर रहा है। अव्ययतत्त्व पुरुष है, अक्षरतत्त्व अव्यक्तप्रकृति नाम की 'पराप्रकृति' है। एवं क्षरतत्त्व व्यक्तप्रकृति नाम की 'अपराप्रकृति' है। पुरुष मनोमय है, पराप्रकृति (अव्यक्ताक्षर) प्राणमयी है, अपराप्रकृति (व्यक्तक्षर) वाङ्मयी है। '**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे**' गीताक्षर श्रुति के-'**अक्षरात् सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते**' से समतुलित हैं। एवं-'**रात्र्यागमे**

प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके' गीताक्षर श्रुति के-'तत्र चैवापियन्ति' से समतुलित हैं। अतएव-'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति ने 'इच्छन्तः-श्रमेण-तपसा' द्वारा सृष्टिकर्म्म में मनः-प्राण-वाक्-तीनों का सहयोग स्वीकार करते हुए भी 'ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्-प्राणा वा ऋषयः-अरिषन-तस्माद्-ऋषयः' यह कह कर गतिधर्म्मा, अक्षरात्मक, अव्यक्त प्राणतत्त्व को ही सृष्टिकर्म्म का प्रथम प्रवर्त्तक माना है। गतिधर्म्म से ही यह अग्रगामी तपोमूर्त्ति प्राणतत्त्व 'ऋषि' कहलाया है।

प्राणलक्षण इस गतिधर्म्मा ऋषितत्त्व के 'सप्तर्षि'-'एकर्षि'-'द्वयर्षि'-'त्र्यर्षि' आदि अनेक विवर्त्त हैं। इनके भी आगे जाकर असंख्य विवर्त्त हो जाते हैं। इन असंख्य आधिदैविक ऋषिप्राणों के आधार पर आगे जाकर पितरप्राण, देवप्राण, असुरप्राण, गन्धर्वप्राण, पशुप्राण, मानवप्राण, आदि आदि अनेक विवर्त्त हो जाते हैं। इसप्रकार यह ऋषिप्राण विविधभावापन्न बनता हुआ असंख्य, अतएव अनृषि अस्मदादि साधारण व्यक्तियों के लिए अचिन्त्य-अविज्ञेय ही बना रहता है। गभीरमूल इन ऋषियों का परिज्ञान ऋषिदृष्टि पर ही अवलम्बित है, जिससे मनुष्यदृष्टि सर्वथा वञ्चित रहती है। ऋषितत्त्व के इसी वैविध्य को लक्ष्य बना कर ऋषि-तत्त्वसाक्षात्कर्त्ता ऋषि ने कहा है—

विरूपास इद् ऋषयः, त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अग्नेः परिजज्ञिरे, तेऽङ्गिरसः सूनवः॥

—ऋक्सं०

मनोमय अव्यय 'शाश्वतधर्म्म' नामक परात्पर से अविनाभूत रहता हुआ 'शाश्वतब्रह्म' है। प्राणमय अक्षरतत्त्व इन्द्र है। वाङ्मय क्षरतत्त्व सोमगर्भित अग्नि है। अव्यय, अक्षर, क्षर-समष्टि षोडशीप्रजापति है। मध्यस्थ प्राणमय अक्षर, किंवा अक्षरात्मक प्राणतत्त्व ही 'योऽयं मध्यतरान्ध' निर्वचन से इन्द्र है, यही अव्यक्त स्वयम्भू नामक 'मनु' है। इसप्रकार मनोमय अव्यय, तथा वाङ्मय क्षर, दोनों से नित्य अविनाभूत, अतएव मनःप्राणवाङ्मय अव्यक्तप्राणमय स्वयम्भू को ही सृष्टि का प्रवर्त्तक माना गया है। इसके समष्ट्यात्मक रूप को लक्ष्य बना कर ही भगवान् मनु ने कहा है—

१—ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

—मनुः १,६-७-।

२—योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

३—एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये, प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके, परे प्राण-मपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

४—एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य तिष्ठति।
जन्म-वृद्धि-क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥

मनुः १२, १२३-१२४।

७३-सप्तर्षिलक्षण ऋषिप्राण का परिचय—

विविधरूपों से युक्त उक्त प्राणलक्षण, 'असत्' नामक ऋषितत्त्व का 'सप्तर्षि' नामक विशेष विभाग (जाति) ही सृष्टि का मूल बनता है। 'चत्त्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से इन साकञ्ज (साथ रहने वाले) सात प्राणों का '४-२-१' इस क्रम से सन्निवेश हुआ है, जिसका हम अपनी शरीरसंस्था में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। कण्ठरन्ध्र से आरम्भ कर मूलरन्ध्रपर्य्यन्त वितत शरीरयष्टि के चार समविभाग कर डालिए। इनमें चार प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्राणचतुष्टयी के आधार पर ही पक्ष-पुच्छप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव तदपेक्षया इस प्राणचतुष्टयी को 'आत्मा' नाम से व्यवहृत कर दिया गया हैं। दक्षिण हस्तपाद दक्षिण पक्ष है, वाम हस्तपाद वाम पक्ष है, मेरुदण्ड की अन्तिम अधःसीमारूप त्रिकास्थि पुच्छ है, तत्र प्रतिष्ठित प्राण इसलिए 'प्रतिष्ठा' (पुच्छं प्रतिष्ठा) कहलाया है कि, जब तक अध्यात्मसंस्था में त्रिकास्थिगतप्राण स्वस्वरूप से विकसित रहता है, तभी तक इसके आधार पर शरीरयष्टि तनी रहती है। (वृद्धावस्था में) इस प्राण के मूर्च्छित हो जाने पर कमर झुक जाती है। इस प्रकार शिरोभाग को छोड़ कर मध्याङ्ग (धड़), हस्तपाद, त्रिकास्थि, इन तीनों स्थानों में क्रमशः आत्मप्राणचतुष्टयी, पक्षप्राणद्वयी, पुच्छप्राण, ये सात प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। सातों प्राण अव्ययमनस्त्वेन अमृतात्मक हैं, एवं क्षरवाक्त्वेन मर्त्य हैं। इन सातों का अमृतरस ही 'श्री' नामक प्राण कहलाया है। यह श्रीप्राण शिरोभाग में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव तन्त्रपरिभाषा में बलि-पशु का शिरोभाग 'श्री' कहलाया है। तात्पर्य्य-ऋषिप्राण की 'सप्तर्षि' जाति ही 'सप्तपुरुषपुरुषात्मक' पुरुष-प्रजापति कहलाया है। यही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथभाष्य में द्रष्टव्य है।

सप्तर्षिलक्षण प्रजापति सर्वप्रथम मनोलक्षण आलम्बन के आधार पर अपने वाग्गर्भित प्राणभाग से तत्त्वात्मक वेद का प्रवर्त्तक बनता है, जो वेदतत्त्व ऋक्-साम से अनुगृहीत रहता हुआ 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यत् प्राणात्मक ऋषि है, 'जू' वाक्तत्त्व है। वाक्-प्राण की समष्टि ही 'यज्जू' है। स्थितिप्रकृतिक वागाकाश 'जू है'। गतिप्रकृतिक प्राणवायु 'यत्' है। मन के आधार पर प्रतिष्ठित 'यत्' नामक ऋषिप्राण के गत्यात्मक व्यापार से 'जू' नामक वाक्तत्त्व के उपादानद्वारा आगे की पारमेष्ठ्यादि सृष्टियों की प्रवृत्ति हुई है। इसप्रकार सम्पूर्ण विश्व तत्वतः प्राणात्मक ऋषि के व्यापार से ही उत्पन्न हुआ है। प्राणात्मक ऋषि वेद की पूर्वावस्था है, स्वयं तत्त्ववेद ऋषिप्राण की उत्तरावस्था है। अतएव 'ऋषिर्वेदमन्त्रः' इत्यादिरूप से ऋषि, और वेद का तादात्म्य मान लिया गया है। इस ऋषितत्त्व को ही हमने अव्यक्त 'प्रकृति' कहा है। इसी आधार सांख्य ने प्रकृति को ही विश्वकर्त्री मान लिया है। प्रकृति से वेद के द्वारा समुत्पन्न विश्व, एवं विश्वप्रजा वर्ण-अवर्णभेद से दो भागों में विभक्त रहती है, जिसका 'गीता भू० 'ख' विभागान्तर्गत 'वर्णव्यवस्था-विज्ञान' में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृति (ऋषिप्राण) अपने त्रिगुणभाव से आगे जाकर विभिन्नधर्म्मानुगता बन जाती है। विभिन्न धर्म्मानुगता प्रकृति से समुत्पन्न सर्ग में भी प्रकृत्यनुसार ही धर्म्म (प्रकृति-स्वभाव-स्वधर्म्म) विभक्त हुआ है। स्वयम्भू मनु नामक प्राणतत्त्व (अव्यक्तप्रकृति) से समुत्पन्न विश्व, एवं उसके प्राकृतिक नियतिलक्षण धर्म्म का ही नाम 'आर्षधर्म्म' है। ऋषिप्राण क्योंकि इस धर्म्मप्रवृत्ति की मूलप्रतिष्ठा है, अतएव वर्ण-अवर्णात्मक यह प्राकृतिक धर्म्म **'आर्षधर्म्म'** कहलाया है। ऋषिप्राण ही स्वयम्भू मनु है, अतएव तन्मूलक इस प्राकृतिक धर्म्म को **'मानवधर्म्म'** भी कहा जा सकता है। प्रकृति (अक्षरात्मक प्राण)-**'प्रकृतिं, पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** के अनुसार नित्य है, सनातन है, अतएव लोकव्यवहार-

भाषा में यही धर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से सुप्रसिद्ध हुआ है। ऋषिप्राण से कैसे विश्व उत्पन्न हुआ है ?, उत्पन्न विश्व के प्राकृतिक धर्म्मों का क्या स्वरूप है ?, कारणभूत ऋषिप्राण के साथ कार्य्यभूत विश्वधर्म्म का क्या सम्बन्ध है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाली कार्य्य-कारण-विज्ञानात्मिका ऋषिप्राणानुगता सृष्टिविद्या (प्राणविद्या-वेदविद्या) ही 'आर्षविद्या' है, तदनुगत प्राकृतिक वर्णावर्णधर्म्मा ही वैदिक कर्म्मयोग है, जिसका संशोधितरूप गीतापरिभाषानुसार 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

७४-ऋषिप्राणात्मिका आर्षविद्या-

'आर्षविद्या' शब्द का अर्थ है—'ऋषि की विद्या'। यह ऋषिविद्या 'तत्त्वात्मिका, शब्दात्मिका, भेद से दो भागों में विभक्त है। तत्त्वात्मिका आर्षविद्या ईश्वरीय विद्या है, शब्दात्मिका आर्षविद्या मानव-ऋषिविद्या है। मानव-ऋषिविद्या से ही तत्त्वात्मिका आर्षविद्या का बोध होता है। ईश्वरीय आर्षविद्या वाच्य है, मानव-ऋषिविद्यात्मिका आर्षविद्या वाचक है। यह शब्दब्रह्मविद्या है, वह अर्थब्रह्मविद्या है। अर्थब्रह्मविद्या के मूल प्राणविध ऋषि हैं, शब्दब्रह्मविद्या के मूलप्रवर्त्तक प्राणीविध मनुष्य-ऋषि हैं। मानव-ऋषिवंश में परम्परया प्रतिष्ठित वही आर्षविद्या 'वेदविद्या' कहलाई है, जिसमें प्रतिपादित प्राकृतिक कर्म्म 'विद्या-समुचित प्रवृत्त कर्म्म' कहलाया है, एवं जिसके यज्ञकर्म्म, तपःकर्म्म, दानकर्म्म, ये तीन अवान्तर मुख्य पर्व मानें गए हैं। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि, अतीतानागतज्ञ, विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य भारतीय महर्षियों नें चिरकाल के तपोयोग से (प्राणव्यापार से) प्रादुर्भूता अतीतानागतपरिज्ञानमूला योगज-दृष्टि (ऋषिदृष्टि, आर्षदृष्टि से प्रकृति के प्राणात्मक ऋषितत्त्वों का साक्षात्कार किया। जिस तत्त्ववेत्ता मानव नें जिस प्राणात्मक ऋषि, का, एवं तदनुगत विश्वकर्म्म का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह मानव, एवं उस मानव के वंश में समुत्पन्न तत्प्राणपरीक्षक वंशज उस प्राणऋषि के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। सर्वमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू प्राण के परीक्षक 'स्वयम्भू मनु' कहलाए। इसीप्रकार वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र, अङ्गिरा, भृगु, अत्रि, दक्ष, क्रतु, आदि आदि प्राणों के प्रथमद्रष्टा तत्त्ववेत्ता तत्तत् वसिष्ठादि नामों से ही प्रसिद्ध हुए, जो नाम इन मानव ऋषियों के 'यशोनाम' मानें गए हैं। स्वयम्भू मनु इस ऋषिविद्या के मूलप्रवर्त्तक मानें गए। क्योंकि प्रकृति में अव्यक्त स्वयम्भू ही ऋषिविद्या का मूल है। स्वयम्भू मनु से आरम्भ कर आगे की मानव ऋषिपरम्परा में ही ऋषिप्राणात्मिका इस आर्षविद्या का प्रधानरूप से परम्परया प्रचार रहा। अतएव मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका यह ऋषिविद्या, 'आर्षविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई।

७५-मानवऋषिवंशानुगता आर्षविद्या-

पूर्व के 'विद्यास्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, निगमागमविद्या क्षरविद्या है, अपराविद्या है। त्रिगुणात्मिका योगमाया के सम्बन्ध से यह अपराविद्या-(वेदविद्या, वेदोक्त-कर्म्मकाण्ड) त्रिगुणभावापन्ना है, जैसा कि—'त्रैगुण्यविषया वेदाः' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। सम्पूर्ण विश्व, विश्वप्रजा, एवं विश्वप्रजा के प्राकृतिक कर्म्म त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमूलक बनते हुए त्रिगुण-

भावापन्न हैं ! सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है * । इसी त्रिगुणभाव के कारण अव्यक्त-अक्षरमूलक भी ये विश्वकर्म्म (वैदिक प्रवृत्तिकर्म्म) क्षरानुगत बने हुए हैं । त्रिगुणभावापन्न ऐसे प्रवृत्ति-लक्षण वैदिक कर्म्म व्यक्ति-स्वार्थ के परिपोषक बनते हुए आसक्तिजनक हैं । अतएव एवंविध कर्म्मयोग बन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ त्याज्य है । ऋषिवंश में परम्परया प्रचलित आर्षविद्यानुगत कर्म्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आज भी तो यज्ञकर्म्म प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में—**'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादिरूप से कामनानुगत त्रिगुणभाव का ही प्राधान्य उपलब्ध हो रहा है । तभी तो भगवान् नें स्वयं वेद को ही त्रिगुणात्मक बतलाया है । क्या भगवान् वेदशास्त्र, एवं तत्सिद्ध यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग के विरोधी हैं ? । नहीं, सर्वथा नहीं । **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'–'यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्'** इत्यादिरूप से वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक मानवधर्म्मशास्त्र को कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णायक माननेवाले, यज्ञादि कर्म्मों की अवश्य-कर्त्तव्यता का समर्थन करने वाले पदे पदे शास्त्रानुगत वर्णाश्रममूलक विभक्त स्वधर्म्मपालन के लिए प्रेरित करने वाले, सर्वोपरि गीतोपदेश के मुख्य पात्र अर्जुन को क्षत्रियवर्णोचित, शास्त्रीय युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् वेदशास्त्र, एवं तत्प्रतिपादित कर्म्मयोग को त्याज्य ठहराते होंगे, यह कल्पना भी अनुचित है । भगवान् का विरोध केवल आसक्ति से है, जीवानुगतां उत्थाप्याकांक्षा से है । क्योंकि यह त्रिगुणात्मिका है । भगवान् केवल त्रिगुणभाव का विरोध कर रहे हैं । इसीलिए तो–**'त्रैगुण्यविषया वेदाः'** के अनन्तर ही भगवान् ने–**'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** ! रूप से अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण कर दिया है । यह बतलाया जा चुका है कि, ईश्वरकामना, तदनुगत कर्म्म, तज्जनित फल, फलासक्ति, चारों में से फलासक्ति ही बन्धन का कारण है । फलसक्ति का मूल जीवकामना है,–जीवस्वरूप योगमायानुगत है, योगमाया त्रिगुणात्मिका है । इसके परित्याग से जीव ईश्वरानुगत बनता हुआ त्रिगुणातीता स्थिति में परिणत हो जाता है । और उस दशा में पहुँचने पर इसका कर्म्म आसक्तिजनक के स्थान में आसक्तिनिवर्त्तक बन जाता है । अतएव इसे 'निवृत्तकर्म्म' कहा गया है । प्रवृत्तकर्म्म भी प्राकृतिक बनता हुआ 'धर्म्म' अवश्य है । परन्तु यह धर्म्म आगे जाकर फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मावरक बन कर 'अधर्म्म' रूप में परिणत हो जाता है । आर्षधर्म्ममार्ग सकामभाव से अन्ततोगत्वा अधर्म्म बन जाता है । अतएव भगवान् ने इस ऋषि-सम्प्रदायानुगत कर्म्मयोग में यह संशोधन आवश्यक माना है कि, तुम कर्म्म अवश्य करो, परन्तु अपनी (जीव की) कामना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो । इससे तुम्हारा कर्म्ममार्ग भी सुरक्षित रहेगा, कर्म्मफल भी यथावसर उत्पन्न हो जायगा, उसका तुम उपभोग भी कर लोगे, साथ ही बन्धन से भी बचे रहोगे । यही आर्षविद्यानुगत, गीतोक्त **'धर्म्मबुद्धियोग'** है, जिसे हम 'संशोधित कर्म्मयोग' कह सकते हैं । इसका प्रधानतः ब्राह्मणवंश में हीं प्रचार रहा है । इसीलिए आज भी तो ब्राह्मण के लिए लोक में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि–'अमुक ब्राह्मण बड़ा कर्म्मठ है, कर्म्म-धर्म्म ही तो ब्राह्मण का स्वरूप है' ।

---

* **न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।**
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्–त्रिभिर्गुणैः ॥

गी॰ १८।४०।

७६–वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या —

वर्णाश्रम-व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्म्मकाण्ड ही कर्म्मयोग है। यही धर्म्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। कामभावात्मक यही कर्म्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ बन्धन है। निष्कामभावात्मक यही कर्म्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धर्म्मबुद्धियोग' है। लोकप्रचलिता योगनिष्ठा (कर्म्मयोग), और भगवत्-सम्मता योगनिष्ठा (धर्म्मबुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–वेदशास्त्र, एवं तन्मूलिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणभाव के परित्याग से दृष्टि 'सम' हो जाती है, अतएव ऐसा कर्म्मयोग 'समत्वयोग' बन जाता है। समदर्शनानुगत, अतएव आत्मनिःश्रेयसप्रवर्त्तक, साथ ही प्रकृतिभेदभिन्न विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत, अतएव लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक, शास्त्रसिद्ध ऐसा समत्वयोग ही गीता का 'साम्यवाद' है, यही निष्कामकर्म्मयोग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर वितत, वर्णाश्रमविरोधी, त्रिगुणभावापन्न, उच्छृंखल, विषमदर्शनानुगत–समव्यवहारात्मक प्रतीच्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्त्तमान राष्ट्रीय गीताभक्त समतुलन करने का अक्षम्य अपराध करते हुए **'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** को सर्वात्मना चरितार्थ बना रहे हैं।

७७–प्राचीनाभिमता कर्म्मयोगनिष्ठा—

सांख्यनिष्ठा त्यागमूला है, योगनिष्ठा संग्रहमूला है। सांख्यनिष्ठा प्राचीनभिमत ज्ञानयोग है, इसमें कर्म्म का परित्याग है। योगनिष्ठा प्राचीनभिमत कर्म्मयोग है, इसमें कामना का संग्रह है। और इस दृष्टि से दोनों लोकनिष्ठाएँ बुद्धियोगसम्पत् से वञ्चित रहतीं हुई पृथक्–पृथक् बन रहीं हैं। भगवान् ने योगात्मिका कर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इसे ही (कर्म्मयोग को ही) उभयनिष्ठात्मक बना डालो। यह तभी सम्भव है, जबकि तुम अपने कर्म्मयोग में त्याग, और संग्रह, दोनों का समन्वय कर दोगे। त्याग करो कामना का, (जिसका तात्पर्य्य है–जीवेच्छा का परित्याग), संग्रह करो ईश्वरानुगत प्राकृतिक कर्म्म का। काम-त्याग से तुम्हारी यही कर्म्मयोगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविकासप्रवर्त्तिका बन कर निःश्रेयस-(मुक्ति)-साधिका बन जायगी, एवं यही कर्म्मयोगनिष्ठा कर्म्मसंग्रह से कर्म्मयोगनिष्ठा बनती हुई लोकसंग्रहप्रवर्त्तिका बन कर अभ्युदय–(भुक्ति)–साधिका बन जायगी। इसप्रकार उभयात्मिका ऐसी योगनिष्ठा (कर्म्मयोग–धर्म्मबुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक–आमुष्मिक, दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायँगे।

७८–भगवत्सम्मता धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा —

ठीक इसके विपरीत, यदि तुमनें अपने शास्त्रीय कर्म्मयोग को जीवकामानुगत बनाते हुए केवल संग्रह का अनुगमन किया तो, ऐसा कामनामय कर्म्म तुह्मारी लोकस्थिति का संरक्षक बनता हुआ भी तुम्हें तुह्मारे परमपुरुषार्थलक्षण आमुष्मिक आत्मनिःश्रेयस से वञ्चित रख देगा। और तुम–स्वर्ग–सुख भोगने पर भी— **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** के अनुसार–'जायस्व-म्रियस्व' इस दुःखप्रद-अशान्त–भवभय-चक्र से अपना संत्राण न कर सकोगे। **'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति'** के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी वही योगनिष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी, वही योगनिष्ठा कर्म्मसंग्रह से 'योगनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी। और इसप्रकार इस संशोधित–'धर्म्मबुद्धियोग' लक्षण, उभयनिष्ठात्मक,

निष्कामकर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग से तुम सब कुछ प्राप्त कर लोगे, जिसकी मूलप्रतिष्ठात्मिका, तत्प्रकारप्रदर्शिका विद्या ही 'आर्षविद्या' कहलाई है।

७९-धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग का समन्वय—

विभिन्न दृष्टियों से आर्षविद्या, एवं तदनुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूपविश्लेषण किया गया। अब एक अन्य दृष्टि से इसका समन्वय किया जाता है। 'धर्म्म' तत्त्व का स्वरूप-परिचय कराते हुए हमनें यह स्पष्ट किया है कि,-'प्रकृतिसिद्ध-प्रकृतिभेदभिन्न-वर्णावर्णानुगत-विभिन्न-कर्त्तव्य कर्म्म का ही नाम 'धर्म्म' है। इस कर्म्मात्मक धर्म्मतत्त्व के ही आगे जाकर **'विधिधर्म्म' 'कर्म्मात्मकधर्म्म' 'सांस्कारिकधर्म्म'** भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** (प्रतिदिन सन्ध्या करो), **'अहरहः स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः'** (प्रतिदिन शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए), इत्यादि आदेशनावाक्य जिन आदेशों का विधान कर रहे हैं, वे आदेशात्मक विधिवचन ही 'विधिधर्म्म' है। मन्वादिशास्त्र इस विधिधर्म्म के सम्बन्ध से ही 'धर्म्मशास्त्र' कहलाए हैं। विधि के साथ साथ इनमें निषिद्ध धर्म्मों (अधर्म्मात्मक धर्म्मों) का भी समावेश हुआ है। **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** (किसी को कष्ट न दो), **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** उगते हुए सूर्य्य को नहीं देखना चाहिए), इत्यादि निषेधों का भी धर्म्मशास्त्र में ही संग्रह हुआ है। कर्म्मात्मक धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाने के कारण धर्म्म (कर्म्म) प्रतिपादक विधि-निषेध-वाक्यों का संग्रहात्मक शास्त्र 'ताच्छब्द्यन्याय' से 'धर्म्मशास्त्र' (धर्म्मप्रतिपादकशास्त्र) कहलाया है, जिस शास्त्रात्मक, विधिनिषेध-वाक्यात्मक धर्म्म को हम **'विधिधर्म्म'** कह सकते हैं। शास्त्र ने जैसा करने की आज्ञा दी, वैसा हमनें किया। जिसका निषेध किया, वह न किया। इस अनुष्ठेय कर्म्म का नाम ही 'कर्म्मात्मकधर्म्म' है, और यही धर्म्म का वास्तविक स्वरूप है। विधिधर्म्म केवल आदर्शधर्म्म है। जब तक धर्म्म केवल शब्दों में सीमित है, तब तक वह धारणमर्य्यादा से बहिष्कृत रहता हुआ हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता। आचरण करने पर ही धर्म्म धारणात्मक बनता हुआ हमारी स्वरूपरक्षा करता है। अतएव सनातनधर्म्म 'क्रियात्मकधर्म्म' माना गया है। **'आत्मना धृतः सन् आत्मनः स्वरूपं रक्षति'** ही धर्म्म का स्वरूपलक्षण है। विधि-निषेध-वचनों को (विधिकर्म्म को) हमारा आत्मा धारण नहीं करता। धारण करता है वह विधिप्रतिपादित कर्म्म को। अतः कर्म्म को ही धर्म्म कहना अन्वर्थ बनता है। यह विधिधर्म्म जहाँ शब्दशास्त्र में सुरक्षित रहता है, वहाँ कर्म्मात्मक वास्तविक धर्म्म धर्म्मी में सुरक्षित रहता है। यही **'कर्म्मात्मकधर्म्म'**-नामक दूसरा धर्म्मविभाग है।

८०-ज्ञानकर्म्मात्मिका धर्म्ममीमांसा—

कर्म्मात्मक धर्म्म ज्ञानगर्भित है। अतएव इस कर्म्मात्मक धर्म्म के आगे जाकर ज्ञानप्रधान कर्म्म, कर्म्मप्रधान धर्म्म, ये दो विभाग हो जाते हैं। ज्ञानात्मक धर्म्म से जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह 'भावनाधर्म्म' कहलाया है, एवं कर्म्मात्मक धर्म्म से उत्पन्न संस्कार वासनाधर्म्म कहलाया है। हमारे ज्ञानाचरण, और कर्म्माचरण से संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। ये उत्पन्न भावना-वासनासंस्कार भी ज्ञानकर्म्मवत् आत्मा के द्वारा धृत रहते हुए 'धर्म्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। इसी संस्कार-धर्म्मपुञ्ज का नाम विज्ञानभाषा में 'उक्थ' है। यही उक्थधर्म्म भावी ज्ञानकर्म्मप्रवृत्ति का कारण बनता है। यदि उक्थ निःशेष बन जाते

हैं, तो आत्मा जीवन्मुक्त बन जाता है। अतएव मानना पड़ेगा कि, जब तक सांस्कारिक धर्म्म है, तभी तक अध्यात्मसंस्था की स्वरूपरक्षा है। इन्हीं से जन्म-कर्म्म-चक्र प्रवाहित रहता है। यही भावनावासना-संस्कारात्मक तीसरा **'सांस्कारिकधर्म्म'** है, जिसे हम कर्म्मात्मकधर्म्म से उत्पन्न 'फल' भी कह सकते हैं।

८१-एकादशेन्द्रियाधिष्ठाता कर्म्मात्मा—

'क्या फल बन्धन का कारण है ?' प्रश्न की मीमांसा करते हुए पूर्व में यह बतलाया गया है कि, अध्यात्मसंस्था का स्वरूपरक्षक उसका अन्तर्जगत् है, एवं भावना-वासनात्मक संस्कारपुञ्ज से ही इस अन्तर्जगत् का निर्म्माण हुआ है। यही सांस्कारिक अन्तर्जगत् ज्ञानकर्म्मजनित फल है, जो ईशकामानुगत बनता हुआ कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। ईश्वरकामानुगत संस्कार जहाँ आत्मधर्म्म है, वहाँ यही जीवकामनानुगत बनता हुआ 'अभिनिवेश' नामक अधर्म्म बन जाता है। यही अभिनिवेश फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मस्वरूपावरक बन कर आत्मबन्धन का कारण बन जाता है। 'अभिनिवेश' का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें संस्कार का एक विभिन्न दृष्टि से समन्वय करना पड़ेगा।

आत्मा ज्ञान-कर्म्ममय है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। ज्ञान-कर्म्ममय कर्म्मात्मा जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-कर्म्मव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होता है, वे इन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्म्मेन्द्रिय, भेद से दो भागों में ही विभक्त हैं। चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायू, उपस्थ, ये पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्म्मगर्भित ज्ञानप्रधान हैं, कर्म्मेन्द्रियाँ ज्ञानगर्भित कर्म्म-प्रधान हैं। ग्यारहवाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन उभयात्मक है, इसमें ज्ञान-कर्म्म का समानरूप से समन्वय है। सम्भूय दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में ११ इन्द्रियाँ हो जातीं हैं, जिनका वैदिक वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन, इन पाँच इन्द्रियों में अन्तर्भाव माना गया है, जिनका 'आत्मस्वरूप-प्रतिपत्ति' नामक परिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जिसप्रकार अन्य राष्ट्र की प्रजा पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए पहिले वहाँ के राष्ट्रपति पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है, एवमेव इन्द्रियवर्ग के संयम के लिए पहिले तदधिष्ठाता उभयात्मक मन का संयम अपेक्षित होता है, जैसाकि निम्न लिखित मनु-वचन से स्पष्ट है—

१—एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

२—श्रोत्रं[१]-त्वक्[२]-चक्षुषी[३]-जिह्वा[४]-नासिका-चैव पञ्चमी ।
पायू[१]-पस्थं[२]-हस्त[३]-पादं[४]-वाक्-चैव दशमी स्मृता ॥

३—बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्म्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥

४—एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥

—मनुः २। ८६, ९०, ९१, श्लो० ।

८२–आत्मेन्द्रियमनोरूप–भोक्तात्मा—

मनोऽनुगत ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न भावनासंस्कार, एवं मनोऽनुगत कर्म्मेन्द्रियों से उत्पन्न वासनासंस्कार आत्मा पर प्रतिष्ठित रहता है। अतएव आत्मा संस्कार-संस्कृत बनता हुआ स्वविकास से वञ्चित हो जाता है। आत्मस्वरूपप्रतिपत् से अपरिचित अज्ञ जन प्रश्न कर सकते हैं कि, 'जब शास्त्रों नें आत्मा को '**न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति**' इत्यादिरूप से सर्वथा असङ्ग बतलाया है, तो उसे भावना-वासनासंस्कार कैसे आवृत कर सकते हैं ?। जिस प्रकार अहोरात्र जल में रहता हुआ भी पद्म जलसम्पर्क से पृथक्-निर्लेप बना रहता है, एवमेव अहोरात्र इन्द्रियानुगत ज्ञान-कर्म्म (भावना-वासना) में रत रहता हुआ भी आत्मा-'**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा**' के अनुसार सर्वथा असङ्ग-निर्लेप ही रहता है। ऐसी अवस्था में संस्कारों से आत्मा को लिप्त बतलाना, और तत्प्रभाव से आत्मा को दुःखी मानना कैसे सङ्गत हो सकता है ?। प्रश्नों का समाधान '**ब्राह्मीस्थिति**' प्रकरण में विस्तार से किया जाचुका है। सर्वव्यापक अव्ययात्मा अवश्य ही प्रत्येक दशा में असङ्ग है, जिसे 'अखण्डात्मा' कहा गया है। इस अखण्डात्मधरातल के आधार पर अव्यक्तादि पाँच खण्डात्माओं का विकास होता है, जिनमें दो खण्डात्मा तो असङ्ग हैं, एवं तीन असङ्ग हैं। स्वयम्भू के असङ्ग प्राण (**ऋषि**) तत्त्व से समुत्पन्न अव्यक्तात्मा, और सूर्य्य के असङ्ग सावित्राग्नि से उत्पन्न विज्ञानात्मा (बुद्धि), ये दो खण्डात्मा तो असङ्ग हैं। परमेष्ठी के स्नेहधर्म्मा, अतएव ससङ्ग सोमतत्त्व से समुत्पन्न महानात्मा, चन्द्रमा के भास्वर-स्नेहगुणक-सोम से उत्पन्न प्रज्ञानात्मा (मन), एवं चान्द्रतत्त्वगर्भित पृथिवी से समुत्पन्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा, ये तीन खण्डात्मा ससङ्ग हैं। महानात्मा कर्म्मात्मा की योनि है, प्रज्ञानात्मा कर्म्मप्रवृत्ति का द्वार है। महद्गर्भित प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा अपने महत्-प्रज्ञान-एवं स्वानुगत ससङ्गधर्म्म से अवश्यमेव संस्कारग्राहक बना रहता है। जिस मन के द्वारा संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह मन स्नेहगुणक सोमप्रधान बनता हुआ ससङ्ग है। कर्म्मात्मा का इस ससङ्ग मन के साथ ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध है। उभयात्मक ससङ्ग मन से ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भावनासंस्कार का, एवं कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा वासनासंस्कार का उदय होता है। मन से उत्पन्न संस्कार मन पर प्रतिष्ठित रहते हैं। कर्म्मात्मा मन से संश्लिष्ट है, अतएव मन पर प्रतिष्ठित संस्कार कर्म्मात्मा को भी आवृत कर लेते हैं। अतएव इन्द्रिय, मन, कर्म्मात्मा, तीनों के समन्वित रूप को ही उपनिषत् ने-'भोक्तात्मा' (कर्म्मफलभोक्ता सांस्कारिक कर्म्मात्मा) नाम से व्यवहृत किया है-'**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः**' (**कठोपनिषत्**)।

८३—अनुभव, और श्रम-तत्त्वपरिचय—

अनुभव, और **श्रम** ये दो व्यापार ही उक्त संस्कारों की मूलप्रतिष्ठा हैं। अनुभवाहित संस्कार ही भावना है, इसमें ज्ञानेन्द्रियव्यापार का प्राधान्य है। श्रमाहितसंस्कार ही वासना है, इसमें कर्म्मेन्द्रियव्यापार प्रधान है। कितनें एक संस्कार केवल अनुभवाहित (भावनात्मक) हैं, कितनें एक केवल श्रमाहित (वासना–

त्मक) हैं, एवं कितनें एक अनुभव-श्रमाहित (भावनावासनात्मक, उभयात्मक) हैं। हम चुपचाप बैठे हैं, कोई कर्म्म नहीं कर रहे, कर्म्मेन्द्रियाँ शान्त हैं। एक व्यक्ति आकर कहता है, कल प्रातः तुम्हें अमुक सिद्धपुरुष ने मिलने बुलाया है। सुनते ही अन्तर्जगत् में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। तत्क्षण प्रज्ञानमन में एक प्रकार की छाप लग जाती है। यही केवल ज्ञानात्मक अनुभवाहित भावनासंस्कार का उदाहरण है। किसी के हम जोर से थप्पड़ मार देते हैं। हमारे अन्तर्जगत् में एक क्षोभ की लहर दौड़ जाती है। इसकी छाप भी प्रज्ञानमन में तत्काल उसी प्रकार प्रतिष्ठित होजाती है, जैसे कि बालू के टीले पर हाथ मारने से उस पर हाथ की छाप लग जाती है। यही केवल कर्म्मात्मक श्रमाहित वासनासंस्कार का उदाहरण है। भोजन कर रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का भी व्यापार हो रहा है, कर्म्मेन्द्रियों का व्यापार भी प्रक्रान्त है। स्वाद, गन्ध, प्रत्यक्ष, शष्कुली (पापड़) खाने से शब्दादि ज्ञानभाव भी प्रक्रान्त हैं, हस्तव्यापारलक्षण कर्म्म भी प्रक्रान्त है। यही अनुभव-श्रमाहित भावनावासनोभयसंस्कार का उदाहरण है। तात्पर्य्य-भावनात्मक अनुभवाहितसंस्कार, एवं वासनात्मक श्रमाहितसंस्कार, दोनों कर्म्मात्मानुगत, स्नेहगुणक, सौम्य, प्रज्ञानमनोधरातल पर खचित होजाते हैं। संस्कारों का प्रज्ञानधरातल पर खचित होजाना ही-'**अभिनिवेश**' है।

८४-त्रिभूति, योग, बन्धन-लक्षणा सम्बन्धत्रयी-

अभिनिवेश शब्द की तात्पर्य्यार्थावगति के लिए सम्बन्धत्रयी का ज्ञान लेना आवश्यक होगा। **विभूति, योग, बन्धन,** भेद से दो वस्तुओं का, किंवा अनेक वस्तुओं का परस्पर होने वाला सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त माना गया है। सूर्य्यातप, सूर्य्यप्रतिबिम्ब, सूर्य्यचित्र, तीनों तीनों सम्बन्धों के उदाहरण मानें जासकते हैं। एक काच पर सूर्य्य के आतप (धूप) का सम्बन्ध होरहा है। जैसे त्रैलोक्य के अन्य पदार्थों के साथ आतप का सम्बन्ध है, एवमेव इस काच के साथ भी असङ्गरूप से आतप का सम्बन्ध होरहा है। काच, और आतप का यह सम्बन्ध विभूतिसम्बन्ध है, जिसे हम असम्बन्धात्मक सम्बन्ध ही कहेंगे। दर्पण पर सूर्य्यबिम्ब खचित होजाता है। दर्पण पर प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित अवश्य है। परन्तु दर्पण के साथ प्रतिबिम्बित सूर्य्य का हृद्ग्रन्थि-बन्धन नहीं है। अतएव दर्पण को स्थानान्तरित करते ही प्रतिबिम्ब स्वप्रभवसूर्य्य में विलीन होजाता है। दर्पण और प्रतिबिम्बित सूर्य्य का यही पारस्परिक सम्बन्ध 'योगसम्बन्ध' है, जिसे हम 'निवेश' रूप सम्बन्ध कहेंगे। किसी विशेष साधन से संसाधित दर्पण पर सूर्य्य का चित्र खैंचा गया। सूर्य्य प्रतिबिम्बित होगया, दर्पण पर सूर्य्य का चित्र (फोटो) उतर आया। इस चित्रात्मक सूर्य्य के साथ दर्पण का जो सम्बन्ध है, वही 'बन्धन' सम्बन्ध कहलाया है। इसमें चित्रित सूर्य्य अभितः (सर्वात्मना) दर्पण में निविष्ट (प्रविष्ट) होजाता है। अतएव हृद्ग्रन्थिबन्धनात्मक इस सम्बन्ध को हम अवश्य ही 'अभिनिवेश' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार भावना-वासना-संस्कारों का भी कर्म्मात्मा के साथ होने वाला पारस्परिक सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त रहता है। इन तीन सम्बन्धों के अधिष्ठान बनते हैं-तीन आत्मा। अव्ययात्मा असङ्ग है। यही आध्यात्मिक ईश्वर है। यदि कर्म्मात्मा की इच्छा इस असङ्ग अव्ययात्मा में समर्पित है, तो जिस प्रकार अव्ययेश्वर सर्वत्र विभूतिसम्बन्ध से व्याप्त रहता हुआ भी निर्लेप है, एवमेव अव्ययात्मानुगत कर्म्मात्मा भी रहते हुए भी संस्कारों के साथ विभूतिसम्बन्ध से सम्बन्ध करता हुआ निर्लेप बना रहता है। ऐसा कर्म्मात्मना (जीवात्मा) 'कुर्वन्नपि-न लिप्यते' के अनुसार साक्षात् ईश्वर है। दूसरा है-विज्ञानात्मा (बुद्धि), जिसे हमनें सावित्राग्नि के सम्बन्ध से असङ्ग बतलाया है। यदि कर्म्मात्मा इस विज्ञानात्मा को प्रधानरूप से आलम्बन बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होता

है, तो तदुत्पन्न संस्कार प्रतिबिम्बरूप से कर्म्मात्मा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। यही दूसरा योगसम्बन्ध है, जिसे साध्य-बुद्धियोग कहा जासकता है। तदनुगामी पुरुष युञ्जानयोगी कहलाए हैं। तीसरा है-प्रज्ञानात्मा (मन), जिसे हमनें चान्द्रसोम के सम्बन्ध से ससङ्ग बतलाया है। इस मनका स्नेहगुण तत्सम तत्त्व है, जिससे साधारण काच कृष्णवर्णात्मक चित्रग्राहक पटल (प्लेट) रूप में परिणत होजाता है। यदि कर्म्मात्मा इस प्रज्ञानात्मा को प्रधानरूप से आलम्बन बना कर ऐन्द्रियक कर्म्मों में प्रवृत्त होता है, तो तदुत्पन्न संस्कार चित्ररूप से कर्म्मात्मा में सर्वात्मना निविष्ट होजाते हैं, संस्कारों के साथ कर्म्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध होजाता है। यही तीसरा बन्धनसम्बन्ध है, जिसे काम्यकर्म्मयोग कहा जासकता है। तदनुगामी मनुष्य ही कामकामी-विषयपरायण-संसारी कहलाए हैं। इसप्रकार अव्यय, विज्ञान, प्रज्ञान, प्राधान्य से संस्कारों का कर्म्मात्मा के साथ तीन प्रकार से सम्बन्ध सम्भव है। अव्ययमूलक विभूतिसम्बन्ध भी अबन्धन है, विज्ञानमूलक योगसम्बन्ध भी अबन्धन है। सम्बन्धन है प्रज्ञानमूलक बन्धनसम्बन्ध, हृद्ग्रन्थिबन्धन, अन्तर्य्यामसम्बन्ध, जिसे 'अभिनिवेश' कहा गया है। सिद्ध है कि, स्वयं संस्कार अपनी ओर से, अपने स्वरूप से बन्धन के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारों का प्रज्ञानमूलक बन्धनसम्बन्धात्मक अभिनिवेश ही आत्मबन्धन का कारण है, जो अभिनिवेश 'फलासक्ति' नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस प्रकार एक श्वेतवस्त्र जलसम्पर्क से आने वाले रंग से रञ्जित होकर अपनी स्वाभाविक श्वेतता से आवृत होजाता है, दूसरे शब्दों में जल की सहायता से शुक्ल वस्त्र में लगे हुए रङ्ग से जैसे वस्त्र का स्वाभाविक शौक्ल्य तिरोहित होजाता है, एवमेव जलस्थानीय प्रज्ञान मन के स्नेह-गुण (काममयी-आसक्ति) की सहायता से स्वस्वरूप से ज्ञानज्योतिर्म्मय भी आत्मा का स्वाभाविक ज्योतिर्भाव आवृत्त होजाता है। इस एक अभिनिवेश से ही बुद्धि के धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य, ये चारों विद्याभाग आवृत होते हैं, तद्द्वारा कर्म्मात्मा मुकुलित बन जाता है। स्मरण रखिए, संस्कारों का कर्म्मात्मा के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध होजाना हीं अभिनिवेश है। दूसरे शब्दों में 'ग्रन्थिबन्धन' का ही नाम अभिनिवेश है। इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ग्रन्थिबन्धनाभाव में केवल योग, तथा विभूति-सम्बन्ध से रहने वाले संस्कार उसी प्रकार आत्मस्वरूप के आवरक नहीं बन सकते, जैसे कि रहता हुआ भी विश्वप्रपञ्च असङ्ग ईश्वर के स्वाभाविक विकास को आवृत नहीं कर सकता। तात्पर्य्य-संस्कार स्वयं दोष नहीं हैं, आत्मस्वरूपप्रतिबन्धक नहीं है, अपितु संस्कारग्रन्थिबन्धनरूप अभिनिवेश ही आत्मविकास का प्रतिबन्धक है। संस्काराभिनिवेश (संस्कारग्रन्थिबन्धन) आत्मरूप सूर्य्य के विद्यमान प्रकाश को आवृत करने वाला कृष्णमेघ है। संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश विजातीय बनता हुआ 'पर-तन्त्र' है, विजातीय तन्त्र है। इस पर (विजातीय) तन्त्र के पाश में आबद्ध आत्मा अपने स्वतन्त्ररूप विकासक्षेत्र से वञ्चित होता हुआ 'परतन्त्र' बन जाता है। स्वं-तन्त्रानुगत आत्मा जहाँ सुशान्त रहता है, वहाँ परतन्त्रानुगत आत्मा अतिशयरूपेण क्लान्त बन जाता है। शान्तभाव आत्मसुख है, क्लान्तभाव आत्मदुःख है। इसप्रकार स्वतन्त्र, परतन्त्र, भाव ही सुख-दुःख-प्रवृत्ति के मूल बने हुए हैं। स्वातन्त्र्य सुख है, पारतन्त्र्य दुःख है, यही सुख-दुःख का तात्विक लक्षण है, जिसका निम्न लिखित स्मार्त्त वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है—

यद्यत् परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ॥
यद्यद्यात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ॥
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥ २ ॥
—मनुः ४।१५६,१६०, ।

८५-अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन—

बतलाया गया है कि, संस्कार दुःख के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश दुःख का कारण है। कारण यही है कि, उत्थाप्याकांक्षा नाम की आसक्तिमूला जीवकामना (जीवेच्छा) से ससङ्ग प्रज्ञान मन तो प्रबल हो जाता है, एवं असङ्ग विज्ञानात्मा (बुद्धि) निर्बल बन जाता है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियवर्ग शरीररथ के 'अश्व' हैं, प्रज्ञान मन प्रग्रह (लगाम) है, बुद्धि सारथि है। सारथि के प्रमादी बन जाने से लगाम का हाथों से छूट जाना अनिवार्य्य है। लगाम के नियन्त्रण के शिथिल होते ही अश्वों का उत्पथगमन करना अनिवार्य्य है। इसप्रकार कामासक्ति के अनुग्रह से प्रबल बने हुए मन के प्राबल्य से बुद्धि के प्रमादशील बनते हुए इस मनोराज्य में इन्द्रियाश्व स्वतन्त्र (असंयत) बन जाते हैं। विषयानुगति का विवेक जाता रहता है। इसप्रकार असंयत इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता से आने वाले संस्कार मनःप्राबल्य से कर्म्मात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धनरूप में परिणत हो जाते हैं। अतएव आवश्यक है कि, इन्द्रियों का संयम किया जाय, इन्हें प्रकृत्यनुकूल नियताहारविहारपरायण बनाया जाय, तदर्थ मन पर बुद्धि का नियन्त्रण किया जाय, एवं तदर्थ जीवकामना को ईश्वरकामना में अर्पित किया जाय। इस ईश्वरकामात्मक निष्कामभाव से जीवकाम निर्बल हो जायगा, मनःस्वातन्त्र्य हट जायगा। इसी काम-निष्कामभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् मनु ने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ १ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ॥
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ २ ॥
—मनुः २।९३,१००।

८६-विद्या, काम, कर्म्मात्मक शुक्रतत्त्व—

'सर्वान् संसाधयेदर्थान्' यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है। मनु कह रहे हैं कि, इन्द्रिय-मनःसंयमपूर्वक यदि तुम पुरुषार्थसाधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहोगे, तो तुम संस्कारबन्धन में भी आबद्ध न होंगे, साथ ही लोकाभ्युदय से भी वञ्चित न रहोगे। यही तो कामत्याग-कर्म्मसंग्रहात्मक निष्कामकर्म्मयोग का काम्यकर्म्मयोगापेक्षया वैशिष्ट्य है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण समस्या का विश्लेषण और कर लीजिए। ज्ञान-कर्म्म-जनित भावना-वासना-संस्कार तारतम्य से शिथिल दृढ़-बनते रहते हैं। कितनें एक संस्कार उत्पन्न होते ही विलीन हो जाते हैं, कितनें

महीनों, कितनें बरसों रहते हैं। कितनें एक यावज्जीवन रहते हैं, कितनें एक जन्मान्तरपर्य्यन्त अनुधावन करते हैं। अनुधावन क्या करते हैं, ऐसे दृढ़मूल संस्कार ही तो जन्मान्तरप्रवृत्ति के कारण बनते हैं। भावना-वासनात्मक संस्कारों का अत्यन्ताभाव तो जन्म-मृत्यु-चक्र का ही पर्य्यवसान है। ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न होने के कारण भावना-वासना संस्कार भी 'ज्ञान-कर्म्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। सांस्कारिक ज्ञान **'विद्या'** कहलाया है, सांस्कारिक कर्म्म **'अविद्या'** कहलाया है, दोनों की मूलाधारभूता तीसरी कामना है। विद्या (भावना), अविद्या (वासना), काम, तीनों की समष्टि ही 'शुक्र' (जन्मान्तरप्रवृत्ति का उपादानभूत रेत) नाम से व्यवहृत हुई है। जब तक कामबीज सुरक्षित है, तब तक संस्कारात्मक शुक्र सुरक्षित है। जब तक शुक्र सुरक्षित है, तब तक जन्म-मृत्यु-द्वन्द्व दुर्निवार है। अकामभाव ही शुक्रातिवर्त्तन का कारण माना गया है। देखिए!

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः॥

—मुण्डक ३।२।१।

८७—संस्कारात्मक भाग्यतत्त्व—

आत्मा में सञ्चित संस्कार ही 'भाग्य' है, जो कर्म्मजनित होने से 'कर्म्म' ही कहलाया है। अतएव दुःखी मनुष्य के लिए कहा जाता है कि,—'इसके कर्म्म ही ऐसे हैं'। यहाँ कर्म्मव्यवहार संस्कारों के लिए प्रवृत्त हुआ है। इन सांस्कारिक कर्म्मों की सञ्चित, प्रारब्ध, क्षीण, ये तीन अवस्थाएँ मानीं गईं हैं। जिन संस्कारों का भोग आरम्भ नहीं होता, वे 'सञ्चितकर्म्म' हैं। भोगानुगत संस्कार 'प्रारब्ध' कर्म्म हैं। एवं भुक्त संस्कार 'क्षीणकर्म्म' हैं। इनमें निष्कामकर्म्मयोगात्मक धर्म्मबुद्धियोग से सञ्चित कर्म्मों की ही निवृत्ति सम्भव है। प्रारब्धकर्म्मों का क्षय तो भोग पर ही निर्भर है। यही कारण है कि, धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठ निष्कामकर्म्मयोगी भी प्रारब्धकर्म्मवश दुःखी देखे-सुने जाते हैं। प्रारब्धानुगत कायक्लेशों से वे भी अपने आपको नहीं बचा सकते। हाँ भोगानुभव में अवश्य साधारण मानवापेक्षया उनमें विशेषता रहती है। योगप्रभाव से उनमें मात्रा-स्पर्शादि शारीरिक कष्टों की तितिक्षा (सहनशक्ति) उत्पन्न हो जाती है। प्रारब्धक्लेश उनकी स्वाभाविक आत्मशान्ति को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। उधर सामान्य जीव योगाभाव से इन क्लेशों से घबरा-घबरा जाते हैं। इनमें तितिक्षा का सर्वथा अभाव रहता है।

८८—संस्कारबन्धनकारणजिज्ञासा—

संस्कार उत्पन्न तो अवश्य होंगे। परन्तु प्रश्न है—इनके बन्धन का। ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न भावना-वासनासंस्कार दृढमूल क्यों बन जाते हैं ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्नोपस्थिति का कारण यही है कि, हमनें काममय मन को फलासक्तिबन्धनरूप अभिनिवेश का जनक बतलाया है। मन के स्वरूप को देखते हुए यह बात असङ्गत प्रतीत होती है। मन स्नेहगुणक अवश्य है, परन्तु इसमें स्थिरधर्म्म का अभाव है। सौम्य-इन्द्रविद्युत् के कारण, साथ ही विषयात्मक सुख के तृप्तिजनक न होने के कारण मन किसी भी ऐन्द्रियक विषय पर चिरकाल पर्य्यन्त दृढ नहीं रह सकता। यह क्षण क्षण नवीन नवीन विषयकामनाओं का अनुगामी बना रहता है। कभी इधर, कभी उधर, यही इसका चाञ्चल्य है। **'चञ्चलं हि मनः कृष्ण!'** रूप से गीता

ने भी मन के इस अस्थिरधर्म्म का समर्थन किया है। मन के इस स्वाभाविक चाञ्चल्य का इसलिए भी सुरक्षित रहना अनिवार्य है कि, जिस सौम्य चन्द्रमा से यह प्रसूत है, वह चन्द्रमा भी गतिधर्म्मप्रधान ही है। जब मन की अस्थिरता शास्त्र, एवं अनुभव से उभयथा प्रमाणित है, तो इसे ग्रन्थिबन्धनरूप स्थिरधर्म्म का प्रवर्त्तक कैसे माना जा सकता है ?। मनका यह अस्थिरधर्म्म ही हमारे इस पूर्व प्रश्नोत्थान का कारण बन जाता है कि, कामनामय मन जब चञ्चल है, तो तदनुगत संस्कार दृढ़मूल कैसे बन जाते हैं ?।

८९-बुद्धिस्वरूपपरिचय के द्वारा-जिज्ञासासमाधि-

प्रश्न का उत्तर मिलेगा आपको 'बुद्धि' से। बुद्धि सौर सावित्राग्नि से प्रसूता होने के कारण जहाँ असङ्ग है, वहाँ—'मध्ये एकल एव स्थाता'—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' —'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इत्यादि सिद्धान्तानुसार स्थितिलक्षण सूर्य्य से प्रसूत होने के कारण बुद्धि स्थिरधर्म्मप्रयोजिका भी बन रही है। चान्द्र सोमानुगत सङ्गभाव, और चाञ्चल्य, ये जहाँ प्रज्ञानमन के स्वरूपधर्म्म हैं, वहाँ सौर सावित्राग्न्यनुगत असङ्गभाव, और स्थिरता, ये विज्ञानबुद्धि के स्वरूपधर्म्म हैं। यदि मन को बुद्धि का सहयोग मिल जाता है, तो मन अपने सङ्गभाव से, एवं बुद्धि की स्थिरता से संस्कारों को दृढमूल बनाने में समर्थ हो जाता है। बुद्धि का सहयोग कैसा ?, परतन्त्रतामूलक। यदि बुद्धि स्वतन्त्र है, तब तो यह मन के प्रति आत्मसमर्पण नहीं करती, अपितु ठीक इसके विपरीत यह मन को अपना दास बना लेती है। परिणामस्वरूप बुद्धिवशवर्ती मन का सङ्गभाव बुद्धि के असङ्गभाव से आक्रान्त हो जाता है। और उस स्थिति में बुद्धि का स्थिरधर्म्म मानस-संस्कारों में उपयुक्त न हो कर आत्मनिष्ठानुगामी बन जाता है। यदि बुद्धि मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है, तो इसका स्वातन्त्र्य उच्छिन्न हो जाता है। मनोवशवर्तिनी ऐसी बुद्धि का असङ्ग धर्म्म तो प्रबल बने हुए मन के सङ्ग धर्म्म से आक्रान्त हो जाता है, एवं बुद्धि का स्थिर धर्म्म मन के सङ्गभाव से मिश्रित हो कर मनोऽनुगता इन्द्रियों के द्वारा आगत संस्कारों की दृढता में विवश बन कर उपयुक्त हो जाता है। बुद्धि मनोऽपेक्षया सबल रहती है—निष्कामभाव से। मन बुद्ध्यपेक्षया सबल रहता है—कामभाव से। निष्काम-भावात्मिका बुद्धि ईश्वरकामना से युक्त रहती हुई मानस कामना (जीवेच्छा) को भी निष्कामभाव में परिणत कर डालती है। सकामभावात्मक मन जीवकामना से युक्त रहता हुआ बुद्धिकामना (ईश्वरकामना) को भी सकामभाव में परिणत कर डालती है। निष्कामभावात्मिका बुद्धि से युक्त मन परतन्त्र है, अतएव बुद्धियुक्त मन शुभाशुभ उभय संस्कारबन्धन से विमुक्त है-**'बुद्धियुक्तो जहातीह,उभे सुकृत-दुष्कृते'**। सकामभावात्मक मन से युक्ता बुद्धि परतन्त्र है। अतएव मनोयुक्ता ऐसी बुद्धि अपने स्थिरधर्म्म का मन में आत्मसमर्पण करती हुई संस्कारों की दृढता की प्रवर्त्तिका बन जाती है। निष्कर्ष यही हुआ कि-बुद्धिगर्भित काममय मन संस्कार-बन्धनात्मक अभिनिवेश का जनक है, एवं मनोगर्भिता निष्कामबुद्धि संस्कारबन्धनात्मक अभिनिवेश की निवर्त्तिका है।

९०-अपेक्षा-उपेक्षा-बुद्धि का तात्त्विक स्वरूपपरिचय-

मनोगर्भिता बुद्धि दर्शनभाषा में **'उपेक्षाबुद्धि'** कहलाई है। एवं मन के गर्भ में भुक्ता बुद्धि-**'अपेक्षा बुद्धि'** कहलाई है। अपेक्षाबुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बुद्धि है, यही बन्धनप्रवृत्ति का मूल है। उपेक्षाबुद्धि बुद्धिवश-वर्त्ती मन है, यही बन्धननिवृत्ति का मूल है। अपेक्षा-उपेक्षा-शब्दों के तत्त्वों का भी स्पष्टीकरण इसलिए

आवश्यक है कि, जैसा अर्थ व्यवहार में इन शब्दों का समझा जा रहा है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। अपेक्षा का अर्थ किया जाता है -'लगन'-'दत्तावधानता'। उपेक्षा का अर्थ किया जाता है-'टालमटोली'-अनवधानता-(लापरवाही)। तबियत से काम करना अपेक्षा है, लापरवाह बन कर काम करना उपेक्षा है। 'उपेक्षाबुद्धि से युक्त कर्म्मों से उत्पन्न संस्कार दृढ नहीं बनते' इस सिद्धान्त की रक्षा ही सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कर्म्म में उपेक्षा (अनवधानता-लापर्वाही) है, तो कर्म्मस्वरूप ही सम्पन्न नहीं होता। कर्म्म का स्वरूप तभी सुसम्पन्न हो सकता है, जबकि अपेक्षाबुद्धिपूर्वक मनोयोग से उसमें प्रवृत्ति होती है। सकाम कर्म्म हो, अथवा निष्काम कर्म्म। कर्म्म अपनी स्वरूपसिद्धि के लिए प्रत्येक दशा में अपेक्षाबुद्धि के सहयोग की ही अनिवार्य्य अपेक्षा रखता है। तभी तो कर्म्मानन्यता का उदय होता है। 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकार्थ का विवेचन करते समय भी पूर्व में हमनें यही कहा है कि, पूर्ण अवधानता के साथ कर्त्तव्य-कर्म्म में अनन्यभाव से प्रवृत्त हो जाना हीं हमारा आधिकारिक धर्म्म है। क्या उपेक्षा में अनन्यभाव का उदय हो सकता है ?। नहीं, सर्वथा नहीं। पाचक के दृष्टान्तद्वारा वहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में यदि हम भावी फल की भी चर्व्वणा करने लग जाते हैं, तो कर्म्म अधूरा रह जाता है। फिर उपेक्षा रखने से तो कर्म्म की पूर्णता कैसे सम्भव हो सकती है। साथ ही यह भी निश्चित है कि, अपेक्षापूर्वक किया हुआ कर्म्म संस्कार-बन्धन का प्रवर्त्तक बन जाता है। फिर हमनें किस आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित कर डाला कि, "उपेक्षा-बुद्धिसहकृत कर्म्म बन्धन का प्रवर्त्तक नहीं बनता, अतः हमें उपेक्षाबुद्धिपूर्वक ही कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए"।

६१-ईश्वर, एवं जीवानुगत अपेक्षा-उपेक्षा-भावों का तारतम्य—

उक्त विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए ही उपेक्षा-अपेक्षा शब्दों के तत्त्व का परिज्ञान अपेक्षित हो जाता है। अव्ययात्मानुगता बुद्धि ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि है, जीवात्मानुगता बुद्धि जीवधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि है। जीवधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि काम्य-कर्म्मयोग को सफल बनाती है, एवं ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि निष्कामकर्म्म-योग को सफलता प्रदान करती है। काम्य कर्म्मयोगानुष्ठान में ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि उपेक्षाभाव में परिणत रहती है, एवं जीवधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि अपेक्षाभाव में परिणत रहती है। निष्कामकर्म्मयोगानुष्ठान में जीव-धर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि उपेक्षाभाव में परिणत रहती है, एवं ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि अपेक्षाभाव में परिणत रहती है। दोनों कर्म्मों में एक अपेक्षाभावप्रधाना रहती है, एक उपेक्षाभावप्रधाना रहती है। ईश्वरानुगता अपेक्षा जीवानुगता अपेक्षा को उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है, यही उपेक्षाबुद्धिसहकृत निष्कामकर्म्मयोग है। ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है, इसलिए तो कर्म्मस्वरूप सम्पन्न हो जाता है। जीवानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, इसलिए कर्म्मजनित संस्कारों का ग्रन्थिबन्धन नहीं होने पाता। जीवानुगता अपेक्षा ईश्वरानुगता अपेक्षा को उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है। यही अपेक्षाबुद्धिसहकृत काम्य कर्म्मयोग है। जीवानुगता बुद्धि की अपेक्षा है, इसलिए तो कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न हो जाता है, ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, इसलिए ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, ईश्वरानुगता बुद्धिसहकृता जीवानुगता अपेक्षाबुद्धि की उपेक्षा जहाँ निष्काम-कर्म्म का मूल है, वहाँ जीवानुगता अपेक्षाबुद्धिसहकृता ईश्वरानुगता अपेक्षाबुद्धि की उपेक्षा काम्य कर्म्म का मूल है। निष्कामकर्म्म में जीवानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, किन्तु ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। कर्म्मप्रवर्त्तक क्योंकि जीवात्मा है, एतावता ही निष्कामकर्म्मयोग 'उपेक्षाबुद्धिसहकृत' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, जो सर्वथा बन्धननिवर्त्तक माना गया है। काम्मकर्म्म में ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, किन्तु जीवानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। इसीलिए काम्य-कर्म्मयोग 'अपेक्षाबुद्धिसहकृत' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, जो

एकान्ततः बन्धनप्रवर्त्तक है। दोनों स्थलों में एक की उपेक्षा है, तो अन्य की अपेक्षा है। ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि से सहकृत जीवात्मा का कर्म्म जीवबुद्धिदृष्टि से उपेक्षासहकृत-अबन्धनकर्म्म है, यही उपेक्षाबुद्धिसहकृत (जीवोपेक्षा-सहकृत) निष्कामकर्म्मयोग है, जिसका उत्तरदायित्व ईश्वर पर अवलम्बित है। इस कर्म्म का प्रवर्त्तक ईश्वर है, जीव निमित्तमात्र है। ईश्वरोपेक्षाबुद्धिसहकृत जीवात्मा का कर्म्म जीवबुद्धि-दृष्टि से अपेक्षासहकृत सम्बन्धन कर्म्म है, यही अपेक्षाबुद्धिसहकृत (जीवापेक्षासहकृत) काम्य-कर्म्मयोग है, जिसका उत्तरदायित्व जीव पर अवलम्बित है। इस कर्म्म का प्रवर्त्तक जीव है, ईश्वर निमित्तमात्र है।

९२-लौकिक उदाहरणों के माध्यम से अपेक्षा-उपेक्षा-भावों का समन्वय—

उपेक्षा-अपेक्षा के उक्त शास्त्रीय विश्लेषणमात्र से तब तक विषय स्पष्ट नहीं होता, जब तक कि उदाहरणपूर्वक इसका स्पष्टीकरण नहीं कर दिया जाता। आध्यात्मिक कर्म्म के ईश्वर, और जीव, ये दो तन्त्रायी मान लीजिए। ईश्वर जिन कर्म्मों का प्रेरक बनता है, वे कर्म्म यज्ञार्थकर्म्म कहलाए हैं, इन्हें हीं हम स्वाभाविक-स्वधर्म्मात्मिक-प्राकृतिक-सहजकर्म्म कहा करते हैं। नियत समय पर हम प्रकृति की प्रेरणा से भोजन-कर्म्म में प्रवृत्त हुए। प्रकृत्यनुसार भोजन किया। यह कर्म्म ईश्वरीय प्रेरणा से सम्बद्ध माना जायगा। इससे जो संस्कार होगा, उसका कर्म्मात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन न होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए ईश्वरद्वारा नियत दैनिक-नियत आहार-द्रव्यों का हमें दूसरे दिन न तो स्मरण होता, न उनके लिए हम व्यग्र बनते। जीव जिन कर्म्मों का प्रेरक बनता है, वे कर्म्म अयज्ञिय कहलाए हैं, इन्हें हीं हम कृत्रिम-अप्राकृतिक-कर्म्म कहा करते हैं। इनमें जीवकामना का प्राधान्य रहता है। हमनें (जीवात्मा ने) अपनी मानस कामना की प्रेरणा से किसी भी दिन किसी विशेष भोज्यद्रव्य का अनुगमन किया। कामना हुई, आज तो कलाकन्द खाया जाय। कामनानुसार कलाकन्द खाया। यह आहार ईश्वर-कामना के विपरीत, किन्तु जीवकामना के अनुकूल हुआ। अतएव इसके खाने से उत्पन्न संस्कार के साथ कर्म्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन हो गया। प्रमाण यही है कि, दैनिक-नियत-आहार-द्रव्यों में जीवेच्छा की प्रेरणा से समाविष्ट विशेष-आहारद्रव्यों से सम्बन्ध रखने वाला संस्कारबन्धन स्मृतिद्वारा बार बार जीवात्मा को तद्विषयवासना की ओर ले जाया करता है। नियत आहार के लिए मन कभी लालायित नहीं होता। किन्तु अनियत आहार के लिए मन चला करता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। आप अपने मकान में दिन में दसों बार आते जाते हैं। इसीलिए अनेक बार आपको सीढ़ियाँ पार करनीं होतीं हैं। सीढ़ियों पर चढ़ते हैं, उतरते हैं। यह स्वाभाविक गमनागमन ईश्वरकामना से सम्बन्ध रखता है, अतएव इससे सोपानसंख्या-जनित संस्कार का ग्रन्थिबन्धन नहीं होता। सैकड़ों बार गमनागमन करते हुए भी आप यह नहीं बतला सकते कि, आपके मकान में कितनी सीढ़ियाँ हैं ?। क्यों ?, क्या देखकर नहीं चलते ?, क्या चढ़ने-उतरने में उपेक्षा है ?। यदि ऐसा होता, तो आप गिर पड़ते। परन्तु ऐसा होता तो नहीं ?। फिर संख्या का स्मरण क्यों नहीं ?। कारण यही है कि, यह गमनागमन स्वाभाविक है, ईश्वरेच्छासहकृत है। अतएव संस्कारबन्धन नहीं होने पाता।

तीसरा उदाहरण लीजिए। आप घर से निकल कर उद्यान पहुँचते हैं। मार्ग में सैकड़ों स्त्री-पुरुषों, पशु-पक्षियों, विविधाकाराकारित प्रासादों का अवलोकन करते जाते हैं। उद्यान में पहुँच कर वहाँ विभिन्न

लता-गुल्म-वृक्ष-पुष्प-फलादि पर भी आप की दृष्टि जाती ही है । क्या घर लौटने के पीछे आप को उन सब दृश्यों का स्मरण रहता है ? । नहीं, इसलिए कि आपका यह दृष्टिकर्म्म ईश्वरानुगत बनता हुआ स्वाभाविक है । अतएव दृश्यदर्शन से उत्पन्न संस्कारों का ग्रन्थिबन्धन नहीं हो पाता । यदि आप मानसकामना को अग्रणी बना देते हैं, तो अवश्य ही तद्विशिष्ट संस्कार ग्रन्थिप्रवर्त्तक बन जाते हैं । मान लीजिए-किसी पुरुषविशेष, पशु-पक्षिविशेष, किंवा पुष्प-फलविशेष के प्रति आपकी कामना आकर्षित हो जाती है, तो अवश्य ही तज्जनित संस्कार ग्रन्थिप्रवर्त्तक बन जाता है । और उसकी स्मृति उसकी पुनःप्राप्ति-दर्शन-के लिए आपको व्यग्र बनाए रहती है । अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, स्वाभाविक कर्म्मजनित संस्कार ईश्वरानुगत बनते हुए जहाँ अबन्धन हैं, वहाँ कृत्रिम कर्म्मजनित संस्कार जीवानुगत बनते हुए सबन्धन हैं । इस तत्त्व को समझ लेना हीं तो गीता के निष्काम-कर्म्मयोग का तत्त्व समझ लेना है । जीवनयात्रानिर्वाहक आप यच्चयावत् लौकिक कर्म्मों का अनुगमन करते हैं । सब कुछ सुनें-देखें-बोलें, खावें, परन्तु अपनी इच्छा को ईश्वर में अर्पित करदें । कभी कर्म्मजनित संस्कार ग्रन्थिबन्धन के प्रवर्त्तक न बनेंगे, एवं आप ऐसा करते हुए **'न करोति, न लिप्यते'** को चरितार्थ बना देंगे । कामनासिद्धि से क्षोभात्मक सुख होता है, कामविफलता में क्षोभात्मक दुःख होता है । सुख अनुकूलवेदना है, दुःख प्रतिकूलवेदना है । दोनों में हीं अशान्ति है । यदि कामना नहीं है, तो प्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता, अप्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता । उभय स्थितियों में यह स्थिरप्रज्ञ आपूर्य्यमाण शान्त समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ-नित्यशान्त-बना रहता है । अतएव सर्वकाम-परित्याग हो श्रेयःपन्था है, जिसका यों समर्थन हुआ है —

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥१॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् , यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ॥
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥२॥
श्रुत्वा-स्पृष्ट्वा-च दृष्ट्वा च-भुक्त्वा-घ्रात्वा च यो नरः ॥
न हृष्यति, ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥३॥

—मनुः २।९७,९५,९८, ।

९३-भावना-वासना-संस्कारात्मक कर्म्मात्मा, एवं बन्धनविमोचक आर्षविद्यानुगत—धर्म्मबुद्धियोग—

भावना-वासना-संस्कार दृढमूल क्यों बन जाते हैं ?, इस प्रश्न का प्रासङ्गिक विश्लेषण किया गया । और यह स्पष्ट किया गया कि, अपेक्षाबुद्धि से संस्कार दृढमूल बनते हैं, एवं उपेक्षाबुद्धि से संस्कारबन्धन नहीं होता । अब दो शब्दों में अपेक्षाबुद्धिसहकृत संस्कारों के तारतम्य का भी समन्वय कर लीजिए । अपेक्षा-बुद्धि के तारतम्य से ही संस्कारबन्धन में तारतम्य व्यवस्थित रहता है । सामान्य अपेक्षा से बन्धन सामान्य रहता है, विशेष अपेक्षा से विशेष । सामान्य-विशेष अपेक्षाओं से उत्पन्न सामान्य-विशेष संस्कार अपेक्षा के पौर्वापर्य्यक्रम से प्रज्ञानधरातल पर सञ्चित रहते हैं । विशेष अपेक्षाजनित संस्कार पौर्वापर्य्य का कभी कभी अतिक्रमण भी कर जाते हैं, जैसाकि उदाहरण से स्पष्ट है । आपसे एक व्यक्ति किसी विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करता है । विषय (संस्कार) सामान्य अपेक्षाजनित है, अतएव वह विशेष अपेक्षाजनित विशेष संस्कार के

नीचे दबा हुआ है । अतएव प्रश्न के साथ ही उसका उद्‌गम नहीं होने पाता । आप उत्तर देते हैं—'ठहरिए ! थोड़ा सोचलूँ,' । इस उत्तर के साथ ही आप उसी प्रकार सोचने लगते हैं, जैसे एक व्यक्ति अन्धेरे में रक्खी हुई वस्तु को टटोलने लगता है । बुद्धि का व्यापार आरम्भ होता है । कालान्तर में आप उस दबे हुए संस्कार को ढूँढ निकालते हैं, और प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर देते हैं । ढूँढने वाली बुद्धि है, ढूँढा जाने वाला तत्त्व संस्कार-पुञ्ज है, एवं संस्कारपुञ्जाधार प्रज्ञानधरातल है । क्योंकि प्रज्ञानधरातल पर उच्चावचरूप से अनन्त संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव सामान्य शक्तिशाली विज्ञानात्मा तत्क्षण उसे नहीं पा सकता । अपितु उसे प्रयास करना पड़ता है, और प्रयास की सफलता पर उसके मुख से उसी प्रकार 'लीजिए, सुनिए, याद आगया' ये शब्द निकल पड़ते हैं, जैसे कि अंधेरे में खोजने वाले के मुख से वस्तु मिलने पर 'मिल गई–मिल गई' यह वाक्य निकल पड़ता है । हम ढूँढते हैं, ढूँढने से वस्तु मिल जाती है । अतएव मानना पड़ता है कि, प्रज्ञान से सम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा पर अवश्य ही संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका मूलजनक अपेक्षाभाव ही बना रहता है । कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि, बहुप्रयास करने पर भी स्मरण नहीं होता । इसके दो कारण हैं । यदि अपेक्षा-बुद्धि सामान्य है, निर्बल है, तो तदुत्पन्न संस्कार थोड़े समय पीछे ही विलीन (नष्ट) हो जाते हैं । इन नष्ट संस्कारों की स्मृति असम्भव है, क्योंकि स्मृति संस्कारमूला है । दूसरा कारण न याद आने का है–संस्कार का पौर्वापर्य्य । पूर्वकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न संस्कार उत्तरकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के नीचे दब जाते हैं । अतएव सामान्य बुद्धि उन पूर्व संस्कारों के अन्वेषण में असमर्थ हो जाती है । इस संस्कारतत्त्व–मीमांसा से निष्कर्ष हमें यही निकालना है कि, ज्ञान–कर्म्ममय कर्म्मात्मा के ज्ञानोक्थ से संयुक्त काममय मन के प्रज्ञोक्थ से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धिसहकार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे–**'भावना'** नाम से व्यवहृत हुए हैं । एवं कर्म्मोक्थ से संयुक्त काममय मन के प्राणोक्थ से कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धि–सहकार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे—**'वासना'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । कर्म्मात्मा में ये दो प्रकार के संस्कार ही प्रतिष्ठित रहते हैं । दूसरे शब्दों में इस संस्कारद्वयी का नाम ही 'कर्म्मात्मा' है । संस्कारी कर्म्मात्मा ही जन्म–मृत्यु की शृङ्खला में आबद्ध रहता है, जिससे उन्मुक्त करने के लिए गीताशास्त्र का निष्कामकर्म्मयोग प्रवृत्त हुआ है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–असङ्ग ऋषिप्राणात्मिका **'आर्षविद्या'**, एवं जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है—**'धर्म्मबुद्धियोग'** ।

९४–स्वधर्म्म-परधर्म्मानुगत आत्म-अनात्म-भाव—

दूसरी दृष्टि से संस्कारों के महत्त्व का समन्वय कीजिए । धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ये चारों विद्या–बुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं । ऐसी विद्याबुद्धि अव्ययात्मा के विद्याभाग से युक्त रहती हुई आत्मबुद्धि है । ऐसी आत्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा (जीवात्मा) वस्तुगत्या 'आत्मा' है । अधर्म्म (अभिनिवेश), अज्ञान (अविद्या), रागद्वेष (आसक्ति), अनैश्वर्य्य (अस्मिता), ये चारों विपर्य्यय अविद्याबुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं । ऐसी अविद्याबुद्धि अव्ययात्मा के अविद्याभाग से युक्त रहती हुई अनात्मबुद्धि है । ऐसी अनात्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा वस्तुगत्या अनात्मा है, आत्मस्वरूप से वञ्चित है । इसी पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, धर्म्मादि चारों विद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मात्मा के स्वरूपधर्म्म हैं, एवं अधर्म्मादि चारों अविद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मात्मा के अधर्म्म हैं । जब तक स्वरूपधर्म्म सुरक्षित है, तभी तक धर्म्मी कर्म्मात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित है । जिस दिन यह स्वरूपधर्म्म आवृत हो जाता है, उस दिन आत्मा का स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है ।

९५–अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट निर्गुण अव्ययपुरुष—

'प्रकृति' तत्त्व ही प्रतीक-धर्म्म है, जैसाकि 'धर्म्मस्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मा पुरुष है। पुरुष प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। जिस दिन प्रकृति न रहेगी, उस दिन पुरुष भी न रहेगा। इसी आधार पर—**'प्रकृतिं-पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रकृतितत्त्व **अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग,** भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अक्षर, एवं आत्मक्षर की समष्टि अन्तरङ्गप्रकृति है, इसका पुरुषस्वरूप में अन्तर्भाव है। अतएव अव्ययपुरुषवत् अक्षर-आत्मक्षर-नामक अन्तरङ्गप्रकृति को भी भगवान् ने—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** इत्यादिरूप से 'पुरुष' नाम से व्यवहृत कर दिया है। अन्तरङ्गप्रकृति ही अव्ययपुरुष का स्व-भाव है, इसी के आधार पर पुरुष सृष्ट्यनुगत बनता है। अव्ययात्मा का विश्वेश्वरत्त्व इसी अन्तरङ्गप्रकृति पर अवलम्बित है। अतएव इसे हम अव्ययेश्वर का 'स्वधर्म्म' कह सकते हैं। अन्तरङ्गप्रकृति का आत्मक्षरभाग यद्यपि त्रिगुणभावापन्न है, और इस दृष्टि से त्रैगुण्य भी यद्यपि ईश्वरधर्म्म बन रहा है। तथापि अव्ययात्मा के विद्या-कर्म्म-पर्वों की समता के कारण इसकी आसक्ति का प्रभाव उस पर नहीं होने पाता। अतएव वह गुणमय विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी 'निर्गुण' ही कहलाया है, जैसाकि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥

गीता १३।३१।

९६–अमृत-मृत्यु-भावापन्न ज्ञानकर्म्मात्मक अव्ययपुरुष—

'आत्मप्रकृति' लक्षणा अन्तरङ्ग-प्रकृति क्योंकि कभी नहीं बदलती, अतएव इसे 'नित्याप्रकृति' कहा जा सकता है। विद्वान्, और मूर्ख, दोनों में यह समानरूप से प्रतिष्ठित रहती है, जिस समानता का तात्पर्य्य यही है कि, ज्ञान-कर्म्म-जनित भावना-वासना-संस्कारों से न इसका ह्रास होता, न वृद्धि होती। अपितु-**'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्'** के अनुसार वह सदा समवस्थिता समानरूपा ही बनी रहती है। जिस दिन स्वधर्म्मलक्षणा यह अन्तरङ्गप्रकृति उत्क्रान्त हो जाती है, उस दिन अव्ययपुरुष मायाबन्धन से विमुक्त हो अखण्ड परात्पर-परमेश्वर में विलीन हो जाता है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-चतुष्टयी आत्मा के स्वधर्म्म हैं, इससे इस भ्रान्ति में नहीं पड़ जाना चाहिए कि-अविद्यासहकृत कर्म्म आत्मा का स्वधर्म्म नहीं हैं। यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है कि, आनन्द-विज्ञान-मनोमय विद्याभाग, एवं मनः-प्राणवाङ्मय अविद्याभाग (कर्म्मभाग), दोनों आत्मस्वरूप में अन्तर्भूत हैं। जैसे विद्या (ज्ञान) आत्मा का स्वरूपधर्म्मलक्षण स्वधर्म्म है, तथैव अविद्या (कर्म्म) भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म ही माना गया है। ज्ञान-कर्म्म दोनों के समन्वितरूप का ही नाम प्रजापति है। इसका अर्द्ध ज्ञानभाग सल्लक्षण अमृत है, अर्द्ध कर्म्मभाग असल्लक्षण मृत्यु है। इसप्रकार-**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !'** के अनुसार अमृत-विद्याभागवत् मर्त्य अविद्याभाग (कर्म्म) भी आत्मस्वरूपप्रतिष्ठा बनता हुआ स्वधर्म्मकोटि में ही निविष्ट है।

विद्या (ज्ञान) वत् अविद्या (कर्म्म) भी आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। अतएव प्रयास करने पर भी कर्म्म का परित्याग नहीं किया जा सकता। अतएव जो वेदान्ती (कर्म्मत्यागानुयायी ज्ञानयोगी, विशुद्ध सांख्य-निष्ठ) ज्ञानयोग को कर्म्मत्यागात्मक मानते आ रहे हैं, यह उनकी ऐकान्तिक भ्रान्ति ही है। कर्म्म तो विद्यावत् आत्मा का स्वरूप है, स्वधर्म्म है। जिस दिन यह निःशेष हो जायगा, उस दिन तो आत्मस्वरूप ही विलीन हो जायगा। अतएव सर्वकर्म्मत्यागलक्षण, अतएव असम्भव इस कल्पित सांख्यनिष्ठात्मक संन्यासयोग (ज्ञानयोग) का आमूलचूड़ खण्डन करते हुए भगवान् ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—गीता ३।५।

९७–कामत्यागात्मिका कर्म्मसंग्रहात्मिका संन्यासनिष्ठा, और अव्ययपुरुष—

जब कर्म्म का परित्याग नहीं, तो त्यागात्मक संन्यास की क्या परिभाषा ?, 'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः' का क्या तात्पर्य्य ?, प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

—गीता १८।२।

विद्यात्मक स्वरूपधर्म्म, एवं अविद्यात्मक (कर्म्मात्मक) स्वरूपधर्म्म स्वयं स्वस्वरूप से आत्मधर्म्म बनते हुए अबन्धन हैं। दोनों का समत्त्व ही दोनों के स्वधर्म्मत्त्व का स्वरूपसंरक्षक है। दोनों में से जो भी विषम बन जाता है, वही अधर्म्मरूप में परिणत होता हुआ सबन्धन बन जाता है। केवल विद्या भी प्रतिबन्धिका है, केवल अविद्या भी प्रतिबन्धिका है। दोनों की विषमता का मूलकारण है–कामनामयी रति, फलासक्तिरूप अभिनिवेश, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। 'विद्यायां रताः' * से स्वयं उपनिषत् ने भी रति को ही विद्या का भी बन्धनप्रवर्त्तकत्त्व स्वीकार किया है। कामना से दोनों का समत्त्व उच्छिन्न हो जाता है। यह कामनामयी विषमता ही बन्धन का मूल है। इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी, स योगी च, न निरग्निर्नचाक्रियः॥

—गीता ६।१।

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

—ईशोपनिषत

९८-विद्या-अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष—

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मा (आत्मा का विद्याभाग) अक्षर के सहयोग से पुष्पित-पल्लवित होता है, एवं मनःप्राणवाङ्मय अविद्याभाग (आत्मा का कर्म्मभाग) आत्मक्षर के सहयोग से विकसित होता है। अतएव विद्यात्मानुगता अक्षरप्रकृति को हम 'विद्याप्रकृति' कह सकते हैं, एवं अविद्यानुगता आत्मक्षरप्रकृति को 'अविद्याप्रकृति' कहा जा सकता है, जैसा कि-'क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं (अक्षरं) तु विद्या' (श्वे०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है। विद्याप्रकृति (अक्षर), अविद्याप्रकृति (आत्मक्षर), दोनों का समत्त्व ही आत्मविद्या (आत्मज्ञान), आत्माऽविद्या (आत्मकर्म्म), ही आत्मसमता की प्रतिष्ठा है। विद्या-अविद्यात्मिका अक्षर-क्षर-प्रकृति का यह समरूप ही विद्या-अविद्यात्मक आत्मा की अन्तरङ्गप्रकृति है, स्वरूप है, स्वधर्म्म है। अन्तरङ्गप्रकृति की स्वाभाविक समता क्यों विषमता में परिणत हो जाती है ?, इस प्रश्न का उत्तर है-'बहिरङ्गप्रकृति'।

९९-गुणात्मिकाबहिरङ्गभावापन्ना 'वेदप्रकृति', एवं तन्मूलक धर्म्मबुद्धियोग—

आत्मक्षर की अपेक्षा अक्षरतत्त्व अव्यक्त है, अव्यक्त अक्षर की अपेक्षा आत्मक्षर व्यक्त है, एवं बहिरङ्गप्रकृतिरूप विकारक्षर (अपञ्चीकृत गुणभूत) की अपेक्षा व्यक्त आत्मक्षर अव्यक्त है। तात्पर्य्य-विश्व की उपादानभूता विकारक्षरप्रकृति की अपेक्षा अक्षरवत्-आत्मक्षर भी अव्यक्त ही बन रहा है। इसके अतिरिक्त व्यक्त विश्व की अपेक्षा से (आत्मक्षरापेक्षया व्यक्त बनी हुई भी) बहिरङ्गप्रकृति (विकारक्षर) अव्यक्त बन रही है। विश्वापेक्षया 'अव्यक्त' नाम से व्यवहृत की जाने वाली बहिरङ्गप्रकृति ही वैकारिक विश्व का मूल बनती है। इस बहिरङ्गप्रकृति के-'**प्राणः-आपः-वाक्-अन्नं-अन्नादः**' ये पाँच विवर्त्त हो जातें हैं, जिनके क्रमिक विकास का 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। प्राणतत्त्व इन पाँचों का मूल है, यही ऋषितत्त्व है, जिसे हमनें पूर्व में आर्षमानवधर्म्म का मूलप्रवर्त्तक बतलाया है। बहिरङ्ग-प्रकृतिलक्षण इस ऋषिप्राणतत्त्व से ही पितर-देव-असुर-गन्धर्व-पश्वादि प्राणों के द्वारा वैकारिक विश्व, तथा, विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित प्रजा, एवं प्रजानुगत वर्ण-अवर्ण-धर्म्मों का विकास हुआ है। प्राणतत्त्व वाक् से अविनाभूत है। प्राण-वाक् की समष्टि ही यजुर्वेद है, जो ऋक्सामात्मक वयोनाधों से अविनाभूत है। अतएव इस बहिरङ्गप्रकृति को '**वेदप्रकृति**' कहा जा सकता है, जिसके सम्बन्ध में भगवान् मनु ने-'**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**'-'**वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ**'-'**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्म्ममे**' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित किए हैं। आत्मक्षरानुगत, अविद्यात्मक त्रिगुणभाव का विकास इसी बहिरङ्गप्रकृति में आकर हुआ है। इससे पहिले की सृष्टि मानसीसृष्टि है, भावसृष्टि है, गुणातीता समसृष्टि है, आत्मसृष्टि है। अतएव-'**तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति**' इत्याद्यनुसार वहाँ विभिन्नगुणमूलक ब्रह्म-क्षत्र-विड्-शूद्र-भावों का अभाव है। बहिरङ्ग-प्रकृतिमूला सृष्टि वैकारिकीसृष्टि है, कर्म्मसृष्टि है, गुणमयी विषमसृष्टि है, विश्वसृष्टि है। आत्मसृष्टि ही विश्वसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है। विश्वसृष्टि विभिन्नगुणमूला होने से विभिन्नधर्म्मात्मिका है। आत्मसृष्टि गुणातीता बनती हुई अभिन्नधर्म्मात्मिका है। अभिन्नदर्शन आत्मधर्म्म है, विभिन्न वर्त्तन विश्व-धर्म्म है। आत्मधर्म्माधारेण प्रतिष्ठित विश्वधर्म्म जहाँ आत्मसमता के कारण शान्तिप्रद है, वहाँ आत्मधर्म्म से वञ्चित विश्वधर्म्म आत्मविषमता के कारण बनते हुए अशान्ति के प्रवर्त्तक मानें गए हैं। **आत्मदृष्टिमूलक**

समदर्शन से युक्त विश्वदृष्टिमूलक विषमवर्त्तन हीं गीता का निष्कामकर्म्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है, जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विश्वदृष्टि के आधार पर विश्वधर्म्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विश्वगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए जहाँ समता के प्रवर्त्तक बनते हैं, वहाँ विषमदर्शन में वे ही विश्वगुण आत्मगुण (आत्मधर्म्म) के आवरक बनते हुए विषमता के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। गुणपरित्याग विषमतानिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली अध्यात्मसंस्था के लिए गुणपरित्याग एकान्ततः असम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधर्म्म का पालन करते हुए ही निर्गुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है-गुणात्मक कर्म्मों को निष्कामभाव से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वधर्म्मों के यथावदनुपालन से लोकसंग्रहमूलक व्यवहार की भी रक्षा हो जायगी, एवं गुणातीत आत्मधर्म्म भी सुरक्षित बना रह जायगा। यही तो निष्कामकर्म्म का अभूतपूर्व-अश्रुतपूर्व कौशल है, जो 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००-बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणभावों की भी मीमांसा कर लीजिए। सात्त्विकी, राजसी, तामसी, भेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विवर्त्तभावों में परिणित रहती है। सात्त्विकी प्रकृति **'दैवीसम्पत्'** है, तामसी प्रकृति **'आसुरीसम्पत्'** है, एवं राजसी प्रकृति **'मानवीसम्पत्'** है। योगमायात्मिका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमनें भौतिक विश्वापेक्षया 'अव्यक्त' कहा है, और साथ ही इस अव्यक्त को यजुर्लक्षण ऋषि-प्राणात्मक बतलाया है। यह अव्यक्त प्राणतत्त्व ही अपने प्राणात्मक अव्यक्तरूप को सुरक्षित (अक्षुण्ण) रखता हुआ यजु के मर्त्य वाक् भाग को स्वव्यापार (तप) से व्यक्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** न्याय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्भीभाव से प्राणप्रधान अव्यक्त स्वयम्भू, एवं वाक् से उत्पन्न आपोमय व्यक्त पारमेष्ठी, दोनों के समन्वित रूप को ही त्रिगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी 'महान्' है, प्राणमय स्वयम्भू 'अव्यक्त' है। अव्यक्त अव्यक्त है, महान् व्यक्त है। सांख्यशास्त्र की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है, अव्यक्तप्रवृति स्वयम्भू अव्यक्त है। **'व्यक्ताव्यक्तात् सनातनः'** के अनुसार अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ 'सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वयम्भू, और व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि को आप इसलिए 'महान्' कह सकते हैं कि, सनातन पुरुषविशिष्ट अव्यक्त स्वयम्भू तत्सृष्ट्वान्याय से महद्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अभी केवल विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति है। त्रिगुणभावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'वाक्-अन्न-अन्नाद' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूपिण्ड गायत्राग्निप्रधान बनता हुआ अन्नादप्रकृतिक है, अग्नि ही अन्नाद है। चन्द्रमा सोमप्रधान बनता हुआ अन्नप्रकृतिक है, सोम ही **'एष वै सोमो राजा, देवानामन्नं-यच्चन्द्रमाः'** के अनुसार अन्न है। सूर्य्य सावित्राग्निगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वाक्प्रकृतिक है, **'वागिन्द्र'** के अनुसार सावित्राग्निगर्भित इन्द्र ही वाक् है। इसप्रकार वागिन्द्रात्मक **सूर्य्य**, अन्नसोमात्मक **चन्द्रमा**, एवं अन्नादाग्न्यात्मक भूपिण्ड, तीनों उत्तर सर्गों में क्रमशः वाक्-अन्न-अन्नाद, ये तीन प्रकृतिभाव प्रतिष्ठित हैं। पारमेष्ठ्य 'आपः' प्रकृतिभाव, स्वायम्भुव 'प्राण' प्रकृतिभाव, दोनों के मिलाने से स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँच विश्वपर्वों के क्रमशः प्राणः-आपः-वाक्-अन्नं-अन्नादः, ये पाँच प्रकृतिभाव होजाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

है। पाँचों के २-३ क्रम से दो विभाग हैं। ब्रह्मानुगत स्वायम्भुव अव्यक्त, तद्गर्भित विष्णवनुगत पारमेष्ठ्य व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम विशुद्ध सत्त्वात्मक 'महान्' कहते हैं।

१०१-बहिरङ्गप्रकृति, और आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-त्रयी—

इन्द्रानुगत सौर वाक्तत्त्व, सोमानुगत चान्द्र अन्नतत्त्व, अग्न्यनुगत पार्थिव अन्नादतत्त्व, इन तीनों उत्तर प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से विशुद्ध सत्त्वलक्षण अव्यक्तगर्भित महान् षड्गुणक बन जाता है। सौरतत्त्व के समावेश से महान् में **'अहङ्कृति'** का, चान्द्रतत्त्वसमावेश से महान् में **'प्रकृति'** का, एवं पार्थिवतत्त्वसमावेश से महान् में **'आकृति'** का समावेश होजाता है। आकृतिभावप्रवर्त्तिका पृथिवी, तथा प्रकृतिभावप्रवर्त्तक चन्द्रमा, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिभावप्रवर्त्तक सूर्य्य के परमेष्ठ्यनुगत दर्शपूर्णमासकर्म्म से अव्यक्तगर्भित महान् में सत्त्व-रज-तम, इन तीन गुणों का प्रादुर्भाव होजाता है। सूर्य्य का परमेष्ठी महान् के चारों ओर परिक्रमा लगाना हीं सौरदर्श-पूर्णमास है। सौर अहङ्कृतिभावानुगत सौर प्रकाश से युक्त वही महान् 'सात्त्विकी' प्रकृति है। **'चित्रं देवाना-मुदगात्'** के अनुसार सौर तत्त्व देवात्मक देवता है। सत्त्वानुगत महान् का इसी देवतत्त्व से सम्बन्ध है। अतएव सात्त्विकी प्रकृति को अवश्य ही **'दैवीसम्पत्'** कहा जासकता है। सूर्य्यगर्भित चन्द्रमा के प्रकृतिभाव से वही महान् 'राजसी' प्रकृति है। **'चन्द्रमसाद्रेतो ऋतव आभृतम्'** इत्यादि कौषितकि-सिद्धान्तानुसार चान्द्रसोम-तत्त्व मानवसर्ग का उपादान है। रजोऽनुगत महान् का इसी मानवसर्ग से सम्बन्ध है। अतएव राजसीप्रकृति को अवश्य ही **'मानवीसम्पत्'** कह सकते हैं। सूर्य्यगर्भिता पृथिवी के आकृतिभाव से वही महान् 'तामसी' प्रकृति है। **'एतेन (शरीरेण) ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते'** (छां० उप०) के अनुसार पार्थिव-सूर्य्यविरुद्ध तमःप्रधान-आकृतिभावप्रवर्त्तक **'सहरक्षा'** नामक अग्नि हीं आसुरीसृष्टि का जनक माना गया है। अतएव तत्-सम्बद्धा तामसीप्रकृति को अवश्य ही **'आसुरीसम्पत्'** कहा जासकता है। और अहङ्कृतिभावानुगत ज्योतिर्म्मय अर्द्ध महान् 'सत्त्व' है। सूर्य्यगर्भित पार्थिव आकृतिभावानुगत सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत तमोमय अर्द्ध महान् 'तम' है। एवं सूर्य्यगर्भित चान्द्र-प्रकृतिभावानुगत सान्ध्य (अतएव सत्त्व-तमोमय-ज्योतिस्तमोमय) भाग 'रज' है।

१०२-वाक्-अन्न-अन्नाद-मयी षड्गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति—

यों देखिए कि-चन्द्रमा का जो भाग सूर्य्यानुगत रहता हुआ प्रकाशित रहता है, वह सत्त्वात्मक चन्द्रमा है। सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत अप्रकाशित अर्द्ध चन्द्रमा रजोलक्षण है। एवं सान्ध्यभाग रजोलक्षण है। ठीक इसी प्रकार सूर्य्यसम्बन्ध-तारतम्य से महान् में ही सूर्य्यानुगत अर्द्ध महान्, सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत अर्द्ध महान्, एवं सान्ध्य महान्, भेद से सत्त्व (प्रकाश), तम (अन्धकार), रज (उभयभाव), ये तीन अवस्थाभेद होजाते हैं। सत्त्व, और अहङ्कृति का एक युग्म है, यह सात्त्विकी देवसृष्टि का मूलाधार है। रज और प्रकृति, दोनों का एक युग्म है, यह राजसी मानवसृष्टि का मूलाधार है। तम, और आकृति, दोनों का एक युग्म है, एवं यह तामसीसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है-**"तेभ्यः-असुरेभ्यः-तमश्च मायां च प्रददौ (प्रजापतिः)"**-(शत०२।४।-२।५।)। यों भी समन्वय किया जासकता है कि-सत्त्व-अहङ्कृति की समष्टिरूप सौरतत्त्व बुद्धितत्त्व है, तत्प्रधान मनुष्य देवता हैं। रजः-प्रकृतिसमष्टिरूप चान्द्रतत्त्व प्रज्ञानमन है, तत्प्रधान मनुष्य मनुष्य हैं। तमः-आकृति-समष्टिरूप पार्थिवतत्त्व शरीर है, तत्प्रधान मनुष्य असुर हैं। असुरप्रकृतिक मनुष्य शरीरसुख को प्रधान मानता है। मानवप्रकृतिक मनुष्य मनःशान्ति को सुख मानता है। एवं देवप्रकृतिक मनुष्य बुद्धिविकास को

ही अपना पुरुषार्थ समझता है। तात्पर्य्य प्रकृत में यही है कि–अव्यक्तगर्भिता विशुद्धसत्वलक्षणा 'महान्' नामकी बहिरङ्गप्रकृति सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिव्यनुगत-वाक्–अन्न-अन्नाद, इन तीन बहिरङ्गप्रकृतियों से षड्गुणात्मिका बन जाती है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

अव्ययः——पुरुषः } –पुरुषः

अक्षरः——पराप्रकृतिः
आत्मक्षरः–अपराप्रकृतिः } –अन्तरङ्गप्रकृतिः

} —सनातनःपुरुषः

१–प्राणः (तत्प्रकृतिकः स्वयम्भूरव्यक्तः)
२–आपः (तत्प्रकृतिकः परमेष्ठी महान्) } –महान

३–वाक् (तत्प्रकृतिकः सूर्य्यो बुद्धिः)
४–अन्नम् (तत्प्रकृतिश्चन्द्रो मनः)
५–अन्नादः (तत्प्रकृतिको भूपिण्डः शरीरम्) } –अहङ्कारः

} –व्यक्ताव्यक्तप्रकृतिः (बहिरङ्गप्रकृति.)

१–सूर्य्यः, तदनुगतः-अहङ्कृतिभावः-तदनुगतो महान्–'सात्त्विकीप्रकृतिः'

२–चन्द्रमाः, तदनुगतः–प्रकृतिभावः—तदनुगतो महान्–'राजसीप्रकृतिः'

३–पृथिवी, तदनुगतः–आकृतिभावः-तदनुगतो महान्–'तामसीप्रकृतिः'

१–सूर्य्यः—सत्त्वम्,	अहङ्कृतिः—सत्त्वमूर्त्तिर्महान्—सैषा दैवीसम्पत्	—षडगुणको 'महान्'
२–चन्द्रमाः—रजः,	प्रकृतिः——रजोमूर्त्तिर्महान्—सैषा मानवीसम्पत्	
३–पृथिवी——तमः,	आकृतिः—तमोमर्त्तिर्महान्—सैषा आसुरीसम्पत्	
३	३	

१०३–मानवसर्गानुगता गुणासक्ति–

उक्त मीमांसा से इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि, ईश्वर में गुणासक्ति क्यों नहीं होती ?, जबकि वह भी जीववत् गुणात्मक विश्व में नित्य प्रविष्ट है । जीव ही गुणबन्धन से क्यों आबद्ध हो जाता है ?, जबकि वह ईश्वर का ही अंश है । जीवसृष्टि का मूलाधार सूर्य्य माना गया है, जैसाकि–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है । सूर्य्य ही अपने दर्शपूर्णमासात्मक परिभ्रमण से स्व (सूर्य्य)–चन्द्रमा–पृथिवी के द्वारा महान् को सत्त्व-रज-स्तमो-भावों से, तथा अहङ्कृति-प्रकृति–आकृति-भावों से महान् को षड्गुणक बनाता है । अतएव सौर जीवसर्ग में हीं सूर्यानुगत गुणषट्क का प्राधान्य रहता है । विशेषतः मानवसर्ग की प्रतिष्ठात्मक चन्द्रमा स्नेहगुणक है । अतएव इसी सर्ग में गुणासक्ति का उदय होता है ।

१०४–गुणत्रयी का व्युदूहन–

उक्त तीनों गुणों का परस्पर व्युदूहन होता है । इस व्युदूहन से प्राणिमात्र में गौण–प्रधानरूप से तीनों का समावेश हो जाता है । प्रत्येक प्राणी में मात्रातारतम्य से यद्यपि तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं, तथापि–'तद्वादन्याय' से वह प्राणी तद्गुण नाम से ही व्यवहृत किया जाता है, जिस प्राणी में यद्गुण का प्रधानरूप से विकास रहता है । महानात्मानुगत इसी गुणत्रयविज्ञान को लक्ष्य बना कर भगवान् मनु ने कहा है—

१—सत्त्वं, रज, स्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् 'महान्' सर्वानशेषतः ॥
२—यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥
—मनुः १२।२४,२५, ।

१०५–सत्त्व–रज–स्तमः–प्रकृतिभेदभिन्ना मानवत्रयी–

दो शब्दों में मानव–प्रकृतियों का स्वरूपपरिचय भी प्राप्त कर लीजिए, जो कि 'आर्षविद्या' का मुख्य प्रतिपाद्य बिषय माना गया है । सबको समानदृष्टि से देखना, विभक्त सांसारिक पदार्थों में उस एक अविभक्त अव्ययतत्त्व पर दृष्टि रखना, एवंविध ज्ञान 'सात्त्विक' है * । विभिन्नदृष्टिमूलक, पृथग्भावनामय विभिन्न ज्ञान 'राजस' है ÷ । एवं तत्त्वशून्य, ज्ञानाभासलक्षण, भूतसम्पत्ति को ही प्रधान लक्ष्य बनाने वाला, भूतासक्ति-

---

*–सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
—गीता १८।२०।

÷–पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
—गीता १८।२१।

मय ज्ञान 'तामस' है ÷। रागद्वेषशून्य, आसक्तिरहित, फलकामनावियुक्त, प्रकृतिसिद्ध, नियतकर्म्म (निष्काम-कर्म्मयोगलक्षण धर्म्मबुद्धियोग) 'सात्त्विक' है A.। बहुपरिश्रमसाध्य, अतएव क्लान्तिजनक, उत्थाप्याकांक्षा-मूलक, 'अहङ्करोमि' भावात्मक कर्म्म (काम्यकर्म्मयोगलक्षण वेदोक्त कर्म्मकाण्ड), 'राजस' है B.। "हमारे स्वार्थसाधक अमुककर्म्म से समाज का कैसा अपकार होगा, स्वयं हमारी क्या दशा हो जायगी, हमें अपने अमुक-कर्म्म में अपने पुण्यसंस्कारों की, आध्यात्मिक बल की, शान्ति की किस प्रकार बलि चढ़ानी पड़ेगी, हमारे कर्म्म से कितनें निरपराधों का सर्वनाश हो जायगा, इत्यादि अनुबन्ध, क्षय, हिंसादिपरिणामों की उपेक्षा कर अपने आपको–हम सब कुछ कर सकते हैं, करेंगे," रूप से अपने आपको सर्वशक्तिशाली मानने का दम्भ करते हुए मोहपूर्वक जो कर्म्म किया जाता है, वही 'तामस' है C.। फलासक्ति से वियुक्त, अपने आपको 'अहङ्करोमि' इस अहंभाव से पृथक् रखने वाला, हानि–लाभ, दोनों में धैर्य्य रखने वाला, साहसयुक्त, फलप्राप्ति–अप्राप्ति, दोनों स्थितियों में शान्त बना रहने वाला कर्म्मकर्त्ता सात्त्विक है D.। फलासक्त, फलप्राप्ति के लिए सतत लालायित, परपीड़ाप्रवर्त्तक, शौचाचार–पराङ्मुख, थोड़ीसी सफलता पर हा–हा रूप से अट्टाट्टहास करने वाला, थोड़ी भी निष्फलता से 'हाय–हाय' करने वाला कर्म्म-कर्त्ता 'राजस' E. है। अस्तव्यस्तरूप से, अनियमितरूप से, अव्य-

---

÷—यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्य्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
—गीता १८।२२।

A–नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
—गीता १८।२३।

B–यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
—गीता १८।२४।

C–अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥
—गीता १८।२५।

D–मुक्तसङ्गोऽनहंवादी च धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥
—गीता १८।२६।

E–रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥
—गीता १८।२७।

वस्थित ढंग से कर्म्म करने वाला, कार्य्याकार्य्यविवेकज्ञानशून्य, देव-द्विज-गुरु-ज्येष्ठ आदि सम्मान्य महानुभावों के आगे उद्धत-उच्छृङ्खल व्यवहार करने वाला (विनयशून्य), अपने मन, वाक्, प्राण (संकल्प-शब्द-कर्म्म) से सदा दूसरों की निन्दा करने वाला, समालोचना करने वाला, आवश्यक कार्य्यों में भी आलसी बना रहने वाला, फल के मिल जाने पर भी अपने आपको दुःखी-निर्धन-घोषित करते रहने वाला, यत्-किञ्चित् समय में पूरे हो जाने वाले कामों को दिनों-मासों-वर्षों का अनुगामी बनाने वाला, एवंविध कर्म्मकर्त्ता 'तामस' कहलाया है F.। (विशेष विस्तार के लिए देखिए गीता १८ अध्याय, श्लोक २६ से ४० श्लोक पर्य्यन्त, एवं तदनुगत गीताविज्ञानभाष्य)।

१०५-राजर्षि मनु सम्मत गुणत्रयस्वरूपदिग्दर्शन—

राजर्षि मनु कहते हैं—'जो मनुष्य वेदाभ्यास में रत रहते हैं, शास्त्रोक्त स्नानादि शुद्धिकर्म्मों का यथावत् पालन करते हैं, इन्द्रियसंयमपूर्वक लोक-वेद-व्यवहारों का सञ्चालन करते हैं, अहर्निश दानादि सत्-क्रियाओं में तत्पर रहते हैं, उन्हें सत्त्वगुणप्रधान समझना चाहिए' * । लक्ष्यीभूत कर्म्मों के आरम्भ में पूर्ण रुचि करने वाले, थोड़े में ही अपना धैर्य्य खो देने वाले, अशास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त होते रहने वाले, निरन्तर विषयों की ओर आसक्त बने रहने वाले महानुभावों को रजोगुणप्रधान मानना चाहिए ÷ । परसम्पत्ति को सदा गिद्ध-दृष्टि से ताकते रहने वाले, अहर्निश कोमलशय्या को ही अपना आराध्य बनाने वाले (निद्रालु) अधीर, क्रूर, ईश्वर-परलोकादि में विश्वास न रखने वाले, आचारशून्य, अपने आपको सदा गरीब बताते हुए दूसरों के आगे हाथ फैलाने वाले, ऐसे प्रमादी मनुष्यों को तमोगुणप्रधान मान लेना चाहिए × । जिन (हिंसा-चोरी-मिथ्याभाषण-अभक्ष्यभक्षण-द्यूत-परस्त्रीगमन, आदि आदि)कार्य्यों को करता हुआ, जो कर्म्मकर्त्ता अपने अन्तर्जगत् में लज्जा का अनुभव करता है, समझ-

---

F-अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥
—गीता १८।२८।

*-वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्म्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥
—मनुः १२।३१।

÷-आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्य्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥
—मनुः १२।३२।

×-लोभः स्वप्नो ऽधृतिः क्रौर्य्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥
—मनुः १२।३३।

दार को अनुमान लगा लेना चाहिए कि, लज्जानुभव कराने वाले ऐसे सब कर्म्म तमोगुणप्रधान हैं A । जिन कर्म्मों से (धर्म्मशाला-स्मार्त्तकर्म्म-सदावर्त्त-वापी-कूप-तड़ागनिर्म्माण-प्याऊ-अनाथालय-आदि कर्म्मों से) व्यक्ति संसार में अपना नाम चाहता है, जो निर्धनावस्था में भी दुःखी नहीं देखे जाते, उनके ऐसे कर्म्मों से अनुमान लगा लेना चाहिए कि, ये रजोगुणप्रधान हैं B । जो व्यक्ति अपने आपको सब से सीखने वाला बनाए रहते हैं, अथवा तो जो वेदार्थतत्त्वपरिज्ञान के लिए सदा लालायित रहते हैं, जो अपने शास्त्रानुगत) कर्म्म करते हुए कभी लज्जा का स्मरण भी नहीं करते, जिनके ऐसे कर्म्मों से जिन्हें सदा आत्मसन्तोष प्राप्त होता रहता है, उनके ऐसे कर्म्मों से हमें यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि, ये व्यक्ति सत्वगुणप्रधान हैं C । यही गुणत्रयपरीक्षा की सामासिक D (संक्षिप्त और तात्त्विक) निकषा (कसौटी) है । तमोगुण सदा काम (फलकाम) को लक्ष्य बनाता है, रजोगुण सदा अर्थ को आराध्य बनाता है, एवं सत्त्वगुण सदा मोक्षमूलक धर्म्म को लक्ष्य बनाता है । सांसारिक विषयभोगपरायणता काम है, धनसञ्चयलिप्सावृत्ति अर्थ है, एवं ऐहलौकिक अभ्युदयपूर्वक पारलौकिक निःश्रेयसभावप्राप्ति का साधन धर्म्म है—**'तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति'** ।

तमसो लक्षणं कामो, रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्म्मः श्रैष्ठयमेषां यथोत्तरम् ॥
—मनुः १२।३८।

१०६–गुणात्मिका प्रकृति का आत्ममूलक त्रिवृद्भाव, एवं तन्मूलक नव (९) योनि–विवर्त्त–

गुणभेद से सम्बन्ध रखने वाली योनियों का भी सामासिक स्पष्टीकरण कर लीजिए । सत्त्वगुणात्मिका दैवीसम्पत् से सम्बन्ध रखने वाली गति **'उत्तमा'** है, रजोगुणात्मिका मानवीसम्पत् से युक्ता गति **'मध्यमा'**

A–**यत्कर्म्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।**
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ।
—मनुः १२।३५।

B–**येनास्मिन् कर्म्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।**
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥
—मनुः १२।३६।

C–**यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।**
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥
—मनुः १२।३७।

D–**त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।**
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥
—मनुः १२।३४।

है, एवं तमोगुणात्मिका आसुरी सम्पद्युक्ता योनि 'अधमा' है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के प्रकृतिसिद्ध त्रिगुणभाव के कारण * क्योंकि प्रत्येक गुण त्रिवृद्भाव से त्रिगुणात्मक है। अतएव तीन गतियों के अवान्तर नौ विवर्त्त हो जाते हैं। सात्त्विक गुणोपेत महानात्मा से युक्त कर्म्मात्मा देवयोनि का अधिकारी बनता है, रजोगुणोपेत कर्म्मात्मा मानवयोनि का अनुगामी बनता है, एवं तमो-गुणान्वित कर्म्मात्मा को तिर्य्यग्योनि का अनुगमन करना पड़ता है। विद्याकर्म्म के तारतम्यानुगत गुणत्रय-तारतम्य से इन्हीं तीन के अवान्तर ६ विवर्त्त बन जाते हैं, जैसाकि राजर्षि ने कहा है—

१-येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते ।
तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥
२-देवत्त्वं सात्त्विका यान्ति, मनुष्यत्त्वं च राजसाः ।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्य, मित्येषा त्रिविधा गतिः ॥
३-त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥
अधमा-मध्यमा-ग्रया च कर्म्म-विद्या-विशेषतः ॥
—मनुः १२।-३९, ४०, ४१, ।

धातूपधातू, रसोपरस, विषोपविष, पाषाण-लोष्टादि यच्चयावत् असंज्ञजीव **धातुजीव** कहलाए हैं। इन्हें ही लोकभाषा में 'जड़' कहा गया है। ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्म-वल्ली-आदि अन्तःसंज्ञजीव 'मूलजीव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। धातुजीव, और मूलजीव, दोनों अपने प्रयास से स्वस्थानत्याग में असमर्थ रहते हुए स्वस्थान में हीं प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इन्हें 'स्थावर' नाम से भी व्यवहृत किया गया है। एवंविध स्थावरप्रपञ्च, एवं कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु, मृग, ये 'ससंज्ञजीव' नामक जीव **(१) अधमा तामसी योनि** से सम्बद्ध हैं। तमोगुण का आत्यन्तिक विकसितरूप ही अधम तमोगुण है। तद्युक्त कर्म्मात्मा को उक्त योनियों में से ही तारतम्य से कोई सी योनि प्राप्त होती है। हाथी, अश्व, शूद्र, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र, शूकर, वराह, ये योनिभाव **(२) मध्यमा तामसी योनि** है। यशोगायक चारण, सुपर्णपक्षी (गरुड़ादि), गुप्तचर पुरुष, राक्षस, पिशाच, इत्यादि योनिभाव **(३) उत्तमा तामसी योनि** है। इसप्रकार तमोगुण के तारतम्य से एक ही तमोगुण योनित्रयी का प्रवर्त्तक बन रहा है।

जो क्षत्रिय क्षात्रधर्म्म से च्युत हो जाता है, जिस जन्मजात क्षत्रिय का यज्ञोपवीत संस्कारकाल (२२ वर्ष) अतिक्रान्त हो जाता है, स्वधर्म्मच्युत वही क्षत्रिय 'व्रात्य' क्षत्रिय कहलाया है, जिसे लोकभाषा में 'जातिच्युत' (वर्णच्युत) उपाधि से अलङ्कृत किया जाता है। ऐसे व्रात्य क्षत्रिय से व्रात्यसवर्णा (जातिच्युता क्षत्रियाणी) से उत्पन्न सन्तति झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस, द्रविड़, आदि उपजाति-नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। यष्टिधारी राजसेवक 'झल्ल' कहलाए हैं। बिगड़े हुए मस्त हाथी को कशाघात

*-आत्मानुबन्धी इस त्रिवृद्भाव का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

(कोड़ा–साँट) से वश में करना इन्हीं का कार्य्य है। राजपूताना में ये लोग 'साटमार' नाम से प्रसिद्ध हैं। राजप्रासादों में यष्टिधारण करते हुए द्वारादि की व्यवस्था करने वाले (छड़ीधारी–छड़ीदार) पुरुष भी इसी झल्ल–कोटि में अन्तर्भूत हैं। बाँस–रस्सा–ढोलक आदि साधनों के द्वारा कलाप्रदर्शनपूर्वक लोकानुरञ्जन करने वाले 'नट' कहलाए हैं। बाहुयुद्ध–विविध व्यायामकुशल पुरुष (पहलवान) 'मल्ल' कहलाए हैं। शास्त्रव्यवसाय के द्वारा, द्यूतव्यवसाय के द्वारा, मद्यव्यवसाय के द्वारा जीविकानिर्वाह करने वाले पुरुष शस्त्रजीवी-द्यूतजीवी–पानजीवी कहलाए है। ये सब योनिभाव (१) **'अधमा राजसी योनि'** है। अभिषिक्त राजवर्ग, जाति-प्रतिष्ठित क्षत्रियवर्ग, राजाओं, एवं क्षत्रियों के कुलपुरोहित ब्राह्मण, शास्त्रविवादरत पुरुष, इत्यादि योनिभाव (२) **'मध्यमा राजसी योनि'** है। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवयोनि के अनुयायी विद्याधरादि, अप्सराएँ, इत्यादि योनिभाव (३) **'उत्तमा राजसी योनि'** है *।

वानप्रस्थी, संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी पुरुष (योनियाँ), नक्षत्र, दैत्य, इत्यादि योनिभाव (१) **'प्रथमा सात्त्विकी योनि'** है। यज्ञकर्म्मठ ब्राह्मण, वेदतत्त्वद्रष्टा ऋषि, अभिमानी देववर्ग, अग्निष्वात्तादि सप्तविध पितर, ध्रुवादिप्रधान ज्योतिर्गोलक, वत्सर, साध्य, इत्यादि योनिभाव(२)**'मध्यमा सात्त्विकी योनि'** है। चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीच्यादि सर्गप्रवर्त्तक ऋषि, धर्म्म, महान्, अव्यक्त, इत्यादि योनिभाव (३) **'उत्तमा-सात्त्विकी योनि'**है। मानवधर्म्मशास्त्रोपवर्णिता गुणानुगता नवधा विभक्ता योनियों का यही दिग्दर्शन है ÷।

१०७–अप्प्रकृतिलक्षणा गुणमयी महत्प्रकृति, एवं तद्बन्धविमोक—

उक्त प्राकृतिक–विवर्त्त–विश्लेषण का निष्कर्ष यही है कि, अव्ययात्मा वस्तुगत्या आत्मा है, अक्षरात्मक्षरसमष्टि इसकी अन्तरङ्गप्रकृति है। एवं पाञ्चभौतिक अग्न्यात्मक भौम शरीरानुगता **अन्नादप्रकृति,** सोमात्मक चान्द्र प्रज्ञानात्मानुगता **अन्नप्रकृति,** इन्द्रात्मक सौर विज्ञानात्मानुगता **वाक्प्रकृति,** ब्रह्मात्मक स्वायम्भुव अव्यक्तात्मानुगता **प्राणप्रकृति,** इन चारों विकारप्रकृतियों को, तथा वैश्वानरात्मक असंज्ञजीववर्ग, वैश्वानरतैजसात्मक अन्तःसंज्ञजीव, वै० तै० प्राज्ञात्मक ससंज्ञजीव, इन त्रिविध पार्थिव कर्म्मात्माओं को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले विष्णवात्मक पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुगत **'अप्प्रकृति'** ही त्रिगुणभावात्मिका

---

* **झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च।**
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड़ एव च॥

—मनुः १०।२२।

÷ अहङ्कृतिमूलक–ऋषि,प्राणनिबन्धन गोत्रसर्ग, प्रकृतिमूलक–देवप्राणनिबन्धन वर्णसर्ग, एवं आकृतिमूलक पितृप्राणनिबन्धन जातिसर्ग, इन तीनों प्राकृत सर्गों से सम्बन्ध रखने वाला वर्गभेदात्मक प्रज्ञास्वरूप बड़ा ही विलक्षण है, जिसे यथावत् न जानने के कारण हीं आज का केवल आकृतिभक्त मानव आकृतिमूला जाति को ही मानवस्वरूप की व्यवस्थापिका मानने मनवाने की महती भ्रान्ति कर रहा है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप मानव का प्रकृतिभेदनिबन्धन देवप्राणानुगत भौतिक स्वरूप आज सर्वथैव अव्यवस्थित बन गया है, जिसके इतिवृत्त का 'श्वेतक्रान्ति का महान सन्देश' नामक स्वतन्त्र सामयिक निबन्ध में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

बहिरङ्गप्रकृति है। जाति (योनि), आयु, भोग, तीनों की मूलप्रतिष्ठा यही महल्लक्षणा बहिरङ्गप्रकृति है। बुद्धयनुगता निष्कामभावात्मिका कामना से यह बहिरङ्गप्रकृति अन्तरङ्गप्रकृत्यनुगता अव्ययात्मा के विकास का कारण बनती जहाँ आत्मा का अन्तरङ्गप्रकृतिवत् स्वधर्म्म है, वहाँ मनोऽनुगता कामात्मिका कामना से यही बहिरङ्गप्रकृति अन्तरङ्गप्रकृत्यनुगत अव्ययात्मा के विकास को आवृत करती हुई आत्मा का 'अधर्म्म' बन जाती है। प्रकृतिस्थ आत्मा मुक्त है, विकृतिस्थ आत्मा बद्ध है। अन्तरङ्गप्रकृति प्रकृति है, इसमें सत्त्व-रज-स्तमो-गुण बुद्धियोगात्मक समत्त्वयोग से 'साम्यावस्था' में परिणत रहते हैं। अतएव **'सत्त्वरज-स्तमोभावानां साम्यावस्था प्रकृतिः'** प्रकृति का यह लक्षण माना गया है। दार्शनिक कहा करते हैं, जिस प्रकार 'वात-पित्त-कफ' तीनों धातुओं की समता जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है, एवमेव सत्त्व-रज-स्तमो-गुणों की विषमता जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। जिस दिन धातुत्रयी विषम बन जाती है, अध्यात्मसंस्था का उच्छेद हो जाता है। एवमेव जिस दिन गुणत्रयी सम बन जाती है, अध्यात्मसंस्था उत्क्रान्त हो जाती है। धातुत्रयीरूप त्रिदण्ड की समता, एवं गुणत्रयीरूप त्रिदण्ड की विषमता ही जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। वैज्ञानिक कहते हैं-तुम अपनी अध्यात्मसंस्था को सुरक्षित रखते हुए भी गुणत्रय को समभाव में परिणत करते हुए 'जीवन्मुक्त' बन सकते हो। त्रिगुणभावात्मिका बहिरङ्गप्रकृतिलक्षणा विकृति को बुद्धियोग के द्वारा तुम गुणातीता, अतएव समभावात्मिका अन्तरङ्गप्रकृतिलक्षणा प्रकृति की अनुगामी बना देगो, उस दिन स्वस्वरूप से विषम बने हुए भी, अतएव जीवनसत्ता को सुरक्षित रखते हुए भी गुणभाव स्वाभाविक आत्मसाम्य का कुछ न बिगाड़ सकेंगे। इसप्रकार लयावस्था में प्राप्त होने वाली गुणसमता तुम अपने इसी जीवन में प्राप्त कर लोगे। नित्य असङ्गता ही तो प्रकृति-साम्य का फल है। वह तुम्हें निष्कामकर्म्मयोगात्मक धर्म्मबुद्धियोग से इस जीवन में हीं प्राप्त हो सकता है।

१०८-नैसर्गिकप्रकृति, एवं सांस्कारिकप्रकृति का स्वरूपदिग्दर्शन—

प्रसङ्गोपात्त अन्तरङ्ग-बहिरङ्गप्रकृतियों का स्वरूप-दिग्दर्शन कराया गया। अब पुनः सांस्कारिक विवर्त्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया है कि, ज्ञान-कर्म्मजनित भावना-वासना-संस्कार का ही नाम बहिरङ्गप्रकृति है। कामासक्ति से यह आगन्तुक सांस्कारिक धर्म्म आत्मा के स्वरूप-धर्म्म को आवृत कर लेते हैं। संस्कारों की **नैसर्गिक, सांस्कारिक,** भेद से दो अवस्था मानीं गईं हैं, जिनको हम क्रमशः **नैसर्गिकप्रकृति, सांस्कारिकप्रकृति,** इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। पूर्वजन्म में सञ्चित संस्कार उत्तरजन्म के कारण बनते है। उत्तरजन्म में प्रकट होने वाले इस जन्मान्तरीय संस्कारव्यूह को ही 'नैसर्गिकप्रकृति' माना गया है। एवं वर्त्तमान जन्म में ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न संस्कारव्यूह 'सांस्कारिक प्रकृति' कहलाया है। जन्मान्तरीय संस्कारात्मिका त्रिगुणभावापन्ना प्रकृति नैसर्गिक है, वर्त्तमानजन्मानुगता संस्कारात्मिका प्रकृति सांस्कारिकी है। इसप्रकार जन्मान्तर, और वर्त्तमानजन्म, भेद से संस्कारात्मिका एक ही बहिरङ्गप्रकृति के दो विवर्त्त हो जाते हैं। नैसर्गिकी प्रकृति जहाँ **'जन्मसिद्धा'** कहलाई है, वहाँ सांस्कारिकी प्रकृति **'अधिकारसिद्धा'** उपाधि से विभूषित हुई है। उभयविधा प्रकृति का सत्त्वानुगत भाग दैवीसम्पत् है, तमोऽनुगत भाग आसुरीसम्पत् है एवं, रजोऽनुगत भाग मानवीसम्पत् है। मध्यस्थ रजोऽनुगता मानवीसम्पत् में दोनों सम्पत्तियों का समन्वय है, जिसका अर्थ यही है कि, दिव्य संस्कारों से मनुष्य देवभावात्मक भी बन सकता है, ए ं आसुरसंस्कारों से यही अपने आपको असुर भी बना सकता है।

१०९—अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी, तथा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति—

'अधिकारसिद्धा' सांस्कारिकी प्रकृति की प्रतिष्ठा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति ही बना करती है। 'अधिकार' शब्द वर्णव्यवस्था का सूचक है। जिसके वीर्य्य में जन्मतः जो वर्ण प्रतिष्ठित रहेगा, वह तदनुगत संस्कार का ही अनुगामी बनेगा। '**प्रकृतिविशिष्टं चातुवर्ण्यम्**' वाक्य जहाँ जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृतिका समर्थन कर रहा है, वहाँ—'**संस्कारविशेषाच्च**' (वसिष्ठस्मृतिः) वाक्य अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। 'संस्कारतत्त्व' भावनावासनात्मक 'ज्ञानकर्मसंस्कार,' 'वैधसंस्कार' भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। जन्मसिद्ध संस्कार देश–काल–पात्र–द्रव्य–शुक्र–शोणित–आदि दोषों से स्व–विकास से मुकुलित बने रहते हैं। अतएव देखा जाता है कि, जन्म के ब्राह्मण पिता, ब्राह्मणी माता से उत्पन्न भी सन्तति जन्मतः ब्राह्मण रहती हुई भी ब्राह्मण्य से वञ्चित रह जाती है। इन आगन्तुक दोषों को हटाने के लिए, जन्मसिद्ध वर्णवीर्य्य की कमी पूरी कर उसे सर्वाङ्गीण बनाने के लिए, साथ ही उसमें वैशिष्ट्य आधान के लिए वैज्ञानिकों नें तत्तद्वर्णानुगत तत्तत् द्रव्यसाधनों के द्वारा दोषमार्जक-हीनाङ्गपूरक-अतिशयाधानात्मक जिस वैज्ञानिक प्रकार का आविष्कार किया है, वही 'वैधसंस्कार' कहलाया है, जो 'श्रौत-स्मार्त्त गर्भाधानादि संस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली वर्णव्यवस्था का, तथा वैध-गर्भाधानादि संस्कारों का गीताभूमिका 'ख–ग' खण्डों में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जन्मसिद्धा प्रकृति की क्या पहिचान ?, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान ने कहा है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥१॥
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥२॥
अयुक्तः प्रकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥३॥

—गीता १८।२६,२७,२८।

११०—निग्रहः किं करिष्यति—

भगवान् कहते हैं कि, जिसकी जैसी प्रकृति है, उसे बाध्य होकर उसीका अनुसरण करना पड़ता है। इसी आधार पर प्रान्तीय भाषा में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है–कि, '**ज्यां का पड्या सुभाव, जासी जीव से**'। जिसका जैसा जन्मसिद्ध स्वभाव है, वह उसके मरने पर ही मिटता है, अर्थात् जन्मसिद्ध प्रकृति नहीं बदली जा सकती। यहाँ 'स्वभाव' से स्वधर्म्मलक्षणा अतरङ्गप्रकृति अभिप्रेत नहीं है। अपितु जन्मसिद्धा नैसर्गिकी बहिरङ्गप्रकृति ही अभिप्रेत है। मान लीजिए, किसी का स्वभाव क्रोधी है। गुरुदेव प्रयासपूर्वक समझाते हैं-कि, 'देखो क्रोध का परित्याग कर दो, यह मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार का वह रुद्राग्नि है, जो संघर्ष से तत्काल उत्पन्न होता है। अग्नि ही शरीर का बल है। यदि तुम इसे शरीर से बाहिर निकाल दोगे, तो निर्बल बन जाओगे। यह बलाधानकर्त्ता अग्नि बाहिर न निकल जाय, इसलिए तुम्हें इसे (क्रोधाग्नि

को) पी जाना चाहिए, । गुरूपदेश के इस मर्म्म को हम सत्य समझ रहे हैं । मान लेते हैं–वास्तव में क्रोध हमारा शत्रु है । यह सब कुछ सुनते–जानते–मानते हुए भी विवशतावश क्रोध उबल ही पड़ता है । क्यों !, जन्मसिद्ध स्वभाव । जन्मसिद्ध संस्कारगुञ्ज ही तो हमारा उक्थ है, जैसा उक्थ होता है, उससे वैसे ही तो अर्क निकलते हैं । इसी आधार पर भगवान् ने कहा है–'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ※ ।

१११–पुण्य–पापादि द्वन्द्वों का विधूनन—

जब तक उक्थरूपा प्रकृति (स्वभाव) स्वस्वरूप से सुरक्षित है, तब तक उसका निग्रह असम्भव है, यही तात्पर्य्य है । इसीसे यह भी तत्त्व निकल आता है कि, यदि किसी उपाय से उक्थ का स्वरूप बदल दिया जाता है, तो प्रकृति का भी विपर्य्यय सम्भव बन जाता है । जब तक मेघ है, तब तक प्रकाशधर्म्म का आवृत रहना अनिवार्य्य है । हाँ वायुरूप–उपाय प्रवेश से यदि मेघ हटा दिया जाता है, तो प्रकाशधर्म्म का प्राकट्य सम्भव है । प्रकृतिविपर्य्य ही धर्म्म विपर्य्य का मूल माना गया है । यों देखिए, संस्कारान्तरों से जन्मसिद्धा भी दैवी-सम्पत् आसुरीसम्पत् बन जाती है, आसुरीसम्पत् दैवीसम्पत् में परिणत होती देखी गई है । सन्ध्या–व्रत-उपवा–सादि सात्त्विक संस्कारोंके समावेश से असुरभाव दब जाते हैं, दिव्यसंस्कार विकसित हो जाते हैं । लशुन-गृञ्जनादि अभक्ष्य–भक्षणों से उत्पन्न तामसिक संस्कारोदय से दैवीसम्पत् पराभूत हो जाती है । वक्तव्यांश यही है कि, ज्ञानेन्द्रियजनित अनुभवाहित संस्कार (भावना), एवं कर्म्मेन्द्रियजनित श्रमाहित संस्कार (वासना) ही अन्तरङ्ग-प्रकृतिविशिष्ट आत्मा के धर्म्म–ज्ञानादि स्वाभाविक आत्मधर्म्मों को आवृत कर उसे जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, तथा अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी दैवी, आसुरीसम्पत् में अभिनिविष्ट कर देते हैं । इसी अभिनिवेशात्मक–संस्कार–ग्रन्थिबन्धन से इन उभय सम्पत्तियों में से किसी एक के साथ आत्मा का ग्रन्थिबन्धन हो जाता है । शुभ–भावनावासना से दैवीसम्पत् का लिम्पन होता है, अशुभ–भावनावासना से आसुरीसम्पत् का लेप होता है । अच्छा, और बुरा, दोनों वासना पर निर्भर है । यदि वासनाबन्धन नहीं है, तो न पुण्य है, न पाप है, न अच्छा है, न बुरा है । न सुख है, न दुःख है ।

११२–सद्धर्म्मात्मक परधर्म्म, एवं अधर्म्मात्मक परधर्म्म—

जिस प्रकार आसुरीसम्पज्जनित पाप आत्मा को परतन्त्र बनाता है, एवमेव दैवीसम्पज्जनित पुण्य से भी आत्मस्वातन्त्र्य आवृत हो जाता है । आत्मस्वातन्त्र्य के लिए दोनों का परित्याग अनिवार्य्य है । तभी समत्वलक्षणा विदेहमुक्ति का उदय सम्भव है । इसी आधार पर–'उभे पाप–पुण्ये विधूय' सिद्धान्त स्थापित हुआ है । दोनों इसीलिए आत्मस्वतन्त्रता के आवरक हैं कि, दोनों हीं आगन्तुक हैं । स्वधर्म्म आगन्तुक नहीं है, अपितु वह नित्य है, प्रकृतिलक्षण (अन्तरङ्गप्रकृतिलक्षण) है । सांस्कारिक धर्म्म आगन्तुक हैं, अतएव इन्हें 'स्वधर्म्म' न कह कर आगन्तुक, अतएव आश्रितधर्म्म ही कहा जायगा । 'धर्म्मिणा (आत्मना) ध्रियते' निर्वचन से दोनों हीं आत्माके द्वारा धृत रहने से 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत होते हैं । इन दोनों धर्म्मों में से शुभ-

---

※ न धर्म्मशास्त्रं पठतीति कारणं, न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
'स्वभाव' एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

संस्कारात्मिका दैवीसम्पत् से अभ्युदय होता है, अतएव इसे **'सद्धर्म्म'** कहा जाता है । एवं अशुभसंस्कारात्मिका आसुरीसम्पत् प्रत्यवायजननी बनती हुई **'अधर्म्म'** नाम से व्यवहृत हुई है । सद्धर्म्म से आत्मधर्म्म आवृत अवश्य होजाता है, परन्तु उसकी स्वरूपहानि नहीं होती । अतएव इसे 'धर्म्म' कोटि में अन्तर्भूत मान लिया जाता है । परन्तु अधर्म्म से आत्मस्वरूपावरण के साथ साथ आत्मपतन भी होजाता है, अतएव एवंविध (अशुभसंस्कारात्मक) आश्रितधर्म्म को 'अधर्म्म' कहना अन्वर्थ बन जाता है ।

११३-धर्म्म, एवं अधर्म्मात्मक द्वन्द्वनिवर्त्तक धर्म्मबुद्धियोग—

मान लेते हैं दैवीसम्पत् अभ्युदयजननी है । परन्तु है तो यह भी आत्मस्वरूप के स्वाभाविक धर्म्म को आवृत करने वाली ही । आगन्तुक भला हो, अथवा बुरा, अन्ततोगत्वा वह आगन्तुक ही है, पराया ही है । सहस्रगुणित भला होने पर भी आगन्तुक आगन्तुक ही रहेगा । इस आगन्तुकभाव से ही दैवी, आसुरीसम्पत्–लक्षण उभयविध आश्रितधर्म्म (धर्म्म, अधर्म्म) आत्मा की स्वाभाविकता के विरोधी बनते हुए तत्त्वतः अधर्म्मकोटि में हीं निविष्ट हैं । **'अन्यत्र धर्म्मात् , अन्यत्राधर्म्मात्'** (कठोप० १।२।१४ के अनुसार धर्म्म–अधर्म्मातीत आत्मा कैसे इन द्वन्द्वभावों को अपना उपकारक मान सकता है । धर्म्मसंस्कार आत्मा में अनुकूल तरङ्गें उत्पन्न करता है, अधर्म्मसंस्कार प्रतिकूल तरङ्गें उत्पन्न करता है । धर्म्मसंस्कारानुगत सुखानुभव में भी आत्मा स्वकेन्द्र को छोड़ देता है, अधर्म्मसंस्कारजनित दुःखानुभव में भी आत्मा स्वप्रतिष्ठा से च्युत होजाता है । स्वाभाविक, स्थिरतालक्षण, आत्मशान्ति का दोनों में हीं अभाव है । अतएव इस दृष्टि से दोनों हीं त्याज्य बन रहे हैं । अधर्म्म से होने वाले अनर्थ स्पष्ट हैं । धर्म्म से होने वाले अनर्थों का भी सुखानुभवतारतम्य से अनुमान लगाया जासकता है । किसी व्यक्ति को धर्म्म (पुण्य) संस्कारावश कहीं से सम्पत्ति प्राप्त हुई । जिस प्रकार सरोवर में फैंका गया ढेला क्षणमात्र के लिए सरोवर की शान्ति भङ्ग कर देता है, एवमेव विषय–सम्पत् ने आत्मशान्ति को क्षणभर के लिए विचलित कर दिया । आगन्तुक सम्पत्ति ने काम–लोभ को उत्साहित किया । सम्पत्ति–परिग्रह बढ़ने लगा । इसप्रकार अनर्थपरम्परा ने जन्म ले डाला । कहना पड़ेगा, और मानना पड़ेगा कि, क्षणतरङ्गात्मक यह पुण्यानुगत संस्कार भी तत्त्वतः शान्ति का प्रतिबन्धक ही है । तभी तो धर्म्मजनित सुख भी 'अनुकूलवेदना' (सुहाता हुआ दुःख) नाम से ही व्यवहृत हुआ है । सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि, कामना के अनुग्रह से उत्पन्न भावना–वासना–संस्कार–ग्रन्थिबन्धनरूप धर्म्माधर्म्माभिनिवेश आत्मस्वरूपधर्म्म का प्रतिबन्धक बनता हुआ अपने परिपाक के अनुपात से समय समय पर–**'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'** के अनुसार उत्पीड़ित किया करता है । इसे कैसे हटाया जाय ?, आत्मा की स्वाभाविक शान्ति का उदय कैसे हो ?, इस प्रश्न का एक समाधान आर्षविद्यानुगत यही **'धर्म्मबुद्धियोग'** है ।

११४–भोग, प्रतिबन्धकत्त्व, एवं समत्त्व, लक्षणा संस्कारनिवर्त्तिका उपायत्रयी—

अभिनिवेशात्मक संस्कारों को हटाने का एक मात्र अर्थ है–इनके साथ होने वाली आत्मा की ग्रन्थि को हटाना । ग्रन्थिभेदन ही संस्कारनिवृत्ति है । ग्रन्थिभेदनात्मिका यह संस्कारनिवृत्ति तीन उपायों से सम्भव है, उन्हीं का क्रमिक दिग्दर्शन कराया जारहा है । अपेक्षाबुद्धि-सहकृत मानस कामना के द्वारा ज्ञान-कर्म्मेन्द्रियजनित भावना–वासनात्मक संस्कार, तद्ग्रन्थिबन्धन–द्वारा आत्मा में अभिनिविष्ट (अभिव्याप्त–संसक्त) देवासुरसम्पत (जिससे आत्मस्वातन्त्र्य आवृत होरहा है) की निवृत्ति के वे तीनों उपाय क्रमशः **भोग, प्रतिबन्धकत्त्व, समत्त्व,**

इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिनमें से पहिले क्रमप्राप्त 'भोग' नामक प्रथमोपाय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। गुणत्रयानुगत प्रकृतिसिद्ध कर्म्मपरिपाक (संस्कारभोग) ही 'भोग' है। बतलाया गया है कि, गणत्रयी के त्रिवृद्भाव से प्रत्येक अध्यात्मसंस्था में तीनों गुणों का उद्रेक रहता है। इनमें सत्वगुण सुखानुशायी है, रजोगुण दुःखानुशायी है, एवं तमोगुण मोहानुशायी है। सुखप्रवृत्ति सत्त्व से, दुःख-प्रवृत्ति रज से, एवं मोहप्रवृत्ति तम से होती है। रजोगर्भित सत्त्व सद्धर्म्म है, रजोगर्भित तम अधर्म्म है। सद्धर्म्म देवधर्म्म है, अधर्म्म असुरधर्म्म है, मानवात्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इस रूप से जीवन में तीनों का भोग होता रहता है। कभी मनुष्य सुखी देखा जाता है, कभी दुःखार्णव में निमग्न सुना जाता है, एवं कभी स्तब्ध सा प्रतीत होने लगता है। जीवन पर दृष्टि डालिए, तीनों का प्रत्यक्ष होजायगा। आपके जीवन में आपको जितना सुख मिलता है, वह सुखांश सत्त्वगुणानुगत देवधर्म्म (शुभसंस्कार) का भोग है। जितना दुःख मिलता है, वह रजोगुणानुगत असुरधर्म्म (अशुभसंस्कार) का भोग है। एवं सदसद्विवेकशून्या-वृत्ति-लक्षण मोह तमोऽनुगत पशुधर्म्म का भोग है। तात्पर्य्य यह है कि, सत्त्वानुगत देवधर्म्म, रजोऽनुगत-असुरधर्म्म, एवं तमोऽनुगत, पशुधर्म्म, तीनों का 'सुख-दुःख-मोह' रूप से आपके जीवन में भोग होता रहता है। कभी आप अपने आप को सुखी पाते हैं, तो कभी दुःखी पाते हैं, कभी आप कुण्ठित देखे जाते हैं। जिस समय आप सुखी हैं, स्वीकार कीजिए उस समय आपके सत्त्वात्मक शुभसंस्कार का भोग होरहा है, दुःखदशा में रजोमय अशुभसंस्कार का भोग होरहा है, एवं मोहदशा में तमोमय अशुभसंस्कार का भोग होरहा है। इसप्रकार आपके जीवन में समयभेद से तीनों गुणात्मक संस्कारों का भोग होता रहता है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, राग-द्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥
२—तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं 'सत्त्वं' तदुपधारयेत् ॥
३—यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्-'रजो' प्रतिपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥
४—यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं 'तम' स्तदुपधारयेत् ॥

—मनुः १२।२६,२७,२८,२९,।

सम्पूर्ण जीवन को छोड़िए,केवल एक अहोरात्र में हीं तीनों के भोगों का प्रत्यक्ष कर लीजिए। दिन-रात में अनेक अवसर तो ऐसे आते हैं, जिनमें हमारा मन प्रसन्न रहता है, हम अपने अन्तर्जगत् में शान्ति का अनुभव करते हैं। कई अवसर आते हैं, जिनमें मन अशान्त-म्लान-दुःखी बन जाता है। एवं ऐसे भी अवसर आजाते हैं, जिनमें हम अपने आपको भूल कर कुण्ठित से, विचार-विवेक-शून्य से बनते हुए किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाते हैं, प्रमादी की सी दशा होजाती है। इसप्रकार अपने एक दैनिक जीवन में हीं तीनों भावों का

अनुभव करते रहते हैं। ये तीनों अनुभव ही सांस्कारिक कर्म्मों का उपक्षयलक्षण भोग माना गया है। जो संस्कार आत्मधरातल पर खचित हैं, वे इस गुणानुगता भोगत्रयी के रूप से ही क्रमशः क्षीण होते रहते हैं। इस क्रमिक भोग से जिस समय सञ्चित संस्कार निःशेष होजाते हैं, उस समय आत्मा पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो जाता है। इस भोग के सम्बन्ध में हमारा प्रयास व्यर्थ है। प्रकृति के अनुसार जब जिस सञ्चितकर्म्म व्यूह का जो अभिक्रम प्रारब्ध बन जाता है, उसका उसी क्रम से भोग होता रहता है। यही संस्कारोपक्षय का पहिला प्राकृतिक 'भोग' रूप उपाय है।

दूसरा उपाय है–'प्रतिबन्धकत्व'। आत्मा में जैसे, एवं जिस जाति के भावना-वासना-संस्कार प्रतिष्ठित हैं, उनसे विजातीय संस्कारों के आ जाने से (विजातीय संस्कारों के सञ्चित संस्कारों की अपेक्षा सबल होने पर) पूर्वसंस्कार उसी प्रकार अभिभूत हो जाते हैं, जैसे सौर प्रकाश के आक्रमण से (दिन में) रहती हुई भी चन्द्रज्योत्स्ना स्वस्वरूप से अभिभूत हो जाती है। सत्त्वगुणानुगता दैवीसम्पत् भी देवप्राणभेद से अनेक जातियों में विभक्त है, एवं तमोगुणानुगता आसुरीसम्पत् भी असुरप्राणभेद से अनेक जातियों में विभक्त है। दैवी–सम्पत्तियाँ आसुरीसम्पत्तियों की, तथा आसुरीसम्पत्तियाँ दैवीसम्पत्तियों की जैसे प्रतिबन्धिका हैं, तथैव इनमें परस्पर भी प्राणभेदानुगता जातिभेद से पारस्परिक प्रतिबन्धकता विद्यमान रहती है। परस्पर विरुद्ध इन सम्पत्तियों की गौण–प्रधानता से इनका परस्पर अभिभव हुआ करता है। इस अभिभव से अभिभूत संस्कार स्वपराक्रम–प्रदर्शन में असमर्थ हो जाता है। मान लीजिए–किसी व्यक्ति में आसुरीसम्पत् विकसित है, इसके प्रभाव से इसका आत्मा दुःखानुशायी बन रहा है। इससे बचने का एक यह भी उपाय है कि, वह व्यक्ति आसुरीसम्पत् के विरोधी दैवीसम्पद्भाव का अनुगमन (सञ्चय)करे। चन्द्रकान्तमणि के संयोग से जैसे विद्यमान भी अग्नि की दाहकता नष्ट हो जाती है, एवमेव आत्मस्थित आगन्तुक धर्म्मलक्षण आसुरीसम्पत्-रूप अशुभसंस्कार तद्विरुद्ध सबल आगन्तुक धर्म्मलक्षण दैवीसम्पत्रूप शुभसंस्कार के आजाने से नष्ट हो जाते हैं। सुकृत के सञ्चयसे अवश्य ही दुष्कृत का विनाश सम्भव है। भगवदाराधन, नैगमिक-आगमिक अनुष्ठानादि के बल से उत्पन्न शुभसंस्कारों से निश्चयेन सञ्चित दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं। आगन्तुक धर्म्मात्मक सञ्चित संस्कारों के नाश का यही 'प्रतिबन्धकत्व' रूप दूसरा उपाय है।

तीसरा उपाय है-**'समत्त्व'**। भोग, और प्रतिबन्धकत्त्व, उक्त दोनों उपायों की अपेक्षा यही सर्वज्येष्ठ, और श्रेष्ठ उपाय है। कारण स्पष्ट है। समत्व से विद्याबल की अभिवृद्धि होती है, एवं विद्याबलाभिवृद्धि से अविद्याबल स्वतः निर्बल बन जाता है। विद्याबल साक्षात् ज्ञानज्योतिर्लक्षणा प्रदीप्त विद्युत् है। जिस प्रकार उत्तप्त लौह-खण्ड पर गिरने वाले जलकण तत्क्षण विलीन हो जाते हैं, तथैव प्रवृद्ध विद्याबलोदय से उत्पन्न, एवं उत्पन्न होने वाले संस्कार तत्क्षण भस्मसात् हो जाते हैं। प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि कर्म्मसंस्कारबन्धनों को निःशेषावस्था में परिणत कर डालता है, जैसाकि–**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'** (गी०४।३७) इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। इस तृतीय उपाय की सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठता का एक दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए, एवं समन्वय करने से पहिले भोग, और प्रतिबन्धकत्त्वलक्षण दोनों उपायों के तथ्य का अन्वेषण कर लीजिए। संस्कारतत्त्व की स्वरूपमीमांसा करते हुए पूर्व में हमनें इनकी **सञ्चित, प्रारब्ध, भुक्त,** ये तीन अवस्थाएँ बतलाईं हैं। । इन तीन के अतिरिक्त सांस्कारिक कर्म्मों के सम्बन्ध में एक चौथा विभाग और मानना चाहिए, जिसका आगामी संस्कारों से सम्बन्ध है।

११५–कर्म्मस्वरूपसम्पादिका प्रक्रम–अभिक्रम–व्यूहन–त्रयी—

प्रक्रम, अभिक्रम, व्यूहन, इन तीन तत्त्वों के समन्वय से सञ्चित संस्कारों का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्रत्वर्थ कर्म्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म्म अभिक्रम है, एवं अनेक पुरुषार्थकर्म्मों की समष्टि 'व्यूह' है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शन के लिए जाते हैं। यह गमनकर्म्म आपका पुरुषार्थकर्म्म है, क्योंकि गमन से पुरुष का (आपका) देवदर्शनरूप अर्थ (फल) सिद्ध होता है। इस पुरुषार्थलक्षण गमनकर्म्म का स्वरूप अनेक क्रियाओं से सम्पन्न हुआ है। एक पाँव आगे रक्खा, एक पीछे रक्खा, इस क्रम से अनेक पादगतियों के धाराक्रम से इस एक गमन का स्वरूप बनता है। गमनकर्म्म पुरुषार्थरूप 'क्रतु' नामक कर्म्म है। पादगतिरूप अनेक गतिकर्म्मों के सगन्वय से क्योंकि इस एक 'क्रतु' रूप पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है, अतएव यह अवान्तर गतिकर्म्म–'क्रत्वर्थकर्म्म' (क्रतु के स्वरूप निर्म्माता अवान्तर कर्म्म) कहलाए हैं। कल्पना कर लीजिए–एक पादगति एक प्रक्रम है, जिस एक पादगति के लिए लोकभाषा में–'पाँवडा' शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रत्येक पाँवडे में भी यद्यपि सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम अवान्तर असंख्य गतियों का समावेश रहता है, एक पैर से दूसरे पैर पर्य्यन्त व्याप्त एक प्रक्रम में भी अवान्तर गतिरूप अनेक प्रक्रम व्यवस्थित हैं। परन्तु सूक्ष्मत्त्वात् उनकी ओर न जाकर हम एक पादगतिरूप एक प्रक्रम को ही यहाँ एक क्रत्वर्थ कर्म्म मान लेते हैं, जो विज्ञानभाषा में 'प्रक्रम' कहलाया है, जिस गतिकर्म्म में स्थिति–गति, दोनों भावों का समन्वय है। घर से निकल कर देवमन्दिर पर्य्यन्त पहुँचने में मार्ग के तारतम्य से एकपादगतिलक्षण ऐसे अनेक प्रक्रमकर्म्मों का अनुगमन करना पड़ता है, तब कहीं जाकर 'दर्शन करने गए हैं' इस एक पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अवान्तर क्रियाओं के धाराबल से ही तो एक गति का स्वरूप निर्म्माण माना गया है *। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, क्रत्वर्थकर्म्मरूप कर्म्म 'प्रक्रम' है। इन अनेक प्रक्रमों से सम्पन्न पुरुषार्थरूप कर्म्म 'अभिक्रम' है, यही भावना–वासनात्मक एक कर्म्मसंस्कार है। अपने जीवन में हम अनन्त प्रक्रमगर्भित ऐसे ऐसे असंख्य अभिक्रमकर्म्मों का अनुगमन करते हैं। फलतः आत्म–धरातल में असंख्य अभिक्रमकर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। असंख्य सांस्कारिक–पुरुषार्थलक्षण–अभिक्रमकर्म्मों की समष्टि ही 'कर्म्मव्यूह' (कर्म्मों का, संस्कारों का ढेर) कहलाया है, जिसे व्यवहार में 'सञ्चित–संस्कार' कहा गया है।

प्रक्रमकर्म्मगर्भित–अभिक्रमकर्म्मों की समष्टिरूप 'सञ्चितसंस्कारसमष्टि' ही कर्म्मव्यूह है, एवं इन्हीं के उपक्षय का हमें विचार करना है। कर्म्मव्यूहात्मक जन्मान्तरीय सञ्चितसंस्कारपुञ्ज में से उत्तर–जन्मप्रवृत्ति के मूलभूत किसी एक अभिक्रमकर्म्मसंस्कार का व्यापार हुआ, इससे जन्मरूप भोग हुआ। आगे चल कर कोई सञ्चित अभिक्रमकर्म्म का सञ्चार आयुर्लक्षण भोग का, कोई सांसारिक सम्पत्तिरूप भोग का, कोई सुखभोग का, कोई दुःखभोग का, तो कोई मोहभोग का प्रवर्त्तक बना। जो जिसका प्रवर्त्तक बनता गया, वह अभिक्रमकर्म्म क्षीण होता गया। सञ्चितकर्म्मव्यूह में से भोगानुगत (व्यापारशील) बने हुए इन कतिपय अभिक्रमकर्म्मों की समष्टि ही 'प्रारब्धकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई, जिसका अवसान केवल भोग पर ही माना गया है।

---

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि'–'प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः' के अनुसार प्रारब्ध–अभिक्रमकर्म्मों की निवृत्ति एकमात्र तद्भोग पर ही निर्भर है। जिस समत्त्वयोगलक्षण निष्कामकर्म्मयोग को सर्वज्येष्ठ-श्रेष्ठ बतलाया जाता है, वह भी प्रारब्धकर्म्मों को निःशेष बनाने में एकान्ततः असमर्थ ही है। जब तक तीर हाथ में है, तभी तक उसे रोका जा सकता है। जब तीर हाथ से निकल गया, तब उसे रोकना तीरन्दाज़ की शक्ति के बाहिर है। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए। सञ्चितसंस्कारव्यूह के अभिक्रमकर्म्म जब तक व्यापारानुगामी नहीं बन जाते, जब तक वे सञ्चित बने रहते हैं, एवं तब तक उनका समत्त्वयोग से नियन्त्रण भी किया जा सकता है। परन्तु जब वे अभिक्रमकर्म्म व्यापारोन्मुख बन जाते हैं, आरब्ध हो जाते हैं, तब सिवाय भोग के अन्य किसी भी उपाय से उनका निवारण सम्भव नहीं है।

११६–भाग्यवाद की जटिल समस्या, और उसका निराकरण—

आज का भाग्यवादी भारतीय प्रज्ञा के सम्मुख आज एक बड़ी जटिल समस्या उपस्थित कर रहा है। प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लेना चाहिए। सर्वसाधारण के मुख से यह सुना जाता है कि-' जैसा हमारे भाग्य में लिखा है, हमें वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। भाग्य की रेखा कभी नहीं मिट सकती''। इसी किंवदन्ती के आधार पर यह प्रश्न खड़ा होता देखा गया है कि, "जब कि भाग्य में लिखा मिट नहीं सकता, तो सुखप्राप्ति के लिए शास्त्रों में विहित-धर्म्म-कर्म्म, अनुष्ठान, जप, आदि विधि-विधानों का क्या प्रयोजन ?"। एक मनुष्य रोगी हुआ है अपने भाग्य से। रोग मिटना लिखा होगा, तो वह नियत समय पर मिट ही जायगा। यदि उसके भाग्य में यह लिखा होगा कि-'तुम्हारी इस रोग से मृत्यु होगी' तो वह भाग्यानुसार मर ही जायगा। यदि भाग्य में सुख पाना है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि दुःख पाना लिखा है, तो उसे कोई भी विधि–विधान मिटा नहीं सकता। फिर शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों का यह कहना कि, 'रोगशान्ति के लिए मृत्युञ्जय का जप करो, अमुक अनुष्ठान करो, दान करो,' इत्यादि का क्या अर्थ ?। भाग्यवाद की इसी समस्या में पड़ कर आज भारतवर्ष पुरुषार्थहीन बन चला है। यदि किसी ज्योतिषी ने यह आश्वासन दिला दिया कि,–'तुम्हारे भाग्य में बहुत सम्पत्ति है,' तो तत्काल हम पुरुषार्थ को नमस्कार कर लेते हैं। क्या ज्यौतिष का फलादेश मिथ्या है ?, क्या भाग्यवाद निस्तत्त्व है ?, क्या विधि–विधान निरर्थक हैं ?, नहीं, सर्वथा नहीं। फिर भाग्यवाद का क्या अर्थ? । तब तो कर्म्मवाद को ही प्रधान मानना चाहिए। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें पहिले 'भाग्य कहते किसे हैं ?' इस प्रश्न की ही मीमांसा करनी चाहिए।

प्रक्रम–अभिक्रमात्मक जन्मान्तरीय सञ्चितसंस्कारव्यूह का नाम है–'भाग्यवाद,' एवं वर्त्तमानजन्मानुगत कर्म्मव्यूहों का नाम है–'कर्म्मवाद,' जो संस्कारजनक बनते हैं, एवं जो संस्कारपुञ्ज भाग्यवादरूप में परिणत होता जाता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, पूर्वजन्म में हमनें जैसे शुभ–अशुभ कर्म्म किए थे, उनसे उत्पन्न शुभ–अशुभ संस्कारों में से कुछ का तो पूर्वजन्म में ही भोग-द्वारा क्षय हो गया। अभिक्रमानुगत-परम्पराक्रम में जिनके भोग का पूर्वजन्म में अवसर नहीं आया, वे संस्कार आत्मा में सञ्चित रह गए। इन पूर्वजन्मानुगत–शुभाशुभ–कर्म्मसंस्कारों की समष्टि ही भारतीय परिभाषा में–'भाग्य' नाम से व्यवहृत हुई–**'भाग्यं कर्म्म शुभाशुभम्'** (जन्मान्तरकृतशुभाशुभकर्म्मभिरुत्पन्नाः, अतएव 'कर्म्म' नाम्नैव प्रसिद्धाः–भोगवञ्चिताः शुभाशुभसंस्काराः–भाग्यम्)।

प्रकृति के अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलता है कि, पूर्वजन्म में सञ्चितसंस्काररूप 'भाग्य' के अनुसार ही सुख–दुःख–रोगादि की प्रवृत्ति होनी चाहिए। और ऐसा ही होता भी है। परन्तु जो भाग्य वर्त्तमान जन्म की मूलप्रतिष्ठा बनता है, उसके **सञ्चितभाग्य, प्रारब्धभाग्य,** भेद से दो विभाग हो जाते हैं। जो सञ्चित अभिक्रमात्मक भाग्य (संस्कार) व्यापारशील नहीं बनता, वह तो सञ्चितभाग्य है, एवं जो अभिक्रमात्मक भाग्य (संस्कार) चल पड़ता है, वह प्रारब्धभाग्य कहलाया है। सञ्चितभाग्य को उपायविशेष से नियन्त्रित किया जा सकता है, किन्तु प्रारब्धभाग्य का किसी भी उपाय से निरोध सम्भव नहीं है। यदि हमनें कोई उपाय नहीं किया, तो उभयविध भाग्य प्रारब्धरूप से भुक्त होकर ही क्षीण बनेगा। यदि उपाय किया तो सञ्चितभाग्य की चिकित्सा हो सकेगी। 'भाग्य का लिखा टलता नहीं' इस किंवदन्ती का उपाय न करने की दशा में यह अर्थ होगा कि–'उभयविध भाग्य का लिखा टलता नहीं'। एवं उपाय करने पर यह अर्थ होगा कि–'सञ्चितभाग्य का लिखा उपाय से टल सकता है, किन्तु प्रारब्धभाग्य का लिखा नहीं टल सकता'। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि, शास्त्रोक्त विधि–विधानों से सञ्चितभाग्यरूप दुष्कृत को सुकृतरूप में परिणत किया जा सकता है। क्या प्रारब्धभाग्य के सम्बन्ध में विधि–विधान सर्वथा निरर्थक हैं ?। नहीं। यह तो सत्य है कि, विधि–विधान प्रारब्धभाग्य को क्षीण नहीं कर सकते, और एतावता ही यदि विधि–विधानों को निष्प्रयोजन बतलाया जाय, तब भी ठीक है। परन्तु विधि-विधानों से आत्मा में एक ऐसा सबल संस्कार उत्पन्न हो जाता है, जिसके प्रवेश से आत्मा सबल हो जाता है। इस सबलता का फल यह होता है कि, विधि–विधानों के अभाव में प्रारब्धभाग्यवश निर्बल बना हुआ जो आत्मा प्रारब्धभाग्य के भोग से अतिशयरूप से केन्द्रविच्युत बनता हुआ कातर हो जाता है, विधि–विधान–कर्म्मजनित सुकृतसंस्कारबल से आत्मा की वह निर्बलता नष्ट हो जाती है। और वह शान्तिपूर्वक प्रारब्धभाग्यानुगत भोगों को भोगने में समर्थ हो जाता है। मान लीजिए–किसी को प्रारब्धभाग्यवश शनैश्चरदशा का सामना करना पडा। ज्योतिर्गणक ने आदेश दिया, तुम नीलम पहिनो। नीलम पहिनने से ग्रहदशा का भोग रुक जायगा, यह बात तो नहीं है। प्रारब्धभाग्यवश ग्रहदशा का फल तो इसे अवश्य भोगना पड़ेगा। परन्तु इस भोग से होने वाली अशान्ति से यह अवश्य बचा रहेगा। क्योंकि नीलम में शनिप्राण की प्रधानता है। इसे धारण करने से सजातीयाकर्षणसिद्धान्तानुसार नीलमसजातीय शनिप्राण का सीधा आक्रमण इस नीलम पर होगा। और इसप्रकार शनिदशानुगामी आत्मा शनिप्राण के साक्षात् आक्रमण से बचा रह जायगा। प्रारब्धभाग्यजनित अनिवार्य्य भोगों में भी हमारा आत्मा अपनी स्थिति न छोड़ बैठे, अपितु वह धैर्य्यपूर्वक–शान्तिपूर्वक इनके अनुगमन में समर्थ हो जाय, एकमात्र इस शान्ति–स्वस्त्ययन–भावावाप्ति के लिए ही अनिवार्य्य भाग्य के सम्बन्ध में भी महर्षियों नें विधि–विधानों की उपयोगिता स्वीकार की है। मानते हैं, विधि–विधानों से सञ्चित भाग्य के प्रारब्धभाग्यरूप अभिक्रम (व्यापारशील सांस्कारिक पुरुषार्थकर्म्म) का नाश सम्भव नहीं है। परन्तु विधि–विधानाभाव में इन प्रारब्धभाग्यजनित भोगों से आत्मा निर्बल बना रहता हुआ जैसे प्रत्यवायोन्मुख (पतनोन्मुख) बना रहता है, वैसे विधि-विधानानुगमन में इस अभिक्रम के रहने पर भी सबलता के कारण यह प्रत्यवायोन्मुख नहीं बनने पाता। विधि–विधान–जनित सुकृत संस्कारात्मक धर्म्मभार्ग अभिक्रम (प्रारब्ध) को नष्ट करने में असमर्थ रहता हुआ भी, लोकभाषानुसार 'भाग्यरेखा मिटाने में असमर्थ रहता हुआ भी' आत्मा को प्रत्यवाय से बचाने में अवश्य समर्थ हो जाता है, और इसप्रकार प्रारब्धकर्म्मों के लिए आदिष्ट विधि–विधानात्मक अनुष्ठानादि धर्म्म आत्मा को एक बहुत बड़े भय से बचाने में समर्थ हो जाता है। अभिक्रमात्मक प्रारब्धभाग्य से सम्बन्ध

रखने वाले शान्ति-स्वस्त्ययन-प्रवर्त्तक विधि-विधानात्मक-धर्म्म की इसी उपादेयता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

—गी० २।४०।

निष्कर्ष यह निकला कि, धर्म्म-कर्म्म-उपासना-अनुष्ठानादि सत्कर्म्मों से सञ्चितभाग्य का अवरोध हो जाता है, प्रारब्धभाग्यजनित भोग भोगने का बल प्राप्त हो जाता है। यही इन विधि-विधानों की अनिवार्य्य (सञ्चितभाग्यापेक्षया), और आपेक्षिक (प्रारब्धभाग्यापेक्षया) उपयोगिता है। एक तत्त्व का और विश्लेषण कर लीजिए। मान लीजिए, एक व्यक्ति प्रारब्धकर्म्मवश रुग्ण हुआ, जिसका भोग केवल रुग्णता पर विश्रान्त है। इस प्रारब्धकर्म्म से व्यक्ति रुग्ण अवश्य हो गया है, किन्तु इससे मृत्युयोग नहीं है। कौन जानता है कि-रोगात्मक भोग के जनक इस प्रारब्ध अभिक्रम के रोगात्मक भोगरूप से क्षीण होते ही सञ्चितभाग्यव्यूह में से वह अभिक्रम प्रारब्धरूप में परिणत होने वाला है, जिसका भोग है-'मृत्यु'। यदि प्रारब्धकर्म्म दशा में वह व्यक्ति मृत्युञ्जयादि विधि-विधान कर रहा है, अथवा तो तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण से करवा रहा है, तो तज्जनित सुकृतबल से (आगे जाकर प्रारब्धभाग्यरूप में परिणत हो जाने वाला, किन्तु) अभी सञ्चितभाग्यरूप में ही परिणत मृत्युभोगजनक, सञ्चित (किन्तु प्रारब्धोन्मुख) वह अभिक्रम क्षीण बन जाता है। इसप्रकार प्रारब्धभाग्यजनित रोगात्मक भोग में बलप्रदानद्वारा शान्तिप्रदान करने के साथ साथ इसके बल से रोगी मृत्युभोगजनक सञ्चित भाग्य के क्षयद्वारा महाभयरूप मृत्यु से भी त्राण पा सकता है। किस समय कौन सा सञ्चित अभिक्रम प्रारब्धरूप में परिणत होकर क्या अनिष्ट कर देता है ?, यह हम सामान्य व्यक्तियों के लिए जैसे अज्ञात विषय है, एवमेव शास्त्रीय विधि-विधानों से जनित सुकृत संस्कारबल किस समय किस सञ्चितभाग्य, और प्रारब्धभाग्य में क्या परिवर्त्तन कर देता है ?, यह भी अज्ञात विषय ही है। तभी तो इस सांस्कारिक भाग्यवाद को 'अदृष्ट' कहा गया है। मान लीजिए-सुकृतसंस्कारजनक अनुष्ठानादि धर्म्म-कर्म्मों से न तो रोगभोगात्मक प्रारब्धभाग्य में ही कोई शान्ति मिली, न मृत्युयोग का ही अवरोध हो सका। फिर भी इसे निरर्थक इसलिए नहीं माना जा सकता कि, इस धर्म्मानुष्ठान से उत्पन्न सुकृत संस्कार इस जन्म में न सही, किसी न किसी जन्म में प्रारब्धदशा में आकर अवश्य ही सुखानुशायी बनेगा। धर्म्मपथ प्रत्येक दशा में अभ्युदयजनक ही है। इससे यदि तात्कालिक फल नहीं होता, तो एतावता ही इसे अनुपादेय नहीं ठहराया जा सकता। शास्त्रोक्त विधि-विधानात्मक धर्म्म-पथ की इसी सार्वकालिक-आवश्यक उपादेयता का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

पार्थ ! नैवेह, नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान्-उषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

—गीता ६।४०,४१।

प्रारब्धकर्म्म की अतिशय प्रबलता से मान लीजिए यावज्जीवन धर्म्ममार्ग का अनुसरण करते हुए भी एक परम धार्म्मिक व्यक्ति जीवन पर्य्यन्त दुःखी ही बना रहा। क्या ऐसे व्यक्ति के धर्म्मजनित सुकृत व्यर्थ चले गए ?। भगवान् कहते हैं–नहीं। इन सुकृत–संस्कारों के बल से इसे परलोक में सद्गति प्राप्त होगी। एवं उत्तर जन्म में श्रीसम्पन्न कुल में यह जन्म लेगा। 'अच्छा' सदा 'अच्छा' ही रहेगा। मलेरिया न रहने पर खाया हुआ कुनीन अपने संस्कारबल से प्रारब्धवश होने वाले मलेरिया को अवश्य ही निर्बल बना देगा। इसीलिए तो भगवान् ने कहा है कि, अदृष्टकर्म्मवाद (भाग्यवाद) की समस्या सुलझाने में बड़े बड़े विद्वान् भी कुण्ठित हो जाते हैं। मानवीय मन अपने बल पर इनका 'इदमित्थमेव' निर्णय कर डाले, यह असम्भव है। जिन तत्त्ववेत्ताओं नें अपनी योगदृष्टि से इन तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, उनका वचनरूप शास्त्र ही हमारे लिए अभ्युदय का एकमात्र निरापद पन्था है। कितना भी स्पष्टीकरण किया जाय, तथापि अदृष्ट-तत्त्वज्ञानशून्यों के लिए मादृश अदृष्टतत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा किया गया यह 'अदृष्टतत्त्वसमस्यासमन्वय' सर्वात्मना सन्तोषजनक नहीं बन सकता–**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'** इत्येव शरणीकरणीयम् *।

११७–समन्वोपाय की सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठता—

प्रकृतमनुसरामः। 'भोग' रूप प्राकृतिक उपाय से प्रारब्धभाग्य (प्रारब्धसंस्कार) तो अवश्य क्षीण हो जाते हैं, परन्तु सञ्चितभाग्य (अनारब्ध संस्कार) ज्यों के त्यों सुरक्षित रह जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि, इस प्राकृतिक भोगक्रम से इस जन्म में न सही, तो किसी न किसी जन्म में तो सञ्चित संस्कारों का क्षय हो ही जायगा। फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता ?। पाश्चात्यशिक्षासंस्कार से सुसंस्कृत एक मित्र सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर विनोद में कहा करते हैं कि–"भाई, जब तुम यह कहते हो कि, बिना प्रयास के भी एक दिन सञ्चित संस्कारों का प्रारब्धद्वारा होने वाले भोग से एकान्ततः उपक्षय हो ही जायगा, तो फिर इस धर्म्म–कर्म्म के पचड़े में हम क्यों पड़ें। हाँ धर्म्माचरण करने वाले थोड़े जल्दी मुक्त हो जायँगे, हम थोड़ी देर में स्वर्ग पहुँचेंगे"। इस घातक–विनोद को इसलिए हमें निस्तत्त्व मानना पड़ेगा कि, विधि-विधानात्मक धर्म्माचरणलक्षण पुरुषार्थ न करने से प्रारब्धकर्म्मजनित शुभा-शुभभोग अतिशयरूप से आत्मा को उत्पीड़ित करते रहेंगे। धर्म्म–कर्म्म के पचड़े के अतिरिक्त दूसरा जो भी कुछ हम करेंगे, करते हैं, वह अधर्म्म–विकर्म्म का ही तो पचड़ा माना जायगा। उसके अनुग्रह ! से आत्मपीड़ा तो विशेषरूप से उद्बुद्ध होगी ही, इसके अतिरिक्त विनोद–प्रेमी मित्रों का वह सुखस्वप्न भी टूट जायगा कि, सञ्चित कर्म्मों का प्रारब्धरूप से स्वतः एवं भोग हो जायगा। सञ्चित कर्म्मों का भोग अवश्य हो जायगा, परन्तु वर्त्तमान जीवन में हम जो कर्म्म करेंगे, उनके धारावाहिक संस्कारों को हम कैसे, किस साधन से रोक सकेंगे ?। आगामी संस्कारों का धाराक्रम न कभी निःशेष बनेगा, एवं न मित्रों का सुख–स्वप्न कभी सफल हो सकेगा।

---

* भाग्यवाद, और पुरुषार्थवाद की विशद तात्त्विक मीमांसा के लिए देखिए–**खण्डचतुष्टयात्मक** सामयिक निबन्ध का **'दुःखस्वरूपमीमांसा'** नामक द्वितीय खण्ड।

तात्पर्य्य–गुणानुगत भोग–उपाय से प्रारब्धकर्म्ममात्र का ही क्षय होगा। सञ्चितकर्म, एवं आगामी कर्म्म, इन दो का क्षय भोगोपाय से न हो सकेगा। सात्त्विक संस्कारभोग सुखात्मक है, राजस संस्कारभोग दुःखात्मक है, एवं तामस संस्कारभोग मोहात्मक है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। तीनों गुण परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। तीनों में अनन्य शत्रुता है। तीनों परस्पर एक दूसरे का अभिभव करते रहते हैं। बढ़ा हुआ सत्त्वगुण रजस्तमोगुणों का, बढ़ा हुआ रजोगुण सत्त्व–तमोगुणों का, एवं बढ़ा हुआ तमोगुण सत्त्व–रजोगुणों का अभिभव करता रहता है। तीनों इस अभिभवधर्म्म से परस्पर शत्रु अवश्य हैं, परन्तु चमत्कार यह है कि, तीनों एक दूसरे के आश्रित बने रहते हैं। रजस्तम को मूल बना कर ही सत्त्वगुण प्रतिष्ठित रहता है, सत्त्व–तम को मूल बना कर ही रजोगुण विकसित होता है, एवं सत्त्व–रज को आधार बना कर ही तमोगुण स्वव्यापार में समर्थ बनता है। पुत्रप्रसव में माता को पुत्रजननप्रयुक्त परम सुख भी है, एवं जननप्रयुक्त कष्ट भी है। हमारा सत्त्वानुगत प्रत्येक सुख दुःखमूलक है, रजोऽनुगत प्रत्येक दुःख सुखमूलक है, एवं तमोऽनुगत प्रत्येक मोह सुखदुःखमूलक है। इसप्रकार परस्पर आश्रयता, परस्पर अभिभव, परस्पर मिथुनता को आगे कर के ही तो गुणानुगता भोगत्रयी प्रवृत्त होती है, जैसाकि—**'अन्योऽन्याभिभव–आश्रय–जनन–मिथुन–वृत्तयश्च गुणाः'** (सांख्यकारिका) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त से भी प्रमाणित है। भोगानुगत सत्त्वगुण मलिनसत्त्व है। शुद्धसत्त्व गुणमर्य्यादा से अतीत है। मलिनसत्त्वानुगत कर्म्म गुणात्मक बनते हुए जहाँ बन्धन के प्रवर्त्तक है, वहाँ शुद्धसत्त्वानुगत कर्म्म गुणात्मक बनते हुए कतकरजोवत् बन्धननिवर्त्तक मानें गए हैं।

जैसे गुणानुगत भोग से प्रारब्ध का उपक्षय होता है, वैसे प्रतिबन्धकत्त्व नामक दूसरे उपाय से सञ्चित संस्कारोंका उपक्षय नहीं होगा, अपितु अभिभवमात्र होगा। **'पुण्येन पापमपनुदति, पापेन पुण्यमपनुदति'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार धर्म्मजनित पुण्यसंस्कार से सञ्चित अशुभ संस्कारों का अभिभव हो जायगा। तात्पर्य्य-भोगोपाय में प्रारब्धात्मक पुण्य–पापात्मक दोनों संस्कारों का उपक्षय होता है। एवं प्रतिबन्धक उपाय से पाप, अथवा तो पुण्य, दोनों में से एक सञ्चित संस्कार का अभिभव होगा। यहाँ आकर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, धर्म्माचरणात्मक प्रतिबन्धकत्त्व नामक उपाय भी शाश्वतसुख का कारण नहीं बन सकता। शास्त्र-सिद्ध धर्म्माचरण ही कर्म्मयोग है। कामनामय इस कर्म्मयोग से मानते हैं-प्रारब्धभोगों में आत्मा उत्पीड़ित नहीं होता। साथ ही सञ्चित संस्कारों में से अशुभ संस्कारों का अभिभव भी हो जाता है। परन्तु इससे न तो सञ्चित संस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद ही होता, एवं न आगामी संस्कारों का ही निरोध होता। अतएव—**'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः–अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म'** के अनुसार यज्ञ–तपो–दान–इष्ट–आपूर्त्त–दत्तादि-लक्षण धर्म्मात्मक शास्त्रीय कर्म्म भी कामना के सम्बन्ध से गुणात्मक बनते हुए पुरुष के चरम पुरुषार्थ-लक्षण आत्मबन्धनविमोक के कारण नहीं बन सकते। ऋषिसम्प्रदाय में परम्परया प्रचलित कर्म्मयोगनिष्ठा के इस काम–प्रवृत्तिलक्षण गुणभाव को लक्ष्य बना कर ही भगवान् ने **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'—कामात्मानः स्वर्गपराः—'भोगैश्वर्य्य–प्रसक्तानाम्'**—इत्यादिरूप से इस काम्यकर्म्मयोग का पूर्ण विरोध किया। और साथ ही इस सम्बन्ध में यह संशोधन अनिवार्य्य माना कि, त्रिगुणभाव–निराकरण के लिए तुम्हें अपने इस धर्म्मपथ से कामना का बहिष्कार करना पड़ेगा। कामनिर्गमन से प्रवृत्तिमूलक यह कर्म्म निवृत्तिमूलक बन जायगा। एवं निवृत्तिमूलक ऐसा कर्म्म निष्कामकर्म्मयोग बन जायगा, जिससे आगामी संस्कारों का भी निरोध हो जायगा, सञ्चित संस्कारों का भी उपक्षय हो जायगा, एवं प्रारब्धभोग–भुक्ति में आत्मा विचलित भी न

होगा। यही वह तीसरा 'समत्त्व' नामक उपाय है, जो अपने इसी अतिशय से भोग, और काम्यकर्म्मयोगात्मक प्रतिबन्धक, नामक दोनों उपायों की अपेक्षा ज्येष्ठ, तथा श्रेष्ठ बन रहा है।

११८–निष्कामकर्म्मयोगलक्षण समत्त्वयोग–

काम्यकर्म्मयोग प्रवृत्तिकर्म्म है, एवं यह मलिन सत्त्वानुगत है। अतएव यह स्वयं भी संस्कारबन्धनप्रवर्त्तक बन रहा है, तथा आगामी संस्कारबन्धननिवृत्ति में भी यह असमर्थ है। हाँ केवल सञ्चित संस्कारों का अभिभव इससे सम्भव है। निष्कामकर्म्मयोग निवृत्तिकर्म्म है, यह शुद्ध सत्त्वानुगत बनाता हुआ गुणातीत है। अतएव यह स्वयं भी संस्कारबन्धननिवर्त्तक है, एवं आगामी संस्कारबन्धन का भी अवरोधक है, तथा इससे प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि–द्वारा सञ्चित संस्कारों का भी आत्यन्तिक उपक्षय हो जाता है। जो कर्म्म कर रहे हैं, वे आगे जाकर सञ्चित–संस्काररूप में परिणत होते हुए आत्मबन्धन के कारण न बनें, जो पहिले से सञ्चितकर्म्म हैं-वे प्रारब्धरूप में परिणत न हो कर तत्रैव नष्ट हो जायँ, प्रारब्धकर्म्मजनित भोगों से आत्मा उत्पीड़ित न हो, यह सर्वप्रयोजन-सिद्धि एकमात्र इस निष्कामकर्म्म योग पर ही निर्भर है। आत्मा स्वस्वरूप से सच्चिदानन्दघन है। आनन्द, विज्ञान, सत्ता, तीनों आत्मा के अमृतधर्म्म हैं। एवं विनाश, जाड्य, दुःख, ये तीनों मृत्युधर्म्म हैं। जब तक प्रवृत्तिप्रधान काम्यकर्म्म का साम्राज्य है, तब तक तीनों मृत्युधर्म्म सुरक्षित हैं, अतएव तब तक अमृतधर्म्म का विकास असम्भव है। धर्म्मपथ वही अमृतात्मक है, जो निवृत्तिप्रधान है। निवृत्तिप्रधान निष्कामकर्म्मयोगा–नुष्ठान से आत्मा में संस्कारबन्धनरूप से अभिनिविष्ट वासना का आत्यन्तिक उच्छेदक हो जाता है, एवं फलस्वरूप सत्ताविरोधी विनाश, विज्ञानविरोधी जाड्य, तथा आनन्दविरोधी दुःख, तीनों मृत्युधर्म्मों से आत्मा छुटकारा पा जाता है। यही निष्कामकर्म्मयोग बुद्धिगत, अतएव असंगधर्म्मसम्बन्ध से **'धर्म्मबुद्धियोग'** कहलाया है, जिसका मौलिकस्वरूप, अनुष्ठानप्रकार, तथा अन्यान्य अतिशय बतलाने वाली विद्या ही **'आर्षविद्या'** कहलाई है।

११९–धर्म्मयोग, और धर्म्मबुद्धियोग—

लोकप्रचलित–काम्यकर्म्मयोग सुखानुशायी सत्–संस्कारों का जनक बनता हुआ **'धर्म्मयोग'** अवश्य है। परन्तु कामना (जीवेच्छा) की प्रधानता से इससे इस धर्म्मयोग में ऋषिप्राणात्मिका, अतएव असङ्गा, अतएव च अभिनिवेशात्मकसंस्कारबन्धननिवर्त्तिका विद्याबुद्धि का अव्यय के विद्याभाग से साक्षात् योग नहीं हो पाता। अपितु कामनामय संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश से यह बुद्धि अपने आपको कामनामय मन के प्रति समर्पित करती हुई अपने असङ्ग ऋषिप्राणधर्म्म से वञ्चित होकर अव्यय के अविद्याभाग की अनुगामिनी बन जाती है। 'बुद्धियोग' सम्पत् से वञ्चित ऐसा धर्म्मयोग कामनाप्राधान्य से स्वर्गादि सुखों का साधक बनता हुआ भी अपने कामनात्मक त्रिगुणभाव से तत्त्वतः आत्मबन्धन का ही कारण बना रह जाता है। एवंविध कर्म्मयोग ही भगवान् की दृष्टि में त्याज्य सिद्ध हुआ है। कर्म्मयोग की इस अभिनिवेशात्मिका विभीषिका से बचाने के लिए सांख्यवादियो नें यह उपाय हमारे सामने रक्खा कि, कर्म्म का एकान्ततः परित्याग कर देना चाहिए। सांख्यनिष्ठों के इस उपाय का भगवान् ने प्रबल शब्दों में इसलिए खण्डन किया कि, कर्म्म आत्मा का स्वरूप है, अतएव उसका एकान्ततः परित्याग असम्भव है। इसके अतिरिक्त कर्म्म अपने स्वरूप से स्वयं बन्धन का भी कारण नहीं है। कर्म्मत्याग असम्भव, कर्म्म बन्धन का कारण नहीं, कर्म्मत्यागव्याज में लोकसंग्रहात्मक लोक–अभ्युदय का अभाव, इन्हीं सब कारणों से कर्म्मात्यन्तविमोक-

लक्षणा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) का कोई महत्त्व नहीं । काम्यकर्म्मयोग प्रत्येक दशा में बन्धन का कारण, कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग असम्भव, ऐसी दशा में हम किस मार्ग का अनुसरण करें ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् ने निष्कामकर्म्मयोग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है । शास्त्रसिद्ध, वर्णाश्रमानुगत आधिकारिक, यच्चयावत् कर्म्मों को ईशकामानुगत बना देने से काम्यकर्म्मयोग निष्कामकर्म्मयोग बन जाता है । और ऐसे कर्म्मयोग से उत्पन्न संस्कार अभिनिवेशात्मक बन्धन के कारण नहीं बन पाते । अपितु बन्धन निवर्त्तक बन जाते हैं । जिस प्रकार राजर्षिविद्या की मूलप्रतिष्ठा **'अनासक्ति'** है, राजविद्या की मूलप्रतिष्ठा **'ईश्वरानन्यता'** है, सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा **'अन्तर्ज्योति'** है, एवमेव इस आर्षविद्या की मूलप्रतिष्ठा **'निवृत्तकर्म्म'** माना गया है । ज्यों ज्यों आप समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तनात्मक निवृत्तकर्म्मरूप धर्म्म का अनुगमन करते जायँगे, त्यों त्यों अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन शिथिल होते जायँगे । यही इस धर्म्मबुद्धियोग की साध्यावस्था कहलाएगी । अभिनिवेश की आत्यन्तिक निवृत्ति पर धर्म्मबुद्धियोगानुगता बुद्धि अव्यय के साथ युक्त होती हुई सिद्ध-धर्म्मबुद्धियोगसम्पत् प्राप्त कर लेगी ! इसप्रकार धर्म्मबुद्धियोगहेतुक साध्य धर्म्मबुद्धियोग से कालान्तर में सिद्धधर्म्मबुद्धियोग प्राप्त हो जायगा । लाभालाभ, जयपराजय, शुभाशुभ, आदि सांसारिक द्वन्द्वभावों से जिसे आप विचलित न पाएँ, जिसे आप सदा लोक-अभ्युदय के लिए कर्म्म में प्रवृत्त देखें, जिसे सदा आत्मप्रसाद से सम्पन्न देखें, समझ लीजिए उसने धर्म्मबुद्धियोग-निष्ठा प्राप्त करली । एवंविध योगी ही गीतापरिभाषानुसार 'कर्म्मयोगी' है । एवंविध योग ही गीतासम्मत कर्म्मयोग है, जिसका निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से समर्थन हुआ है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥

—ईशोपनिषत्

१२०–धर्म्ममार्ग, और नीतिमार्ग–

एवंविध धर्म्मबुद्धियोग ही भारतीय 'समत्वयोग' है, जिसे वर्त्तमानभाषा में हम 'साम्यवाद' कह सकते हैं, जिसका 'धर्म्मनीतिमूलक साम्यवाद' नामक पूर्व परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जाचुका है । जिसका निष्कर्ष यही है कि, धर्म्ममूला नीति ही भारतीय साम्यवाद है, जिसका आधार विश्वात्मा बना हुआ है । धर्म्ममूला नीति ही भारतीय राजनीति है, जो धर्म्म में हीं अन्तर्भूत है । अतएव राजनीति का सञ्चालक भारतीय शासक वस्तुगत्या यहाँ धर्म्म का ही संरक्षक माना गया है । वर्त्तमान युग में शिक्षित प्रजा जिसे राज-नीति कहती है, वह राजनीतिपथ भारतीय परिभाषा में अधर्म्मपथ ही कहलाया है । क्यों कि धर्म्मवञ्चिता अधर्म्मात्मिका ऐसी राजनीति से कभी आत्मशान्ति नहीं मिल सकती । 'पोलीटिकिल' नाम से प्रतीच्यभाषा में प्रसिद्ध राजनीति को आधार बनाने वाला विषमदर्शनानुगत-समवर्त्तनात्मक कल्पित साम्यवाद वस्तुगत्या विषमवाद ही है, जिसका मूल आधार भूतोन्नति ही माना गया है, जो कि भूतोन्नति 'उत्-नति' निर्वचन के अनुसार आरम्भदशा में भूतसमृद्धि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा समूलविनाश का ही कारण बनती है, जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है–

अधर्म्मेणैधते तावत् ! ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

—मनुः ४।१७४।

पुरुष किस मार्ग से अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करे ?, इस प्रश्न के उत्तर में उसके सम्मुख धर्म्म, और नीति, ये दो मार्ग उपस्थित होते हैं। धर्म्मसाधन धर्म्ममार्ग है, नीतिसाधन अधर्म्ममार्ग है। पिपीलिका से आरम्भ कर सर्वतो ज्यायान् स्वयम्भू पर्य्यन्त एकरूप से–अखण्डरूप से–अविभक्तरूप से व्याप्त अव्ययात्मा (ईश्वरात्मा) की आनन्द–विज्ञान–अन्तर्म्मनो-मयलक्षणा विद्या, (ज्ञान), एवं तत्प्रतिष्ठ ब्रह्म–क्षत्र–विट्–लक्षण कर्म्म हीं अव्ययात्मा के स्वरूपधर्म्म कहलाए हैं। इन अव्ययविद्या-कर्म्मों को स्वस्वरूप से विकसित करने वाली धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य नाम की विद्याबुद्धिचतुष्टयी ही आत्मस्वरूपधर्म्म को विकसित करने के कारण 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई है। विद्याबुद्धिचतुष्टयी से सर्वथा विरुद्ध अधर्म्म–अज्ञान–अनैश्वर्य्य–आसक्ति, लक्षणा अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्ययात्मा के आनन्दादिलक्षण स्वरूपधर्म्म स्वविकास से वञ्चित हो जाते हैं। अतएव इस अविद्याबुद्धिचतुष्टयी को 'अधर्म्म' नाम से व्यवहृत किया गया है, एवं यही धर्म्म, और नीतिलक्षण अधर्म्म की एक परिभाषा मानी गई है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, आत्मधर्म्मों को विकसित करने वाले कर्म्म धर्म्म हैं, एवं आत्मधर्म्मों को आवृत करने वाले कर्म्म अधर्म्म हैं। सम्पूर्ण विश्व में एक अव्ययात्मा प्रतिष्ठित है, **'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'** के अनुसार वही 'ईश्वर' कहलाया है। इस एक विश्वेश्वर को लक्ष्य बना कर विश्वात्मानुगत शान्ति–आनन्द–की प्राप्ति के लिए विश्वव्यवस्थार्थ किया जाने वाला कर्म्म धर्म्म है। योगमायावच्छिन्न जीवात्मा प्रतिशरीर में विभिन्न है। इस जीवात्मा को लक्ष्य बना कर जीवात्मानुगत शान्ति–आनन्द–की प्राप्ति के लिए व्यक्तिरक्षार्थ किया जाने वाला कर्म्म ही अधर्म्म है। कारण स्पष्ट है। विश्वेश्वरानुगत विश्वाभ्युदय–साधक कर्म्म परमार्थकर्म्म बनता हुआ सर्वसामान्य का अभ्युदयकारक है। एवं जीवानुगत व्यक्तिस्वार्थसाधक कर्म्म स्वार्थकर्म्म बनता हुआ दूसरों के आत्मक्लेश का कारण है। आत्मोदय, किन्तु परग्लानि प्रवर्त्तक होने से ही जीवानुगत कर्म्म अधर्म्म है। व्यक्तिस्वार्थसाधक यही अधर्म्म नीतिपथ है। प्रत्यक्ष दृष्ट है कि, व्यक्तिगत स्वार्थों में लिप्त नैतिक पुरुष अहोरात्र अध्यवसाय–व्यवसायलक्षण कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए भी परिणामतः सदा अशान्त ही बने रहते हैं। स्वप्न में भी इन्हें वास्तविक शान्ति (आत्मशान्ति) उपलब्ध नहीं होती। हाँ यह सच है कि, जिस प्रकार एक मद्यपी मद्यपान के अभ्यास से दुःखप्रद मद्यपानकर्म्म में शान्ति का अनुभव किया करता है, एवमेव व्यक्तिस्वार्थमूलक नीतिमार्गानुगामी नैतिक पुरुष चिर अभ्यास के अनुग्रह से इस अशान्ति–दुःख को ही शान्ति–सुख मान बैठता है। देखा गया है कि, नैतिक पुरुष एक व्यक्ति की स्वार्थरक्षा के लिए, एक व्यक्ति की सुख-सुविधा के लिए अनेक व्यक्तियों की सुख-सुविधा की उपेक्षा कर देते हैं। न केवल उपेक्षा ही कर देते हैं, अपितु व्यक्तिस्वार्थरक्षा के लिए यदि अनेकों की स्वार्थहानि भी होती है, तो उसे भी यह आवश्यक समझ लेते हैं। इनकी नैतिक बुद्धि अहर्निश इसी व्यापार में व्यग्र–अशान्त बनी रहती है कि, कैसे अपना भला किया जाय ?, फिर चाहे अपने भले के लिए दूसरों का सर्वनाश ही क्यों न हो जाय। **'आत्मोदयः–परग्लानि–र्नीतिरित्यभिधीयते'** इस सूत्र को लक्ष्य बनाने वाले ये नैतिक महापुरुष ? परहानिपूर्वक स्वकल्याण की कामना करते हुए परग्लानिप्रवर्त्तक कर्म्म के अनुग्रह से विश्व में अशान्ति का प्रसार करते रहते हैं, परस्पर मनोमालिन्य, द्रोह, ईर्ष्या, मात्सर्य्य, के जनक बनते रहते हैं। अपनी क्षुद्रबुद्धि से क्षुद्र स्वार्थ को प्रधानता देने वाले भूतोन्नतिपरायण ऐसे नैतिकों की नीति से जब प्रजाविप्लव के अवसर उपस्थित हो जाते हैं, तो उस दशा में ये सन्त्रस्त बन जाते हैं। विप्लवशान्ति के लिए जिन शान्ति–मार्गों का इनकी ओर से आविष्कार होता है, दमनात्मक उन उपायों से शान्ति के स्थान में अशान्ति ही अधिकमात्रा से प्रवृद्ध होती है। शान्ति के नाम

पर अशान्ति का प्रसार करना हीं उन अवसरों पर इनका प्रधान पुरुषार्थ बन जाता है, जैसाकि धर्म्मवञ्चिता, अतएव व्यक्तिस्वार्थमूला वर्त्तमाननीति के दुष्परिणामों से सर्वथा प्रमाणित है।

उधर धर्म्ममूला नीति में विश्वात्मा लक्ष्य बना रहता है। धार्म्मिक पुरुष का यह दृढ प्रत्यय रहता है कि, सब शरीरों में वह एक ही ईश्वरात्मा प्रविष्ट है। अतएव उसकी यह निष्ठा हो जाती है कि, विश्वशान्ति से ही स्वात्मशान्ति-सुख सम्भव है। इस व्यापक निष्ठादृष्टि के प्रभाव से वह निःस्वार्थ विश्वाभ्युदयार्थ ही कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। अतएव प्रारब्धकर्म्मजनित दुःखादि के आक्रमण होने पर भी इसकी अध्यात्मसंस्था स्वाभाविक शान्ति से च्युत नहीं होने पाती। यह विश्वास कीजिए कि, नैतिक पुरुषों के कर्म्म जहाँ भूतमात्रा-प्रधान हैं, वहाँ धार्म्मिक पुरुषों के कर्म्म प्राणमात्राप्रधान हैं। प्राण स्वस्वरूप से असङ्ग है, अतएव तत्प्रधान कर्म्म संस्कारबन्धन से पृथक् रहते हुए भूतासक्ति में आत्मा को आसक्त नहीं होने देते। भूतसमृद्धि भी मिल जाती है, और उसकी आसक्ति न होने से आत्मशान्ति भी सुरक्षित रह जाती है। ऐहलौकिक अभ्युदय, तथा पारलौकिक निःश्रेयस, दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। एवं यही-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः'** लक्षण धर्म्ममार्ग का सर्वोत्कृष्टत्व है। भूत स्वस्वरूप से ससङ्ग हैं। अतएव तत्प्रधान कर्म्म संस्कार-बन्धन-प्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं। कहने भर के लिए आरम्भ में भूतासक्तिपरायण नैतिक पुरुष भूतसम्पत्ति प्राप्त अवश्य कर लेते हैं। परन्तु प्राप्ति में, प्राप्त के संरक्षण में, संस्कारबन्धन में, परग्लानि में, तदित्थं आपाद-मस्तक इस भूतपरायणता में अशान्ति का ही साम्राज्य रहता है। पार्थिव आधिभौतिक-पदार्थों से संसाधित, अतएव केवल ऐहलौकिक क्षणिक सुखप्रवर्त्तक भूतमात्राप्रधान नीतिमार्ग में, एवं दिव्य-आधि-दैविक तत्त्वों से संसाधित, अतएव उभयलौकिक शाश्वतशान्तिप्रवर्त्तक प्राणमात्राप्रधान धर्म्ममार्ग में यही महान् अन्तर है, जिसे लक्ष्य बना कर ही जीवनयात्रानिर्वाह के हेतुभूत धर्म्म, और नीति नामक दोनों मार्गों में से किसी एक का अनुसरण करना चाहिए।

१२१-आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिष्कर्ष—

अनेक दृष्टियों से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग के स्वरूप-विश्लेषण की चेष्टा की गई। **'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्'** (१३।४।) के अनुसार मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के द्वारा आदिष्ट शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमानुगत कर्म्म हीं 'कर्म्मयोग' कहलाया। भगवान् ने इसका लोकसंग्रहदृष्टि से संग्रह अवश्य किया, परन्तु संशोधन के साथ। ऋषिसम्प्रदायानुगत कर्म्मयोग स्वर्गादि काम्य फलों से अभिनिवेश का जनक बन रहा था। फलकामासक्ति-परित्याग को लक्ष्य बना कर भगवान् ने इस कर्म्मयोग को बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की। इसी संशोधन से ऋषिसम्प्रदायप्रचलित यह कर्म्मयोग 'निष्कामकर्म्मयोगात्मक'-'धर्म्मबुद्धियोग' कहलाया, जिसके समर्थक वचन-गी०भू० बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम खण्ड में उद्धृत कर दिए गए हैं (देखिए पृ० ३४७ से ३४६ पर्य्यन्त)। धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

इति--बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे 'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः प्रथमस्तम्भः

(२)-१

———o———

श्रीः

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
द्वितियप्रकरणान्तर्गत
'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)-१

श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे
'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
द्वितीयस्तम्भः

(२)-२

श्रीः

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

द्वितीयस्तम्भः

१–अस्मिता के प्रतिद्वन्द्वी 'ऐश्वर्य्य' का स्वरूपोपक्रम–

ऐश्वर्य्य, और अस्मिता, दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या के स्वरूपपरिचय से पहिले इन दोनों का स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। प्रत्येक वस्तुतत्त्व दृश्य, स्पृश्य, भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। जिस वस्तु को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से देखते हैं, वही दृश्यभाग है, जो हमारी करस्पर्शसीमा से बहिर्भूत है। जिस वस्तु को हम अपने हाथों से छूते हैं, वही स्पृश्यभाग है, जो हमारी दृष्टिसीमा से बहिर्भूत है। जिसे हम देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसे हम छूते हैं, उसे देख नहीं सकते। दृश्यभाग **'वस्तुपिण्ड'** कहलाया है, स्पृश्यभाग **'वस्तुमण्डल'** कहलाया है। वस्तुपिण्ड ऋग्वेदात्मक है, वस्तुमण्डल सामवेदात्मक है। दोनों के मध्य में भुक्त आकाशात्मा गतितत्त्व यजुर्वेद है। यजुर्वेद वय है, ऋक्–रूप पिण्ड, सामरूप मण्डल, दोनों वयोनाध हैं। वयोलक्षण यजुर्वेद **'रसवेद'** है, पिण्डलक्षण ऋग्वेद **'छन्दोवेद'** है, एवं मण्डललक्षण सामवेद **'वितानवेद'** है। इन तीनों तात्त्विक वेदों का विशद वैज्ञानिक निरूपण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड में द्रष्टव्य है। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, प्रत्येक पदार्थ को हम पिण्ड, और मण्डल, इन दो भागों में विभक्त पाते हैं। पिण्ड हमारे स्पर्श का लक्ष्य बनता है, मण्डल हमारी दृष्टि का विषय बनता है।

२–यजुर्म्मय वस्तु, ऋङ्मय वस्तुपिण्ड, एवं साममय वस्तुमण्डलात्मक सर्वमूर्त्ति प्रजापति–

वस्तुपिण्ड की मूलप्रतिष्ठा वस्तु का हृदय (केन्द्र–गर्भ) माना गया है। **'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'** के अनुसार केन्द्र के आधार पर वस्तुपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र में प्रतिष्ठित आगति–गति–स्थिति-रूप अन्तर्य्यामी प्रजापति ही उस वस्तुपिण्ड के आदान–विसर्गात्मक कर्म्म की आधारभूमि बन रहा है। केन्द्रस्थ यही अन्तर्य्यामी विज्ञानभाषा में **'उक्थ'** कहलाया है। यह उक्थतत्त्व ही वस्तुपिण्ड का आत्मा है, जो आत्मतत्त्व मनः–प्राण–वाङ्मय माना गया है। मनोरूप से यह आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि–**'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** इत्यादि यजुःश्रुति से प्रमाणित है। उक्थरूप हृद्य मनोमय आत्मा हृदय में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि बृहतीछन्द (विश्वद्वृत्त) के केन्द्र में उक्थ (बिम्ब) रूप सूर्य्य प्रतिष्ठित है। जैसे बिम्बात्मक (उक्थात्मक) सूर्य्य से चारों ओर रश्मियाँ विनिर्गत हैं, एवमेव इस उक्थात्मक मनोमय हृदयस्थ आत्मबिम्ब से प्राणात्मिका रश्मियाँ वागाधारेण समन्तात् विनिर्गत है। वागाधारेण बहिर्धा वितत प्राणात्मक यही रश्मिमण्डल वस्तुपिण्ड का बहिर्म्मण्डल कहलाया है, यही सामवेद के सम्बन्ध से **'साममण्डल'** कहलाया है। जिसप्रकार एक शासक अपने राज्यमण्डल

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है, एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणरूप से इस प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव प्राणात्मक यह साममण्डल हृदयस्थ आत्मा का **'विभूतिमण्डल'** कहलाया है। यही मण्डल **'महिमामण्डल'** नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुपिण्ड हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपत्तिस्थान (व्याप्तिस्थान) है, अतएव विज्ञानभाषा में यह स्पृश्यपिण्ड **'पदम्'** कहलाया है। बहिर्मण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपत्तिस्थान है, अतएव यह 'पुनःपदम्' कहलाया है। हृदय **'हृत्पृष्ठ'** है, पिण्डात्मक 'पद' 'अन्तःपृष्ठ' है, मण्डलात्मक 'पुनःपद' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है, यही उक्थ है, यही **'पशुपति'** है। अन्तःपृष्ठात्मक तत्त्व प्राण है, यही अर्क है, यही **'पाश'** है। बहिःपृष्ठात्मक तत्त्व वाक् है, यही अशीति है, यही **'पशु'** है। मनः-प्राण-वाक्,-उक्थ-अर्क-अशीति,-पशुपति-पाश-पशु, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध त्रिसंस्थ यही तत्त्व 'प्रजापति' कहलाया है, जो अपने हृत्पृष्ठ की अपेक्षा से **अनिरुक्त**, अन्तःपृष्ठ की अपेक्षा से **उद्गीथ**, एवं बहिःपृष्ठ की अपेक्षा से **सर्व**, नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी वही है, अन्तःपृष्ठ भी वही है, बहिःपृष्ठ भी वही है-**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च'**।

३-ईश्वर के विविध विवर्त्त, और उसके विविध ऐश्वर्य्य-विवर्त्त-

प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति ही तद्वस्तु का **'ईश्वर'** है। इस उक्थात्मक हृद्य ईश्वर (अन्तर्य्यामी) का प्राण-वाङ्मय बहिर्म्मण्डल ही इसका **'ऐश्वर्य्य'** है। महिमामण्डल ही ऐश्वर्य्य है। सौर प्रकाशमण्डल सूर्य्येश्वर का ऐश्वर्य्य है, चान्द्र ज्योत्स्नामण्डल चन्द्रेश्वर का ऐश्वर्य्य है। पार्थिव रथन्तरमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य्य है, नभस्वान्मण्डल अव्यक्तेश्वर (स्वयम्भू) का ऐश्वर्य्य है, सरस्वान्मण्डल पारमेष्ठ्य ईश्वर का ऐश्वर्य्य है। स्व० पर० सू० च० पृथिवी के केन्द्रस्थ ईश्वरों के नभस्वान्-सरस्वान्-सौरप्रकाश-चान्द्रज्योत्स्ना-रथन्तररूप ऐश्वर्य्यों को अपने ऐश्वर्य्यमण्डल में भुक्त रखने वाला अवारपारीण विश्वस्यैक-परिवेष्टिता अश्वत्थ नामक षोडशीपुरुषेश्वर का ऐश्वर्य्यमण्डल अनाद्यनन्त परमाकाश है। परमाकाशात्मक ऐश्वर्य्य से युक्त महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे असंख्य ईश्वर, और उसके ऐश्वर्य्यों को अपने गर्भ में रखने वाला परात्परतत्त्व परमेश्वर है। यही सर्वेश्वर है, और यही उसका सर्व्वैश्वर्य्य है। आत्मा ईश्वर है, आत्मप्राणगर्भित वाङ्मण्डल ऐश्वर्य्य है। यही **विभूति, वैश्वरूप्य, साहस्री, पुनःपद, वषट्कार, महिमा,** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मा भी ऐश्वर्य्यशाली उसी ईश्वर का अंश बनता हुआ आध्यात्मिक ईश्वररूप से तदभिन्न है। अतएव सम्पूर्ण विश्वैश्वर्य्य उसी का ऐश्वर्य्य है। जीवेश्वर-तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा से जीवात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यों का अधिष्ठाता बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य्य' नाम की 'भग'-सम्पत्ति है, जिसके सम्बन्ध से जीव में भगवत्ता का समावेश हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-लक्षण ऐश्वर्य्य-

विभूतिलक्षण ऐश्वर्य्य ही **'आत्मवित्त'** माना गया है। यह **आत्मवित्त, अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त,** भेद से दो भागों में विभक्त है। प्राणप्रधान वित्त अन्तर्वित्त है, भूतप्रधान वित्त बहिर्वित्त है। प्राण, इन्द्रियवर्ग, शरीर, स्त्री, पुत्र, आदि अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं। एवं अनुचर, पशु, आदि चेतनद्रव्य, तथा अन्न, वस्त्र, प्रासाद, उद्यान, धातु (रूपय्या पैसा) आदि अचेतनद्रव्य, दोनों का बहिर्वित्त में अन्तर्भाव है। आत्मा इन उभय वित्तों में **विभूतिसम्बन्ध, योगसम्बन्ध,** तथा **बन्धनसम्बन्ध** से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्वित्त-

सीमा पर्य्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है, इसी आधार पर श्रुति का "यावद्वित्तं, तावदात्मा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य (आत्मविकास) पूर्णरूप से विकसित है। कारण-विभूतिसम्बन्ध असङ्गसम्बन्ध है। असङ्गधर्म्मावच्छिन्न पद्म जैसे जल में रहता हुआ भी जलासक्ति से पृथक् रहता है, एवमेव असङ्गधर्म्मावच्छिन्न आत्मा असङ्गलक्षण विभूतिसम्बन्ध से सङ्गधर्म्मावच्छिन्न विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयासक्ति से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयवित्त के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का बन्धनसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य ससङ्ग-विषयासक्ति से आवृत होता हुआ अपना विकासात्मक ऐश्वर्य्यधर्म्म खो देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग, और विभूति, इन दो सम्बन्धों में हीं अन्तर्वित्त-बहिर्वित्तानुगत आत्मा का ऐश्वर्य्य नामक भग स्वधर्म्मात्मक स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव भगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए अव्ययात्मा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

—गी॰ १०।७।

५- ऐश्वर्य्य की साध्य, तथा सिद्धावस्थाएँ-

आत्मैश्वर्य्य ही वित्तैश्वर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं प्राणैश्वर्य्य ही भूतैश्वर्य्य की आधारभूमि है। स्थिति का यों स्पष्टीकरण कीजिए। आत्मा अपने प्राणप्रसारधर्म्म से ऐश्वर्य्यशाली है, विभूतिमान् है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ युक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्य्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन, मानस संकल्प, तथा विचारधारा, सबकुछ ऐश्वर्य्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में हीं ऐश्वर्य्य रहता है। लोकभाषा में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'निगहदौलत' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्य्यविकास से इनका अन्तर्जगत् सर्वत्र पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभावना के आकर्षण से बाह्य-भूतैश्वर्य्य अपने आप इनका भोग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्जगत् में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर के अंश है, हममें सब कुछ है, हमारा सब कुछ है, उनकी इस अस्तिमूला सद्भावना का नाम हीं 'ऐश्वर्य्य' है। इसी आत्मैश्वर्य्यभावना से भूतैश्वर्य्य अनिमन्त्रित ही इनका क्रीतदास बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जिनकी यह भावना रहती है कि, हम तो दरिद्री हैं, हमारे पास क्या रक्खा है, हमारे पास यह नहीं-वह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य्य इस मनोभावनात्मक अनैश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिमूला असद्भावना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतैश्वर्य्य भी उच्छिन्न हो जाता है, एवं आत्मैश्वर्य्यमूलक आगामी भूतैश्वर्य्य से भी ये वञ्चित रह जाते हैं। जिस धर्म्म से आत्मा अपने ऐश्वर्य्यधर्म्म से विकसित होकर भूतैश्वर्य्य पर अपना प्रभुत्त्व रखने में समर्थ होता है, विद्याबुद्धिगत वही धर्म्म ऐश्वर्य्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्य्योदय का कारण बनता हुआ) ताच्छब्द्यन्याय से 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। आत्मानुगत ऐश्वर्य्य महिमा-मण्डलात्मक है, यही सिद्ध ऐश्वर्य्य है, यही प्राप्तव्य है। बुद्ध्यनुगत ऐश्वर्य्य ऐश्वर्य्यसाधक ऐश्वर्य्य है, यही साध्य ऐश्वर्य्य है, यही 'ऐश्वर्य्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्मिताबुद्धि' नामकी अविद्याबुद्धि को हटा कर आत्मा के महिमालक्षण ऐश्वर्य्योदय का कारण बनती है।

६–आत्मविकास की प्रतिबन्धिका अस्मिता–

आत्मा ईश्वर है, ईश्वर की ईश्वरता ही उसका ऐश्वर्य्य है। आत्मा स्वभावतः अपने व्यापक पूर्ण-अखण्ड धर्म्म से विकासशील है। यह विकास ही आत्मेश्वर की ईश्वरता है। फलतः आत्मविकास ही 'ऐश्वर्य्य' है। व्याप्य-अपूर्ण-खण्डधर्म्म अनात्मधर्म्म हैं। इनके समावेश से आत्मा का स्वाभाविक विकास उसी प्रकार अवरुद्ध हो जाता है, जैसे कि धूमदग्ध यव (जौ) अपने अङ्कुरादिलक्षण विकासधर्म्म से वञ्चित रह जाता है। किंवा करस्पर्शजनित ऊष्मा के प्रत्याघात से जैसे पुष्पकलिका का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जिन अनात्मधर्म्मों से आत्मा अपने विकासात्मक ऐश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है, आत्मविकासप्रतिबन्धक वही आगन्तुक धर्म्म (किन्तु आत्मधर्म्मापेक्षया अधर्म्म) **'अस्मिता'** कहलाया है। आत्मसंकोच ही अस्मिता है।

७–स्मित, हास, और अट्टाट्टहास-स्वरूपदिग्दर्शन, एवं अस्मिताभाव–

'स्मिङ्–ईषद्धसने' के अनुसार विकास ही ईषत्–हसन लक्षण स्मितभाव है। जिस वृत्ति के लिए लोक में 'मन्दस्मित' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वही स्मितभाव है। मन्दमुसकान ही ईषत्–हसन है, यही स्मितभाव है, और यही आत्मैश्वर्य्य का बाह्य प्रतीक है। हास (हँसी) तत्त्व **स्मित, हास, अट्टाट्टहास,** भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। जिस हास्य में दन्तपङ्क्ति के दर्शन नहीं होते, किसी प्रकार की शब्दध्वनि नहीं होती, वह शान्त मन्दहास ही 'स्मितहास' कहलाया है। यह हास सर्वोच्चकोटि में प्रतिष्ठित है। आत्मतत्त्वानुगामी उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित रहने वाले विद्वानों का **'स्मितहास'** ही माना गया है। जिस हास्य में दाँत खिल जाते हैं, 'हा–हा–ही–ही' शब्दध्वनि प्रवाहित रहती है, विषयसुखानुगत दन्तदर्शन–शब्दध्वन्यात्मक यही हास **'हास'** नामक हास माना गया है। विषयभोगानुगामी मध्यभूमिका में प्रतिष्ठित रहने वाले लौकिक मनुष्यों का लक्ष्य यही **'हास'** बना करता है। जिस हास्य में दाँतों के साथ साथ मुखविवर भी अतिशयरूप से चौड़ा हो जाता है, नाक–कान–आँख–हाथ–पैर, किंबहुना सम्पूर्ण शरीर जिसमें अपनी स्वाभाविक ऋजुता छोड़ कर विकृताङ्ग बन जाता है, अहाहा–ओ हो हो–इत्यादि रूप से जिस में शब्दध्वनि तारस्वर का भी अतिक्रमण कर जाती है, जिसे देख–सुन कर पास बैठने–चलने वाले शान्तप्रकृतिक पुरुष म्लान हो पड़ते हैं, भयानक रस से ओतप्रोत वही हास **'अट्टाट्टहास'** कहलाया है। विचारबुद्धि से अनन्यशत्रुता रखने वाले, सद्विद्यासंस्कार से एकान्ततः वञ्चित रहने वाले, असत्संस्कारानुगामी, असुरधर्म्मा अविवेकी ही इस अट्टाट्टहास की आश्रयभूमि बना करते हैं। स्मितहास आत्मैश्वर्य्य का अनुगामी है, हासात्मक हास वित्तैश्वर्य्य का अनुगामी है, एवं अट्टाट्टहास वित्तशाठ्य–विद्याशाठ्यादि मदवृत्तियों का अनुगामी है। क्योंकि स्मितहास आत्मैश्वर्य्यानुगामी है, अतएव वैज्ञानिकों नें ऐश्वर्य्यविघातक संकोच को 'अस्मिता' नाम से व्यवहृत करना ही अन्वर्थ समझा है। अस्मिता शब्द आत्मैश्वर्य्यमूलक स्मितभाव (विकासभाव) का ही अभाव सूचित कर रहा है।

८–आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक स्मितहास, और तद्विरोधिनी अस्मिता—

स्मितभाव ही आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक है, हास, और अट्टाट्टहास आत्मैश्वर्य्य से वञ्चित हैं। अतएव स्मितभावात्मक ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विता में ऋषियों नें 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग ही समीचीन माना है। स्मित-भाव ही आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक क्यों है ?, हास, और अट्टाट्टहास को आत्मैश्वर्य्यानुगामी क्यों नहीं माना गया ?, जब कि हासलक्षण विकास हास और अट्टाट्टहास में भी विद्यमान है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के

लिए हमें 'स्मित' भाव के वैज्ञानिक भाव का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा। बतलाया गया है कि, अस्मितालक्षण संकोचधर्म्म के प्रवेश से आत्मा का विकासलक्षण स्वाभाविक ऐश्वर्य्य अभिभूत होजाता है। फलस्वरूप अस्मितायुक्त पुरुषों के मुख से सदा हीन-वीर्य्यतासूचक वाक्य निकला करते हैं। ऐसे व्यक्ति पदे पदे कष्ट, तज्जनित शोक, एवं तज्जनित अश्रुपात के अनुगामी बने रहते हैं। क्या ऐश्वर्य्यलक्षण विकासधर्म्म के अनुयायी पुरुष 'हम पूर्ण सुखी हैं, हतारे पास सब कुछ है, हमें क्या कमी है, 'इत्यादि वाक्यप्रयोगों के द्वारा अपने ऐश्वर्य्य-धर्म्म का बड़े आटोप के साथ बखान किया करते हैं ?, क्या आत्मैश्वर्य्यानुगामी पुरुष प्राप्त भूतैश्वर्य्यों से अतिशयरूप से आह्लादित बन कर हासात्मक हास, किंवा अट्टाट्टहास के अनुगामी बन जाते हैं ?, क्या आत्मैश्वर्य्य के प्रतीक ये ही बाह्य धर्म्म हैं ?, मीमांसा कीजिए !

९-आत्माभिमान, एवं आत्मातिमान का स्वरूपदिग्दर्शन—

सुनते हैं, एक बार देवता और असुरों में भयानक संघर्ष (युद्ध) छिड़ गया। दोनों शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर व्यूह(मोर्चा) बना कर युद्ध में प्रवृत्त हो गए। इस देवासुरसंग्राम में अधिक संख्या वाले असुर पराजित हो गए, एवं विजयश्री ने देवताओं का संवरण किया। ऐसा क्यों हुआ ?, इसका उत्तर देते हुए ऋषि ने यह कहा है कि, देवता अभिमानी थे, किन्तु असुर अतिमानी थे। आत्माभिमानी देवता संख्या में थोड़े रहते हुए भी जीत गए, एवं वागतिमानी असुर संख्या में अधिक रहते हुए भी हार गए-**'ते ह्यसुराः-अतिमानेनैव पराबभूवुः'** (शत० ५।१।१।१।)। प्राकृतिक अहन्ता 'मान' है। यह 'मान' तत्त्व अभिमान, अतिमान, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अभिमानात्मक मान का अन्तर्जगदनुगत 'आत्मा' से सम्बन्ध है। एवं अतिमानात्मक मान का बहिर्जगदनुगत 'शरीर' से सम्बन्ध है। विद्याबुद्धिसहकृत अव्यक्तात्मबल ही अभिमान है, एवं यही 'आत्माभिमान' कहलाया है, जो कि आत्मविकास का प्रधान साधन माना गया है। अपने आपको (आत्मा को) साक्षात् ईश्वर का अंश समझते हुए इसे सच्चिदानन्दघन मानना, सदा अपने अन्तर्जगत् में परिपूर्णता का अनुभव करना, कभी आत्मा को हीन न मानना, कभी मुख से-"हम तो दास हैं, दासानुदास हैं, अकिञ्चन हैं, निर्धन हैं, असमर्थ हैं" ऐसे हीनता-सूचक वाक्य न निकालना, अपितु ठीक इसके विपरीत सदा 'हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं, अतएव सर्वविध सम्पत्तियों से परिपूर्ण हैं, सर्वसमर्थ हैं,' यह भावना करते रहना, यही 'आत्माभिमान' है। एवंविध आत्माभिमान का उदय कैसे, और कब होता है ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥

—गीता ६।५, ६,।

१०-'उद्धरेदात्मना आत्मानम्' का तात्त्विक समन्वय—

"आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मा को कभी नहीं गिराना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है, एवं आत्मा ही आत्मा का मित्र है" प्रथम श्लोक का यही अक्षरार्थ है। सर्वसाधारण मनुष्य

इस भगवद्वचन का यों समन्वय करते देखे-सुने जाते हैं कि,—'हमें अपने आप ही अपना उद्धार करना चाहिए, कभी अपने आप को नहीं गिराना चाहिए। हम स्वयं हीं अपने आपके मित्र हैं, एवं स्वयं हीं अपने आपके शत्रु हैं'। इस अर्थ से वे इस तात्पर्य्य पर पहुँचते हैं कि—'पुरुष को किसी के भरोसे नही रहना चाहिए। अपितु स्वावलम्बी बन कर अपनी शक्ति से काम लेना चाहिए। अपने आत्मबल पर भरोसा कर उसी से कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ना चाहिए। जो मनुष्य अपने बल से काम नहीं लेते, वे दुःखी बने रहते हैं। जो अपने बल से काम लेते हैं, वे सुखी बन जाते हैं'। व्यवहारनीति की दृष्टि से इस तात्पर्य्य का हम अभिनन्दन कर सकते हैं। परन्तु तत्त्वद्रष्ट्या इसी अर्थ पर विश्राम नहीं किया जा सकता। 'आत्मना-आत्मानम्' इस वाक्य में भगवान् ने एक आत्मा को तृतीयान्त माना है, एक को द्वितीयान्त माना है। इसी विभक्तिभेद से यह प्रमाणित है कि '**आत्मना**' पृथक् आत्मा है, एवं '**आत्मानम्**' पृथक् आत्मा है। साक्षी ईश्वरात्मा, एवं भोक्ता जीवात्मा के भेद से अध्यात्मसंस्था में तत्त्वदृष्ट्या दो आत्मभाव प्रतिष्ठित हैं। दोनों यहाँ समन्वित हैं, सखा-भाव से प्रतिष्ठित हैं। ईश्वरात्मा '**प्रत्यगात्मा**' कहलाया है, जीवात्मा '**शारीरक**' कहलाया है। प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान बनता हुआ '**अज**' (अजन्मा) है, नित्यकूटस्थ है। शारीरक आत्मा क्षरगर्भित अक्षरप्रधान बनता हुआ योगमायानुगत त्रैगुण्य-सम्बन्ध से 'जायस्व-म्रियस्व'-लक्षण द्वन्द्वभाव से आक्रान्त है। प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बना कर जहाँ भगवान्-'**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः**' यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं, वहाँ जन्म-मरण-धर्म्मा शरीराभिमानी शारीरक आत्मा को लक्ष्य बना कर-'**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च**' यह सिद्धान्त स्थापित कर रहे हैं। शरीर में रहता हुआ भी अपने विभूतिसम्बन्ध से प्रत्यगात्मा जहाँ सर्वभूतों में (सर्वप्राणिशरीरों में) अविशेष बनता हुआ एक है, वहाँ चितिसम्बन्ध से शारीरक आत्मा सविशेष बनता हुआ प्रतिशरीर में विभिन्न है, नाना है। वेदान्तदर्शनानुगत ऐकात्म्यवाद जहाँ प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बना रहा है, वहाँ प्राधानिक (सांख्य) दर्शनानुगत अनेकात्मवाद शारीरक आत्मा को उद्देश्य मान रहा है। अव्ययावतार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण उपदेश अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा को जहाँ लक्ष्य बना रहा है, वहाँ योगमायी अर्जुन के शोक, द्वन्द्वादि प्रश्न शारीरक आत्मा को लक्ष्य बना रहे हैं। अर्जुन की प्रश्नावली का मूलाधार है शारीरक आत्मा, एवं भगवान् की उत्तरावली का मूलाधार हैं प्रत्यगात्मा। सम्पूर्ण गीताशास्त्र अथ से इति पर्य्यन्त इन्हीं दोनों आत्मविवर्तों को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हुआ है। उक्त वचन का 'आत्मना' प्रत्यगात्मा का संग्राहक है, एवं 'आत्मानम्' शारीरक आत्मा का संग्राहक है। 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए'—वाक्य का यही तात्पर्य्य है कि, 'ईश्वरलक्षण प्रत्यगात्मा से जीवलक्षण शारीरक आत्मा का उद्धार करना चाहिए, प्रत्यगात्मा धर्म्मज्ञानादि चतुर्विध भगसम्पत्तियों से परिपूर्ण है। तदंशभूत शारीरकात्मा भी प्रकृत्या है परिपूर्ण ही, परन्तु अधर्म्म-अज्ञानादि चतुर्विध क्लेश-सम्पत्तियों के आवरण से यह स्वप्रभव प्रत्यगात्मा की परिपूर्णता से वञ्चित रह जाता है। यही इसकी दुःखप्रवृत्ति का मूल कारण है। इस मूलकारण के निराकरण के लिए जीवात्मा को आवरण हटाना पड़ेगा, तदर्थ चतुर्विध बुद्धियोगों में से किसी एक का अनुगमन करना पड़ेगा, तत्साफल्यार्थ अहोरात्र प्रत्यगात्मा का संस्मरण करना पड़ेगा। इस परम्परा से जीवात्मा ईश्वरात्मा के द्वारा ही स्वोद्धार में समर्थ बन सकेगा। ठीक इसके विपरीत यदि वह जीवात्मा अविद्याचतुष्टयी का ही अनुगामी बना रहा, तो प्रत्यगात्मा के शक्तिदान से वञ्चित रहता हुआ यह अपना अवसाद करा बैठेगा। प्रत्यगात्मानुग्रह से वञ्चित इस जीवात्मा का अवसाद (पतन) अनिवार्य्य बन जायगा। इसी सम्पूर्ण परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए भगवान ने कहा है—

'प्रत्यगात्मा से शारीरक आत्मा को शक्तिशाली बनाओ। प्रत्यगात्मा की उपेक्षा कर शारीरक आत्मा को पतनोन्मुख न बनाओ'। 'अपने आप से ही अपना उत्थान सम्भव है' इस वाक्य का 'अपने' शब्द जीवात्मा का सूचक है, एवं 'आप' शब्द ईश्वरात्मा का सूचक है। वही अपना (जीवात्मा का) आप (प्रत्यगात्मा) है। जो अपना आपा बिगाड़ लेता है, वही पतित होता है। इसी आधार पर यह लोकसूक्ति प्रचलित है कि 'अमुक ने अपना आपा सुधार लिया, अमुक ने अपना आपा बिगाड़ लिया'।

११–ईश्वरेच्छानिबन्धना महती समस्या—

प्रथम श्लोक के 'उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्' इस पूर्ववचन का समन्वय तो हो गया। परन्तु इसी समन्वय ने–'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इस उत्तर वचन के सम्बन्ध में एक जटिल समस्या उपस्थित कर दी। प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लीजिए। समस्या है ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में। पूर्वपरिभाषा के अनुसार उत्तर वचन के 'आत्मैव' का अर्थ होगा–प्रत्यगात्मा, एवं 'आत्मनः' का अर्थ होगा–शारीरक आत्मा, जिसका अर्थ होगा यह कि, 'ईश्वर ही जीवात्मा का मित्र है, एवं ईश्वर ही जीवात्मा का शत्रु है'। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार अनन्तकल्याणगुणाकर–परमकारुणिक–बना हुआ ईश्वर भी क्या राग–द्वेषमूलक मित्रता–शत्रुता–भावों का अनुगामी बना रहता है ?। क्या वह समदर्शी नहीं है ?, क्या वह भी जीववर्ग की भाँति किसी जीव का मित्र, और किसी जीव का शत्रु बना रहता है ?। उत्तर में हाँ भी कहा जा सकता है, और ना भी कहा जा सकता है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों उत्तरों के समन्वय के लिए ही 'ईश्वरेच्छा' से सम्बन्ध रखने वाली समस्या की मीमांसा अपेक्षित है।

आस्तिक प्रजा का यह विश्वास है कि, बिना ईश्वर की इच्छा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। 'ईशनी किरपा बिना ना पान पण हाली शके' इस गुज्र्जरभाषासूक्ति के अनुसार प्रत्येक कर्म्म की प्रवर्त्तिका ईश्वरेच्छा ही है, जिस ईश्वर की ईच्छा को हम 'ईश्वरकृपा' भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में लोकायतिकों (नास्तिकों) के अनेक विसंवाद उपस्थित होजाते हैं। वे आस्तिक प्रजा से प्रश्न कर बैठते हैं कि, 'यदि ऐसा है, तब तो संसार में कोई बुरा काम है ही नहीं। मद्यपान, चोरी, हिंसा, परदारगमन, अभक्ष्यभक्षण, आदि आदि जितनें भी असत्कर्म्म हैं, उन सबका मूल भी यदि ईश्वरेच्छा ही है, तो इन्हें बुरा क्यों कहा जाय ?, क्यों कहा जाता है ?। दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि,–'देखते हैं, एक चोर चोरी करने से पहिले जगदम्बा–भैरव–आदि में से किसी नियत इष्टदेव से प्रार्थना करता है कि, 'यदि आज मैं चोरी करने में सफल होगया, तो आपको अमुक भेंट से सन्तुष्ट करूँगा'। यह भी मान लेते हैं, और यह मान्यता सत्य भी है कि, इष्टदेवानुग्रह से चोरी करने में वह सफल होजाता है। प्रश्न होता है कि, क्या ईश्वर चोरी जैसे निन्द्य कर्म्म का भी सहायक बन जाता है ?। सभी पापकर्म्म यदि पुण्यकर्म्मों की भाँति ईश्वरेच्छा से ही सम्बद्ध हैं, तो पापकर्म्मों से बचाने के लिए प्रवृत्त होने वाला शास्त्रोपदेश तो व्यर्थ है ही, इसके साथ साथ संसारसागरसमुद्धर्त्ता ईश्वर पर एक बहुत बड़ा कलङ्क भी आरोपित होजाता है। यदि वही, उसकी इच्छा ही असत्कर्म्मों की भी प्रवर्त्तिका है, तो इसका दण्ड हमें क्यों मिले ?। मिलता है, इसीलिए तो समस्या और भी जटिल बन जाती है जटिलता के निराकरण के लिए आत्मसोपानपरम्परा का अन्वेषण अभिप्सित है।

१२-आध्यात्मिक-आत्मसोपानपरम्परा—

सांसारिक विषयों, तथा सांसारिक कर्म्मों का भोक्ता कौन ?, उत्तर है-'भोक्तात्मा'। भोक्तात्मा का क्या स्वरूप ?, उत्तर है-'आत्मा, इन्द्रिय, मन' का समुच्चितरूप। अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान तैजस, ज्ञान-प्रधान प्राज्ञ, तीनों की समष्टि 'आत्मा' है, यही देहाभिमानी शारीरक आत्मा है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियदशक, और प्रज्ञानमन, दोनों इस आत्मा के कर्म्मों के सहायक हैं। प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग से भी आत्मा भावना-वासना-रूप से सांस्कारिक कर्म्मभोग में समर्थ बनता है। अतएव भोगसम्बन्ध से 'आत्मा-इन्द्रिय-मन' तीनों को ही हम 'भोक्तात्मा' कहेंगे, जैसा कि-'**आत्मे-न्द्रिय-मनो-युक्तं 'भोक्ते' त्याहुर्म्मनीषिणः**' इत्यादि उप-निषच्छ्रुति से प्रमाणित है। सबसे पहिला स्थान इन्द्रियों का है, अनन्तर वै०तै०प्राज्ञ-मूर्त्ति पार्थिव कर्म्मात्मा का स्थान है। अनन्तर चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन) का स्थान है। अनन्तर सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) का स्थान है। अनन्तर पारमेष्ठ्य महानात्मा का स्थान है। अनन्तर स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा का स्थान है। एवं सर्वान्त में प्रत्यगात्मा नामक अव्ययपुरुष प्रतिष्ठित है-'**अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा, सा परा गतिः**'। आरम्भ के 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' नामक प्रकरण में इस आत्मसोपानपरम्परा का विस्तार से विवेचन किया जाचुका है। प्रकृत में इस दिग्दर्शन से यही निष्कर्ष निकलता है कि, अव्ययेश्वर[१], अव्यक्त[२], महान्[३], विज्ञान[४], प्रज्ञान[५], आत्मा[६], इन्द्रियवर्ग[७], इन सात सोपानों का इसी क्रम से अध्यात्मसंस्था में सन्निवेश हुआ है। इन सात संस्थाओं में अव्ययेश्वर नाम की पहिली संस्था 'प्रत्यगात्मा' (ईश्वर) है, एवं आत्मा नाम की छठी संस्था 'शारीरकआत्मा' (जीव) है। अव्यक्त, महान्, इन दो संस्थाओं का प्रधानतः प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है, एवं प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, इन दो संस्थाओं का प्रधानरूप से शारीरक आत्मा से सम्बन्ध है। चौथी विज्ञानात्मसंस्था प्रत्यगात्मा, शारीरक आत्मा, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहती हुई 'देहलीदीपकन्याय' से दोनों की अनुग्राहिका बनी हुई है। तात्पर्य्य यह निकला कि अव्ययेश्वर, अव्यक्त, महान्, अमृत विज्ञान, चारों की समष्टि प्रत्यगात्मसंस्था है। एवं मर्त्य विज्ञान, प्रज्ञान, आत्मा, इन्द्रियवर्ग, चारों की समष्टि शारीरक-आत्मसंस्था है।

१—	१-अव्ययेश्वरः--ऐश्वरः	(विश्वाध्यक्षः षोडशी)---विश्वेश्वरः*——		
२—	२-अव्यक्तात्मा -स्वायम्भुवः	(स्वयम्भूः)————स्वयम्भूः		
३—	३ -महानात्मा—पारमेष्ठ्यः	(परमेष्ठी)————परमेष्ठी	—प्रत्यगात्मा	
	४-विज्ञानात्मा-सौरः(अमृतम्)	(अमृतसूर्य्यः)		(आध्यात्मिकः-परमात्मा)
४		—सूर्य्यः*——	—* ————	
५—	१-विज्ञानात्मा-सौरः (मर्त्यम्)	(मर्त्यसूर्य्यः		
६—	२- प्रज्ञानात्मा—चान्द्रः	(चन्द्रमाः)————चन्द्रमाः		
७—	३ -भूतात्मा——पार्थिवः	(स्तौम्यापृथिवी)	—शारीरक आत्मा	
	४-इन्द्रियाणि--पार्थिवानि	(स्तौम्यापृथिवी) —महिमापृथिवी		(आध्यात्मिकः जीवात्मा)
*—	*-शरीरम्——भौमम्	(भूपिण्डः)————भूपिण्डः *——		
	इति—नु—अध्यात्मम्	इति— नु—अधिदैवतम्		
	जीवः	ईश्वरः		

पूर्णमिदम् ———— पूर्णमदः

यदेवेह ———— तदमुत्र

'पूर्णमेवावशिष्यते'

१३-ईश्वरेच्छासहकृत असङ्ग कर्म्मों की अबन्धनता—

उक्त आध्यात्मिक आत्मसोपानपरम्परा को लक्ष्य बना कर ही ईश्वरेच्छा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्त जटिल-समस्या की मीमांसा कीजिए। आध्यात्मिक ईश्वर अव्ययेश्वर है। इसकी इच्छा ही ईश्वरेच्छा है, यही निष्कामकामात्मिका उत्थिताकांक्षा नाम की ईश्वरकामना है, जिसका विशद स्वरूप पूर्वपरिच्छेदों में-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०' इत्यादि श्लोकार्थप्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। इस ईश्वरकामना का सर्वप्रथम तत्सन्निकटावस्थित अव्यक्तात्मा से सम्बन्ध होता है। अव्यक्तात्मा के द्वारा ईशकामना अव्यक्त के सन्निकटावस्थित महानात्मा में अवतरित होती है। महानात्मा के द्वारा ईशकामना महत्सन्निकटावस्थित अमृतसूर्य्यात्मक, अतएव धर्म्म-ज्ञान-

वैराग्य-ऐश्वर्य्य नाम की भगचतुष्टयी से युक्त, अतएव च विद्याबुद्धयात्मक विज्ञानात्मा में प्रविष्ट होती है, और यहाँ आकर ईशकामना का एक प्रक्रम समाप्त हो जाता है। अव्ययेश्वर से आरम्भ कर अमृतविज्ञानात्मा पर्य्यन्त उत्थिताकांक्षालक्षणा, निष्कामभावात्मिका, विद्याबुद्धिसहकृता, अतएव असङ्गा, अतएव च बन्धननिवर्त्तिका ईश्वरेच्छा का अखण्ड-अव्यवहित साम्राज्य रहता है। इस इच्छा से युक्त शारीरक आत्मा के जितनें भी कर्म्म हैं, वे सब निष्कामकर्म्मात्मक अबन्धनकर्म्म हैं। ऐसी ईश्वरेच्छा से प्रवृत्त जीवात्मा के सभी कर्म्म सत् हैं। ऐसे पुरुषों की कभी असत्कर्म्म में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि ऐसे पुरुष कभी किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त भी देखे सुने जाते हैं, तो इसमें कोई गुप्त लोकाभ्युदय निहित रहता है, जो मानवीय दृष्टि से परे की वस्तु है। **'नास्य केन च कर्म्मणा लोको मीयते, न मातृवधेन-न पितृवधेन'** (कौ० ब्रा० उप० ३।१।) के अनुसार ईश्वरेच्छा को मूल मानने वाला व्यक्ति यदि अपनी माता (परशुरामवत्), तथा पिता को भी मार देता है, तब भी उसे तज्जनित पातक नहीं होता-**'लिप्यते न स पापेन'**। क्योंकि, उसका सर्वकर्म्म प्रत्यग्ब्रह्म की इच्छा में समर्पित रहता है, जो कि प्रत्यग्ब्रह्मेच्छा सर्वथा असङ्ग है। श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, एवंविध योगयुक्तात्मा शान्त पुरुष से पहिले तो किसी भी निन्द्य कर्म्म की सम्भावना हीं नहीं है। यदि वह अधिकारसिद्ध स्वधर्म्मपालन के लिए कभी किसी निन्द्य कर्म्म में प्रवृत्त देखा भी जाता है, तो हमें विश्वास करना चाहिए कि, ईश्वरेच्छायुक्त उसके इस निन्द्य कर्म्म से भी अवश्य ही कोई न कोई लोकाभ्युदय होने वाला है। वीतराग परमहंसों के बाह्य-आहार विहार देख-सुन कर हम आश्चर्य्यमुग्ध बने रह जाते हैं। परन्तु विश्वास कीजिए, वे विधि-निषेध से परे हैं। न अमृत उनका भला ही कर सकता, न मद्य उनको हानि ही पहुँचा सकता। विधि-निषेधात्मक शास्त्रोपदेश अस्मदादि उन लौकिक मनुष्यों के लिए अनिवार्य्य हैं, जो लोकासक्तिपरायण, इन्द्रियारामपरायण हैं। सूर्य्य को देखिए न, मूत्रनलिकास्थ मूत्र उसे दोषयुक्त नहीं बना सकता। यही नहीं, जिन असद्वस्तुओं के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है, वें स्वयं दोषरहित बन जातीं हैं। असङ्ग सूर्य्य-जैसे-सत्-असत्-वस्तुमात्र में विभूति के सम्बन्ध से रहता हुआ भी तदनुगत शुभ-अशुभ-संस्कार-बन्धन में आबद्ध नहीं होता, तथैव असंग ईश्वरकामना से युक्त जीवात्मा सर्वत्र समदर्शी बनता हुआ विभूति के सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बना रहता है। अवतारपुरुष, युक्तयोगी, अनन्यनिष्ठ भक्त, सब इसी स्थिति के उदाहरण हैं। भगवान् राम शास्त्रनिषेध की उपेक्षा कर अस्पृश्या भी शवरी के उच्छिष्ट बेर खा सकते हैं। परन्तु हम नहीं खा सकते। कारण, हम भगवान् नहीं हैं। ईश्वरकामना के अनुयायी अभी हम नहीं बन पाए हैं। जिस दिन हम भी वैसे बन जायँगे, तब सब कुछ हमारे लिए भी क्षम्य मान लिया जायगा। निष्कर्ष यही है कि, अमृतविज्ञानात्मिका विद्याबुद्धिपर्य्यन्त ईश्वरकामना स्वस्वरूप से विकसित, अन्यावरण से अनावृत रहती हुई अबन्धना बनी रहती है। ऐसी ईशकामना से युक्त जीवात्मा के सभी कर्म्म सत्कर्म्म मानें गए हैं।

१४-ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में समस्यात्मक प्रश्नोत्थान—

आध्यात्मिक जीव वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति शारीरक-आत्मा है। इसके उत्तर भाग में तो इन्द्रियवर्ग प्रतिष्ठित है, एवं पूर्वभाग में प्रज्ञानमन, एवं तत्पूर्वभाग में मर्त्यविज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है, जिसमें मर्त्यभाग के सम्बन्ध से अभिनिवेश-अस्मिता-आसक्ति-अविद्या, इन चतुर्विध क्लेश-सम्पत्तियों के ग्रहण की योग्यता मानी गई है। अव्यक्त-महान्-द्वारा परम्परया अमृतविज्ञानात्मा में आगत अव्ययेश्वर की कामना का अमृतविज्ञान के

द्वारा मर्त्यविज्ञानात्मा में आगमन होता है, तद्द्वारा मर्त्यविज्ञानसन्निकटावस्थित प्रज्ञानमन में वह ईशकामना युक्त होती है, प्रज्ञानमनोद्वारा प्रज्ञानमनःसन्निकटावस्थित शारीरकजीव में ईशकामना का आगमन होता है। एवं जीवद्वारा वह ईशकामना जीवसन्निकटावस्थित इन्द्रियवर्ग के साथ संयुक्त होती है। मर्त्यविज्ञान से आरम्भ कर इन्द्रियवर्ग पर्य्यन्त व्याप्त ईशकामना का शारीरक-आत्मानुगत यही दूसरा प्रक्रम है। इसप्रकार अव्ययेश्वर-गता वही मूलभूता ईश्वरेच्छा अव्ययेश्वर से आरब्ध होकर तदुत्तरवर्त्ती अव्यक्त-महान्-अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान प्रज्ञान-आत्मा में परम्परया भुक्त होती हुई इन्द्रियवर्ग पर विश्राम करती है। इन्द्रियेच्छा, जीवेच्छा, प्रज्ञानेच्छा, मर्त्यविज्ञानेच्छा, अमृतविज्ञानेच्छा, महदिच्छा, अव्यक्तेच्छा, ये सातों आध्यात्मिक इच्छाएँ परम्परया प्रविष्ट अव्ययेश्वरेच्छा के ही सोपाधिकरूप हैं। और इस दृष्टि से जीवेच्छा-मानसेच्छादि से सहकृत यच्चयावत् सदसत्कर्म्म ईश्वरेच्छामूलक ही मानें गए हैं। सचमुच बिना ईश्वरेच्छा के सहयोग के मनुष्य **'तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तः'**। यहीं वह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि ऐसा है, तो क्या चोरी-हिंसा-आदि निन्द्य कर्म्म भी ईश्वरेच्छा से होते हैं ?, जिस इस प्रश्न का उक्त ईश्वरेच्छा के परम्परानुगत भोग की दृष्टि से यह भी दिया जा सकता है कि, 'हाँ निन्द्य कर्म्म भी ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसी पर दूसरा यह प्रश्न उठ जाता है कि, यदि ऐसा है, तो शास्त्रोपदेश का क्या प्रयोजन ?, हम क्यों निन्द्य कर्म्मों का निन्द्य फल भोगते हैं ?, और ईश्वर भी क्या गुणात्मक असत्कर्म्म का प्रेरक बन कर अपने समत्व से वञ्चित होता हुआ कलङ्कभाजन बन जाता है ? ।

१५-'यथोदकं दुर्गे वृष्टम्' का तात्त्विक समन्वय, एवं प्रश्नसमाधि—

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में हमें यह कहना पड़ेगा कि, प्रवृत्तिमूलक वैदिक लौकिक यच्चयावत् शास्त्रीय सत्कर्म्म, तथा प्रवृत्ति-तमोमूलक लौकिक यच्चयावत् व्यावहारिक असत्कर्म्म, तथा निन्द्य कर्म्म, इन सब कर्म्मों का मूल ईश्वरेच्छा नहीं है, अपितु जीवेच्छा है। क्या जीवेच्छा उक्त परम्परानुगता ईशकामना के भोग से ईश्वरेच्छा का ही रूपान्तर नहीं है ?, है, और अवश्य है। फिर किस आधार पर जीवेच्छा का ईश्वरेच्छा से पार्थक्य माना गया ? । एकमात्र इसी प्रश्न के उत्तर पर समस्या का निराकरण हो रहा है, जो उत्तर निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्व्वतेषु विधावति ।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥

—कठोपनिषत् ४।१४।

एक बहुत बड़ा पर्वत है। उस विशाल पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर एक दुर्ग (किला) बना हुआ है। दुर्ग अनन्ताकाश से वेष्टित है। अनन्ताकाश के क्रोड़ में इन्द्र-पर्जन्य-धूम-ज्योति-सलिल-वायु-के समन्वय से समुत्पन्न मेघ आ जाते हैं। पानी दुर्ग पर बरसने लगता है। दुर्ग पर बरसा हुआ पानी पर्वत पर आता है, पर्वत से निर्झरित हो कर वह धरातल पर आ जाता है। मृण्मय धरातल पर आया हुआ पानी इतस्ततः विभक्त सदसत् विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होता हुआ धरातल में व्याप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—मेघा-धारभूत अनन्ताकाश, जलाधारभूत आकाशस्थ मेघ, मेघस्थितजल, दुर्ग, पर्वत, पर्वतोपत्यकारूप धरातल, सब स्वच्छ हैं, निर्म्मल हैं। परन्तु धरातल के विभक्त विभिन्नमार्ग अस्वच्छ हैं, मलिन हैं। इन विभिन्न पथों के अनुगमन से ही स्वच्छ-निर्मल भी जल अस्वच्छ और मलिन हो जाता है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। अनन्ताकाश के स्थान में अनन्ताकाशलक्षण, अतएव 'आकाशात्मा' नाम से प्रसिद्ध 'प्रत्यगात्मा' नामक अव्यये-

श्वर है। नभस्वान्-आकाशलक्षण अव्यक्तात्मा का भी इसी में अन्तर्भाव है। महानात्मा मेघस्थानीय है। महानात्मा में परिपूर्ण सोमरस जलस्थानीय है। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा दुर्गस्थानीय है। शारीरकआत्मा त्रैलोक्यव्यापक अश्मासोम से कृतरूप बनता हुआ पर्वत स्थानीय है। पाञ्चभौतिक पार्थिव शरीर पर्वतोपत्यकारूप धरातल है। इसप्रकार अनन्ताकाश, मेघ जल, दुर्ग, पर्वत, पर्वतोपत्यका-स्थानीय अव्यक्तात्म-गर्भित अव्ययेश्वर, महानात्मा, सोम, प्रज्ञानात्मगर्भित विज्ञानात्मा, शारीरकआत्मा, शरीर, ये सब आध्यात्मिक पर्व स्वस्वरूप से अनन्ताकाशादिवत् स्वच्छ हैं, निर्म्मल हैं। सब में वही अखण्ड-अभिन्न-निर्म्मल आत्मरस, और उत्थिताकांक्षा लक्षणा ईशकामना प्रवाहित है। परन्तु विभिन्न-विभक्त-मार्गस्थानीय विषयानुगत इन्द्रियवर्ग अपनी पराग्-वृत्ति के कारण विषयासक्त बनता हुआ अस्वच्छ है, मलिन है। इसके सम्पर्क में आते ही महानात्मयुक्त चैतन्यरस, तद्रूपा ईशकामना स्वस्वरूप से स्वच्छ-निर्म्मल रहती हुई भी विभिन्न ऐन्द्रियक धर्म्मों की ओर अनुधावन करने से अस्वच्छ-मलिन हो जाती है। इन्द्रियानुगत पृथक् धर्म्मों का आत्मकामना ने अनुगमन क्यों किया ?, इसका उत्तरदायित्व भी सम्भवतः जीवात्मा पर नहीं है। कारण-जिन इन्द्रियों से जीवात्मा विभिन्न धर्म्मात्मक बाह्य गुणात्मक विषयों की ओर अनुधवन करता है, उन इन्द्रियों का रुख स्वयं प्रजापति की ओर से बहिर्मुख है। सभी इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं। बहिर्मुख इन्द्रियवर्ग यदि बाह्य विषयों की ओर अनुधावन करें, तो इसमें इन्द्रियों का, और जीवात्मा का क्या दोष है। जायस्व-म्रियस्व-लक्षण, अतएव मृत्युधर्म्माक्रान्त जीवात्मा पराङ्मुख इन्द्रियवर्ग के अनुग्रह से यदि विभिन्न धर्म्मानुधावन करता हुआ मृत्युमय बन जाता है, तो इसमें इसका क्या दोष है। इस स्वाभाविक-प्राकृतिक-मृत्युधर्म्म से बचने का एक उपाय है। वही उपाय बुद्धियोग कहलाया है। इन्द्रियसंयमपूर्वक इन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाइए, बाह्य धर्म्मानुधावन अवरुद्ध हो जायगा। जीवात्मा का विद्याबुद्धि से योग हो जायगा। विद्याबुद्धि का अव्ययेश्वर से स्वाभाविक योग है। तद्योगानुगत बुद्धियोग से जीवात्मा का भी अव्ययेश्वर से योग हो जायगा। फलतः अव्ययेश्वर के अमृतधर्म्म का जीवात्मा से योग हो जायगा, और इसप्रकार जीवात्मा अमृतलाभ कर लेगा, जिस बुद्धि-योगात्मक उपाय का निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषत् २।१।१।

इन्द्रियासक्तिमूलक बाह्यविषयसंस्कारबन्धनरूप आवरण वह कृष्ण-आदर्श (काला काच) है, जिसमें होकर आने वाली श्वेतवर्णात्मिका भी सूर्य्यरश्मियाँ कृष्णवर्ण में परिणत हो जातीं हैं। सूर्य्यरश्मिप्रकाश स्वस्वरूप से सर्वथा श्वेत-निर्म्मल-स्वच्छ है। आप अपने चक्षुःपटल के आगे काला काच खड़ा कर देते हैं। इस में होकर आने वाला श्वेत भी प्रकाश आपके लिए काला बन जायगा। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। इन्द्रियासक्ति के अनुग्रह से अध्यात्मसंस्था में ग्रन्थिबन्धनरूप से प्रतिष्ठित भावना-वासनात्मक संस्कार गुणात्मक कृष्णकाचात्मक आवरण है। आगत संस्कार प्रज्ञानमन में प्रतिष्ठित होकर मनोमय बन जाते हैं। मन पर विद्यात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित है। विज्ञानबुद्धि के प्रकाश से ही तो प्रज्ञानमन प्रकाशित होता है। सूर्य्यज्योति ही तो प्रतिफलन के सम्बन्ध से चन्द्रमा को ज्योतिः स्वरूप में परिणत करती है। सूर्य्यस्थानीय विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) का प्रकाश स्वतः निर्म्मल है। परन्तु चन्द्रस्थानीय प्रज्ञानात्मा मन) संस्कारसम्बन्ध से कृष्ण बन

रहा है। अतएव तत्रागत निर्म्मल भी विज्ञानप्रकाश मलिन बन रहा है। संस्कारात्मक मनःक्षेत्र में भुक्त यही विज्ञानात्मा अविद्यात्मक है, यही अविद्याबुद्धि है, जो मन के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने स्वाभाविक विद्या-बुद्धिधर्म्म से वञ्चित हो रही है। मन में विज्ञानद्वारा आया हुआ आत्मज्योतिरंश, तथा ईशकामना संस्कार–सम्बन्ध से इसप्रकार स्वाभाविक सत्त्वगुणविकास से अभिभूत होकर आगन्तुक तमोगुण की अनुग्राहिका बन जाती है। संस्कारात्मिका यही ईशकामना गुणसम्बन्ध से 'जीवकामना' कहलाने लग जाती है। यही जीवेच्छा उत्थाप्याकांक्षा कहलाई है, जिसका धर्म्मबुद्धियोगप्रकरण में विश्लेषण किया जा चुका है। संस्कारत्त्वेन यह इच्छा जीवेच्छा है, यही पतन का, निन्द्य कर्म्मप्रवृत्ति का मूल कारण है, और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि,–'ईश्वरेच्छा कभी निन्द्य कर्म्मों को प्रेरणाबल प्रदान नहीं करती'। संस्कारत्त्वेनापि इच्छा है वही, जो परम्परया आगत है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि, 'निन्द्य कर्म्मप्रवृत्ति भी ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है'। इस-प्रकार पूर्वकथनानुसार इस समस्या के हाँ–ना–दोनों हीं उत्तर हो सकते हैं। हमारे अपने सांस्कारिक दोष से ईश्वरेच्छा जहाँ हमारे (जीवात्मा के) दुःख का कारण बन जाती है, वहाँ हमारे अपने साध्य बुद्धियोग से ईश्वरेच्छा हमारे बन्धनों की निवृत्ति का कारण बन जाती है। संस्कारबन्धनत्त्वेन वही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का शत्रु बन कर उसे पतनोन्मुख बना देता है, एवं संस्कारबन्धनाभाव में वही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का मित्र बन कर उसे संसारसागर से बचा ले जाता है।

१६–आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः-बुद्धियोगानुष्ठानेन, एवं आत्मैव रिपुरात्मनः-आसक्तिबन्धनेन-

तत्त्व का समन्वय यों कीजिए कि, न ईश्वर हमारी भलाई में सहयोग देता, न बुराई में। हम स्वयं उसकी ज्योति से अपनी भलाई भी कर सकते हैं, बुराई भी। हमारी आँखों के सामने काला काच है। अपने स्वभाव से सर्वत्र फैलती हुई श्वेत–सूर्य्यज्योति हमें काली दिखाई देने लगती है। इसमें न तो सूर्य्यज्योति का अनुग्रह है, न निग्रह है। उसे श्वेत बनाए रखना भी हमारा अपना पुरुषार्थ है, काला बना कर देखना भी हमारा पुरुषार्थ है। इसी आधार पर–'**सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा, स्वकर्म्मसूत्रग्रथितो हि लोकः**' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। उपयोग करने वाले की योग्यता से अच्छी वस्तु बुरी भी बन जाती है, अच्छी भी बनी रहती है। ईशज्योति सर्वत्र सम है। हम अपने दोष से (संस्कारसे) उसे मलिन बना कर उसे अपना शत्रु बना कर तद्द्वारा निन्द्य कर्म्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं बुद्धियोग से उसे स्वस्वरूप में विकसित रखते हुए तद्द्वारा अबन्धनकर्म्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है–'आत्मा (प्रत्यगात्मा ही बुद्धियोगसम्बन्ध से) आत्मा का (शारीरकआत्मा का) मित्र बन कर आत्मा का (शा०आ० का) उद्धार कर देता है, एवं आत्मा ही (आसक्ति-सम्बन्ध से) आत्मा का शत्रु बन कर आत्मा को गिरा देता है–'**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः**'-**बुद्धियोगानुष्ठानेन**, एवं '**आत्मैव रिपुरात्मनः**'–**आसक्तिबन्धनेन**।

१७–'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि उत्तर श्लोकसमन्वय—

'**उद्धरेदात्मनात्मानम्०**' इत्यादि प्रथम श्लोक के समन्वय की चेष्टा की गई। '**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य०**' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी समन्वय का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् कहते हैं-जिस शारीरक आत्मा (जीवात्मा) के द्वारा (बुद्धियोगानुष्ठान से) प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) जीत लिया जाता है, उस शारीरक आत्मा का प्रत्यगात्मा बन्धु बन जाता है। अर्थात् स्वस्थान में स्थिररूप से प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा उस शारीरक आत्मा के

लिए बन्धु सिद्ध हो जाता है, जो शारीरक आत्मा योगानुष्ठान से संस्कारावरणों को हटाता हुआ प्रत्यगात्मा के निर्म्मल ज्ञानप्रकाश को अपने अधिकार में कर लेता है 'तस्यात्मनः-(शारीरकात्मनः) आत्मा (प्रत्यगात्मा) बन्धु-(र्भवति), येनात्मना (शारीरकात्मना) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) जितः-'यही अन्वयसमन्वय है-जिसका 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः' इस वाक्य से समर्थन हुआ हैं। ठीक इसके विपरीत जो शारीरक आत्मा इन्द्रियानुगत सांस्कारिक विषयों की आसक्ति में आबद्ध हो जाता है, उसका अपना आत्मस्वरूप संस्कारात्मक-अनात्मभाव से अनात्मरूप में परिणत हो जाता है। संस्कारबन्धन से अनात्मा बने हुए (आत्मविकास से वञ्चित बने हुए) शारीरकआत्मा का वह प्रत्यगात्मा बन्धु न रह कर शत्रु बन जाता है। और उस दशा में वह प्रत्यगात्मा ही (इस शारीरक आत्मा के साथ) शत्रुवत् व्यवहार करने वाला सिद्ध हो जाता है। 'शत्रुवत्' का तात्पर्य्य यही है कि, प्रत्यगात्मा अपनी ओर से न बन्धु है, न शत्रु है। जीवात्मा की योग्यता के तारतम्य से ही वह बन्धुवत् और शत्रुवत् बन जाता है। 'सांस्कारिकबन्धनवशात् अनात्मनः (आत्मस्वरूपवञ्चितस्य जीवात्मनः) शत्रुत्वे (प्रत्यगात्मनः शत्रुभावे परिणते सति) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव-जीवात्मना सह) शत्रुवत् वर्त्तेत' यही अन्वयसमन्वय है, जिसका-'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्' इस वाक्य से समर्थन हुआ है।

१८-मनो-वाक् का 'अहंश्रेयो' भाव—

प्रसङ्गवश आत्मोद्धार-आत्मपतन की मीमांसा करनी पड़ी। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया था कि, देवता आत्माभिमान से जीत गए, एवं असुर वागतिमान से हार गए (५१३ पृ०)। आत्मा से यहाँ सर्वमूलभूत प्रत्यगात्मा (अव्ययेश्वर) अभिप्रेत है। इस आत्मा का पूर्ण विकास ही आत्माभिमान है, जिसका केवल अन्तर्जगत् से सम्बन्ध माना गया है। वागिन्द्रिय की यहाँ गति नहीं है। जिसका यों विश्लेषण किया गया है कि,-"एकबार मन, और वाक् में अहंश्रेयोभाव को लेकर संघर्ष चल पड़ा। मन कहता था, मैं तुम से बड़ा हूँ, क्योंकि मैं जैसा संकल्प करता हूँ, तुम्हें वैसा ही व्यापार करना पड़ता है। वाक् कहती थी, मैं तुम से बड़ी हूँ। मैं न होती, तो तुम्हारा संकल्प कभी कार्य्यरूप में परिणत न होता। इसप्रकार मन वाक् को कृतानुकरा बतलाता था, एवं वाक् मन को कृतानुकर बतला रही थी। दोनों जब निर्णय में असमर्थ हो गए, तो प्रजापति (प्रत्यगात्मा) के समीप पहुँचे। प्रजापति ने यह निर्णय कर डाला कि, "तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है"। प्रजापति के इस निर्णय से असन्तुष्ट होकर वाक् ने अपना रोष इन शब्दों में प्रकट कर डाला कि-'हे प्रजापते! आपने आज मुझे मन की अपेक्षा छोटा कहा है। अतएव आज से मैं आपके लिए 'अहव्यावाहना' ही बनी रहूँगी। फलस्वरूप तब से उस वाक् ने प्रजापति के लिए हव्यवहन करना छोड़ दिया'। अतएव आज भी यज्ञ में प्रजापति के लिए जो कर्म्म किया जाता है, वह उपांशु (तूष्णीं-बिना मन्त्रवाक् के) ही किया जाता है" (देखिए शत० १।४।५। ब्रा०)।

१९-अभिमान, एवं अतिमान-व्यवहारों का पार्थक्य—

तात्पर्य्य आख्यान का यही है कि, हृदयस्थ प्रत्यगात्मा ही प्रजापति है। यह अनिरुक्त है, एवं यही वाक् का प्रवर्त्तक है। वाक् बहिर्मुखा है। अतएव प्राजापत्य कर्म्म उपांशु ही होता है। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' के अनुसार वहाँ वाक् का गमन सर्वथा अवरुद्ध है। और यही आत्माभिमान का तात्त्विक परिचय है। कहना नहीं, भावनामात्र रखना। समझना अपने आपको परिपूर्ण, बाह्य आचरण में प्रकट करना अपने आपको विनय-

शील। विनय-शीलता का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, आप अपने आपको अल्पज्ञ-मूर्ख-निर्धन कह कर घोषित करते रहें। अपितु-'**योऽस्मि सोऽस्मि**' के अनुसार आपका विनय केवल-'सब ठीक है, भगवान् का अनुग्रह है, सब आनन्द है, जीवनयात्रा का निर्वाह हो रहा है', एवंविध सामान्य वचनों के द्वारा ही प्रकट होना चाहिए। आत्माभिमान केवल आत्मसम्पत्ति है। अतएव वह केवल अन्तर्जगत् की ही वस्तु बनी रहनी चाहिए। एवं इसके लिए आपको सदा सतर्क बना रहना चाहिए। आपकी इन्द्रियाँ, शरीर, आदि भी भौतिक बनते हुए वाङ्मय हीं हैं। क्योंकि पाँचों भूतों का मूल वाक्तत्त्व ही है। अतएव आपका आत्माभिमान यदि इन्द्रियों पर, शरीर पर थोड़ा भी झलक आया, तो आत्माभिमान का स्वरूप बिगड़ जायगा, आत्माभिमान वागतिमानरूप में परिणत होकर अतिमानी असुरों की भाँति पराभव का कारण बन जायगा। आपकी वाणी, आँख, नाक, हाथ, पैर, मस्तक आदि की किसी भी चेष्टा में अभिमान की झलक नहीं रहनी चाहिए। क्योंकि बाह्य चेष्टानुगत अभिमान आत्माभिमान न रह कर वागतिमान बन जाता है। साथ ही विनय का अनुचित उपयोग करते हुए आपको ऐसी चेष्टाओं का प्रदर्शन भी नही करना चाहिए जिससे कि आप सर्वथा दीन–हीन–मूर्ख–प्रतीत होनें लगें। यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि, आज आत्माभिमान वागतिमानरूप में परिणत हो रहा है। विद्या–वैभव से सम्पन्न व्यक्ति अपनी वाणी से, चेष्टाओं से अपना बखान करते नहीं अघाते। विद्यातिमानी ऐसे अकड़ कर-ऐसे छाती तान कर चलते हैं, मानों इन्होंनें विश्वविजय कर लिया हो। चाहे जिसको मूर्ख, नास्तिक कह बैठना, प्रज्ञावादों का उद्घोष करते रहना, 'वयं पण्डिताः' का चीत्कार करते रहना, यही इनका विद्यातिमान है, जो निश्चयेन किसी समय पराभव का कारण बन जाता है। यही दशा धनातिमानियों की है। अपने समकक्षों को छोड़ कर अन्य साधारण व्यक्तियों से बात करने में भी ये धनमदान्ध अपनी मान-हानि समझते हैं। धनातिमान से विद्वानों का अपमान करना, अपनी कुशलता–चातुर्य्य का बखान करते रहना हीं इनकी जीवनचर्य्या बनी रहती है। निश्चयेन विद्यातिमानवत् धनिकों का यह धनातिमान भी एकदिन इनके सर्वनाश का ही कारण बन जाता है। इसके साथ ही आत्माभिमान के तात्त्विक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने कारण विनयपथ के अनुगामी कितने एक विद्वान् भी हम-'कुछ नहीं जानते, हम तो मूर्ख हैं' इत्यादि हीन शब्दों में अनुचित विनय का प्रदर्शन करना अपना कर्त्तव्य मान बैठते हैं। एवमेव विनयशील कितनें एक धनिक जीर्ण-मलिन वस्त्र पहिने हुए, 'हमारे पास क्या रक्खा है, हम तो आपके दास हैं,' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते रहने में हीं अपना गौरव समझने की भूल करते रहते हैं। ऐसा विनय भी एक प्रकार की आत्मप्रतारणा बनता हुआ वागतिमान बन कर पराभव का कारण बन जाता है, एवं पूर्वोक्त उद्दण्डतालक्षण वागतिमान भी पराभव का कारण बन जाता है। '**असन्नेव स भवति–असद्ब्रह्मेति वेद चेत्**' श्रुति कह रही है कि–'विनय के भ्रम में पड़ कर यदि तुम '**कुछ नहीं है–हम क्या जानते हैं**' इस न–न का पारायण करते रहे, तो इस असदुच्चारणात्मक अतिमान से तुम स्वयं किसी दिन अपना अस्तित्त्व ही खो बैठोगे'। न मिथ्या विनय का प्रदर्शन उचित, न उद्दण्डता–त्मक वागतिमान का प्रदर्शन उचित। क्योंकि दोनों हीं अतिमानत्त्वेन पराभव के हेतु बन रहे हैं। 'भगवान् के अनुग्रह से सब कुछ ठीक है' इस सामान्यवाक्प्रयोग के अतिरिक्त जो व्यक्ति बात बात में भगवन्नाम का सम्पुट लगाते हुए अपने विद्यावैभव का बखान करते नहीं अघाते, भगवान् ने उन्हें तमोग्रस्त प्राणी कहा है। एवं ऐसे वागतिमानियों की पराभवमूला वृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान् ने कहा है–

२०–वागतिमानी दाम्भिक विद्वानों, शासकों, तथा धनिकों का आत्यन्तिक पराभव—

"कभी शान्त न होने वाली कामना के कुचक्र में फँस कर दम्भ, मान, मद, से युक्त होते हुए व्यक्ति मोहवश असत्-परिग्रहों का सञ्चय करते हुए आत्मदृष्टया सर्वथा अपवित्र बने रहते हैं (गी०१६।१०)। ऐसे अनात्मवादी दम्भी पुरुषों की कामचिन्ता कभी नहीं मिटती। काम–भोग परायण, अतएव सदा चिन्ता-कुल ऐसे व्यक्तियों का जन्म–मृत्यु प्रवाह प्रलयावस्था में ही रुकता है (१६।११)। एवंविध कामकामी पुरुष सैंकड़ों आशापाशों से आबद्ध रहते हैं। आशानुगत काम, और कामनिरोधजनित क्रोध से युक्त रहते हुए ये पुरुष अपने काम–भोग की पिपासा शान्त करने के लिए ही अन्याय से धनसञ्चय करते नहीं अघाते (१६।-१२)। "आज मैनें (भगवान् की कृपा से) यह पा लिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध होगया, मेरे कोष में अमुक सम्पत्ति है, कल और भी सम्पत्ति मिल जायगी (१६।१३), मैनें अपने बाहुबल से अमुक शत्रु को मार दिया है, दूसरों को भी मार डालूँगा, मैं सर्वसमर्थ हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, (१६।१४) आढ्य (बहुधनसम्पन्न करोड़पति) हूँ, अभिजनवान् (विद्वान्-वक्ता) हूँ, मेरा जैसा आज (इस नगर में) कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, प्रसन्न हूँगा," इसप्रकार ये वागतिमानी अज्ञान से विमोहित बने रहते हैं (१६।१५)। अपने आप को स्वयं ही बड़ा मानने का अतिमान करते हुए, अन्यायोपार्जित धनसे धनी, तद्धनसेवी परिकंरवर्ग के द्वारा प्राप्त मान से मानी, मदोन्मत्त बने हुए ऐसे ही वागतिमानी केवल अपने नाम के लिए ही दम्भपूर्वक बिना हीं शास्त्रविधि के पूजन–पाठ–उपासना-कथा–यज्ञ–आदि का आडम्बर किया करते हैं (१६।१७)। क्या दशा होती है इन अतिमानियों की अन्त में ?, श्रूयताम् !

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरोष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

❀ * ❀

अन्ये तु— एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

❀ ❀ *

२१–स्मितहासानुगत उपांशुभावनिबन्धन आत्मैश्वर्य्य—

उक्त विवेचन से कहना यही है कि, आत्मा वाङ्मर्य्यादा (शब्दमर्य्यादा) से बहिर्भूत है। अतएव आत्मवीर्य्य शब्दातीत बन कर ही विकसित होता है। शब्दों के द्वारा बखान करने से आत्मवीर्य्य अभिभूत होजाता है। फलस्वरूप एवंविध वागतिमान से मनुष्य पराभूत होजाता है। समझो अपने आपको महान्, परन्तु मुख से इस महत्ता का बखान मत करो, यही आत्माभिमान है, और यही आत्मोद्धार का अन्यतम मार्ग है। समझ को यदि आप शब्दों के द्वारा प्रकट करते हैं, तो यह वागतिमान है। अतएव महत्ता का बखान न करने के साथ साथ हीनतासूचक शब्दों का भी प्रयोग मत करो। वागतिमान से पृथग्भूत आत्माभिमानमूलक यह पूर्णभाव *ही आत्मोद्धार के लिए निःश्रेयस–पन्था है। एवंविध आत्माभिमान में न हासात्मक हास होता, न अट्टाट्टहास*

होता। होता है केवल उपांशु–आत्ममूलक मन्दहास, स्मितहास। आत्मवीर्य्यशाली महापुरुषों के मुख पर मन्दहास की प्रतिच्छाया सर्वदा अङ्कित रहती है। जिनका आत्मवीर्य्य वागतिमान से, एवं अन्यान्य अधर्म्मादि पाप्मा-संस्कारों के समावेश से हीनवीर्य्य बन जाता है, उनका आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग, शरीर, सब कुछ मुर्भा जाते हैं। यह मुर्भाव ही स्मितभाव की विरोधिनी, ऐश्वर्य्य की विरोधिनी **'अस्मिता'** है। स्मित, हास, अट्टाट्टहास तीनों में से स्मितभाव ही आत्मविकास का सूचक है। अतएव आत्मविकासलक्षण, स्मितभावात्मक ऐश्वर्य्यभग के प्रतिद्वन्द्वी आत्मसंकोचलक्षण अनैश्वर्य्यभावात्मक क्लेश के लिए 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग करना अनुरूप माना गया है, जिस अस्मिता के स्वरूपविश्लेषण के लिए ही हमें आत्माभिमान–आत्मातिमान का स्वरूप बतलाना पड़ा है। और यही ऐश्वर्य्य, तथा अस्मिता-भावों का संक्षिप्त तात्त्विक विश्लेषण है, जिसके आधार पर ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपज्ञान अवलम्बित है।

२२–ईश्वर का ऐश्वर्य्य—

प्रत्येक वस्तु का हृद्य आत्मा उस वस्तु का प्रातिस्विक ईश्वर माना गया है। इस प्रातिस्विक हृद्य ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाला तद्वस्तु का महिमामण्डल ही तद्वस्तु का ऐश्वर्य्य माना गया है। एवं अबतक व्यक्तिभेद से विभिन्न बने हुए प्राणी–संस्था के अध्यक्ष (साक्षी) आध्यात्मिक ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले ऐश्वर्य्य का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अब दो शब्दों में समष्ट्यात्मक, विश्वव्यापक, आधिदैविक 'ईश्वर' के ऐश्वर्य्य का स्वरूपपरिचय करा देना भी आवश्यक होगा। आनन्द–विज्ञान–अन्तर्म्मनोमय विद्याव्यय को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाला, मनःप्राणवाङ्मय कर्म्माव्यय को स्वस्वरूपनिर्म्माता बनाए रखने वाला, ब्रह्मेन्द्रविष्णुसोमाग्निलक्षण–कलापञ्चकात्मक-पराप्रकृति नामक अक्षर को निमित्तकारण बनाए रखने वाला, प्राण–आपः–वाक्–अन्न–अन्नादलक्षण-कलापञ्चात्मक-अपराप्रकृति नामक आत्मक्षर को उपादानकारण बनाए रखने वाला, अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर-समष्टि से षोडशकल बने रहने वाला, वेद-लोक–देव–भूत–पशु–लक्षण–कलापञ्चात्मक बहिरङ्गप्रकृति से युक्त वाक्–आपः–अग्नि इस शुक्रत्रय से शुक्रात्मा-रूप में परिणत रहने वाला, एवं क्षरापेक्षया विश्वमूर्त्ति–अक्षरापेक्षया विश्वकर्त्ता–अव्ययापेक्षया विश्वाधार नामों से प्रसिद्ध तत्त्वविशेष ही **'ईश्वर'** है। इस आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता ही 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है।

उक्त लक्षण आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता अव्ययैश्वर्य्य, अक्षरैश्वर्य्य, क्षरैश्वर्य्य, भेद से तीन भागों में विभक्त मानी गई है। ज्ञानज्योतिर्म्मण्डल अव्ययैश्वर्य्य है, यही इसका प्रथम, तथा मुख्य ऐश्वर्य्य है। क्रियात्मक कर्म्मप्रपञ्च उसका अक्षरैश्वर्य्य है, यही इसका विश्वस्वरूपसंरक्षक दूसरा ऐश्वर्य्य है। पाञ्चभौतिक अर्थप्रपञ्च उसका क्षरैश्वर्य्य है, यही इसका विश्वात्मक तीसरा ऐश्वर्य्य है। ज्ञान–क्रिया–अर्थात्मिका इस ऐश्वर्य्यत्रयी से नित्य युक्त विश्वेश्वर सर्वत्र विकसित हो रहा है। त्रिविध ऐश्वर्य्यशाली इस ईश्वर की ईश्वरता इस लिए अक्षुण्ण है कि, यह स्वप्रभव मायातीत विश्वातीत अखण्ड–अद्वय परात्पर परमेश्वर के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण किए हुए है। परात्पर परमेश्वर के परमैश्वर्य्यप्रदान से ही यह ईश्वर ऐश्वर्य्यशाल बना हुआ है। और यही आधिदैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन है।

२३–जीव का ऐश्वर्य्य–

जिस प्रकार महामायावच्छिन्न ईश्वर मायातीत परात्पर परमेश्वर का अंश है, तथैव विश्वगर्भ में रहने वाला योगमायावच्छिन्न प्रजावर्ग (अस्मादादि जीववर्ग) उस महामायी, ऐश्वर्य्यत्रयशाली विश्वेश्वर का अंश माना गया है। वह कारण है, यह कार्य्य है। कारण के धर्म्म हीं तो कार्य्यस्वरूप के निर्म्माता मानें गए हैं। सुतरां अंशी–ईश्वरकारण के अंशात्मक–जीवकार्य्य में भी कारणेश्वर में भुक्त उक्त तीनों ऐश्वर्य्यधर्म्मों का भोग सिद्ध हो जाता है। ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर जैसे अपने ज्ञानैश्वर्य्य से सर्वज्ञ, क्रियैश्वर्य्य से सर्वशक्ति, तथा अर्थैश्वर्य्य से सर्ववित् बना हुआ है, एवमेव तदंशभूत जीवात्मा भी **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** के अनुसार ज्ञान–क्रिया–अर्थ नामक तीनों ऐश्वर्यों से नित्य युक्त रहता हुआ परिपूर्ण है। जो वह है, सो यह है। जो वहाँ है, सो यहाँ है, और तत्त्वदृष्ट्या यह समतुलन यथार्थ बन रहा है।

२४–ईश्वरांशभूत, अतएव ऐश्वर्य्यशाली भी जीव का अनैश्वर्य्य–

किन्तु ? किन्तु इसलिए कि, देखते हैं त्रिविध ऐश्वर्य्यशाली बना रहता हुआ भी जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अल्पवित्–भावों का उपासक प्रतीत हो रहा है। 'अमुक विषय हमारी समझ में नहीं आया,' इस रूप से यह अपनी अल्पज्ञता का परिचय दे रहा है। 'हम अमुक काम करने में सर्वथा असमर्थ हैं' इस रूप से अपनी अल्पशक्ति का अभिनय कर रहा है। एवं 'हमारे कोष में अमुक साधन–सम्पति का अभाव है' इस रूप से अपनी अल्पवित्ता का परिचय दे रहा है। आत्मसीमा में ज्ञान–कर्म्म–अर्थ, तीनों ऐश्वर्यों के परिपूर्ण मात्रा से विद्यमान रहते हुए भी जीवात्मा अपने आपको इन ऐश्वर्यों से वञ्चित मान रहा है। आज हमारे कोष में धन नहीं, कल वस्त्र नहीं, परसों अन्न नहीं, तरसों शान्ति नहीं, इसप्रकार जब देखो तब न–न भावात्मक अनैश्वर्य्य में हीं यह जीवात्मा निमग्न देखा–सुना जा रहा है। जब इसके अन्तर्जगत् में जन्मतः ऐश्वर्य्यत्रयी विद्यमान है, तो फिर क्यों जीवात्मा की यह दुर्दशा हुई ?, इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'अस्मिता' शब्द का जन्म हुआ है।

२५–लौकिक उदाहरण, और अस्मिता–

अस्मिता का जन्म होता क्यों है ?, क्यों जीवात्मा आध्यात्मिक अव्ययेश्वर के स्वाभाविक ऐश्वर्य्य-भोग से वञ्चित रह कर अपने आपको ज्ञान–क्रिया–अर्थैश्वर्यों से शून्य समझ लेता है ?, इत्यादि प्रश्नों का एकमात्र कारण है अस्मिताभावात्मक विषयों के साथ जीवात्मा का ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध। बाह्य भौतिक विषय तमोगुण–प्रधान बनते हुए केन्द्रस्थ आत्मविकास से वञ्चित हैं। इसी आत्मविकासाभाव से उनमें जड़ता का उदय हो रहा है। जड़ता एक प्रकार का वह संकोचधर्म्म है, जिसके आगमन से चिद्घन आत्मा का चिद्विकासलक्षण ऐश्वर्य्य अभिभूत हो जाता है। इस विषयसंस्कारात्मिका जड़ता का मूल कारण बनती है उध्याप्याकांक्षालक्षणा जीवेच्छा। इसके सहयोग से उत्पन्न–आगत विषयसंस्कार पहिले प्रज्ञानमन में प्रतिष्ठित होते हैं। प्रज्ञानद्वारा प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानात्मा (बुद्धि) में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस परम्परागत अस्मितासंस्कार से विज्ञानात्मा का ऐश्वर्य्यात्मक स्वाभाविक ऐश्वर्य्यभाव अभिभूत हो जाता है, बुद्धि 'अस्मिता' बन जाती है, संकुचित हो जाती है। अस्मिता (अविकसिता–संकुचिता) ऐसी बुद्धि ही अनैश्वर्य्यलक्षण शोक की प्रवृत्ति का कारण

बन जाती है। अस्मितात्मिका बुद्धि ऐश्वर्य्यात्मक अव्ययेश्वर नामक अपने मूलात्मा के विकासानुग्रह से वञ्चित रह जाती है। अतएव रहते हुए भी आत्मैश्वर्य्य के जीवात्मा इस अस्मिताबुद्धि के निग्रह से बालवत् अपने आपको असमर्थ बना लेता है।

२६–बाल-वृद्ध-भावानुगता अस्मिता का स्वरूपदिग्दर्शन–

संकुचित बुद्धि का नाम हीं अस्मिता है, जिसका लौकिक उदाहरण बालक माना जा सकता है। एक बालक की बुद्धि प्रकृत्या अस्मिताभाव में परिणत रहती है। अतएव वह बात बात पर रोने लगता है, दुःखी हो जाता है। प्रचण्ड शब्द सुनने से, किसी के धमका देने से वह चमक पड़ता है, और भयत्रस्त बन कर दौड़ कर माता के अञ्चल में जा छुपता है। जनसमुदाय (भीड़) को देख कर वह हक्का बक्का बना रह जाता है। चन्द्रमा से मन का निर्म्माण हुआ है। चन्द्रमा षोडशकल माना गया हैं। एक वर्ष में चन्द्रमा की एक कला मन में प्रतिष्ठित होती है। इसप्रकार सोलह वर्ष में चन्द्रमा की सोलह कलाएँ मन को परिपूर्ण बनातीं हैं। इससे पहले पहले चान्द्र मन अपूर्ण ही बना रहता है। चान्द्र मन हीं बुद्धि का आधार है। क्योंकि सोलह वर्ष से पहिले पहिले बालक का मन अपूर्ण रहता है, अपरिपक्व रहता है, अस्थिर रहता है। अतएव तब तक तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाता। यही बालभावात्मिका स्वाभाविकी अस्मिता है। इसी आधार पर **'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। कारण स्पष्ट है। पूर्ण-स्थिर चन्द्रमा पर ही सूर्य्य का पूर्ण स्थिर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है। १६ वर्ष से पहिले अपूर्ण बने हुए चान्द्र-प्रज्ञान (मन) पर सौर विज्ञान पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित नहीं होने पाता। अतः इससे पहिले पहिले ही बाल-बुद्धि पर माता-पिता-आचार्य्यादि का अनुशासन चल सकता है। १६ वर्ष के अनन्तर चान्द्र षोडश कलाओं की परिपूर्णता से सौर विज्ञान पूर्णमात्रा से उदित हो जाता है, बालक बालकपना छोड़ कर स्वतन्त्रप्रज्ञ बन जाता है। अतएव १६ से आगे इस पर कटुशासन नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो वह विद्रोही बन जाता है। इस अवस्था में तो सुहृद्भाव से ही इसका निग्रहानुग्रह किया जा सकता है। १६ वर्ष पर्य्यन्त का व्यक्ति बालक है, इसकी बुद्धि अस्मिता है, अपरिपक्वा है। अतएव इस अवस्था पर्य्यन्त इससे किसी विषय पर परामर्श (राय) नहीं लिया जा सकता। १६ वर्ष के अनन्तर ही लौकिक बुद्धि का परिपाक आरम्भ होता है। शतायुःपुरुष की आयु के १०० वर्ष ५०–५० भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पहिले ५० वर्ष पर्य्यन्त मानव-बुद्धि का उत्तरोत्तर उद्ग्राभ (चढ़ाव) है, उत्तर के ५० वर्ष पर्य्यन्त निग्राभ (उतार) है। फलतः १६ वर्ष से आरम्भ होने वाले बुद्धिविकास की अन्तिम विश्रामभूमि ५०वाँ वर्ष बन जाता है। यहाँ से आगे के ५० वर्षों में यद्यपि बुद्धि रहती तो है अतिशयरूप से परिपक्व, किन्तु इन्द्रियशैथिल्य से इस उत्तरावस्था में अनवधानता (भूलना-विस्मृति) दोष का समावेश हो जाता है। अतएव ५० वर्ष से ऊपर की आयु का पुरुष लोकव्यवहारसञ्चालन में प्रमाद कर बैठता है। इसीलिए भारतीय वैज्ञानिकों नें यह आदेश दिया है कि, ५० के अनन्तर तुरत लोकव्यवहार का परित्याग कर वानप्रस्थाश्रमी बन जाना चाहिए–**'वनं पञ्चाशतो व्रजेत्'**। तात्पर्य्य ५०–से आगे, तथा १६ से नीचे नीचे पुरुष की बुद्धि लोकव्यवहारदृष्ट्या अस्मिताभावात्मिका बनी रहती है। अतएव इन दोनों अवस्थाओं में (बालक को, और वृद्ध को, दोनों को) पराश्रय की अपेक्षा रहती है। इस लौकिक-व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा भी तात्त्विक अस्मिताभाव का समन्वय किया जा सकता है। बालक की अस्मिता प्राकृतिक है, प्राप्तवयस्क की अस्मिता आगन्तुक है। बालक की अस्मिता

प्राप्तवयस्कता से कालान्तर में अपने आप हट जाती है । प्राप्तवयस्क की अस्मिता हटती है एकमात्र ऐश्वर्य्य-बुद्धियोगात्मक भक्तियोग से, जिसके सम्बन्ध में भी एक लौकिक उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है ।

२७—काम्य ऐश्वर्य्य की अनित्यता—

मान लीजिए—देशाधिपति शासक लोकैश्वर्य्य से सम्पन्न है । इस ऐश्वर्य्यसम्पन्न शासक के वेतनभोगी अनुचर शासक के ऐश्वर्य्य से अनुगृहीत रहते हैं, शासक के ऐश्वर्य्य के भक्त (भाग—अवयव) बने रहते हैं । यही इस अनुचरवर्ग का 'भक्तिबल' है । इस भक्तिबल के प्रभाव से अनुचरवर्ग की अस्मिता हटी रहती है । शासक का अङ्गरक्षक प्रजावर्ग के किसी सम्पन्न धनिक की अपेक्षा आर्थिक दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता । धनिक—कोट्यधिपति है, शासकानुचर अधिक से अधिक १००-२०० प्राप्त कर लेता है । इसप्रकार धनैश्वर्य्य की दृष्टि से सम्पन्न धनिक की अपेक्षा शासकानुचर सर्वथा निम्न श्रेणि में प्रतिष्ठित है । परन्तु शासक के भक्तिबल से धनिक जहाँ बञ्चित है, वहाँ शासकानुचर शासक के उस भक्तिबल से अनुगृहीत है, जो भक्तिबल धनिक के वित्तैश्वर्य्य से कहीं अधिक महत्त्वशाली है । यही कारण है कि, सम्पन्न भी धनिक जहाँ शासनसत्ता से भयत्रस्त बना रहता है, वहाँ शासकानुचर इस भय से विमुक्त बना रहता है । यही नहीं, अपितु इसी भक्तिबल के अनुग्रह से शासक का एक क्षुद्र सेवक (चपरासी) भी सम्पन्न धनिक के लिए 'आप तो उनके खास आदमी हैं', इस सूक्ति—उच्चारणपूर्वक सम्मान्य बन जाता है । जब तक अनुचर शासक का अनुचर है, तभी तक वह इस लोकास्मिता पर विजय प्राप्त किए रहता है । जिस दिन यह अपने अधिकारबलात्मक भक्तिबल से गिर जाता है, उस दिन इसमें वही अपने स्वरूप के अनुरूप अस्मिता प्रकट हो जाती है । यही भक्तिबलात्मक—आगन्तुक ऐश्वर्य्य का लौकिक उदाहरण है, जिसका कामभाव से सम्बन्ध है । अतएव इत्थंभूत ऐश्वर्य्य 'काम्यभक्तियोग' कहलाया है, जिससे शाश्वत ऐश्वर्य्य प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

२८—ऐश्वर्य्यबोध का अभाव, एवं अस्मिता का आक्रमण, तथा तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

यह भी देखा सुना गया है कि, कभी कभी रहती हुई भी ईश्वरता (स्वशक्तिसामर्थ्य) अज्ञान के कारण विकसित नहीं हो पाती, और उस दशा में वह दुःखी—असमर्थ बना रहता है । अपने हीं घर में द्रव्य गड़ा हुआ है । हमें उसका बोध नहीं है । द्रव्याभावजनित दुःख हम पर आक्रमण करते रहते हैं । हम में सम्पूर्ण योग्यताएँ प्रतिष्ठित हैं, परन्तु कुचक्रियों नें—'तुम कुछ नहीं, तुम कुछ नहीं' कह कर अपने स्वार्थसाधन के लिए हमें अस्मिता में डाल रक्खा है । परिणामस्वरूप हम अपने आपको सर्वथा अयोग्य मानते हुए पराश्रित बन जाते हैं । वर्त्तमान शिक्षापद्धति में संगृहीत कल्पित इतिहासों नें हीं तो भारतवर्ष की स्वाभाविक ईश्वरता को अस्मिता के आवरण से आवृत कर लिया है । 'हम कौन थे, कौन हैं ?,' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने वाला इतिहास हमें यह सिखा रहा है कि—'तुम असभ्य थे, जँगली थे, जड़ोपासक थे, तात्पर्य्य—कुछ न थे' । इस असत्-शिक्षण से हमारा पूर्वैश्वर्य्य अभिभूत होता जा रहा है । महाभारत युद्धप्रसङ्ग में शल्य की इसी नीति ने कर्ण के स्वाभाविक ऐश्वर्य्य को अभिभूत कर डाला था । यह भी तो सत्य है कि, हम वाणी के द्वारा अस्मिता का भी प्रवेश करा सकते हैं, और अस्मिता हटा कर ऐश्वर्य्य का समावेश भी करा सकते हैं । युद्ध करते हुए दो मल्लों में से जिस मल्ल के प्रति जनता—'शाबास बहादुर, मार लिया' इत्यादि उत्साहवर्द्धिनी वाणी का प्रयोग करती रहती है, निश्चयेन उस मल्ल में शब्दशक्तिप्रवेश के द्वारा जयसाधक स्फूर्त्तिबल का उदय हो

जाता है। वंशजों के पूर्वगौरव के बखानमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता हट जाती है। राजपत्तन के चारण भाटों की विरुदावली ने अनेक बार पराजित होते हुए क्षत्रियों को विजयलाभ कराया है। सीतान्वेषण के लिए समुद्रतट पर समवेत वानरसमूह जब लङ्कागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो सहसा मारुति की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मारुति अपने आपको समुद्रोल्लङ्घन में असमर्थ पाते हुए इस मीमांसा से तटस्थ बने एक ओर बैठे थे। जब इन्हें इनके स्वाभाविक ऐश्वर्य्यबल का परिचय कराया जाता है, तो तत्क्षण आपकी अस्मिता पलायित हो जाती है। परिणाम क्या होता है?, यह सर्वविदित है। एवमेव ऐसे ऐसे शतशः उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विद्यमान भी ऐश्वर्य्य आगन्तुक अस्मिता के कारण दबा रहता है। एवं अस्मिता के उपायविशेषों के द्वारा हटा देने पर स्वतः सिद्ध ऐश्वर्य्य मेघापाये सूर्य्यवत् प्रकट हो जाता है।

२९—आगन्तुक अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य्य का अभिभव—

ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। आगन्तुक अस्मिता के सम्बन्ध से जीवात्मा की बुद्धि आत्मैश्वर्य्यसंग्राहक ऐश्वर्य्यहेतुभूत अपने विद्याबुद्धिभाव से वञ्चित रह जाती है। इस स्थिति का यों भी समन्वय कर लीजिए कि, अस्मिता के सम्बन्ध से अल्पज्ञ-अल्पशक्ति-अल्पवित् बने हुए जीवात्मा की बुद्धि भी अस्मिता (अविकसिता) बन जाती है। इस अस्मिताबुद्धि का उस ऐश्वर्य्यशाली प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं होने पाता। योग है, और अवश्य है। परन्तु उसके और इसके योग में अस्मिता-प्रतिबन्धन का समावेश हो रहा है। अस्मिता अनैश्वर्य्यलक्षण अपूर्णभाव है। तद्द्वारा जीवात्मा में परम्परया भुक्त भी अव्ययैश्वर्य्य उसी प्रकार अस्मिताभाव में हीं परिणत हो रहा है, जैसे कि कृष्णकाच के द्वारा आगत श्वेतरश्मि भी कृष्णरूप में परिणत हो जाती है।

३०—साक्षी सुपर्णसखा के सान्निध्य से अस्मिता की निवृत्ति—

कैसे यह अस्मिता हटे?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही प्राचीनों की ओर से काम्य-भक्तियोग का आविष्कार हुआ है। संकोच उस समय अवश्यमेव विकासरूप में परिणत हो जाता है, जब कि संकोच-शाली व्यक्ति का किसी अपने से अधिक बलशाली सजातीय व्यक्ति से सम्बन्ध हो जाता है। लौकिक उदाहरणों से स्थिति का समन्वय कीजिए। अपरिचित, एतावता ही विजातीय व्यक्ति के सामने एक बच्चे की विनोद-वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं, अस्मितभाव में परिणत हो जातीं हैं। वही बच्चा परिचित, एतावता ही सजातीय माता-पिता-भगिनी-आदि के सामने आते ही पुष्पवत् विकसित हो पड़ता है। पूज्य-गुरुजनादि के सम्मुख हमारी मानस भावना उनके आधिकारिक बलाघात से दबी रहतीं है। परन्तु एक मित्र के सामने हमारा अन्तर्जगत् विकसित हो पड़ता है। सांसारिक अपूर्णता की मूलकारणभूता अस्मिता तभी हट सकती है, जबकि जीवात्मा अपने सजातीय बन्धु का आश्रय ले लेता है। आध्यात्मिक अव्ययेश्वर के अतिरिक्त इसका नित्य बन्धु दूसरा और कोई नहीं है, जो सदा छायावत् इसके साथ युक्त रहता है। **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ'** इत्यादि श्रुति के अनुसार साक्षीसुपर्ण नाम से प्रसिद्ध प्रत्यगात्मलक्षण परमात्मा, तथा भोक्तासुपर्ण नाम से प्रसिद्ध शारीरकात्मलक्षण जीवात्मा सयुक्-सखा (अभिन्नमित्र) हैं। जीवात्मा अल्पज्ञ-अल्पशक्ति-अल्पवित् मित्र है, परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित् मित्र है। जिस निर्धन का मित्र एक सम्पन्न धनिक हो, वह कभी कष्ट

नहीं पा सकता, जबकि उस धनिक मित्र के साथ इस निर्धन मित्र का अनन्य सम्बन्ध रहे। सजातीय परिपूर्ण ईश्वरबन्धु के साथ जिस दिन इस अपूर्ण जीव का 'भक्ति' सम्बन्ध हो जाता है, उस दिन उसकी परिपूर्णता इसकी अपूर्णता को भी परिपूर्णतारूप में परिणत कर देती है, और यहाँ आकर जीव की अपूर्णतालक्षणा अस्मिता का एकान्ततः उच्छेद हो जाता है।

३१–अस्मितानिवर्त्तिका ईश्वरोपासना—

ज्ञान–क्रिया–अर्थैश्वर्य्यघन ईश्वर की उपासना का अर्थ है–उसका अहर्निश चिन्तन। इस चिन्तनरूप समानप्रत्ययप्रवाह से उसकी ऐश्वर्य्यत्रयी इसमें प्रवाहित होने लगती है। यही 'ईश्वरोपासना' है, जो अस्मितानिवृत्ति का मुख्य उपाय माना गया है। अपूर्णताजनिता दुःखनिवृत्ति की कामना से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना उपासना न रह कर 'काम्य भक्तियोग' बन जाता है, जिसे भक्तसम्प्रदाय में 'प्रेमाभक्ति'–'सगुणो–पासना'–इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। इस काम्या भक्ति में क्या क्या दोष हैं !, इसका अनुष्ठानप्रकार क्या है !, इसका मूल लक्ष्य आत्मा कौन है !, उपासना और भक्ति में क्या तारतम्य है !, इस काम्यभक्ति का भगवान् ने संशोधन क्यों अनिवार्य्य माना है !, इत्यादि भक्ति–उपासना सम्बन्धी यच्चयावत् प्रश्नों की मीमांसा द्विखण्डात्मिका 'भक्तियोगपरीक्षा' में की जा चुकी है। अत यहाँ पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रकृत में विषयसङ्गति के लिए यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि—

३२–काम्यभक्तियोगानुगता दोषपरम्परा—

'काम' तत्त्व प्रत्येक दशा में त्रिगुणभाव का उत्तेजक है। त्रिगुणभाव प्रत्येक दशा में आसक्ति का प्रवर्त्तक है, एवं आसक्ति प्रत्येक दशा में आत्मबन्धन का कारण है। हमारा सांसारिक दुःखों से छुटकारा हो, हम अपनी अपूर्णता छोड़ कर परिपूर्ण बन जाँय, इस कामना में ईशकामना के साथ साथ अंशतः उत्थाप्या–कांक्षा–लक्षणा जीवकामना का भी समावेश बना रह जाता है। अतएव ऐसी काममयी सगुणोपासना काम्य सगुण कर्म्मवत् आसक्ति का आत्यन्तिक निराकरण करने में असमर्थ बनी रह जाती है। जिस प्रकार–**'त्रैगुण्य–विषया वेदाः'** के अनुसार काम्यकर्म्म त्रिगुणभावात्मक बनते हुए भगवान् की दृष्टि में त्याज्य हैं, एवमेव त्रिगुणात्मिका सगुणभावात्मिका काम्य–भक्ति भी भगवान् की दृष्टि में अवरमार्ग ही बना हुआ है। कामना–मयी भक्ति में प्रेम का अतिरेक सम्भव है, तन्मयता भी आ सकती है, अंशतः अस्मिता भी हट सकती है। परन्तु इसमें चिदात्मा का उदय नहीं होता। अव्ययेश्वर ही चिदात्मा है, और यह गुणातीत है–**'अनादि–त्वान्निर्गुणत्त्वात् परमात्मायमव्ययः'**। उधर कामभाव के सम्बन्ध से काम्य भक्तियोग का लक्ष्य बनता है–क्षरानुगत–त्रिगुणभावात्मक सगुणेश्वर। निर्गुण चिदात्मा, और सगुण–सविकार जीवात्मा, दोनों के मध्य में काम, तदनुबन्धी गुणभाव, तत्सहयोगी प्रेमभाव, आदि आदि अनेक विजातीय उन प्रतिबन्धों का समावेश हो जाता है, जिनके कारण जीवात्मा का उस निर्गुण परमात्मा के साथ अनन्य सम्बन्ध नहीं हो पाता। यही काम्यभक्तियोग में प्रथम दोष है। दूसरा दोष है–ज्ञानवैराग्य का बहिष्कार। चिदात्मा ज्ञानप्रधान है, इसी ज्ञान के सम्बन्ध से यह आसक्ति से सर्वथा विनिर्मुक्त रहता हुआ वैराग्यमूर्त्ति है। ज्ञान–वैराग्यलक्षण निर्गुण चिदात्मा के, और अज्ञान–आसक्ति लक्षण सगुण जीवात्मा के मध्य में जब तक कामासक्ति का साम्राज्य है, तब तक चिदात्मा की ज्ञान–वैराग्य-कलाओं के अनुग्रह से जीवात्मा वञ्चित बना रहता है। ज्ञान–वैराग्य-वञ्चिता

ऐसी भक्ति के अनुयायी भक्त प्रेमविभोर बन कर आँसू बहा सकते हैं, तन्मय हो सकते हैं, सम्भवतः परमपद भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कर्त्तव्यनिष्ठा से इनकी विच्युति हो जाती है। अतएव ऐसे काम्य-भक्तिमार्ग में काम्य कर्म्मयोगवत् वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन तो हो जाता है, परन्तु लोकाभ्युदयात्मक लोकसंग्रह नहीं होने पाता। प्रत्यक्ष में देख लीजिए न-गुणात्मिका काम्यभक्ति दासभाव से भक्त को अस्मिता की अनुगामिनी बना रही है। आस्तिक प्रजा भगवद्विग्रहों के सम्मुख अपनी दासता का बखान करती नहीं अघाती। दासभावना अच्छी हो, अथवा बुरी, दासभावना चिर अभ्यास में आकर कालान्तर में अवश्यमेव अस्मिता की जननी बन जाती है। प्रेमभाव से मनोधरातल स्वस्थ नहीं रहने पाता। फलतः एवंविध भक्तिमार्ग में वर्णाश्रमानुगत स्वाधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्म से भी विच्युति हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से कामनामयी यह भक्ति गीतादृष्टि से दोषावहा ही मानी गई है।

३३-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष—

लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकप्रचलित इसी काम्य-भक्तियोग का कामना-संशोधनपूर्वक अव्यये-श्वरानन्यतासमावेश के द्वारा संशोधन कर इसे निष्कामभावात्मक बुद्धियोगस्वरूप प्रदान करते हुए इसका 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' रूप से गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है, जो ऐश्वर्य्यबुद्धियोग ज्ञान-वैराग्यपरिपूर्णा-निर्गुणभक्ति, निष्कामोपासना, आत्मोपासना, ईश्वरानन्यता, आदि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार काम्य कर्म्मयोग ऋषिवंश में प्रचलित था, एवमेव काम्यभक्तियोग प्रधानतः क्षत्रिय राजाओं में हीं प्रधानरूप से परम्परया प्रचलित था। अतएव तन्मूला, तत्प्रकारप्रकाशिका विद्या गीता में-**'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्'** इत्यादि रूप से 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुई है। अतएव इसे हमनें **'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या'** नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ माना है।

३४ — प्राचीनाभिमता योगत्रयी का गीताचार्य्य के द्वारा संशोधन—

काम्य-कर्म्मयोग में वर्णाश्रमसिद्ध काम्य कर्म्म का संग्रह अवश्य था, परन्तु उसमें ईशभावना का अभाव था। कर्म्मठ मीमांसकों की दृष्टि में 'कर्म्म' हीं ईश्वर बना हुआ था। इसी कर्म्माभिनिवेश से यह काम्य कर्म्मयोग हेय बन रहा था। भगवान् ने कामनात्यागपूर्वक इसको बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की। निष्काम-भावात्मक निष्काम-कर्म्मयोग में ईश्वरभावना का समावेश हुआ, परन्तु गौणरूप से। प्रधानता कर्म्म की ही रही। एवमेव काम्य भक्तियोग में ईशभावना का समावेश अवश्य था, परन्तु प्रेमातिरेक के कारण इसमें वर्णाश्रमसिद्ध कर्म्मसंग्रह उपेक्षणीय बन रहा था। भक्तों की दृष्टि में ईश्वरनामसंकीर्त्तन ही प्रधान कर्म्म बना हुआ था। इसी भक्ति-अस्मिता से यह काम्य भक्तियोग हेय बन रहा था। भगवान् ने कामनापरित्याग से इसे बुद्धियोगसंपत् प्रदान की। निष्कामभावात्मक इस भक्तियोग में ईश्वरानन्यतापूर्वक वर्णाश्रमानुगत लोकसंग्रह-सञ्चालक कर्त्तव्यकर्म्म का भी समावेश हुआ। ईश्वरभावना प्रधान बनी, कर्म्मभाव तदनुगामी बना। एवमेव कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान की गई, और तद्द्वारा इसे 'ज्ञानबुद्धियोग' रूप में परिणत किया गया। ज्ञान अवश्य प्रधान बना रहा, परन्तु निवृत्तिकर्म्म का भी समावेश होगया। इसप्रकार कामनामय कर्म्मयोग में कामत्याग के द्वारा, कामनामय भक्तियोग में कामत्यागपूर्वक कर्म्मसमावेश के द्वारा, एवं कर्म्मत्यागमय ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेश के द्वारा भगवान् ने लोकप्रचलित तीनों

निष्ठाओं का संशोधन किया। यही कारण है कि, गीता में प्रतिपादित कर्म्म-भक्ति-ज्ञान, तीनों में से किसी भी योग पर दृष्टि डालिए, अधिकारसिद्ध कर्म्म का पक्षपात सर्वत्र समर्थित उपलब्ध होगा। भगवान् अर्जुन को कर्म्मयोग का उपदेश दे रहे हैं, साथ साथ क्षत्रियवर्णोचित युद्धकर्म्म की प्रधानता की ओर भी उसका ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। **'भक्तोऽसि'** कहते हुए 'युद्धयस्व' कहना भी नहीं भूलते। ज्ञानी बतलाते हुए भी उसे कर्म्ममार्ग पर आरूढ़ कर रहे हैं। वह कर्म्म, वह भक्ति, वह ज्ञान किस काम के, जिनमें क्रमशः व्यक्तिस्वार्थ, कर्त्तव्योपेक्षा, तथा कर्म्मत्यागभाव समाविष्ट हों।

३५—प्राचीनाभिमता योगत्रयी की गीताचार्य्य के द्वारा आन्यन्तिक उपेक्षा—

प्राचीनाभिमत इन तीनों योगों का लक्ष्य यद्यपि आत्मतत्त्व ही बनता है। परन्तु अव्ययगर्भित अक्षर, अक्षरगर्भित **क्षर**, तथा क्षरगर्भित विकारक्षर, इन तीन आत्मविवर्त्तों को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग, नामक प्राचीनयोग समत्वलक्षण उस बुद्धियोगसम्पत् से वञ्चित हैं, जिसका समब्रह्मलक्षण अव्ययब्रह्म से सम्बन्ध माना गया है। अव्ययगर्भित अक्षर अव्यक्त है, कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का यही आधार है। यहाँ केवल ज्ञान का संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्द्ध कर्म्मरूप से वञ्चित ऐसा ज्ञानयोग समता के स्थान में विषमता का ही जनक बना हुआ है।

अक्षरगर्भित क्षर व्यक्ताव्यक्त है। कामभावात्मक, लोकसंग्राहक कर्म्म से वञ्चित भक्तियोग की प्रतिष्ठा यही व्यक्ताव्यक्त तत्त्व बनता है। यहाँ अव्यक्तानुगत ज्ञान का, एवं व्यक्तानुगत कर्म्म का, संग्रह यद्यपि दोनों का ही है। तथापि इस अव्यक्त ज्ञान से कामात्मिका अशान्ति, तथा व्यक्त वैय्यक्तिक स्वार्थ-साधक कर्म्म से लोकसंग्रह का विघात हो रहा है। अव्यक्तदृष्टया यह जहाँ स्वात्मविषमता का कारण बन रहा है, वहाँ व्यक्त कर्म्मापेक्षया यह लोकविषमता का भी कारण बना हुआ है। फलतः ज्ञानयोगवत् ऐसा भक्तियोग भी समत्व-लक्षण योगधर्म्म से बहिष्कृत है। क्षरगर्भित विकारक्षर व्यक्त है। कामभावात्मक, लोक-अभ्युदय से वञ्चित, प्रवृत्तिलक्षण कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा यही व्यक्ततत्त्व बनता है। यहाँ ज्ञानयोगवत् कर्म्म का तो अभाव नहीं है, तथापि ज्ञान का अवश्य अभाव है। दूसरे शब्दों में यहाँ केवल कर्म्म का ही संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्द्ध ज्ञानभाग से वञ्चित ऐसा कर्म्मयोग भी ज्ञानयोगवत् विषमता का ही जनक बना रहता है। धन-धान्यादि, पत्नी-पुत्रादि ऐहलौकिक, तथा स्वर्गादि पारलौकिक, इन व्यक्तिगत स्वार्थों को उद्देश्य बना कर व्यक्तात्मा (क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा) के आधार पर कामनापूर्वक किया गया ज्ञानसम्पत्-वञ्चित कर्म्म हीं प्राचीनाभिमत **'कर्म्मयोग'** है। सांसारिक दुःखों से त्राण पाने के लिए, साथ ही अभिलषित फल-कामना की पूर्ति के लिए केवल कामनापूरक कर्म्मों की सिद्धि को उद्देश्य बना कर व्यक्ताव्यक्तात्मा (अव्यक्तगर्भित क्षरात्मा) के आधार पर कामनापूर्वक की गई इष्टदेवोपासना हीं प्राचीनाभिमत **'भक्तियोग'** है। सांसारिक कर्म्मों से घबरा कर इन से बचने के लिए सर्वविध कर्म्मों का ऐकान्तिक परित्याग कर अपने आपको विशुद्ध ज्ञानभाव में परिणत करने के उद्देश्य को लक्ष्य बना कर अव्यक्तात्मा (अक्षरात्मा) के आधार पर किया गया कायक्लेशात्मक निवृत्तिकर्म्मपथानुगमन हीं प्राचीनाभिमत **'ज्ञानयोग'** है। तीनों योग क्रमशः ज्ञानाभाव, कामभाव, कर्म्माभाव से अपूर्ण बनते हुए त्रिगुणात्मक हैं, अतएव त्याज्य हैं। गीतोक्त बुद्धियोग की विलुप्ति से पहिले तीनों योगों का ही भारत में साम्राज्य था, साथ ही तीनों क्रमशः ऋषिवंश, राजवंश, सिद्धवंश में परम्परया प्रतिष्ठित-प्रचलित थे। भगवान् ने अर्जुन के प्रति बुद्धियोग का उपदेश करते हुए लोकसंग्रह की दृष्टि

से इन लोकप्रचलित तीनों प्राचीन योगों का भी गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया, परन्तु संशोधन पूर्वक। कर्म्मयोग में कामत्यागपूर्वक, भक्तियोग में कामत्यागपूर्वक, एवं ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेशपूर्वक भगवान् ने तीनों में अव्ययभावना प्रतिष्ठित की। फलतः तीनों अपूर्ण योग इस संशोधन से पूर्ण बन गए, समत्त्वलक्षण बुद्धियोग की प्रतिच्छाया से युक्त होते हुए बुद्धियोगरूप में परिणत हो गए। गीता के द्वारा संशोधित वे ही तीनों योग गीतापरिभाषा में धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग), ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, (भक्तियोग), एवं ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग), नामों से व्यवहृत हुए, जिनमें से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूप पूर्व स्तम्भ में बतलाया जा चुका है, राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रक्रान्त है, एवं सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग का विश्लेषण अगले स्तम्भ में किया जायगा।

३६—गीताभिमता योगचतुष्टयी—

जिस प्रकार प्राचीनाभिमत तीनों योगों की प्रतिष्ठा क्रमशः अव्यक्त–व्यक्ताव्यक्त–व्यक्त, नामक आत्मविवर्त्त थे, एवमेव भगवान् के द्वारा संशोधित बुद्धियोगात्मक इन तीनों योगों के आधार कौन बने ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। यह बतलाया जा चुका है कि, बुद्धियोग का उस सर्वेश्वर अव्ययात्मा से सम्बन्ध है,जिसके गर्भ में अव्यक्ताक्षर,व्यक्ताव्यक्त अक्षरगर्भित क्षर,एवं व्यक्त-क्षरगर्भित विकारक्षर, तीनों पूर्वोक्त आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। अव्ययब्रह्म सर्वेश्वर है, इसका वाचक प्रणव माना गया है, एवं यह योगपरिभाषानुसार अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष (आसक्ति), अभिनिवेश क्लेशों से सर्वथा शून्य, धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य, इन चारों भगों से नित्य परिपूर्ण, अतएव पूर्ण भगवान् माना गया है। प्रणव में अकार, उकार, मकार, ये तीन मृत्युमात्रा हैं, एवं अर्द्धमात्रा अमृततत्त्व है। यही तुरीय पद माना गया है। इन चार पदों से उस सर्वेश्वर के सर्वाव्यय, विद्याव्यय, कामाव्यय, कर्म्माव्यय, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं। सर्वाव्यय सर्वात्मक है, यही वैराग्यबुद्धियोग नामक 'बुद्धियोग' का आधार बना हुआ है। विद्याव्यय आनन्द–विज्ञानमय है, यही ज्ञानबुद्धियोग नामक 'ज्ञानयोग' का आधार बना हुआ है। कामाव्यय मनोमय है, यही ऐश्वर्य्यबुद्धियोग नामक 'भक्तियोग' का आधार बना हुआ है। कर्म्माव्यय प्राणवाङ्मय है, एवं यही धर्म्म–बुद्धियोग नामक 'कर्म्मयोग' का आधार बना हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि, आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाङ्मय पञ्चकोशात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दादि पञ्चकोशात्मक सर्वाव्यय, आनन्दविज्ञानमय विद्याव्यय, मनोमय कामाव्यय, प्राणवाङ्मय कर्म्माव्यय, ये चार विवर्त्त हैं। ये ही चारों अव्ययविवर्त्त क्रमशः सर्वात्मा, विद्यात्मा, कामात्मा, कर्म्मात्मा इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सर्वात्मा वैराग्यभग–प्रधान है, विद्यात्मा ज्ञान–भग–प्रधान है, कामात्मा ऐश्वर्य्यभग–प्रधान है, एवं कर्म्मात्मा धर्म्मभग–प्रधान है। वैराग्यभग से युक्त सर्वात्मा–लक्षण सर्वाव्यय अपनी सर्वता के कारण 'सर्वाव्यय' है। ज्ञानभग से युक्त विद्यात्मा–लक्षण अव्यय 'पराव्यय' है। ऐश्वर्य्यभग से युक्त कामात्मा–लक्षण अव्यय 'परावराव्यय' है। एवं धर्म्मभग से युक्त कर्म्मात्मा–लक्षण अव्यय 'अवराव्यय' है। अवराव्यय से क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा अनुगृहीत है, परावराव्यय से अक्षरगर्भित क्षरात्मा अनुगृहीत है, पराव्यय से अक्षरात्मा अनुगृहीत है। अवराव्यय के सहयोग से वञ्चित केवल विकारक्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मयोग जहाँ काम्य कर्म्मयोग है, वहाँ यही अवराव्यय के सहयोग से निष्कामभाव में परिणत होता हुआ धर्म्मबुद्धियोग है। परावराव्यय के सहयोग से वञ्चित, केवल क्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित भक्तियोग जहाँ काम्य भक्तियोग है, वहाँ यही परावराव्यय के सहयोग से निष्कामभाव में

परिणत होता हुआ ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है। पराव्यय के सहयोग से वञ्चित केवल अक्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग जहाँ कर्म्मत्यागात्मक ज्ञानयोग है, वहाँ यही पराव्यय के सहयोग से कर्म्मभाव में परिणत होता हुआ ज्ञानबुद्धियोग है। एवं सर्वाव्यय से युक्त सर्वयोग वैराग्यबुद्धियोग है, जो भगवान् की अपनी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। प्राचीनाभिमता योगत्रयी, तथा गीतासम्मता योगचतुष्टयी, दोनों में यही स्वरूपभेद है, जिसका निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

प्राचीनाभिमता योगत्रयी—

१–अक्षरात्मा (अव्यक्तात्मा) –ज्ञानाधारः (कर्म्मत्यागलक्षणो ज्ञानयोगः)।

२–अक्षरगर्भित–क्षरात्मा (व्यक्ताव्यक्तात्मा) –भक्त्याधारः (कामनामयो भक्तियोगः)।

३–क्षरगर्भित–विकारक्षरात्मा (व्यक्तात्मा) –कर्म्माधारः (कामनामयः कर्म्मयोगः)।

——❀——

गीताचार्य्याभिमता—योगचतुष्टयी—

१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः-अव्ययः-सर्वात्मा--सर्वानुग्राहकः (अर्द्धमात्रा)-----सर्वाव्ययः

२–आनन्दविज्ञानमयः–अव्ययः————विद्यात्मा-अव्यक्तात्मानुग्राहकः (अकारः)--पराव्ययः

३-मनोमयः–अव्ययः————————कामात्मा-व्यक्ताव्यक्तात्मानुग्राहकः(उकारः)परावराव्ययः

४-प्राणवाङ्मयः-अव्ययः——————कर्म्मात्मा-व्यक्तात्मानुग्राहकः(मकारः)——अवराव्ययः

——❀——

१-सर्वाव्ययः—वैराग्यभगोपेतः-वैराग्यबुद्धियोगाधारभूमिः (सिद्धान्तो बुद्धियोगः)।

२-पराव्ययः—-ज्ञानभगोपेतः—ज्ञानबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधितः-ज्ञानयोगः)।

३-परावराव्ययः-ऐश्वर्य्यभगोपेतः-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारभूमिः (सशोधितः-भक्तियोगः)।

४-अवराव्ययः--धर्म्मभगोपेतः--धर्म्मबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधितः-कर्म्मयोगः)।

——❀——

३७—अध्यात्मसंस्था-भुक्त चतुर्विध मनस्तन्त्र—

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग की आधारभूमि मनोमय कामाव्यय है। यही कामाव्यय 'श्वोवसीयस्' नामक ब्रह्म कहलाया है। कामाव्यय से वञ्चित, किन्तु प्रज्ञानकामात्मक व्यक्ताव्यक्तात्मा से युक्त जो भक्तियोग जीवेच्छा क सम्बन्ध से काम्य–भक्तियोगरूप में परिणत रहता है, वही इस

काममय श्वोवसीयस्-अव्ययमन से युक्त होकर ईश्वरकामना के सम्बन्ध से निष्काम-भक्तियोगरूप में परिणत हो जाता है। अध्यात्मसंस्था में भुक्त मनस्तत्त्व का वैज्ञानिकों नें चतुर्द्धा विश्लेषण किया है। वे चारों आध्यात्मिक मन क्रमशः **'चिदात्मा, चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय'**, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सुख-दुःखानुभूति का आधारभूत, संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन हीं 'वेदनीयमन' कहलाया है। 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' लक्षण के आधार पर ही इसे इन्द्रियमन कहा गया है। **'वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मनांसि'** इस वेदसम्मत इन्द्रियपञ्चक में भुक्त मन यही संवेदनीय इन्द्रियमन है, जिसका पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी के त्रिणव (२७) स्तोमात्मक चौथे आपोलोक में प्रतिष्ठित भास्वरसोम से निर्म्माण हुआ है। पार्थिव सोमात्मक यही इन्द्रियमन पहिला 'वेदनीय' मन है, जिसके लिए-**'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'** प्रसिद्ध है। **'एकादशं मनो ज्ञेयम्'** से भी यही मन अभिप्रेत है। दूसरा है प्रज्ञानमन। **'अन्यत्र मे मनोऽभूत्-न प्राज्ञासिषम्'** में पठित मन हीं प्रज्ञानमन है। सर्वेन्द्रियों के सहयोग से यह जहाँ 'सर्वेन्द्रिय' कहलाया है, वहाँ उक्त इन्द्रियलक्षण से अतीत रहता हुआ 'अनीन्द्रिय'-'अतीन्द्रिय' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। चन्द्रमा इस मन का प्रभव है। इन्द्रियमन बहिर्म्मन था, यह प्रज्ञानमन अन्तर्म्मन है। **'यत् प्रज्ञानमुत चेतो०'** इत्यादि यजुर्म्मन्त्र से इसी चान्द्र सोमात्मक प्रज्ञानमन का स्वरूपविश्लेषण हुआ है, और यही अध्यात्मसंस्था में भुक्त दूसरा मन है। तीसरा मन 'चित्त' नाम से प्रसिद्ध है। अव्ययात्मा चिदात्मा है। यह महानात्मा में गर्भ धारण करता है। चित् (अव्यय) के गर्भीभूत होजाने से महानात्मा भी चिन्मय बन जाता है, और चिद्युक्त महानात्मा का यही चित्तत्त्व विद्याबुद्धिलक्षण विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है। अतएव **'सत्त्वादधि महानात्मा'** इत्यादिरूप से विज्ञानात्मा को भी सत्त्व (चित्त) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। योगमाया के सम्बन्ध से यह महन्मन गुणात्मक बना रहता है। पारमेष्ठ्य महत्सोम ही इसका प्रभव है। पारमेष्ठ्य सोमात्मक यही महन्मन 'चित्त-सत्त्व-गुण-' आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव सोमात्मक वेदनीय-इन्द्रियमन पार्थिव-कृष्णाग्नि (मृण्याग्नि) के सम्बन्ध से, चान्द्र सोमात्मक-प्रज्ञान-अनिन्द्रियमन कृष्णचन्द्र के सम्बन्ध से, दोनों मन स्वरूप से कृष्ण हैं। परन्तु विज्ञानज्योति के सम्परिष्वङ्ग से, तथा गर्भीभूत चिज्ज्योति के सम्बन्ध से चित्ताख्य महन्मन स्वज्योतिर्म्मय है। इसी के सम्बन्ध से चान्द्रप्रज्ञान, और पार्थिव वेदनीय मन भी ज्योतिष्मान् बन रहे हैं।

चौथा मन 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। **'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्'** के अनुसार यह मन सर्वालम्बन है। सत्त्वात्मक महन्मन, कर्म्मात्मक प्रज्ञानमन, प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्रियमन, तीनों इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, तीनों इसी के मात्राभुक्त विवर्त्त हैं। यही अपने 'बहु स्याम' काम से वसीयान् बनता हुआ 'श्वोवसीयस्' नाम से व्यवहृत हुआ है। **'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्'** वाला मन यही मन है। मनस्त्रयी करणरूपा है, यह चौथा अव्ययमन कारणरूप है, आत्मलक्षण है। रस-बलात्मक, काममय यही मन अपनी अन्तश्चिति, बहिश्चिति से चिदात्मस्वरूप में परिणत रहता है। बलगर्भिता रसचिति ही आनन्द-विज्ञान है, यही मुक्तिसाक्षिणी अन्तश्चिति है। रसगर्भिता बलचिति ही प्राण-वाक् है, यही सृष्टिसाक्षिणी बहिश्चिति है। अन्तश्चिति ही अव्यय का पररूप है, बहिश्चिति ही अव्यय का अपररूप है, एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयात्मक मन दोनों चितियों से अनुगृहीत रहता हुआ अव्यय का परावररूप है। क्योंकि इसी के आधार पर, इसी की मुमुक्षा-सिसृक्षा-कामना से अन्तः-बहिश्चितियों का विकास हुआ है। अतएव इस अव्ययमन को अवश्य ही 'चिदात्मा' कहा जा सकता है। आनन्द-विज्ञानात्मिका

अन्तश्चिति ही पराव्ययलक्षण विद्यात्मा है । प्राण-वागात्मिका बहिश्चिति ही अवराव्ययलक्षण कर्म्मात्मा है । एवं मध्यस्थ मनोमय अव्यय ही कामात्मा है, यही परावराव्यय है । इसप्रकार अव्यय, महदक्षर, प्रज्ञानक्षर, ऐन्द्रियक विकारक्षर, इन चार तत्त्वों के आधार पर क्रमशः चिदात्मा, चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय, इन चार मनस्तत्त्वों का उदय हो जाता है । इन चारों में से ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोगानुष्ठान में चौथे चिदात्मा नामक अव्ययमन के साथ ही अनन्यता स्थापित करनी पड़ती है । जिस दिन ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोदय के हेतुभूत साध्य ऐश्वर्य्यबुद्धियोग से इस चिदात्मलक्षण अव्ययमन का विकास हो जाता है, उस दिन अव्ययेश्वर के त्रिविध ऐश्वर्य्य का विकास हो जाता है । ऐश्वर्य्यविकास ही चिदात्मा का अनुग्रह है । चितिभावात्मक चयन ही इस अनुग्रह का फल है । चयन ही आत्मशान्ति है । बिना चिति के आत्मा बलशून्य रहता हुआ अशान्त बना रहता है । आत्मचिति (आत्मबल) से वञ्चित प्राणी कभी शान्ति-लाभ नहीं कर सकता । 'चैन' (शान्ति-सुख) मिलेगा 'चयन' (आत्मचिति) से, तद्रूप चिदात्ममन के प्रति आत्मसमर्पण करने से । इसके अभाव में प्राणी 'अचेत्' बना रहता हुआ अशान्ति के गर्त में पड़ा रहता है । 'अचेत्' (अचयन-अचिति-बलनिर्गमनलक्षणा अशान्ति) की निवृत्ति के लिए ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण, अस्मितानिवर्त्तक, निष्कामभक्तियोग अनुष्ठेय माना गया है, जिसे सफल बनाने के लिए हमें पहिले आध्यात्मिक मनस्तत्त्व का विश्लेषण करना पड़ेगा, तद्द्वारा चिति-(शान्ति)-धर्म्म प्रवर्त्तक श्वोवसीयस्-नामक अव्ययमन को लक्ष्य बनाना पड़ेगा । एवं लक्ष्यीभूत अव्ययमन के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण करने के लिए गीताशास्त्र-प्रतिपादित साध्य ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग का अनुगमन करना पड़ेगा ।

१-चिदात्मा	अव्ययमनः	श्वोपस्यसं मनः	आत्ममनः	]—कारणम्
२-चित्तम्	महन्मनः	गुणात्मकं मनः	आभ्यन्तरमनः	कार्यम्
३-प्रज्ञानम्	अनिन्द्रियमनः	सर्वेन्द्रियमनः	अन्तर्म्मनः	कार्यम्
४-वेदनीयम्	इन्द्रियमनः	मर्त्यमनः	बहिर्म्मनः	कार्यम्

३७-ऐश्वर्य्यात्मक विकास के विविध स्वरूप—

ऐश्वर्य्यलक्षण विकास, तथा अस्मितालक्षण संकोच, दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का अनेक दृष्टि से समन्वय किया जा सकता है । पुष्पकलिका पर दृष्टि डालिए । कलिका (कली-डोड़ी) अस्मिता है, संकुचिता है, अविकसिता है । यही ऐश्वर्य्यलक्षण विकासभाव में आकर पूर्वापेक्षया अधिक देश में व्याप्त हो जाती है । जो पद्मकलिका अस्मिता दशा में अङ्गुलिपरिमित प्रदेश में प्रतिष्ठित थी, वही ऐश्वर्य्य की अनुगामिनी बन बन कर (खिल कर) प्रादेशमित प्रदेश घेर लेती है । तात्पर्य्य, विकासाभाव में जिस की सत्ता स्वल्पदेश में प्रतिष्ठित थी, विकासदशा में उसी की सत्ता बहुदेशव्यापिनी बन जाती है । बालक का विकास दृढतालक्षण था, पुष्पकलिका का विकास अधिकदेशव्याप्तिलक्षण है, दोनों ऐश्वर्य्यों के स्वरूप में विभिन्नता है । सूर्य्यपिण्ड पिण्डावस्था से स्वल्पाकाश प्रदेश में प्रतिष्ठित है । वही रश्मियों के प्रसार से सम्पूर्ण रोदसीब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है । यह रश्मिमण्डल सूर्य्यबिम्ब की महिमा है, यही इसका ऐश्वर्य्यात्मक विकास है । यदि सूर्य्य का इस महिमारूप में विकास न होता, तो पार्थिव प्रजा सूर्य्यतत्त्वोपभोग से सर्वथा वञ्चित रह जाती । यह विकास

उक्त दोनों विकासों से विभिन्नजातीय है। बालक स्वशरीरसीमा से युक्त रहता हुआ दृढतामूलक विकास का अनुगामी बनता है। पुष्पकलिका स्वशरीरसीमा से प्रवृद्ध हो कर अधिकदेशव्याप्तिमूलक विकास की अनुगामिनी बनती है। सूर्य्यानुगत विकास न तो सूर्य्यबिम्बात्मक सूर्य्यशरीर की दृढ़ता से सम्बन्ध रखता, न पुष्पकलिका की भाँति तत्स्थानीय स्वयं सूर्य्यपिण्ड अधिक देश का अवगाहन करता। अपितु सूर्य्यपिण्ड से निकलने वालीं रश्मियों का रश्मिमण्डल ही इसका विकासात्मक स्वरूप बनता है। बच्चे की बुद्धि का आयतन नहीं बढ़ता, अपितु उसकी मृदुता-कोमलता हट जाती है, वह स्थिरभावापन्न हो जाती है। यही बुद्धिस्थैर्य्य 'प्रौढि' कहलाई है। यही प्रौढता है। पुष्प में ठीक इससे उल्टा है। पुष्पकलिका कठिन होती है, दृढ होती है। पुष्प मृदु होता है। मृदुभाव में परिणत होकर अधिक प्रदेश में व्याप्त हो जाने वाला यह पुष्पकलिका का ऐश्वर्य्य बालैश्वर्य्य से विभिन्न है। सूर्य्य में न काठिन्य है, न मृदुता है, एवं न अधिक देशावगाहित्व ही है। अपितु रश्मिरूप से इसका ऐश्वर्य्य विकसित होता है। इसप्रकार तत्तत् पदार्थों के तत्तत् विभिन्नगुणक-प्राकृतिक स्वरूप-धर्म्मों के अनुरूप ही तत्तद्विकासलक्षण तत्तदैश्वर्य्य विभक्त हो रहे हैं।

३८-महिमा, और विकास का पार्थक्य—

महित्त्व को लक्ष्य बना कर ही ऐश्वर्य्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईश्वरता, सामर्थ्य एक वस्तुतत्त्वविशेष है। इस ईश्वरता का भाव ही 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है। महिमा-शाली पुरुष ही ऐश्वर्य्य-सम्पत्ति से सम्पन्न बना रहता है। पूर्व के ऐश्वर्य्यस्वरूप-दिग्दर्शन से महिमा, और विकास की अभिन्नता सिद्ध हो रही है। परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। महिमालक्षण ऐश्वर्य्य भिन्न वस्तुतत्त्व है, एवं ऐश्वर्य्यविकास भिन्न वस्तुतत्त्व है। उदाहरण के द्वारा समन्वय कीजिए। ऐश्वर्य्यलक्षण महिमा के रहने पर भी यदि उसका विकास नहीं होता, तो इस विकास के अभाव में ऐश्वर्य्य के रहते हुए भी अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता का प्रवेश हो जाता है। एक स्थान पर प्रज्ज्वलित दीपक रक्खा है। दीपार्चिमण्डल (दीपकप्रकाशमण्डल) दीपबिम्ब (लौ) का ऐश्वर्य्य है, महिमा है। हमनें उस दीपक को किसी काष्ठादि के ढक्कन से ढाँक दिया। इस बाह्य आवरण से दीप-प्रभारूप ऐश्वर्य्य का नाश तो नहीं हुआ, परन्तु उसका विकास अवश्य रुक गया। अतएव जो दीपक अपने ऐश्वर्य्य की विकासदशा में अन्धकार को अभिभूत कर देता था, वही दीपक आगन्तुक काष्ठावरणरूप अस्मिता (संकोच) के सम्बन्ध से ऐश्वर्य्य के विकास से वञ्चित रहता हुआ अन्धकाराभिभव में असमर्थ बन गया। अविकासलक्षणा अस्मिता ने विद्यमान भी ऐश्वर्य्य के विकास का अभिभव कर डाला। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, आवरण की प्रबलता पर ही ऐश्वर्य्य का विकास अवरुद्ध होता है। आवरण की सजातीयता पर, तथा आवरण की निर्बलता पर ऐश्वर्य्य का विकास सर्वथा अभिभूत नहीं होता। उदाहरण वही दीपक बन रहा है। दीपार्चि के चारों ओर काच का आवरण लग रहा है। काच आवरण अवश्य है, परन्तु यह सजातीय आवरण है। अतएव प्रकाशरूप ऐश्वर्य्य का प्रसाररूप विकास अवरूद्ध नहीं हो पाता। एक श्वेत वस्त्र से काँच को ढक दिया। यह आवरण अत्रिप्राण के सम्बन्ध से प्रकाश के लिए विजातीय अवश्य है, परन्तु यह निर्बल है, साथ ही श्वेतवर्ण के कारण अंशतः सजातीय भी। अतः इस आवरण के रहने पर भी प्रकाशैश्वर्य्य का विकास एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होता। मन्दप्रकाश-विकास सुरक्षित रह जाता है। छनछना काला कपड़ा विजातीय आवरण अवश्य है, परन्तु क्षरपरमाणुओं के घनीभूत न होने से एवंविध विजातीय भी आवरण निर्बल बन रहा है। अतः ऐसा निर्बल-विजातीय आवरण भी प्रकाशविकास को सर्वथा

अभिभूत नही कर रहा । घनकृष्ण वस्त्र, अत्रिप्राणपरिपूर्ण, अतएव धामच्छद काष्ठ-लौहादि विजातीय आवरण भी हैं, प्रकाशापेक्षया सबल भी हैं । इनके आगमन से प्रकाशविकास अवश्यमेव सर्वात्मना अवरूद्ध होजाता है ।

३९—चतुर्विध आवरणों के कारण ऐश्वर्य्य का अभिभव, एवं तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

ठीक यही स्थिति श्वोवसीयस्-मनोमय अव्ययेश्वर के सम्बन्ध में घटित हुई है । अव्ययेश्वर ज्ञानज्योतिर्घन दीपार्चि-(लौ)-स्थानीय है । सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था में, तथा अध्यात्मसंस्था के भोग्य बहिर्वित पर्य्यन्त व्याप्त आत्मरश्मिमण्डल दीपप्रभामण्डल-स्थानीय है । इसीसे वह ऐश्वर्य्यशाली बना हुआ है । मलिन सत्त्वगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न सत्त्वसंस्कार सजातीय आवरण है । यह काचस्थानीय है । इसके रहने पर भी आत्मैश्वर्य्य-विकास अवरुद्ध नहीं हो पाता । एवंविध प्राणी (जीवात्मा) को असत्कर्म्मप्रवृत्तिकाल में 'एवं मा कुरु,' इत्यादि रूप से आत्मविरोध प्राप्त होता रहता है । सत्त्वकर्म्मानुयायी एक व्यक्ति यदि सङ्गदोषवश किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहता है, तो विकसित आत्मा उसे रोक देता है । क्योंकि सजातीय सत्त्वसंस्कारा-वरण उस आत्मविकास का अवरोधक नहीं बना करता । रजोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न रजःसंस्कार विजातीय अवश्य है, परन्तु यह आत्मविकासापेक्षया निर्बल है । अतएव इसे श्वेतवस्त्रस्थानीय माना जा सकता है । यहाँ भी आत्मविकास सामान्यरूप से साक्षी बनता हुआ असत्कर्म्मप्रवृत्ति का सामन्यरूप से निरोध करता रहता है । 'मत करो, बहुत बुरा कर्म्म है,' यह दृढ़ नियन्त्रण सत्त्वसंस्कारदशा में होता है । 'न करो तो अच्छा है,' यह सामान्य नियन्त्रण रजःसंस्कारदशा में होता है । रजोगर्भित तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न रजोगुण-मिश्रित तमःसंस्कार विजातीय अवश्य है, परन्तु रजःसम्बन्ध से इसे घनभाव में परिणत होने का अवसर नहीं मिला है । यही छन छने कृष्णवस्त्र से समतुलित आवरण है । अतएव यहाँ आत्मविकास आवृत तो हो जाता है, परन्तु सुसूक्ष्म छिद्रस्थानीय रजोगुणविवरों के द्वारा स्वल्प आत्मविकास यदा कदा जीवात्मा पर अनुग्रह करता रहता है । जिस प्रकार तन्द्रालु मनुष्य मध्य मध्य में सचेत होता रहता है, एवमेव रजोमिश्रित तमःसंस्कारसंस्कृत का असत्कर्म्मप्रवृत्ति में-'अरे बुरा कर रहे हैं' इस रूप से यदा कदा उद्बोधन होता रहता है । विशुद्ध तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न विशुद्ध तमोगुणात्मक तमःसंस्कार विजातीय है, और आत्मविकासापेक्षया अतिशय सबल भी । अतएव यह तमोरूप घन-आवरण अत्रि-प्राणघन लौह-काष्ठादि विजातीय सबल आवरणों से समतुलित है । जब प्रज्ञानधरातल पर इसकी दृढरूप से प्रतिष्ठा हो जाती है, तो आत्मैश्वर्य्यविकास सर्वथा अभिभूत हो जाता है । आत्मज्ञानज्योति सर्वथा अन्तर्मुख बन जाती है । रहता हुआ भी आत्मैश्वर्य्य इस संस्कारात्मिका अस्मिता से अविकसित बन जाता है । और इस दशा में पहुँचे बाद जीवात्मा उस ज्योतिर्घन परमात्मा के अनुग्रह से सर्वथा वञ्चित हो जाता है । जो जीवात्मा सत्त्व-रज-रजोमिश्रित मो-दशा में असत्कर्म्मप्रवृत्ति को आत्मानुग्रह से किसी समय बुरा समझता था, वही जीवात्मा विशुद्ध तमोदशा में पहुँच कर आत्मसाक्षी से वञ्चित होता हुआ सानन्द-सहर्ष-सोल्लास निन्द्य कर्म्मों में प्रवृत्त होता हुआ यत्-किञ्चित भी तो अपने आपको हीन मानने के लिपे तय्यार नहीं होता । सर्वज्ञानविमूढ ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में धर्म्म, सदाचार, शास्त्र, उपासना, आदि सभी विभूतियां सर्वथा कल्पित, एवं निरर्थक ही बनीं रहतीं हैं । एवं सर्वज्ञाननिधि अव्ययेश्वर की दृष्टि में तमसा अभिभूत एवंविध मूढों का इसप्रकार सर्वनाश हो ही जाता है- 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्-विद्धि-नष्टानचेतसः' । 'अचेतसः' का तात्पर्य्य है-चिदात्मलक्षण मनोमय अव्ययानुग्रह

का अभाव । कुहरा, श्वेतमेघ, सामान्य कृष्णमेघ, घनकृष्णमेघ, चारों आवरण क्रमशः काच, श्वेतवस्त्र, छनछना कृष्णवस्त्र, घनकृष्ण, नामक इन चारों दीपावरणों से समतुलित होते हुए क्रमशः सत्त्वसंस्कारावरण, रजःसंस्कारावरण, रजोमिश्रित तमःसंस्कारावरण,एवं विशुद्ध तमःसंस्कारावरण, इन चारों के सदृश आवरण हैं । कुहरा, श्वेतमेघादि चारों आवरणों से सूर्य्यप्रभात्मक ऐश्वर्य्य का नाश नहीं होता, अपितु उस ऐश्वर्य्य के विकास का अभिभवमात्र होता है । विकासाभाव से रहता हुआ भी सूर्य्यैश्वर्य्य (सूर्य्यप्रभामण्डल) जैसे अन्धकार को हटाने में असमर्थ रह जाता है, एवमेव रहता हुआ भी आत्मैश्वर्य्य अस्मितावरण से संकुचित रहता हुआ तमोमूला अशान्ति के निराकरण में असमर्थ बना रहता है । तात्पर्य्य–आत्मा (जीवात्मा) परमात्मा का अंश होने से स्वस्वरूप से सच्चिदानन्द-घन है, अतएव प्रत्यगात्मवत् यह भी ऐश्वर्य्यत्रय से सम्पन्न है । तथापि अस्मितालक्षणा अविद्या के आवरण से इसके ऐश्वर्य्य का विकास अभिभूत हो जाता है, यह पूर्ण शक्तिशाली भी आत्मा अपने आपको शक्तिहीन मान बैठता है । और अस्मितालक्षणा यह शक्तिहीनता ही इसके अशान्तिलक्षण दुःख का कारण बन जाती है ।

४०--स्वाभाविक, और आगन्तुक विकास—

विकास आगन्तुक, स्वाभाविक, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । आत्मविकास स्वाभाविक है, इसे बाहिर से नहीं लाना पड़ता । अपितु इस पर आए हुए अस्मितावरण को हटा देने मात्र से मेघापाये सूर्य्यवत् यह स्वतः प्रकट हो जाता है, जैसाकि–'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि' इत्यादि वचन से सिद्ध है । लोकविकास आगन्तुक है । इसे प्रयासपूर्वक बाहिर से सञ्चित करना पड़ता है । जिस प्रकार भूतज्योति की प्रतिष्ठा ज्ञानज्योति मानी गई है, एवमेव आगन्तुक लौकिक–भौतिक विकास की मूलप्रतिष्ठा स्वाभाविक–आत्म–विकास ही बना करता है । जिस प्रकार भूतज्योति के आगमन से ज्ञानज्योति विकसित हो पड़ती है, एवमेव भौतिक आगन्तुक विकास से आध्यात्मिक आत्मविकास पुष्पित-पल्लवित हो जाता है । एक लौकिक मनुष्य पूर्ण बुद्धिमान् रहता हुआ भी अतिशय दारिद्र्य के अनुग्रह से आगन्तुक भूतविकास से वञ्चित होता हुआ सर्वथा जड़वत् बन जाता है–'दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशः' प्रसिद्ध है । भूतसम्पत्ति के द्वारा आगत बाह्य विकास अध्यात्मसंस्था में स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है, यह प्रत्यक्ष है । इसप्रकार आगन्तुक विकास से नूतन शक्तिसमावेश के द्वारा आत्मविकास प्रवृद्ध हो जाता है, जिसका उदाहरण बालक बन रहा है । शिशु-शरीर में आत्मा, और शरीर, ये दो विभाग हैं । स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भेद से शरीर त्रिपर्वा है । स्थूलशरीर भूतमात्राप्रधान है, सूक्ष्मशरीर प्राणमात्राप्रधान है, एवं कारणशरीर प्रज्ञामात्राप्रधान है । अस्थिमांसादि सप्त धातुसमष्टिरूप प्रत्यक्ष दृष्ट भौतिक शरीर भूतमात्राप्रधान स्थूलशरीर है । प्राणापानसमानव्यानोदानलक्षण पञ्च प्राण-समष्टिरूप प्राणात्मक तत्त्व प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मशरीर है । एवं विज्ञानसम्परिष्वयक्त प्रज्ञान (बुद्धियुक्त मन) मानस–प्रज्ञामात्राप्रधान कारणशरीर है । कारणशरीर ऐन्द्रियक ज्ञान का अधिष्ठाता है, सूक्ष्मशरीर शरीरशक्ति का प्रवर्त्तक है, एवं स्थूलशरीर आयतन है । शरीरत्त्वेन ये तीनों शरीर भूतात्मक हैं । यही आध्यात्मिक भूतसम्पत्ति है । अव्यक्तयुक्त महद्गर्भ में प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा से नित्य संश्लिष्ट शारीरक आत्मा आत्मा है । यही आध्यात्मिक आत्मसम्पत्ति है । शिशु की यह आत्मसम्पत्ति तब तक स्वविकास–प्रसार में सर्वथा असमर्थ बनी रहती है, जब तक कि इसकी शरीरत्रयीलक्षणा भूतसम्पत्ति काल पाकर विकसित नहीं हो जाती । बुद्धिमनोभाव–(प्रज्ञात्मक कारणशरीर), शक्ति (प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर) एवं शरीरायतन, तीनों भूतसम्पत्तियाँ अस्मिताभाव में परिणत हैं । अतएव न शिशु में बुद्धि का विकास है, न बल का विकास है, न शरीर में दृढ़ता है ।

अतएव यह सर्वथा मन्दबुद्धि–हीनबल–स्वल्पकाय बना हुआ है। अतएव यह अपने को अपने आप पर प्रतिष्ठित रखने में असमर्थ है। भूख लगती है, तो रो पड़ता है। धमकाने से डर जाता है। आत्मनिर्भरता का सर्वथा अभाव रहता है। प्रत्येक क्रिया में पराश्रय की खोज किया करता है। इन आपत्तियों से त्राण पाने के लिए माता पिता का सहारा ढूँढा करता है। इस पराधीनता से इसका अन्तर्जगत् दुःखी बना रहता है। यही शिशु काल पाकर शिशुभाव को छोड़ता हुआ जब युवावस्था में पदार्पण कर लेता है, तो इसके तीनों शरीर, तीनों भूतसम्पत्तियाँ प्रवृद्ध हो जातीं हैं। शिशु–अवस्थानुगता भूतास्मिता हट जाती है। अतएव बालावस्थानुगत दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, आत्मनिर्भरता का उदय हो जा है। सिद्ध है कि, दुःख का एक कारण अस्मिता भी है। अस्मिता परतन्त्रता की जननी है, परतन्त्रता अपूर्णता की जननी है, अपूर्णता शून्यता की जननी है, एवं शून्यता ही दुःखं–दुःखं है। इस शून्यता को पूर्ण करने के लिए मनुष्य यदि पराश्रय का अवलम्बन लेता है, तो शून्यता अधिक मात्रा में प्रवृद्ध हो जाती है। परतन्त्रानुगता पूर्णता शून्यताभिवृद्धि का कारण बनती हुई और अधिक दुःख का कारण बन जाती है। पूर्णतालक्षण सुख तो आत्मनिर्भरता पर ही अवलम्बित है। यह आत्मनिर्भरता आत्मैश्वर्य्य–विकास पर ही अवलम्बित है। आत्मैश्वर्य्य–विकास अस्मितानिवृत्ति पर ही अवलम्बित है। एवं अस्मितानिवृत्ति राजविद्यानुगत 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' (ऐश्वर्य्योदय के हेतु भूत साध्य बुद्धियोग) पर ही अवलम्बित है। परतन्त्रताप्रवर्त्तिका अस्मिता नाम के आवरण को हटाने का प्रकार बतलाने वाली विद्या ही गीताशास्त्र में 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुई है। एवं राजविद्यानुगत योग ही 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके समर्थक वचन गी० भू० प्र० में उद्धृत किए जा चुके हैं।

४१–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपोपसंहार—

अनेक दृष्टियों से ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूप–विश्लेषण किया गया। **'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्'** के अनुसार भूतैश्वर्य्यपरायण क्षत्रिय राजाओं में प्रधानरूप से परम्परया प्रचलिता शास्त्रसिद्धा ईश्वरान्यतालक्षणा भक्ति ही 'भक्तियोग' कहलाया। लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकसंग्रहदृष्टि से संशोधन के साथ अपने इस बुद्धियोगशास्त्र (गीताशास्त्र) में इसका भी संग्रह किया। राजसम्प्रदायानुगत प्राचीन भक्तियोग कामनाप्रधान बनता हुआ अस्मितासंस्कार का कारण बन रहा था। भगवान् ने कामनापरित्यागात्मक संशोधन के द्वारा इस काम्य भक्तियोग को निष्कामभाव प्रदान कर इसे बुद्धियोगसम्पत् का अनुगामी बनाया। भगवान् के द्वारा संशोधित इत्थंभूत निष्कामभक्तियोगात्मक **'ऐश्वर्य्य–बुद्धियोग'** की रहस्यशिक्षात्मिका विद्या ही **'राजविद्या'** कहलाई।

इति–बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे
'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
द्वितीयस्तम्भः

(२)–२

श्रीः

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत—राजविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयस्तम्भ—उपरत

(२)–२

———*———

श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके

द्वितीयप्रकरणे

'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धाविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

तृतीयस्तम्भः

(२)-३

श्रीः

ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

तृतीयस्तम्भः



१-अविद्याचतुष्टयीरूप आवरण—

"अविद्या[1]-अस्मिता[2]-राग[3]-द्वेष[4]-अभिनिवेशाः[5], पञ्च क्लेशाः" (पा० यो० सू०) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा को उसकी अपनी ईश्वरानुगता भगवत्ता से वञ्चित रखने वाले क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, भेद से पाँच भागों में विभक्त मानें गए हैं । हृदयस्थित-चिज्ज्योतिर्घन-प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान बनता हुआ ज्ञानात्मा है, यही ज्ञानाव्यय आनन्द-विज्ञान-मनोमय माना गया है । आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्यय ही मुक्तिसाक्षी 'विद्याव्यय' माना गया है । जिसका तात्पर्य्य यही है कि, ज्ञानात्मक अव्यय ही विद्यात्मक अव्यय है । अतएव अव्ययात्मज्ञान को हम 'विद्या' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । जिस प्रकार अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान है, अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य्य है, राग-द्वेष का प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य है, अभिनिवेश का प्रतिद्वन्द्वी धर्म्म है, एवमेव अव्ययविद्या, किंवा विद्याव्यय का प्रतिद्वन्द्वी अविद्याभाव माना गया है । अव्ययात्मिका ज्ञानज्योति 'विद्या' है । इस विद्यात्मिका ज्ञानज्योति के स्वाभाविक विकास को आवृत कर देने वाला विद्याविरोधी आवरण ही 'अविद्या' है । अविद्याग्रस्त विद्याव्यय से युक्त जीवात्मा ही उक्त पञ्च क्लेशों की आधारभूमि बना रहता है । अविद्याग्रस्त विद्याव्यय ही अविद्याव्यय है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है ।

२-विद्या-अविद्यात्मक अव्यय के सूर्य्यनिबन्धन चार-चार विवर्त्त—

विद्याव्यय स्वस्वरूप से एकात्मक है, यही सर्वाव्यय है । एवमेव अविद्याव्यय भी स्वस्वरूप से एकात्मक ही है, एवं यही असर्वाव्यय है । सर्वात्मक विद्याव्यय बुद्धिगत विद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है । एवमेव असर्वात्मक अविद्याव्यय बुद्धिगत अविद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है । बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक आत्मसोपानपरम्परा के मध्य में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि बुद्धिप्रभव सूर्य्य आधिदैविक संस्थारूप पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित है । पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य के ऊपर महान् परमेष्ठी, अव्यक्त स्वयम्भू, एवं 'षोडशीपुरुष' नामक ईश्वराव्ययपुरुष, ये अमृतात्मा प्रतिष्ठित हैं । एवमेव सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा, पार्थिव देवसत्यात्मा, भूपिण्ड, ये तीन मर्त्यात्मा प्रतिष्ठित हैं । मध्यस्थ सूर्य्य का अमृतात्मानुगामी ऊर्ध्वभाग अमृतसूर्य्य है, मर्त्यात्मानुगामी अधोभाग मर्त्यसूर्य्य है । इसप्रकार मध्यस्थ सूर्य्य अमृत-मर्त्य, इन दोनों आत्मसम्पत्तियों से युक्त बना हुआ है । सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृत का साम्राज्य है, नीचे नीचे मृत्यु का साम्राज्य है, जैसाकि-**'तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्'** (शत० १०।५।१।४।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है । मध्यस्थ सूर्य्य में अवारपारीण दोनों धर्म्मों का समन्वय प्रकृत्या प्राप्त है । अतः-**'निवेशयन्नमृतं, मर्त्यञ्च'** इत्यादि यजुर्वर्णनानुसार मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों धर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है ।

३–विश्वमध्यस्थ हिरण्यगर्भमूर्त्ति सूर्य्य, एवं उसके चार विभूति-विवर्त्त—

अवधानपूर्वक मध्यस्थ सूर्य्य पर दृष्टि डालिए। क्योंकि गीताशास्त्र की बुद्धियोगचतुष्टयी का आधार बुद्धिप्रभव यही सूर्य्य है। मध्यस्थ सूर्य्य का ऊर्ध्वानुगत अमृतलक्षण अर्द्धभाग एक स्वतन्त्र तत्त्व है, जिसे वैज्ञानिकों नें 'सावित्राग्नि' नाम से व्यवहृत किया है। यह सावित्राग्नि अमृताग्नि है, यही अमृतलक्षण अपौरुषेय वेदतत्त्व है, जिसका उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। प्राणवेदात्मक सावित्राग्निलक्षण अमृताग्निरूप अमृतसूर्य्य के गर्भ में ऊर्ध्वस्थित उक्त तीनों अमृतात्माओं के प्रवर्ग्यांश भुक्त रहते हैं। महान् परमेष्ठी, अव्यक्त स्वयम्भू, षोडशी अव्ययपुरुष, इन तीनों ऊर्ध्वस्थित अमृतात्माओं के प्रवर्ग्यभाग इस अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त रहते हैं। आगन्तुक इन तीन प्रवर्ग्यांशों से, तथा अपने अमृतार्द्ध भाग से अमृतसूर्य्य चतुःसम्पत्तियुक्त बन रहा है। अमृताग्निलक्षण प्राणवेदात्मक अमृतसूर्य्य का प्राणवेदानुगृहीत वेदात्मक कर्म्म ही **'धर्म्म'** है। अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित महान्-परमेष्ठी के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत इट्-ऊर्क्-गौ-रूप पारमेष्ठय तत्त्व ही **'ऐश्वर्य्य'** है। अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से भुक्त अव्यक्त स्वयम्भू के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत अव्यक्त तत्त्व ही **'ज्ञान'** है। एवं अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से भुक्त षोडशी ईश्वराव्यय के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत सनातन तत्त्व ही **'वैराग्य'** है। वैराग्य सर्वाव्यय की प्रातिस्विक विभूति है। अमृतसूर्य्य में यह वैराग्यविभूति आती है षोडशी पुरुषाव्यय से। ज्ञान अव्यक्त स्वयम्भू की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, जैसाकि पूर्व स्तम्भ के 'प्राचीनाभिमता योगत्रयी' विषयनिरूपण में स्पष्ट किया जा चुका है। अमृतसूर्य्य में यह ज्ञानविभूति आती है अव्यक्त स्वयम्भू से। ऐश्वर्य्य महान्-परमेष्ठी की प्रातिस्विक विभूति है। महिमामण्डल को ही पूर्व स्तम्भ में हमनें 'ऐश्वर्य्य' कहा है। प्राणमण्डल ही महिमामण्डल माना गया है। रश्मिलक्षण प्राण तत्त्व ही पारमेष्ठय गौतत्त्व है। अतएव तत्सम्बन्ध से तद्रूपा विभूति अवश्यमेव 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत की जा सकती है। अमृतसूर्य्य में यह ऐश्वर्य्यविभूति आती है महान परमेष्ठी से। धर्म्म अमृतसूर्य्य की प्रातिस्विक विभूति है। कारण प्राकृतिक-आधिकारिक-नियत-कर्म्म ही धर्म्म है। नियत कर्म्मात्मक धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना गया है वेदतत्त्व-**'वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ'**। अमृतसूर्य्य अमृतभाव से अमृतवेदात्मक (त्रिगुणभावातीत वेदात्मक) माना गया है। अतएव वेदात्मक धर्म्मतत्त्व को अवश्य ही अमृतसूर्य्य की प्रातिस्विक विभूति माना जा सकता है। इसप्रकार पुरुष, स्वयम्भू, परमेष्ठी, इन तीन अमृतात्माओं की वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य, नाम की विभूतियों के प्रवर्ग्यसम्बन्धद्वारा आगमन से, एवं स्वानुगत धर्म्मविभूति से ऊर्ध्वस्थिता अमृतात्मत्रयी से अनुगत अमृतसूर्य्य धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, इन चार विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। सौर सावित्राग्नि ही 'हिरण्यगर्भ' कहलाया है। यही आधिदैविक विश्व का 'बुद्धि' तत्त्व है, जो कि विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ विश्व का सञ्चालन कर रहा है। इसी आधार पर पुराणपुरुष ने कहा है-**'हिरण्यगर्भो भगवानेष-'बुद्धि' रिति स्मृतः'** (महाभारत)।

चतुर्विध-विभूतिभावानुगतोऽमृतसूर्य्यः—

१-विश्वाध्यक्षः---षोडशीपुरुषः----वैराग्यविभूतियुक्तः (अमृतात्मा)
२-विश्वादिः-----अव्यक्तस्वयम्भूः—ज्ञानविभूतियुक्तः (अमृतात्मा)
३-विश्वोपादानम्-महान्परमेष्ठी----ऐश्वर्य्यविभूतियुक्तः (अमृतात्मा)
४-विश्वसाक्षी---अमृतसूर्य्यः-----धर्म्मविभूतियुक्तः (अमृतात्मा)
} —सैषा-अमृतसंस्था (अमृतात्मसोपानपरम्परा)



१-पुरुषप्रवर्ग्यांशगर्भितः—— —अमृतसूर्य्यः-वैराग्योपेतः
२-स्वयम्भुप्रवर्ग्यांशगर्भितः——अमृतसूर्य्यः-ज्ञानोपेतः
३-परमेष्ठिप्रवर्ग्यांशगर्भितः——अमृतसूर्य्यः-ऐश्वर्य्योपेतः
४-स्वानुगतविभूतिगर्भितः-----अमृतसूर्य्यः-धर्म्मोपेतः
} स एष अमृतसूर्य्यः— चतुर्विधविभूतियुक्तः



४-हिरण्यगर्भ सूर्य्य के चार पाप्मा-विवर्त्त-

मध्यस्थ सूर्य्य के ऊर्ध्वानुगत-अमृतात्मानुगत-अमृतलक्षण अर्द्धभाग से सम्बन्ध रखने वाली विभू-तिचतुष्टयी की मीमांसा के अनन्तर मध्यस्थ सूर्य्य के अधोभागानुगत-मर्त्यात्मानुगत-मृत्युलक्षण अर्द्धभाग से सम्बन्ध रखने वाली पाप्मा-चतुष्टयी की मीमांसा की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस प्रकार सूर्य्य का ऊर्ध्वभागानुगत अमृतलक्षण तत्त्व 'सावित्राग्नि' नाम से व्यवहृत हुआ है, तदनुगत प्राणवेद अपौरुषेय वेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवमेव अधोभागानुगत-मृत्युलक्षण तत्त्व 'गायत्राग्नि' नाम से, तथा तदनुगत भूतवेद (त्रिगुणात्मक वेदतत्त्व, पौरुषेयवेद) गायत्रीमात्रिकवेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भूतवेदात्मक, गायत्राग्निलक्षण, मर्त्याग्निरूप, मर्त्य सूर्य्य के गर्भ में अधोऽवस्थित चन्द्रमा-पार्थिवदेवसत्यात्मा-भूपिण्ड, इन तीनों मर्त्यात्माओं के प्रवर्ग्यांश भुक्त रहते हैं।

आगन्तुक इन तीन प्रवर्ग्यांशों से, तथा अपने मर्त्य-अर्द्धभाग से मर्त्यसूर्य्य भी अमृतसूर्य्यवत् चतुः-संस्थ बना हुआ है। मर्त्याग्निलक्षण भूतवेदात्मक मर्त्यसूर्य्य का भूतवेदानुगृहीत त्रिगुणभाव ही अधर्म्म-लक्षण **'अभिनिवेश'** तत्त्व है। मर्त्य सूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित चन्द्रमा के प्रवर्ग्यांश से अनु-गृहीत रेतोरूप तत्त्वविशेष ही अनैश्वर्य्यलक्षणा **'अस्मिता'** है। मर्त्यसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त पार्थिव देवसत्य के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत तमोरूप तत्त्वविशेष ही अज्ञानलक्षण **'मोह'** (**अविद्या**) है। एवं मर्त्यसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त भूपिण्ड के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत भूत नामक तत्त्वविशेष ही राग-द्वेषात्मिका **'आसक्ति'** है। रागद्वेषात्मिका आसक्ति असर्वाव्यय का प्रातिस्विक पाप्मा है, मर्त्यसूर्य्य में यह आसक्ति-पाप्मा आता है भूपिण्ड से। मोहलक्षणा अविद्या पार्थिव देवसत्य का प्रातिस्विक पाप्मा है। मर्त्यसूर्य्य में यह मोहपाप्मा आता है पार्थिव देवसत्य से। अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता चन्द्रमा का प्रातिस्विक पाप्मा है। मर्त्यसूर्य्य में यह अस्मिता पाप्मा आता है चन्द्रमा से। अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश मर्त्यसूर्य्य का प्रातिस्विक पाप्मा है। इसप्रकार भूपिण्ड, पार्थिव-देवसत्य, चन्द्रमा, इन तीन मर्त्य आत्माओं के आसक्ति, मोह, अस्मिता, नामक तीन

पाप्माओं के प्रवर्ग्यसम्बन्ध द्वारा आगमन से, एवं स्वानुगत अभिनिवेश-पाप्मा से अधोऽवस्थित मर्त्यात्मत्रयी से अनुगत मर्त्यसूर्य्य अभिनिवेश, मोह, आसक्ति, अस्मिता, इन चार विवर्त्त-भावों में परिणत होजाता है ।

चतुर्विध-पाप्मभावानुगतो मर्त्यसूर्य्यः—

१-मृत्युसाक्षी-मर्त्यसूर्य्यः—अभिनिवेशपाप्मभावेन युक्तः (मर्त्यात्मा)	—सैषा मर्त्यसंस्था (मर्त्यात्मसोपानपरम्परा)
२-मनःसाक्षी-मर्त्यचन्द्रमा -मोहपाप्मभावेन युक्तः (मर्त्यात्मा)	
३-प्राणसाक्षी-मर्त्यदेवसत्यः-अस्मितापाप्मभावेन युक्तः (मर्त्यात्मा)	
४-भूतसाक्षी—मर्त्यभूपिण्डः-आसक्तिपाप्मभावेन युक्तः (मर्त्यात्मा)	

—*—

१-स्वानुगतपाप्मगर्भितः—मर्त्यसूर्य्यः—अभिनिवेशोपेतः	—स एष मर्त्यसूर्य्यः **चतुर्विधपाप्मयुक्तः**
२-चन्द्रप्रवर्ग्यांशगर्भितः—मर्त्यसूर्य्यः—मोहोपेतः	
३-पार्थिव दे० प्र०गर्भितः—मर्त्यसूर्य्यः—अस्मितोपेतः	
४-भूपिण्डप्रवर्ग्यांशगर्भितः—मर्त्यसूर्य्यः—आसक्त्युपेतः	

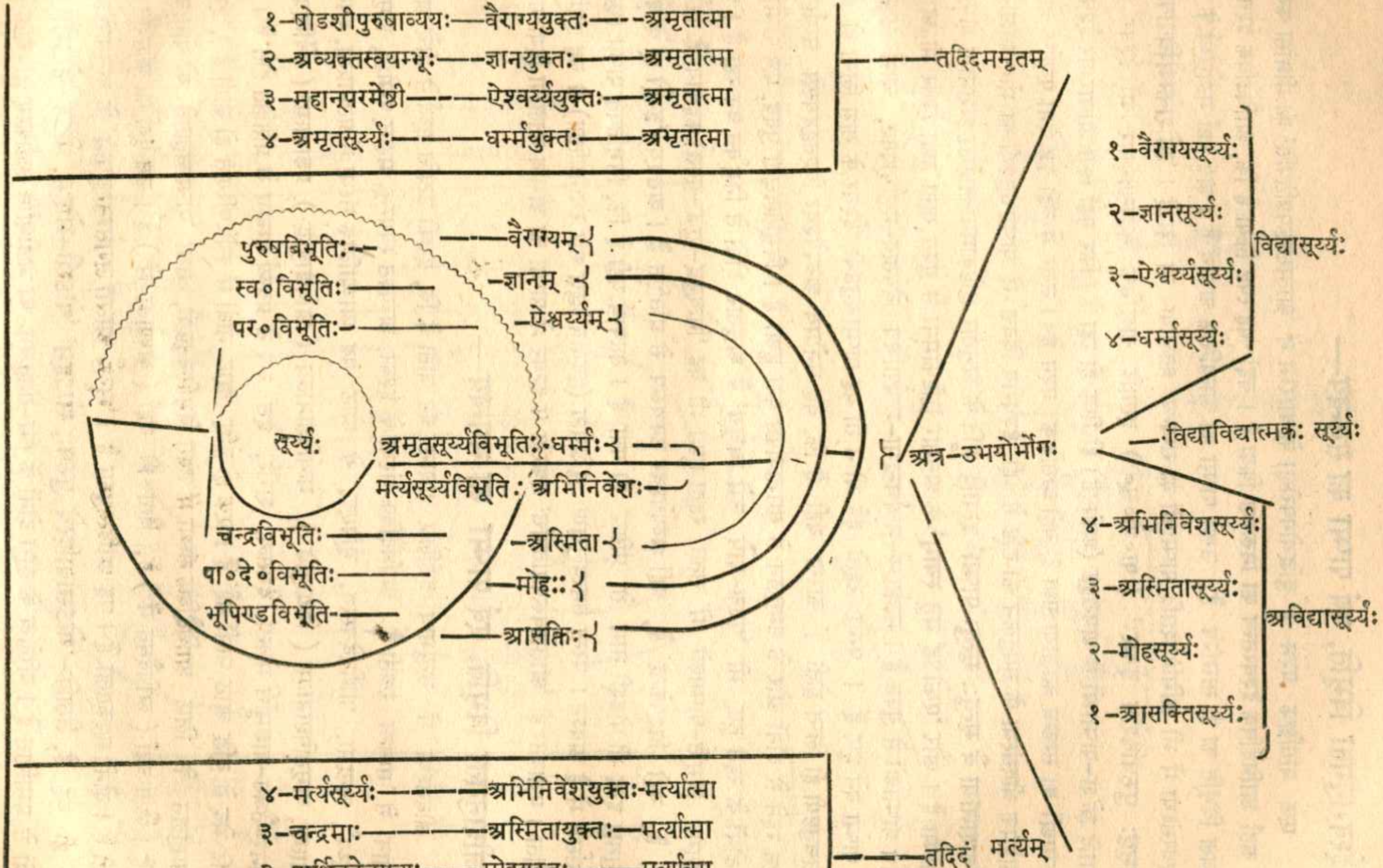
—*—

५-अमृतविभूतिचतुष्टयी, एवं मर्त्य पाप्मा-चतुष्टयी का अनान्तर्य्यात्मक आन्तर्य्य-

भौतिक विषयसंस्कारबन्धन हीं आसक्ति का जनक बना करता है । भूपिण्ड भूतविषयप्रधान है । अतएव भूपिण्डानुगत पाप्मा को अवश्य ही 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जासकता है, जो भूपिण्ड अमृतात्मत्रयी में से षोडशी पुरुषाव्यय से, तथा जो भूपिण्डानुगत आसक्तिपाप्मा पुरुषाव्ययानुगता वैराग्यविभूति से समतुलित है ! इस ओर का मर्त्यभूपिण्ड, एवं तदनुगता आसक्ति, उस ओर का पुरुषाव्यय, एवं तदनुगत वैराग्य, दोनों का अनान्तर्य्य (प्रतिद्वन्द्वित्त्व) ही इन का आन्तर्य्य (समतुलन) है । एक के रहने पर दूसरा नहीं रहता, यही इन-दोनों का असम्बन्धात्मक समतुलनसम्बन्ध है । पार्थिवदेवसत्य से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव वषट्कारात्मक वाङ्मय आवरण ही अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता का जनक बना करता है । पार्थिवदेवसत्य **'देवपात्रं वा यदेष वषट्कारः'** इस श्रुति के अनुसार आवरणप्रधान है । अतएव पार्थिव देवसत्यानुगत पाप्मा को अवश्य ही अस्मिता नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । यह पार्थिव देवसत्य अमृतात्मत्रयी में से महान् परमेष्ठी से, तथा पार्थिव देवसत्यानुगत अस्मितापाप्मा महान्-परमेष्ठ्यनुगता ऐश्वर्य्यविभूति से समतुलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं । चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र रेतोभाव ही भावना-वासना-संस्काररूप से अज्ञानलक्षण मोह का जनक बनता है । चान्द्र रेतोभाव ही वैचित्य-लक्षण मोह का कारण है । अतएव चन्द्रमानुगत पाप्मा को अवश्य ही 'मोह' नाम से व्यवहृत किया जासकता है । यह चन्द्रमा अमृतात्मत्रयी में से अव्यक्त स्वयम्भू से, तथा चन्द्रमानुगत मोह-पाप्मा अव्यक्तस्वयम्भ्वनुगता ज्ञानविभूति से समतुलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं । मर्त्य-सूर्य्य मर्त्य-गायत्री-मात्रिक वेदात्मक बतलाया गया है । मृत्यु के सम्बन्ध से यह वेद त्रिगुणभावात्मक बन जाता है । त्रिगुणभाव ही अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश का जनक माना गया है । अतएव मर्त्यसूर्य्य-भुक्त मर्त्य वेदात्मक पाप्मा को अवश्य ही 'अभिनिवेश' नाम से व्यवहृत किया जासकता है । यह मर्त्यसूर्य्य अमृतात्मचतुष्टयी में से अन्त के अमृत-सूर्य्य से, तथा मर्त्यसूर्य्यानुगत अभिनिवेश पाप्मा अमृतसूर्य्यानुत धर्म्मविभूति से समतुलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं ।

अमृत–मृत्युभावनिबन्धनो हिरण्यगर्भप्रजापतिः सूर्य्यः–विद्या–अविद्यात्मकः—

[सैषा—अधिदैवतसंस्था]



६–ईश्वरानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय—

एक प्रासङ्गिक प्रश्न । बुद्धियोगपरीक्षा के आरम्भ में 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' की मीमांसा करते हुए हमनें जहाँ आधिदैविक ईश्वरतत्त्व का निरूपण किया है । वहाँ यह स्पष्ट किया है कि, आधिदैविक ईश्वरसंस्था में केवल विभूति का ही साम्राज्य है, उसमें पाप्मा का आत्यन्तिक अभाव है । अब यहाँ मर्त्यसूर्य्य के सम्बन्ध से ईश्वरसंस्था में भी अभिनिवेशादि पाप्माओं का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है । '**क्लेशकर्म्मविपाकाशयै-रपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**' (पा०यो०सू०) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तानुसार भी ईश्वर अभि-निवेशादि क्लेश–पाप्माओं से अपरामृष्ट (असंस्पृष्ट) ही सिद्ध हो रहा है। फिर यहाँ किस आधार पर ईश्वरसंस्था में पाप्माओं का सम्बन्ध बतलाया गया ?, यही प्रासङ्गिक प्रश्न है । उत्तर में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, आध्यात्मिक जीवसंस्था के समतुलन की दृष्टि से ही ईश्वरीय विवर्त्त में पाप्माचतुष्टयी का भोग बतलाया गया है । '**अशनाया वै मृत्युः, मृत्युः पाप्मा**' इत्यादि श्रुति के अनुसार सृष्टिकामना-लक्षणा अशनाया ही मृत्यु है, यही पाप्मा है । और '**एकोऽहं बहु स्याम्**' के अनुसार सृष्टिकामना से युक्त रहता हुआ ईश्वर भी अवश्य ही चतुर्विध पाप्माओं से युक्त है । मर्त्यसूर्य्य–मर्त्यचन्द्रमा–मर्त्यपार्थिव देवसत्य–मर्त्यभूपिण्ड, चारों मृत्युसम्बन्ध से ही पाप्मा बने हुए हैं । परन्तु रहती हुई भी न तो यह पाप्माचतुष्टयी ईश्वर के साथ लिप्त ही होती, न विभूतिचतुष्टयी ही लिप्त होती । कारण यही है कि, वह मनोमय अव्ययेश्वर विश्वहृदयरूप सूर्य्यस्थान में प्रतिष्ठित रहने से दोनों ओर के समतुलन से समभावापन्न बना हुआ है । विभूतिलक्षण पुण्य, एवं पाप्मालक्षण पाप, दोनों के रहते हुए भी '**पुण्य-पापे उभे विधूय**' के अनुसार दोनों से निर्मुक्त बन रहा है । अतएव विश्वानुगत विभूति–पाप्माओं में सतत रहता हुआ भी वह 'नित्यबुद्ध–शुद्ध–मुक्त' कहलाया है । सौरप्राण 'इन्द्र' है, यही विश्वकेन्द्र है, यहीं अव्ययेश्वर उक्थरूप से प्रतिष्ठित है । अतएव–'**इन्द्रो ह वै षोडशी**' के अनुसार इन्द्र भी षोडशी नाम से प्रसिद्ध हो गया है । तात्पर्य्य यही है कि, विभूतिवत् पाप्मा (मृत्यु) भी ईश्वरसंस्था में है अवश्य । परन्तु समत्वलक्षण बुद्धियोग (हृदयावच्छिन्न सौर स्थानप्रतिष्ठा) से वह इसमें लिप्त नहीं होता । एतावता ही 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' प्रकरण में ईश्वर में पाप्मा का अभाव बतलाया दिया गया है ।

७–जीवानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय—

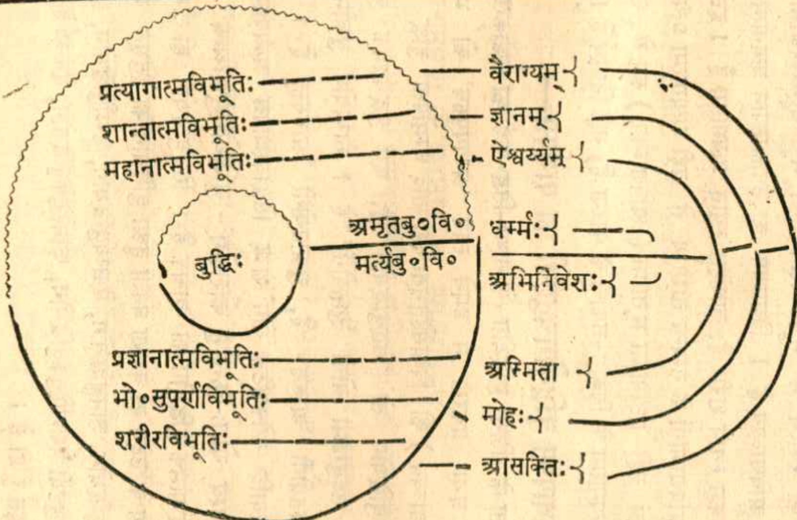
जीवसंस्था में मृत्युभाव इसलिए प्रधान बन जाता है कि, इसकी उत्पत्ति सूर्य्य से नीचे अवस्थित मृत्युभाव से सम्बन्ध रखती है । आधिदैविक संस्था के ईश्वर, अव्यक्त स्वयम्भू, महान् परमेष्ठी, अमृतसूर्य्य, मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, पार्थिवदेवसत्य, भूपिण्ड, ये आठ पर्व आध्यात्मिक संस्था में प्रत्यगात्मा, शान्तात्मा, महानात्मा, अमृतविज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि), मर्त्यविज्ञानात्मा (अविद्याबुद्धि), प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन), वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति भोक्ता देवसत्य, शरीर, इस रूप से प्रवर्ग्य सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होते हैं । धर्म्म–ज्ञानादि भेद से बुद्धि आठ मानीं गईं हैं । एक ही बुद्धि आठ भावों में क्यों परिणत हो जाती है ?, इस प्रश्न के समतुलन के लिए आधिदैविक संस्था में उक्त विभूतिचतुष्टयी, तथा पाप्माचतुष्टयी का योग बतलाया गया है । जैसा वहाँ (अधिदैवत में) है, वैसा ही यहाँ (अध्यात्म में) है । उस पूर्ण का अंशभूत यह भी पूर्ण ही है । दोनों सयुक्सला हैं । वह आदित्यपुरुष है । '**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' के अनुसार आदित्य-पुरुष ही यह है, जैसाकि–'**योऽसावादित्ये पुरुषः, सोऽहम्**' '**योऽसौ–सोहम्, योऽहं–सोऽसौ**' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है । परिलेख के द्वारा दोनों के सम–समतुलन का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

सर्वसंग्रहः (सैषा-अध्यात्मसंस्था]—

—अष्टौ बुद्धयः-इति हि प्राधानिका आहुः—

१-प्रत्यगात्मा (ऐश्वरः)	—वैराग्ययुक्तः	—अमृतात्मा
२-शान्तात्मा (स्वायम्भवः)	—ज्ञानयुक्तः	—अमृतात्मा
३-महानात्मा (पारमेष्ठ्यः)	—ऐश्वर्य्ययुक्तः	—अमृतात्मा
४-अमृतविज्ञानात्मा (अमृतसौरः)	—धर्म्मयुक्तः	—अमृतात्मा

—तदिदममृतम्



—अत्र उभयोर्योगः— —विद्याविद्यात्मिका बुद्धिः

१-वैराग्यबुद्धिः
२-ज्ञानबुद्धिः
३-ऐश्वर्य्यबुद्धिः
४-धर्म्मबुद्धिः
—विद्याबुद्धिः

४-अभिनिवेशबुद्धिः
३-मोहबुद्धिः
२-अस्मिताबुद्धिः
१-आसक्तिबुद्धिः

४-मर्त्यविज्ञानात्मा (मर्त्यसौरः)	—अभिनिवेशयुक्तः	—मर्त्यात्मा
३-प्रज्ञानात्मा (चान्द्रः)	—अस्मितायुक्तः	—मर्त्यात्मा
२-भोक्तासुपर्णः (पार्थिवः)	—मोहयुक्तः	—मर्त्यात्मा
१-शरीरम् (भौमम्)	—आसक्तियुक्तम्	—मर्त्यम्

—तदिदं मर्त्यम्

८-अधिदैवत-अध्यात्मानुगत आत्मविवर्त्त के उपक्रमोपसंहारस्थान—

आरम्भ में अविद्याग्रस्त विद्याव्यय को अविद्याव्यय बतलाया गया है। अमृत-मर्त्यात्मक सूर्य्यमण्डल के विद्यात्मक अमृत सौर अर्द्ध मण्डल में भुक्ता विद्यात्मिका सूर्य्यचतुष्टयी से युक्त आधिदैविक-अमृतसूर्य्य, महान्परमेष्ठी, अव्यक्तस्वयम्भूगर्भित षोडशीपुरुष विद्याभाग (सूर्य्यविद्याभाग) से युक्त रहता हुआ विद्याग्रस्त विद्याव्यय है। अमृतमर्त्यात्मक सूर्य्यमण्डल के अविद्यात्मक मर्त्य सौर अर्द्ध मण्डल में भुक्ता अविद्यात्मिका सूर्य्यचतुष्टयी से युक्त आधिदैविक मर्त्य सूर्य्य-चन्द्रमा-पार्थिव देवसत्य, तीनों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला भूपिण्डावच्छिन्न षोडशीपुरुष अविद्याभाग। (सूर्य्य-अविद्याभाग) से युक्त रहता हुआ अविद्याग्रस्त अविद्याव्यय है। विद्याव्यय का उपक्रम षोडशी से है, उपसंहार भूपिण्ड पर है। अविद्याव्यय का उपक्रम भूपिण्ड से है, उपसंहार षोडशी पर है। यही स्थिति अध्यात्मसंस्था में समझिए। अमृत-मर्त्यात्मिका बुद्धि के विद्यात्मक अमृत अर्द्ध मण्डल में भुक्त विद्यात्मिका बुद्धिचतुष्टयी से युक्त आध्यात्मिक विद्याबुद्धि, पारमेष्ठ्य महान्, स्वायम्भुव शान्तात्मा, तीनों को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला प्रत्यगात्मा विद्याभाग (विद्याबुद्धि) से युक्त रहता हुआ विद्याग्रस्त विद्याव्यय है। अमृत-मर्त्यात्मिका बुद्धि के अविद्यात्मक मर्त्य अर्द्ध मण्डल में भुक्ता अविद्यात्मिका बुद्धिचतुष्टयी से युक्त, आध्यात्मिक अविद्याबुद्धि, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव भोक्तात्मा, तीनों मर्त्यात्मसंस्थाओं को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला भूतात्मा अविद्याभाग (अविद्याबुद्धि) से युक्त रहता हुआ अविद्याग्रस्त अविद्याव्यय है। विद्याव्यय का उपक्रमस्थान प्रत्यगात्मा है, उपसंहारस्थान शरीर है। अविद्याव्यय का उपक्रम स्थान शरीर है, उपसंहार स्थान प्रत्यगात्मा है। इसप्रकार मध्यस्था विद्याविद्यात्मिका बुद्धि के विद्या, अविद्याभागों के सम्बन्ध तारतम्य से वही प्रत्यगात्मा प्रत्यगात्मा (विद्याव्यय) रूप से विकसित हो रहा है, एवं वही प्रत्यगात्मा भूतात्मा (अविद्याव्यय) रूप से उन्मुग्ध बन रहा है। बुद्धिगत विद्या-अविद्याभाग ही प्रत्यगात्मा के विकास-सङ्कोच के कारण हैं, यही निष्कर्ष है।

९-सिद्ध-साध्यावस्थापन्ना बुद्धियोगचतुष्टयी का पार्थक्य—

स्थिति की स्पष्टता के लिये बुद्धियोग के साध्य-सिद्ध-रूपों का स्पष्टीकरण कर लीजिए। 'बुद्धियोग-स्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण में हमने स्वयं 'अव्ययपुरुष' को भी बुद्धियोग बतलाया है, एवं अव्यय-पुरुष (विद्याव्यय) की विकासहेतुभूता वैराग्यादि धर्म्मोपेता बुद्धि को भी बुद्धियोग कहा है। दोनों में अव्ययात्मक बुद्धियोग तो 'सिद्धबुद्धियोग' है, एवं बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग 'साध्यबुद्धियोग' है। सिद्धयोग युक्तयोग है, तदनुगामी योगी 'युक्तयोगी' है। साध्ययोग युञ्जानयोग है, तदनुगामी योगी 'युञ्जानयोगी' है। युक्तयोगी 'आरूढ' है, युञ्जानयोगी 'आरुरुक्षु है। **'ददामि बुद्धियोगं तं, प्रोक्तवानहमव्ययम्'** इत्यादि श्लोकपठित 'योग' शब्द सिद्धावस्थापन्न अव्ययात्मक-बुद्धियोग का वाचक है, एवं-**'तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः-कर्म्मसु कौशलम्'-'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'** इत्यादि श्लोकपठित 'योग' शब्द साध्यावस्थापन्न बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग का वाचक है। सिद्धबुद्धियोग ही वास्तविक बुद्धियोग है। साध्य-बुद्धियोग तो सिद्धबुद्धियोग के उदय का कारण बनता हुआ बुद्धियोग का हेतुभूत योग है। अतएव सिद्धयोग-चतुष्टयी को जहाँ वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत किया गया है, वहाँ साध्ययोगचतुष्टयी वैराग्यहेतुकबुद्धियोग, ज्ञानहेतुकबुद्धियोग, ऐश्वर्य्य हेतुकबुद्धियोग, धर्म्महेतुकबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत हुआ है।

१०-प्राचीनाभिमता योगत्रयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त—

विद्याव्यय का उपक्रमस्थान प्रत्यगात्मा बतलाया गया है, उपसंहारस्थान शरीर बतलाया गया है। 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत राजविद्या' नामक पूर्व के द्वितीय स्तम्भान्तर्गत प्राचीनाभिमता योगत्रयी तथा गीताभिमता योगचतुष्टयी नामक परिच्छेदों में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, योगत्रयी का मूलाधार आत्मा क्रमशः अव्यक्तात्मा, व्यक्ताव्यक्तात्मा, व्यक्तात्मा, नामक अक्षरात्मा, अक्षरगर्भितक्षरात्मा, क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा है। सृष्ट्युन्मुख अक्षरात्मा सृष्टि-उपादानभूत क्षरानुगामी बनता हुआ मर्त्यधर्म्माक्रान्त है। षोडशीपुरुष, अव्यक्त स्वयम्भू, महान परमेष्ठी, तीनों आध्यात्मिक अमृतात्मसंस्थाओं में अमृताव्यय का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'अव्ययसंस्था' कहा जासकता है। चन्द्रमा, पार्थिव देवसत्यात्मा, भूपिण्ड, इन तीनों आधिदैविक मर्त्यात्मसंस्थाओं में, एवं चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव भोक्तात्मा, भौम शरीर, इन तीनों आध्यात्मिक मर्त्यात्मसंस्थाओं में मर्त्यक्षर का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'क्षरसंस्था' कहा जा सकता है। अमृत-मर्त्यात्मक आधिदैविक सूर्य्य, अमृत-मर्त्यात्मिका आध्यात्मिकी बुद्धि, इनमें अमृतमर्त्यात्मक मध्यस्थ अक्षर का प्राधान्य है। अतएव इसे 'अक्षर-संस्था' माना जा सकता है। इस अक्षरसंस्था का ऊर्ध्वानुगत अमृताक्षर तो अव्ययसंस्था का अनुग्राहक बना रहता है, एवं अधोऽनुगत मर्त्याक्षर क्षरसंस्था का अनुग्राहक बना रहता है। अविद्याव्यय का उपक्रमस्थान शरीर बतलाया गया है, उपसंहारस्थान प्रत्यगात्मा माना गया है। वस्तुतः विद्याव्यय का उपक्रम प्रत्यगात्मा है, उपसंहार अमृताबुद्धि है। एवं अविद्याव्यय का उपक्रम शरीर है, उपसंहार मर्त्या बुद्धि है। प्रत्यगात्मोपक्र-मानुगता, अमृता बुद्ध्युपसंहारात्मिका अमृतात्मसंस्था गीताभिमता योगचतुष्टयी की आधारभूमि है। एवं शरीरोपक्रमानुगता मर्त्यबुद्धियुपसंहारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनाभिमता योगत्रयी की आधारभूमि है। मर्त्या बुद्धि अक्षरात्मा है, यही अव्यक्तात्मा है, यही प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग की आधारभूमि है। मर्त्य प्रज्ञानात्मा (मन) अक्षरगर्भित क्षरात्मा है, यही व्यक्ताव्यक्तात्मा है, यही प्राचीनाभिमत भक्तियोग की आधारभूमि है। मर्त्य शरीर क्षरगर्भित विकारक्षर है, यही व्यक्तात्मा है, यही प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग की आधारभूमि है। मर्त्य पार्थिव भोक्तात्मा इस प्राचीनाभिमता मर्त्या योगत्रयी का अनुष्ठाता है। मर्त्यभावप्रधाना यह योगत्रयी अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से विद्याबुद्धि-युक्त अव्ययात्मक बुद्धियोगसम्पत् से सर्वथा वञ्चित रह जाती है।

११-गीतासम्मता योगचतुष्टयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त—

अब गीताभिमता योगचतुष्टयी का समन्वय कीजिए। गीतायोग की आधारभूमि अमृतात्मसंस्था है। यहाँ अव्यय, अक्षर, क्षर, तीनों का समन्वय है, जब कि प्राचीन योग अक्षर-क्षरानुगत बनता हुआ भी अव्यय-सम्पत्ति से वञ्चित था। अमृतात्मसंस्था का उपसंहार यद्यपि अमृतात्मिका बुद्धि ही बन रही है। तथापि **'नामृतं मृत्युभिर्विना'-'अन्तरं मृत्योरमृतम्'** इत्यादि के अनुसार इसका उपसंहार मर्त्य शरीर पर मान लिया जाता है, और यही प्रत्यगात्मलक्षण सर्वाव्यय की सर्वव्याप्तिलक्षणा सर्वता है। प्रत्यगात्मरूप अव्यय आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्मय है। इसके समष्टि-व्यष्टिरूप से दो विवर्त्त अधिदैवत, और अध्यात्म में प्रविष्ट रहते हैं। समष्टिरूप अव्यय का उपक्रम प्रत्यगात्मा है, उपसंहार शरीर है। अधिदैवत में षोडशी उपक्रम है। इस अवारपारीण सर्वाव्यय की पाँच कलाएँ अव्यय-अक्षर-क्षर-भेद से त्रिसंस्थ बन कर सर्वत्र व्याप्त हो रहीं हैं। अधिदैवत में षोडशी, अव्यक्त स्वयम्भू, महान्परमेष्ठी, अध्यात्म में प्रत्यगात्मा, स्वायम्भुव शान्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, तीनों की समष्टि में आनन्दविज्ञानप्रधान अव्ययात्मा का भोग है, यही पहिली अव्ययात्म-

संस्था है । अधिदैवत में विद्याविद्यात्मक सूर्य्य, अध्यात्म में विद्याविद्यात्मिका बुद्धि, इन दोनों में मनःप्रधान अव्ययात्मा का भोग है, यही दूसरी अव्ययात्मसंस्था है । अधिदैवत में चन्द्रमा, पार्थिव देवसत्य, भूपिण्ड, अध्यात्म में चान्द्र मन, पार्थिव भोक्तात्मा, भौम शरीर, तीनों की समष्टि में प्राणवाक्प्रधान अव्ययात्मा का भोग है, यही तीसरी अव्ययात्मसंस्था है । प्रथम संस्था आनन्दविज्ञानाव्ययानुगता अव्ययसंस्था है, द्वितीयसंस्था मनोऽव्ययानुगता अक्षरसंस्था है, तीसरी संस्था प्राणवागव्ययानुगता क्षरसंस्था है । यही षोडशीपुरुषाव्यय की सर्वव्याप्ति का संक्षिप्त प्रदर्शन है । इस सर्वमूर्त्ति षोडशी-अव्यय की प्रातिस्विक विभूति वैराग्य है, तद्रूप बुद्धियोग सिद्धबुद्धियोग है, तत्साधक विद्याबुद्ध्यनुगत वैराग्यहेतुकबुद्धियोग साध्यबुद्धियोग है । इस वैराग्य-बुद्धियोग में सर्वाव्यय की प्रधानता है, अतएव इस बुद्धियोग में सर्वबुद्धियोग अन्तर्भूत है । केवल वैराग्यबुद्धि-योग के अनुष्ठान से ही शेष तीनों बुद्धियोग गतार्थ बन जाते हैं । अतएव ऐश्वर्य्य-धर्म्म-ज्ञानबुद्धियोग-नामक तीनों बुद्धियोगों में भी भगवान् ने वैराग्यबुद्धियोग का समावेश माना है, जैसाकि तत्समर्थक वचनों के द्वारा भू० प्र० खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है ।

१२–अव्ययात्मानुगत एक ही बुद्धियोग के चार विभिन्न योगविवर्त्तों का समन्वय—

आनन्दविज्ञानाव्यय, मनोऽव्यय, प्राणवागव्यय, ये तीन इसके व्यष्ट्यात्मक विवर्त्त हैं । प्रथम विवर्त्त स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा से अनुगृहीत है, दूसरा विवर्त्त पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुगृहीत है, तीसरा विवर्त्त अमृत-बुद्धि से अनुगृहीत है । प्रथम विवर्त्त का उपक्रम भी अव्यक्तात्मा है, उपसंहार भी अव्यक्तात्मा ही है । द्वितीय विवर्त्त का उपक्रमोपसंहार, दोनों महानात्मा ही है । एवं तीसरे विवर्त्त का उपक्रमोपसंहार दोनों विद्या-बुद्धि ही है । आनन्दविज्ञानाव्ययानुगृहीत अव्यक्तात्मा ज्ञानबुद्धियोग की आधारभूमि है । मनोऽव्ययानुगृहीत महानात्मा ऐश्वर्य्यबुद्धियोग की आधारभूमि है । प्राणवागव्ययानुगृहीत अमृतविज्ञानात्मा धर्म्मबुद्धियोग की आधारभूमि है । अव्यक्तात्मानुगत आनन्दविज्ञानाव्यय 'पराव्यय' है । महानात्मानुगत मनोऽव्यय 'परावरा-व्यय' है । विद्याबुद्ध्यनुगत प्राणवागव्यय 'अवराव्यय' है । पराव्यय अव्ययप्रधान है, परावराव्यय अक्षरप्रधान है, अवराव्यय क्षरप्रधान है । तीनों असर्व बनते हुए असर्वयोगात्मक हैं । सर्वाव्ययानुगत सर्वलक्षण वैराग्य-बुद्धियोग में, तथा असर्वाव्ययानुगत असर्वलक्षणा शेष बुद्धियोगत्रयी में यही वह महान् अन्तर है, जिसके तात्त्विक विश्लेषण के बिना गीताभिमता योगचतुष्टयी के विभक्त रूपों का समन्वय असम्भव बन जाता है । विभक्त आत्मसंस्थाओं के आधार पर सर्वथा विभक्त चारों बुद्धियोगों का जब तक विश्लेषण नहीं कर लिया जाता, जब तक गीता के 'बुद्धियोग' तत्त्व से परिचय प्राप्त करना असम्भव है । वही अव्यय, वही आत्मा, वही योग, फिर कैसे एक योग चार भागों में विभक्त हो गया ?, प्रश्नसमस्या के निराकरण के लिए ही प्रकृत में यह सिद्ध-साध्य योगविश्लेषण हुआ है, जिसका निम्न लिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण सम्भव है—

सिद्ध–साध्य–योगचतुष्टयी–परिलेखाः—

(१)

१–षोडशीपुरुषाव्ययः—	प्रत्यगात्मा	वैराग्यबुद्धियोगात्मा	वैराग्यहेतुकविद्याबुद्धियोगः
२–अव्यक्तस्वयम्भूः—	शान्तात्मा	ज्ञानबुद्धियोगात्मा	ज्ञानहेतुकविद्याबुद्धियोगः
३–महान्परमेष्ठी—	महानात्मा	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मा	ऐश्वर्य्य हेतुकविद्याबुद्धियोगः
४–अमृतसूर्य्यः—	अमृतविज्ञानात्मा	धर्म्मबुद्धियोगात्मा	धर्म्म हेतुकविद्याबुद्धियोगः
अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	सिद्धबुद्धियोगचतुष्टयी	साध्यबुद्धियोगचतुष्टयी

—*—

(२)

१–साध्यलक्षणवैराग्यहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–वैराग्यबुद्धियोगोदयः

२–साध्यलक्षणज्ञानहेतुकविद्याबुद्ध्यनुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–ज्ञानबुद्धियोगोदयः

३–साध्यलक्षणैश्वर्य्य हेतुकविद्याबुद्ध्यनुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोदयः

४–साध्यलक्षणधर्म्म हेतुकविद्याबुद्ध्यनुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–धर्म्मबुद्धियोगोदयः

—*—

(३)

*

१–वैराग्यभगोपेता——आसक्तिक्लेशनिवर्त्तिका——वैराग्यबुद्धिः—तद्रूपः–वैराग्यबुद्धियोगः—साध्यः

२–ज्ञानभगोपेता——मोहक्लेशनिवर्त्तिका——ज्ञानबुद्धिः—तद्रूपः–ज्ञानबुद्धियोगः—साध्यः

३–ऐश्वर्य्यभगोपेता——अस्मिताक्लेशनिवर्त्तिका——ऐश्वर्य्यबुद्धिः–तद्रूपः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः–साध्यः

४–धर्म्मभगोपेता——अभिनिवेशक्लेशनिवर्त्तिका——धर्म्मबुद्धिः—तद्रूपः–धर्म्मबुद्धियोगः——साध्यः

*

१–साध्यवैराग्यहेतुकवैराग्यबुद्धियोगेन विकसितः—सर्वाव्ययात्मकः—वैराग्यबुद्धियोगः——सिद्धः

२–साध्यज्ञानहेतुकज्ञानबुद्धियोगेन विकसितः——पराव्ययात्मकः——ज्ञानबुद्धियोगः——सिद्धः

३–साध्यैश्वर्य्यहेतुकैश्वर्य्यबुद्धियोगेन विकसितः—परावराव्ययात्मकः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः—सिद्धः

४–साध्यधर्म्म हेतुकधर्म्मबुद्धियोगेन विकसितः—अवराव्ययात्मकः—धर्म्मबुद्धियोगः——सिद्धः

*

—*—

(४) १-वैराग्यहेतुकसाध्यबुद्धियोगेन—वैराग्याव्ययलक्षण—सिद्धबुद्धियोगोदयः

२-ज्ञानहेतुकसाध्यबुद्धियोगेन—ज्ञानाव्ययलक्षण—सिद्धबुद्धियोगोदयः

३-ऐश्वर्य्यहेतुकसाध्यबुद्धियोगेन-ऐश्वर्य्याव्ययलक्षण—सिद्धबुद्धियोगोदयः

४-धर्म्महेतुकसाध्यबुद्धियोगेन—धर्म्माव्ययलक्षण—सिद्धबुद्धियोगोदयः

—*—

[५]-विद्याव्ययस्य-उपक्रमोसंहारौ—

अधिदैवतम्—अध्यात्मम्

१-षोडशीपुरुषाव्ययः—प्रत्यगात्मा]—विद्याव्ययस्य-उपक्रमस्थानम्

२-अव्यक्तस्वयम्भूः—शान्तात्मा
३-महान् परमेष्ठी—महानात्मा } —विद्याव्ययस्य-मध्यस्थानम्

४-अमृतसूर्य्यः — अमृतविज्ञानात्मा]—विद्याव्ययस्य-उपसंहारस्थानम्

—*—

(६)—अविद्याव्ययस्य-उपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम् — अध्यात्मम्

४-मर्त्यसूर्य्यः—मर्त्यविज्ञानात्मा]—अविद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

३-चन्द्रमाः—प्रज्ञानात्मा
२-पार्थिवदेवसत्यः—पार्थिवभोक्तात्मा } —अविद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्

१-भूपिण्डः—शरीरम्]—अविद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्

—*

(७)-अन्यदृष्ट्या विद्याव्ययस्योपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम्	—	अध्यात्मम्	
			]—विद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्
१-षोडशीपुरुषाव्ययः	—	प्रत्यगात्मा	
२-अव्यक्तस्वयम्भूः	—	शान्तात्मा	
३-महान्परमेष्ठी	—	महानात्मा	
४-अमृतसूर्य्यः	—	अमृतविज्ञानात्मा	—विद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्
५-मर्त्यसूर्य्यः	—	मर्त्यविज्ञानात्मा	
६-चन्द्रमाः	—	प्रज्ञानात्मा	
७-पार्थिवदेवसत्यम्	—	पार्थिवभोक्तात्मा	
८-भूपिण्डः	—	शरीरम्	]—विद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

*

—※—

(८) अविद्याव्ययस्योपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम्	—	अध्यात्मम्	
१-भूपिण्डः	—	शरीरम्	]—अविद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्
२-पार्थिवदेवसत्यम्	—	पार्थिवभोक्तात्मा	
३-चन्द्रमाः	—	प्रज्ञानात्मा	
४-मर्त्यसूर्य्यः	—	मर्त्यविज्ञानात्मा	—अविद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्
५-अमृतसूर्य्यः	—	अमृतविज्ञानात्मा	
६-महान्परमेष्ठी	—	महानात्मा	
७-अव्यक्तस्वयम्भूः	—	शान्तात्मा	
८-षोडशीपुरुषाव्ययः	—	प्रत्यगात्मा	]—अविद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

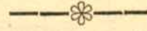
—※—

(९)

भूपिण्डमवलम्ब्य भूतासक्तिद्वारा आत्मदर्शनम्
शरीरमवलम्ब्य भूतासक्तिद्वारा आत्मदर्शनम्
} —अविद्याव्ययदर्शनम्-सैषा अनात्मदृष्टिः (अत्र आत्मा उपसंहारः, शरीरं-उपक्रमः)

*

षोडशीपुरुषाव्ययमवलम्ब्य अनासक्तिद्वारा आत्मदर्शनम्
प्रत्यगात्मानमवलम्ब्य अनासक्तिद्वारा आत्मदर्शनम्
} —विद्याव्ययदर्शनम्-सैषा आत्मदृष्टिः (अत्र आत्मा-उपक्रमः, शरीरं उपसंहारः)



(१०) आत्मसोपानपरम्परानुगता-अव्ययसंस्थात्रयी—

अधिदैवतम् — अध्यात्मम्

*

१	१ षोडशीपुरुषाव्ययः—प्रत्यगात्मा २ अव्यक्तस्वयम्भूः—शान्तात्मा ३ महान्परमेष्ठी—महानात्मा	—अमृताव्ययप्रधाना 'अव्ययसंस्था' प्रथमा
२	१ अमृतसूर्य्यः—अमृतविज्ञानात्मा २ मर्त्यसूर्य्यः—मर्त्यविज्ञानात्मा	अमृतमर्त्याक्षरप्रधाना 'अक्षरसंस्था' द्वितीया—
३	१ चन्द्रमा —प्रज्ञानात्मा २ पार्थिवदेवसत्यम्-पार्थिवभोक्तात्मा ३ भूपिण्डः—शरीरम्	—मर्त्यक्षरप्रधाना-'क्षरसंस्था' तृतीया

*

(११)—प्राचीनाभिमता योगत्रयी, तदाधारभूताः-आत्मविवर्त्तभावाश्च—

शरीरोपक्रमानुगता-मर्त्या-बुद्ध्युपसंहारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनाभिमतयोगप्रतिष्ठा-

अधिदैवतम्——अध्यात्मम्

मर्त्यसूर्य्यः——मर्त्याबुद्धिः——अक्षरात्मा (अव्यक्तात्मा)——ज्ञानयोगाधारभूमिः
चन्द्रमा ——प्रज्ञानात्मा——अक्षरगर्भितक्षरात्मा (व्यक्ताव्यक्तात्मा)-भक्तियोगाधारभूमिः
भूपिण्डः——शरीरम्——क्षरगर्भितविकारक्षरात्मा (व्यक्तात्मा)-कर्म्मयोगाधारभूमिः

१-अव्यक्तात्मानुगतो योगः-ज्ञानयोगः	पार्थिवदेवसत्यानुगतः-पार्थिवभोक्तात्मा-योगानुष्ठाता
२-व्यक्ताव्यक्तात्मानुगतो योगः-भक्तियोगः	अविद्याबुद्धिर्योगसाधनम्
३-व्यक्तात्मानुगतो योगः-कर्म्मयोगः	बन्धनञ्च योगफलम्



(१२)—गीताभिमता योगचतुष्टयी, तदाधारभूताः-आत्मविवर्त्तभावाश्च—

आत्मोपक्रमानुगता-अमृता-बुद्ध्युपसंहारात्मिका, शरीरोपसंहारात्मिका वा अमृतमर्त्यात्मसंस्था-

गीताभिमतयोगप्रतिष्ठा

तत्र—सर्वाव्ययानुगता वैराग्यबुद्धियोगानुगता आत्मसंस्था प्रथमा—

अव्ययोपक्रमात्मिका, शरीरोपसंहारात्मिका, सर्वात्मिका

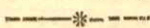
सर्वाव्ययः—	अधिदैवतम्	अध्यात्मम्
१-आनन्दमयोऽव्ययः २-विज्ञानमयोऽव्ययः	१-षोडशीपुरुषाव्ययः-प्रत्यगात्मा २-अव्यक्तस्वयम्भूः—शान्तात्मा ३-महान्परमेष्ठी——महानात्मा	वैराग्यबुद्धियोगगर्भितः-ज्ञानबुद्धियोगः
३-मनोमयोऽव्ययः	४-अमृतसूर्य्यः——अमृतविज्ञानात्मा ५-मर्त्यसूर्य्यः——मर्त्यविज्ञानात्मा	वै०बु०यो०ग०-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः
४-प्राणमयोऽव्ययः ५-वाङ्मयोऽव्ययः	६-चन्द्रमा ——प्रज्ञानात्मा ७-पार्थिवदेवसत्यम्——पार्थिवभोक्तात्मा ८-भूपिण्डः——शरीरम्	वै०बु०यो०ग०-धर्म्मबुद्धियोगः

पार्थिवदेवसत्यानुगतः-पार्थिव-भोक्तात्मा योगानुष्ठाता

धर्म्म-ज्ञान-ऐश्वर्य्यगर्भिता वैराग्यबुद्धिः-योगसाधनम्

असङ्गभावेन सर्वावाप्तिश्च योगफलम्

स एषः-सर्वाव्ययानुगतो वैराग्यबुद्धियोगः-सर्वात्मकः



(१३)—प्राचीनाभिमता-संशोधिता-बुद्धियोगात्मिका-योगत्रयी, तदाधारभूतान्यात्मविवर्त्तानि च—

१-आनन्दविज्ञानमयाव्ययानुगता, अव्यक्तात्ममूला, अव्यक्तात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका अमृतप्रधाना-प्रथमा संस्था
—'ज्ञानबुद्धियोगभूमिः'—

२-मनोमयाव्ययानुगता, महानात्ममूला, महानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका-अमृतप्रधाना-द्वितीया संस्था
—'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगभूमिः'—

३-प्राणवाङ्मयाव्ययानुगता, विज्ञानात्ममूला, विज्ञानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका-अमृतप्रधाना तृतीया संस्था
—'धर्म्मबुद्धियोगभूमिः'—

—*—

१-असर्वलक्षणः, आनन्दविज्ञानमयः 'पराव्ययः' (अकृत्स्नः)-तदनुगतः-अकृत्स्नः-अव्यक्तात्मा
—ज्ञानबुद्धियोगाधारः—

२-असर्वलक्षणः, मनोमयः 'परावराव्ययः' (अकृत्स्नः)-तदनुगतः-अकृत्स्नः-महानात्मा
—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः—

३-असर्वलक्षणः, प्राणवाङ्मयः 'अवराव्ययः' (अकृत्स्नः)-तदनुगतः-अकृत्स्नः-विज्ञानात्मा
—धर्म्मबुद्धियोगाधारः—

—*—

*-सर्वलक्षणः, आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः-सर्वाव्ययः, तदनुगतः-सर्वः प्रत्यगात्मा-
—वैराग्यबुद्धियोगाधारः—

स एषः-गीताराद्धान्तः

१३-पातञ्जल योगसूत्र के 'अविद्या' शब्द का समन्वय—

जिसप्रकार वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी राग-द्वेषात्मिका आसक्ति है, ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विनी अस्मिता है, धर्म्म का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है, एवमेव ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी 'मोह' माना गया है, जिसके लिए योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत करना समीचीन माना जासकता है, तथापि विज्ञानदृष्ट्या इसे अविद्या न कह कर 'मोह' कहना हीं अन्वर्थ बनता है। कारण स्पष्ट है। क्लेशात्मिका चारों बुद्धियाँ जहाँ 'अविद्याबुद्धि' है, वहाँ भगात्मिका चारों बुद्धियाँ 'विद्याबुद्धि' है। विद्या का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यातत्त्व धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ चार पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत हुआ है। ऐसी दशा में चारों विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ 'अविद्या' शब्द केवल ज्ञानविद्या के लिए प्रयुक्त नहीं होसकता। यदि **'समुदाये दृष्टाः शब्दाः-अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते'** न्याय से चारों अविद्याबुद्धियों के लिए प्रयुक्त अविद्याशब्द अवयवभूता ज्ञानविद्या का प्रतिद्वन्द्वी मान कर तन्नाम से योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है, तो इष्टापत्ति है। तब तो ज्ञानवत् धर्म्म-ऐश्वर्य-वैराग्य, इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया जासकता है। परन्तु देखते हैं-सूत्रकार ने इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए अविद्या-

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-नियत-अभिनिवेश, अस्मिता, रागद्वेष, नामों का ही ग्रहण किया हैं। जब तीनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है, तो चौथे ज्ञान की प्रतिद्वन्द्विता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए था, और इस विज्ञानदृष्टि से **'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशाः'** का रूप **'मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'** यही होना चाहिए था। सम्भव है सूत्रकार ने-'ज्ञान का उदय विद्या से होता है, अविद्या ज्ञान की शत्रु है'-शक्तिग्राहकशिरोमणि इस वृद्धव्यवहार (लोकव्यवहार) के आधार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अस्तु, वक्तव्य यही है कि, सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग के स्वरूपपरिचय के लिए ज्ञान, और तत्प्रतिद्वन्द्वी मोह, इन दो तत्त्वों का स्वरूपज्ञान अपेक्षित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

१४-उभयज्योतिःप्रवर्त्तक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा—

"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !" इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत-मृत्यु, इन दोनों भावों से युक्त है। अमृतभाव ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म्म है। ज्ञान की विश्वातीतावस्था 'रस' है, कर्म्म की विश्वातीतावस्था 'बल' है। बलावस्था में परिणत कर्म्म सुप्त रहता है। अतएव सर्वबलविशिष्ट परात्पर रसैकघन बनता हुआ विशुद्ध ज्ञानात्मा (रसात्मा) बन रहा है। इस कर्म्मात्यन्तविरहित विश्वातीत परात्पर को ही योगातीत माना गया है। योगातीत यही परात्पर अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से 'महामाया' नामक सीमा-भावप्रवर्त्तक बलविशेष से सीमित होकर 'अव्ययपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अव्ययेश्वर में रसात्मक ज्ञानवत् बलात्मक कर्म्म का भी उद्रेक होजाता है। रस-बल की साम्यावस्थारूप यही अव्ययात्मा 'ज्ञानकर्म्मात्मा' कहलाया है। ज्ञानदृष्ट्या वह ज्ञानात्मा है, कर्म्मदृष्ट्या कर्म्मात्मा है। ज्ञानभाव सल्लक्षण अमृत है, कर्म्मभाव असल्लक्षण मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अव्ययपुरुष समत्वलक्षण बुद्धियोग से नित्य-युक्त रहता हुआ नित्यमुक्त है। यही ज्ञानकर्म्मोभयमूर्त्ति अव्ययात्मा आध्यात्मिक-हृदयस्थित **'प्रत्यगात्मा'** है, जिसे हमनें 'सर्वाव्यय' नाम से व्यवहृत किया है, एवं जिसे सर्वयोगलक्षण 'वैराग्यबुद्धियोग' की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान, और कर्म्म के समत्वलक्षण वैराग्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य शान्त है, क्षोभरहित है, आपूर्य्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। यह स्वाभाविकी नित्या शान्ति ही इसकी स्वस्थता है। नित्य स्वस्थ इस ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति प्रत्यगात्मा का ही नाम है-**'अन्तर्ज्योति'**। अन्तःप्रकाश ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योति है, यही अन्तर्ज्योति है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मप्रकाश के **ज्ञानज्योति, भूतज्योति,** भेद से दो विवर्त्त मानें गए हैं। रसात्मिका ज्ञानज्योति ज्ञानज्योति है, बलात्मिका कर्म्मज्योति भूतज्योति है। संकुचित तत्त्व का विकसितरूप ही उस तत्त्व का ज्योतिर्भाव है। वह आत्माव्यय ज्ञान, और कर्म्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वतः विकसित ज्ञान, और कर्म्मतत्त्व को अवश्य ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जासकता है। उभय-ज्योतिर्मूर्त्ति यह प्रत्यगात्मा अपने हीं ज्ञान-कर्म्म-विकास से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-ज्योति 'स्वज्योति' बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानज्योति, मृत्युलक्षणा कर्म्मज्योति, इन दोनों स्वज्योतियों से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वज्योतिर्घन प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योति' है, यही विज्ञानभाषा में 'पुरुषज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१५-विश्वनिबन्धन पुरुषज्योतिः-प्रकृतिज्योतिः-विवर्त्त—

वैज्ञानिकों नें कहा है—पुरुषज्योति पाँच ज्योतियों के द्वारा विश्वानुगता बनी रहती है । प्रश्न होता है कि, पुरुषज्योतिर्लक्षणा अन्तर्ज्योति (अव्ययज्योति) को विश्वानुगता बना देने वालीं उन पाँच ज्योतियों का क्या स्वरूप है ? । इस प्रश्न का समाधान हुआ है-'बहिर्ज्योति' के द्वारा । **'प्रकृतिं-पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'** सिद्धान्तानुसार पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्व से नित्य युक्त है । प्राणः, आपः, वाक् अन्नम्, अन्नादः, भेद से प्रकृतितत्त्व (बहिरङ्गप्रकृति) पञ्चधा विभक्त माना गया है । पञ्चज्योतिर्लक्षणा यह प्रकृतितत्त्व ही भूतात्मक पञ्च पर्वा विश्व का उपादान माना गया है । क्योंकि पञ्चज्योतिर्लक्षणा यही बहिरङ्गप्रकृति पञ्चभूतात्मक विश्वविकास का कारण (उपादान) बनती है, अतएव इस प्रकृतिज्योति को अवश्य ही **'बहिर्ज्योति'** नाम से व्यवहृत किया जासकता है । जिस प्रकार अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा पुरुषज्योति ज्ञान-कर्म्म के भेद से ज्ञानज्योतिः, भूतज्योतिः, इन दो भावों में विभक्त रहती है, एवमेव बहिर्ज्योतिर्लक्षणा प्रकृतिज्योति भी ज्ञान-कर्म्म के भेद से दो ही भागों में विभक्त मानी गई है । दोनों में अन्तर केवल यही है कि, अन्तर्ज्योति के दोनों पर्व जहाँ साम्यावस्था में परिणित रहते है, वहाँ बहिर्ज्योति के दोनों पर्व विषमावस्था में परिणित रहते हैं । अन्तर्ज्योति के ज्ञान-कर्म्म साम्यावस्था के कारण जहाँ विकासलक्षण ज्ञानज्योतिप्रधान है, वहाँ बहिर्ज्योति के ज्ञान-कर्म्म विषमावस्था के कारण अपूर्णतासम्बन्ध से भूतज्योतिःप्रधान है । अतएव उभयात्मिका भी पुरुषज्योति विज्ञान-भाषा में केवल 'ज्ञानज्योति' नाम से, एवं उभयात्मिका भी प्रकृतिज्योति केवल भूतज्योति नाम से व्यवहृत कर दी गई है । उभयात्मिका पुरुषज्योति के ज्ञानज्योति, अन्तर्ज्योति, आत्मज्योतिः, ज्योतिषांज्योतिः, इत्यादि अनेक यशोनाम हैं । उभयात्मिका प्रकृतिज्योति के भूतज्योति, बहिर्ज्योति, विश्वज्योति, ज्योति, इत्यादि अनेक यशोनाम हैं । पुरुषज्योति आत्मा है, प्रकृतिज्योति इस आत्मा का शरीर है । जिस प्रकार 'आत्मा' शरीर से नित्य युक्त है, एवमेव यह पुरुषज्योति प्रकृतिज्योति से नित्य युक्त है । पञ्चपर्वात्मक प्राकृतिक विश्व ही प्रकृति-ज्योति है, पञ्चपर्वात्मक विश्वात्मा ही पुरुषज्योति है । विश्वात्मा विश्व का आधार है, बहिर्ज्योति अन्तर्ज्योति के बहिर्विकास का आधार है

१६-पुरुष, एवं प्रकृति-ज्योतियों के पाँच पाँच अवान्तर विवर्त्त—

'प्राणज्योति, अब्ज्योति, वागूज्योति, अन्नादज्योति, अन्नज्योति,' ये ही पाँच प्रकृतिज्योतियाँ हैं, जिनकी समष्टि का नाम 'विश्वज्योति' है । प्राणज्योति से अव्यक्त स्वयम्भू का, अब्ज्योति से महत्परमेष्ठी का, वागूज्योति से विज्ञानसूर्य्य का, अन्नादज्योति से पृथिवी का, एवं अन्नज्योति से चन्द्रमा का विकास हुआ है । प्राणात्मक स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, अमृतावाङ्मय अमृतसूर्य, इन तीन बहिर्ज्योतियो की समष्टि ज्ञान-लक्षणा बहिर्ज्योति है । मर्त्यावाङ्मय मर्त्यसूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी, इन बहिर्ज्योतियों की समष्टि कर्म्मलक्षणा बहिर्ज्योति है । इसप्रकार पञ्चज्योतिर्लक्षणा इस प्रकृतिज्योति में भी पुरुषज्योतिर्वत् ज्ञान-कर्म्म, दोनों ज्योतियों का उपभोग हो रहा है । प्रकृतिज्योति का ज्ञानज्योतिर्भाग पुरुषज्योति के ज्ञानज्योतिर्भाग से, एवं प्रकृतिज्योति का कर्म्मज्योतिर्भाग पुरुषज्योति के कर्म्मज्योतिर्भाग से अनुगृहीत रहता है । साथ ही पुरुषज्योति के ज्ञान-कर्म्ममय ज्योतिर्भाग प्रकृतिज्योति के ज्ञानकर्म्ममय ज्योतिर्भाग से विश्वानुगत बने रहते हैं । आनन्दज्योति, विज्ञानज्योति, मनोज्योति, प्राणज्योति, वागूज्योति, ये ही पाँच पुरुषज्योतियाँ हैं, जिनकी समष्टि का

नाम हीं 'आत्मज्योति' है । आनन्दज्योति से अव्यक्त स्वयम्भूलक्षणा प्राणज्योति, विज्ञानज्योति से परमेष्ठी-लक्षणा अबूज्योति. मनोज्योति से वागूलक्षणा सूर्य्यज्योति, प्राणज्योति से अन्नलक्षणा चन्द्रज्योति, एवं वाग्ज्योति से अन्नादलक्षणा पृथिवीज्योति अनुगृहीत है । इन पाँचों भूतज्योतियों से (प्रकृतिज्योतियों से) पाँचों ज्ञानज्योतियाँ (पुरुषज्योतियाँ) विश्वानुगत बनीं हुईं हैं । ज्योतिः वस्तुतः ज्ञानात्मक रस का ही नाम है । वही ज्ञानरस बलग्रन्थितारतम्य से, किंवा बलग्रन्थि के उत्तरोत्तर घनीभूत होने से पाँच रूपों में परिणत हो जाता है । बलग्रन्थितारतम्यानुगता ज्ञानज्योति के बलप्रधान रूप ही 'कर्म्म' कहलाए हैं । ज्ञान का बलानुगत रूप ही कर्म्म है । अतएव कर्म्म को भी 'ज्योति' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है । निष्कर्ष वही हुआ कि, पञ्चधा विभक्त पुरुषज्योति ही अन्तर्ज्योति है, यह ज्ञान-कर्म भेद से द्विधा विभक्त है. एवं यह साम्यावस्थापन्ना है । पञ्चधा विभक्त प्रकृतिज्योति ही बहिर्ज्योति है, यह भी ज्ञानकर्म्म भेद से द्विधा विभक्त है, एवं यह विषमावस्थापन्ना है । पञ्चज्योतिर्लक्षण आत्मा, पञ्चज्योतिर्लक्षणा प्रकृति, दोनों की समष्टि 'पुरुष' है । एवं-'**पञ्चज्योतिरयं पुरुषः**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरुषसंस्था में भुक्त आत्मज्योति भी पञ्चधा विभक्त है, प्रकृतिज्योति भी पञ्चधा विभक्त है । निम्न लिखित परिलेखों से इस प्रतिपादित ज्योति-विवर्त्त का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है ।

१-आत्मज्योतिः (ज्ञानज्योतिः-अन्तर्ज्योतिः-पुरुषज्योतिः)
२-विश्वज्योतिः (भूतज्योतिः-बहिर्ज्योतिः-प्रकृतिज्योतिः)



१-आत्मज्योतिः

१-आनन्दज्योतिः
२-विज्ञानज्योतिः
३-मनोज्योतिः
—ज्ञानज्योतिः (आनन्दविज्ञानमनोऽव्ययपुरुषः-ज्ञानात्मा-ज्ञानज्योतिः

४-प्राणज्योतिः
५-वाग्ज्योतिः
—कर्म्मज्योतिः (मनःप्राणवाङ्मयोऽव्ययपुरुषः-कर्म्मात्मा-भूतज्योतिः

—अन्तर्ज्योतिः ५



२–विश्वज्योतिः

१–प्राणज्योतिः २–अब्ज्योतिः ३–वाग्ज्योतिः	–ज्ञानज्योतिः (प्राण–अब्–वाङ्मयी–प्रकृतिः)–ज्ञानप्रकृतिः–ज्ञानज्योतिः	–बहिर्ज्योतिः ५
४–अन्नज्योतिः ५–अन्नादज्योतिः	–कर्म्मज्योतिः (वाक्–अन्न–अन्नादमयी–प्रकृतिः)–कर्म्मप्रकृतिः–भूतज्योतिः	





पुरुषात्मा	–प्राकृतात्मा	–अधिदैवतम्	अध्यात्मम्				
१–आनन्दगर्भितः	–प्राणलक्षणः	–स्वयम्भूः	शान्तात्मा	पुरुषज्योतिर्गर्भितं-	प्रकृतिज्योतिः	ज्ञानज्योतिः	
२–विज्ञानगर्भितः	–आपोलक्षणः	–परमेष्ठी	महानात्मा				
३–मनोगर्भितः	–वाग्लक्षणः	–अमृतसूर्य्यः	विद्याबुद्धिः				}–पञ्चज्योतिरयं पुरुषः
३–मनोगर्भितः	–वाग्लक्षणः	–मर्त्यसूर्य्यः	अविद्याबुद्धिः	पुरुषज्योतिर्गर्भितं	प्रकृतिज्योतिः	भूतज्योतिः	पुरुषत्त्वेन, प्रकृत्या च
४–प्राणगर्भितः	–अन्नलक्षणः	–चन्द्रमाः	मनः				**उभयथा पञ्चज्योतिः**
५–वाग्गर्भितः	–अन्नादलक्षणः	–भूपिण्डः	शरीरम्				
आत्मज्योतिः	–विश्वज्योतिः						
पुरुषज्योतिः	–प्रकृतिज्योतिः						

१७–बन्धननिवर्त्तक-प्रवर्त्तक-पुरुष-प्रकृति-ज्योतिर्विवर्त्त—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्मज्योतिर्लक्षणा पुरुषज्योति ही विश्वज्योतिर्लक्षणा प्रकृतिज्योति की आधारभूमि है । प्रत्यगात्मलक्षणा आत्मज्योति ही तो शान्तात्मादि लक्षण प्रकृतिज्योतिः-पञ्चक में परम्परया अवतीर्ण हुई है । स्वस्थान में वही आत्मज्योति है, विश्वस्थान में वही भूतज्योति है। आत्मज्योति निरुपाधिक है, भूतज्योति सोपाधिक है। निरुपाधिक आत्मज्योति त्रिगुणभाव से बहिर्भूत है, सोपाधिक भूतज्योति त्रिगुणभावाक्रान्त है । गुणातीता आत्मज्योति अपने हीं गुणात्मक भूतज्योतिर्लक्षण आवरण से उसी प्रकार आवृत हो जाती है, जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वोत्पन्न जाल से, पुरुष स्वोत्पन्न केशलोमों से, लौह स्वोत्पन्न किट्ट (जँग) से, तथा दुग्ध स्वोत्पन्न 'शर' (थर-मलाई) से आवृत हो जाता है । अधिदैवतसंस्था में ज्ञान-कर्म्म-सञ्चालक षोडशी-पुरुष (ईश्वर) है । पूर्वकथनानुसार अधिदैवत संस्था पुरुषप्रधाना है । पुरुष के ज्ञान-कर्म्मभाग साम्यावस्थापन्न हैं । इस साम्यभाव के कारण, गीता के शब्दों में समत्वलक्षण बुद्धियोगप्रभाव से प्रकृत्यनुगत भूतज्योति का आवरण उसे आवृत करने में असमर्थ रह जाता है । अतएव वहाँ स्वज्योतिर्घन आत्मा सदा स्वस्वरूप से विकसित रहता है । परन्तु अध्यात्मसंस्था का प्रभव मुख्यरूप से 'प्रकृतितत्त्व' बनता है । प्राणी-सृष्टि भूतप्रधाना है । भूतसर्ग का उपक्रम भी प्रकृति है, उपसंहार भी प्रकृति है, जैसाकि–**'अव्यक्तादीनि भूतानि, अव्यक्तनिधनान्येव'** इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है । अध्यक्ष (साक्षी) अव्ययपुरुष रहता है, परन्तु सवन (उत्पत्ति) प्रकृति के द्वारा ही होता है–**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'** । प्रकृति जीवसर्ग का मूलप्रभव है । प्रकृति गुणात्मिका बनती हुई सत्त्व-रज-स्तमोमयी है । अतएव प्रकृतिभाव से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भी त्रिगुणभाव में परिणत हो जाता है, एवं कर्म्म भी त्रिगुणात्मक बन जाता है । बतलाया गया है कि, अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मा का आनन्दविज्ञानमनोमय भाग ज्ञानज्योति है, मनःप्राणवाङ्मय भाग कर्म्मज्योति है, यही भूतज्योति है । इसप्रकार केवल आत्मज्योतिर्लक्षण अन्तर्ज्योति (ज्ञानज्योति) में हीं ज्ञानात्मा, कर्म्मात्मा, के सम्बन्ध से ज्ञान-भूत, दोनों ज्योतियों का उपभोग सिद्ध हो रहा है । यह भूतज्योति आत्मा का स्वरूपधर्म्म है, अतएव यह बन्धननिवर्त्तिका बनती हुई आत्मस्वरूप में हीं अन्तर्भूत है । अतएव आत्मानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों को केवल 'ज्ञानज्योति' नाम से ही व्यवहृत कर दिया जाता है । एवमेव बहिर्ज्योतिलक्षण विश्व का शान्तात्मा-महानात्मा-विद्याबुद्धिमय भाग ज्ञानज्योति है, अविद्याबुद्धि-मनः-शरीरमय भाग कर्म्मज्योति है, यही भूतज्योति है । इसप्रकार केवल विश्वज्योतिर्लक्षण बहिर्ज्योति (भूतज्योति) में भी ज्ञानात्मा, कर्म्मात्मा के सम्बन्ध से ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों का उपभोग सिद्ध हो रहा है । यह उभयात्मिका भूतज्योति आत्मा का परधर्म्म है, अतएव यह बन्धननिवर्त्तिका बनती हुई आत्मस्वरूप से पृथक् मानी गई है । अतएव विश्वानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों को केवल 'भूतज्योति' नाम से ही व्यवहृत किया गया है ।



(१) आत्मज्योतिः, पुरुषज्योतिः, अन्तर्ज्योतिः, ज्ञानज्योतिः, स्वज्योतिः—

१–आनन्दविज्ञानमनोमयोऽव्ययः—ज्ञानात्मका विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः
२–मनःप्राणवाङ्मयोऽव्ययः——कर्म्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः
} ज्ञानज्योतिः १



(२)–विश्वज्योतिः, प्रकृतिज्योतिः, बहिर्ज्योतिः, भूतज्योतिः, परज्योतिः—

१–शान्तात्म–महानात्म–विद्याबुद्ध्यात्ममयः—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः
२–अविद्याबुद्ध्यात्म–प्रज्ञानात्म-शरीरात्ममयः–कर्म्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः
} भूतज्योतिः २



१८–शुद्धसत्त्वानुगता सिद्धविद्या—

कहा गया है कि,–'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः' के अनुसार ज्ञानकर्म्मज्योतिर्म्मय प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययपुरुष गुणातीत बनता हुआ निर्गुण है। इस निर्गुणभाव के कारण ही विद्याबुद्धि-चतुष्टयी से सम्बद्धा गीतानुगता बुद्धियोगचतुष्टयी निर्गुणभावप्रवर्त्तिका बनती हुई अबन्धना सिद्ध हो रही है। अव्ययात्मानुगत अन्तर्ज्ञान, तथा अन्तःकर्म्म विशुद्धसात्त्विक ज्ञान, एवं विशुद्ध निवृत्तिकर्म्म है। यह ज्ञान, और कर्म्म दोनों स्वस्वरूप से एकत्वानुगत अमृतभाव से सम्बद्ध हैं। नानालक्षण मृत्युभाव का प्रवेश यहाँ सर्वथा अवरुद्ध है। गुणातीत यही आत्मज्ञान विशुद्ध सात्त्विक ज्ञान कहलाया है, आत्मकर्म्म विशुद्ध सात्त्विक कर्म्म कहलाया है। एवंविध सात्त्विक ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित सात्त्विक निवृत्तिकर्म्म ही ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा बनता है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही ज्योतिर्विवर्त्तों का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण हुआ है।

१९-गुणानुगत–ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व के विविध विवर्त्त––

अब दो शब्दों में गुणानुगत ज्ञानकर्म्मभावों का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लीजिए। प्रकृतिज्योतिः की सीमा में भुक्त ज्ञानात्मा, कर्म्मात्मा, दोनों विवर्त्त गुणत्रयी के सम्बन्ध से तीन तीन भागों में विभक्त हो रहे हैं। यह त्रित्व ही इस विश्वज्योति का मृत्युभाव है। शान्तात्मानुगत ज्ञान मलिनसत्त्वगुणात्मक ज्ञान है, तदनुगत अविद्याबुद्धि–सहकृत कर्म्म मलिनसत्त्वगुणात्मक कर्म्म है। यह पहिला ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व ही प्राचीनाभिमत 'ज्ञानयोग' की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मानुगत निर्गुणतत्त्व ज्ञानकर्म्म से युक्त होकर गीताभिमत 'ज्ञानबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। महानात्मानुगत ज्ञान रजोगुणात्मक ज्ञान है, तदनुगत प्रज्ञानमनः–सहकृत कर्म्म रजोगुणात्मक कर्म्म है। यह दूसरा ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व ही प्राचीनाभिमत भक्तियोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मसम्पत्ति से युक्त होकर गीताभिमत 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। अविद्या-बुद्ध्यनुगत–ज्ञान तमोगुणात्मक ज्ञान है, तदनुगत शरीरात्मसहकृत कर्म्म तमोगुणात्मक कर्म्म है। यह तीसरा ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व ही प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मसम्पत्ति से युक्त होकर

गीताभिमत 'धर्म्मबुद्धियोग' स्वरूप में परिणत हो जाता है। तात्पर्य्य यह निकला कि, प्राकृतात्मविवर्त्तों में से शान्तात्मा, महानात्मा, अमृतविज्ञानात्मा, ये तीन तो ज्ञानात्मा हैं, एवं मर्त्यविज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, शरीरात्मा, तीन कर्म्मात्मा हैं। शान्तात्मानुगत ज्ञान, एवं मर्त्यत्रिज्ञानात्मक कर्म्म सात्त्विक ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व है। महानात्मानुगत-ज्ञान, एवं प्रज्ञानात्मक कर्म्म राजस ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व है। अमृतविज्ञानात्मक ज्ञान, एवं शरीरात्मक कर्म्म तामस ज्ञान-कर्म्मद्वन्द्व है। शान्तात्मक ज्ञान सत्त्वानुगत '**ज्ञान**' है. महानात्मक ज्ञान रजोऽनुगत '**विज्ञान**' है, * विद्या-बुद्धयात्मक ज्ञान तमोऽनुगत '**अज्ञान**' है। इसप्रकार शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्धयात्मक प्राकृत ज्ञान सत्त्व-रज-स्तमोभेद से ज्ञान–विज्ञान–अज्ञान, इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। यही गुणात्मिका ज्ञानत्रयी का दिग्दर्शन है। अविद्याबुद्धयनुगत कर्म्म सत्त्वानुगत 'कर्म्म' है, प्रज्ञानात्मक कर्म्म रजोऽनुगत 'विकर्म्म' है। एवं शरीरात्मात्मक कर्म्म तमोऽनुगत '**अकर्म्म**' है। इसप्रकार अविद्याबुद्धयात्म–प्रज्ञानात्म–शरीरात्मात्मक प्राकृत कर्म्म सत्त्व–रज–स्तमोभेद से कर्म्म–विकर्म्म–अकर्म्म, इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। ज्ञान, और कर्म्म, यह प्राकृतिक द्वन्द्व अनुकूलवेदनात्मक सुख की प्रवृत्ति का कारण माना गया है, जो तत्त्वतः दुःख ही है। विज्ञान, विकर्म्म, और अज्ञान–अकर्म्म, दोनों द्वन्द्व प्रतिकूलवेदनात्मक दुःख की प्रवृत्ति के कारण माने गए हैं। सुख–साधक दो हैं, दुःखप्रवर्त्तक चार हैं। अतएव अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा के अनुग्रह से वञ्चित बहिर्ज्योतिर्लक्षण प्राकृतात्मा के निबिडपाश में बद्ध जीवात्मा प्रकृत्या अधिकांश में दुःखी ही बने रहते हैं। तन्निवारणार्थ ही प्रत्यगात्मानुगत–बुद्धियोगशास्त्र (गीता) प्रवृत्त हुआ है।

१	१–शान्तात्मा	(ज्ञानात्मा)–सत्त्वानुगतं ज्ञानम्––ज्ञानम्	––सैषा ज्ञानत्रयी	उभयज्योतिर्लक्षणः–प्राकृतात्मा गुणात्मा
	२–महानात्मा	(ज्ञानात्मा)–रजोऽनुगतं ज्ञानम्––विज्ञानम्	(ज्ञानज्योतिः)	
	३–विद्याबुद्धयात्मा	(ज्ञानात्मा)–तमोऽनुगतं ज्ञानम्––अज्ञानम्	(प्रकृत्यनुगतम्	
२	३–अविद्याबुद्धयात्मा	(कर्म्मात्मा)–सत्त्वानुगतं कर्म्म––कर्म्म		
	२–प्रज्ञानात्मा	(कर्म्मात्मा)–रजोऽनुगतं कर्म्म––विकर्म्म	––सैषा कर्म्मत्रयी	
	१–शरीरात्मा	(कर्म्मात्मा)–तमोऽनुगतं कर्म्म––अकर्म्म	(भूतज्योतिः) (प्रकृत्यनुगतम्)	

* यहाँ विद्या से त्रयीविद्या अभिप्रेत है, जो सूर्य्यमूला है, त्रिगुणभावात्मिका अविद्यात्मिका विद्या है, जिसके सम्बन्ध में–'त्रैगुण्यविषया वेदाः' कहा गया है। एवं जो वेदोक्त तमोमय काम्यकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है।

१	१–शान्तात्मानुगतं—–ज्ञानलक्षणं–'ज्ञानम्' २–अविद्याबुद्धयनुगतं–कर्म्मलक्षणं–'कर्म्म'	—ज्ञानकर्म्मात्मा—–प्राचीनाभिमतज्ञानयोगाधारः	
२	१–महानात्मानुगतं–विज्ञानलक्षणं—'ज्ञानम्' २–प्रज्ञानात्मानुगतं–विकर्म्मलक्षणं—'कर्म्म'	—विज्ञानविकर्म्मात्मा–प्रा० काम्यभक्तियोगाधारः	
३	१–विद्याबुद्धयनुगतं–अज्ञानलक्षणं—'ज्ञानम्' २–शरीरानुगतं—–अकर्म्मलक्षणं—'कर्म्म	—अज्ञानकर्म्मात्मा—प्रा० काम्यकर्म्मयोगाधारः	

२०–प्राकृतात्मत्रयी, एवं तदनुगता प्राचीनाभिमता योगत्रयी—

अज्ञानात्मक कर्म्मात्मा कर्म्मासक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ ही काम्य कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा बनता है। यहाँ ज्ञान अतिशय रूप से कामासक्ति के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानात्मक ज्ञान, अकर्म्मात्मक कर्म्म, इसप्रकार ज्ञान कर्म्म दोनों के रहते भी यह योग केवल 'कर्म्मयोग' ही कहलाया है। विज्ञानात्मक विकर्म्मात्मा कामासक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ ही काम्य भक्तियोग की प्रतिष्ठा बनता है। विज्ञानविकर्म्मात्मक उक्त ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वत्रयी के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ ज्ञानकर्म्मात्मा के ज्ञान भाग से, अज्ञानात्मक कर्म्मात्मा के कर्म्मभाग से, दोनों से युक्त बना हुआ है। भाग–अंश–बना हुआ है। अतएव उभयात्मक यह योग 'भक्तियोग' कहलाया है, जिसका अर्थ है ज्ञानरूप आधिदैविकतत्त्व, कर्म्मरूप आधिभौतिकतत्त्व, इन दोनों का समन्वित रूप। ज्ञानात्मक कर्म्मात्मा ज्ञानासक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ ही कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा बनता है। यहाँ कर्म्म अतिशयरूप से ज्ञानासक्ति के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव ज्ञानात्मक ज्ञान, कर्म्मात्मक कर्म्म, इन दोनों के रहते भी यह योग केवल 'ज्ञानयोग' ही कहलाया है। ज्ञान आधिदैविक तत्त्व माना गया है, कर्म्म आधिभौतिक तत्त्व माना गया है। ज्ञानात्मक कर्म्मात्मा ज्ञानप्राधान्य से आधिदैविक है, अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग में साध्य–साधन, दोनों आधिदैविक मानें गए हैं। विज्ञानात्मक विकर्म्मात्मा उभयसमन्वय से उभयात्मक है। अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत भक्तियोग में साध्य आधिदैविक माना गया है, साधन आधिभौतिक माना गया है। अज्ञानात्मक अकर्म्मात्मा कर्म्मप्राधान्य से आधिभौतिक है। अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग में साध्य, साधन, दोनों आधिभौतिक मानें गए हैं, जैसाकि कर्म्म–ज्ञान–भक्ति–योगपरीक्षाखण्डों में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

१	ज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् ज्ञानात्मकं कर्म्म—आधिदैविकम्—साधनम्	*	—ज्ञानकर्म्मात्मानुगतो ज्ञानयोगः—आधिदैविकः
२	विज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् विकर्म्मात्मकं कर्म्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	*	—विज्ञानविकर्म्मात्मको भक्तियोगः-दैविकभौतिकः
३	कर्म्मात्मकं ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—साध्यम् कर्म्मात्मकं कर्म्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	*	—अज्ञानाकर्म्मात्मकः कर्म्मयोगः—आधिभौतिकः

२१—निरूपिता योगत्रयी की प्रासङ्गिकी विषम समस्या—

समस्या का अभी पूरा पूरा स्पष्टीकरण इसलिए नहीं हुआ है कि, वृद्धव्यवहार के अनुसार 'अकर्म्म' का अर्थ निरर्थक कर्म्म माना गया है, विकर्म्म का अर्थ शास्त्रविरुद्ध कर्म्म माना गया है, तथा कर्म्म का अर्थ शास्त्रसिद्ध कर्म्म माना गया है। एवमेव अज्ञान का अर्थ मोह, विज्ञान का अर्थ विरुद्धज्ञान, एवं ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान माना गया है। उधर प्राचीनाभिमता योगत्रयी ज्ञान—कर्म्म—कामासक्तियुक्ता भले ही हो, परन्तु है वह शास्त्रसिद्धा। वेदशास्त्र के कर्म्मप्रधान ब्राह्मणभाग के आधार पर वेदोक्त काम्य कर्म्मयोग प्रतिष्ठित है। आरण्यक भाग के आधार पर काम्य भक्तियोग प्रतिष्ठित है। एवं उपनिषद्भाग के आधार पर ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है। और तीनों योग क्रमशः शास्त्रसिद्ध गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त, तीनों आश्रमों से अनुगत हैं। अकर्म्म तो उसे कहना चाहिए, जिसका कोई फल न हो। विकर्म्म तो उसे माना जाना चाहिए, जिसमें शास्त्रविधि की उपेक्षा हो। अज्ञान तो उसे कहना चाहिए, जहाँ बुद्धि कुण्ठित होजाती हो, विज्ञान तो उसे मानना चाहिए, जिसमें शास्त्रज्ञान की उपेक्षा हो। देखते हैं—वेदोक्त कर्म्म—भक्ति—ज्ञान, तीनों हीं योग शास्त्रसिद्ध ज्ञान—कर्म्मात्मक बनें हुए हैं। फिर योगत्रयी के सम्बन्ध में अज्ञान—अकर्म्मादि को किस आधार पर मूलप्रतिष्ठा मान लिया गया ?, यह एक समस्या उपस्थित होजाती है, जिसके निराकरण के लिए उक्त द्वन्द्वत्रयी के त्रिवृद्भाव का स्पष्टीकरण आवश्यक बन रहा है।

२२—आत्मानुगता ज्ञानकर्म्मत्रयी के सहजसिद्ध त्रिवृद्भाव—

मनस्तत्त्व ज्ञानमय है, प्राणतत्त्व क्रियामय है, वाक्तत्त्व अर्थमय है। मनोमय ज्ञान 'ज्ञान' है, प्राणमयी क्रिया 'कर्म्म' है, एवं वाङमय भूत 'अर्थ' है। सृष्टिप्रपञ्च में 'ज्ञान—कर्म्मा—र्थाः' पर ही सब कुछ विश्रान्त

है। सुप्रसिद्ध त्रिवृद्भाव के कारण सृष्टयनुगत-मनःप्राणवाङ्मय इस कर्म्माव्यय के पृथक् पृथक् तीन विवर्त्त हैं। यद्यपि तीनों विवर्त्तों का पूर्व खण्डों में अनेकधा विश्लेषण किया जा चुका है, तथापि यहाँ भी काण्डत्रयी के समन्वय के लिए उसका दिग्दर्शन आवश्यक बन जाता है। पहिले क्रमप्राप्त त्रिवृन्मय (मनःप्राणवाङ्मय) मन का ही विश्लेषण कीजिए। मनोमय मन **आनन्द** है, इसी के आधार पर **'अपने मनमें हीं मगन, मन के मन में हीं तुष्ट'** इत्यादि किवन्दन्तियाँ प्रचलित हैं। मनोमय प्राण **'विज्ञान'** है, इसी के आधार पर-**'मनोयोगपूर्वक-विचारबुद्धिपूर्वक काम करते हैं'** यह किंवदन्ती प्रचलित है। मनोमयी वाक् **'मन'** है, एवं इसी के आधार पर-**'उनका काम ज्ञानपूर्वक हुआ है, अतएव उनका सिद्धकर्म्म (वाङ्मय अर्थ) उनके ज्ञान की प्रतिकृति है'** यह किंवदन्ती प्रचलित है। इसप्रकार एक ही अव्ययमन त्रिवृद्भाव से आनन्द-विज्ञान-मनोभावों में परिणित हो रहा है, यही पहिला मनस्तन्त्र है, यही अमृतात्मा, किंवा ज्ञानात्मा है, यही अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्योति है। प्राणमय मन **'मन'** है, प्राणमय प्राण **'प्राण'** है, प्राणमयी वाक् **'वाक्'** है। इसप्रकार एक ही अव्ययप्राण त्रिवृद्भाव से मनःप्राण-वाग्भावों में परिणत हो रहा है, यही दूसरा प्राणतन्त्र है, यही ब्रह्मात्मा, किंवा कर्म्मात्मा है, यही आत्मज्योति, तथा विश्वज्योति का परस्पर सन्धाता है। वाङ्मय मन **'वाक्'** है, वाङ्मय प्राण **'आपः'** है, वाङ्मयी वाक् **'अग्नि'** है। इसप्रकार एक ही अव्ययवाक् त्रिवृद्भाव से वाक्-आपः-अग्नि-भावों में परिणत हो रही है। यही तीसरा वाक्तन्त्र है, यही शुक्रात्मा, किंवा अर्थात्मा है, यही बहिर्ज्योतिर्लक्षण विश्वज्योति है। इसप्रकार **'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'** के अनुसार तल्लक्षण मनः-प्राण-वाङ्मय वही अव्ययात्मा त्रिवृद्भाव से अमृतात्मलक्षण ज्ञानात्मा, ब्रह्मात्मलक्षण कर्म्मात्मा, शुक्रात्मलक्षण अर्थात्मा, इन तीन विवर्त्त-भावों में परिणित होरहा है। आनन्दविज्ञानमनोमय मनोविवर्त्त अव्ययानुगत बनता हुआ अव्ययात्मा है, मनःप्राणवाङ्मय प्राणविवर्त्त अक्षरानुगत बनता हुआ अक्षरात्मा है, एवं वाक्-आपः-अग्निमय वाग्विवर्त्त क्षरानुगत बनता हुआ क्षरात्मा है। वही अव्ययात्मा मनस्त्वेन विश्वाधार बनता हुआ अव्ययात्मा है, वही अव्ययात्मा प्राणत्वेन विश्वकर्त्ता बनता हुआ अक्षरात्मा है, एवं वही अव्ययात्मा वाक्त्वेन विश्व बनता हुआ क्षरात्मा है। वाङ्मय शुक्रात्मा विश्व है, प्राणमय ब्रह्मात्मा विश्वकर्त्ता है, एवं मनोमय अमृतात्मा विश्वाधार है। ये तीनों विवर्त्त अवारपारीण-जिस एक के तीन विवर्त्त हैं, वही चौथा सर्वाधार है, जिसे पूर्व में हमनें सर्वाव्यय कहा है, एवं जिसे सर्वात्मक वैराग्यबुद्धियोग की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान, कर्म्म,-विज्ञान-विकर्म्म, अज्ञान-अकर्म्म, उक्त तीनों द्वन्द्वों की मूलप्रतिष्ठा व्यष्टयात्मक तीनों विवर्त्त हीं बनते हैं। ज्ञानकर्म्म सत्त्वविवर्त्त है, विज्ञानविकर्म्म रजोविवर्त्त है, अज्ञान-अकर्म्म तमोविवर्त्त है। मनःप्राण वाग्भाव के त्रिवृद्भाव की भाँति यह गुणत्रयी भी त्रिवृद्भाव में हीं परिणत रहती है। सत्त्वगुणात्मक सत्त्व मनोमय आनन्द से, सत्त्वगुणात्मक रज मनोमय विज्ञान से, सत्त्वगुणानुगत तम मनोमयी वाक् से अनुगृहीत है, यही पहिला सत्त्वतन्त्र है। रजोगुणात्मक सत्त्व प्राणमय मन से, रजोगुणात्मक रजःप्राणमय प्राण से, रजोगुणात्मक तम प्राणमयी वाक् से अनुगृहीत है। तमोगुणात्मक सत्त्व वाङ्मयी वाक् से, तमोगुणात्मक रज वाङ्मय आपः से, तमोगुणात्मक तम वाङ्मय अग्नि से अनुगृहीत है।

२३-अमृत ब्रह्म-शुक्र-समष्टिरूप चतुष्पाद अव्ययब्रह्म के मात्रा, और अमात्रा-भाव—

तमोगुणत्रयी शुक्रात्मा की प्रतिष्ठा है, रजोगुणत्रयी ब्रह्मात्मा की प्रतिष्ठा है, एवं सत्त्वगुणत्रयी अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है। सत्त्वगुणानुगत अमृतात्मा ज्ञानकर्म्मात्मा है, रजोगुणानुगत ब्रह्मात्मा विज्ञानविकर्म्मात्मा है, एवं

तमोगुणानुगत शुक्रात्मा अज्ञानाकर्म्मात्मा है। त्रिगुणात्मक इन तीनों आत्मविवर्त्तों में सत्त्वगुणानुगत अमृतात्म-विवर्त्त गुणत्रय की प्रतिच्छाया से युक्त रहता हुआ भी अपने स्वानुगत-अव्ययानुगत-विशुद्धसत्त्वानुगत-स्वरूप से गुणातीत माना गया है। विशुद्ध सत्त्वात्मक समष्टिलक्षण सर्वाव्यय, और सत्त्वानुगत अमृताव्यय, दोनों अभिन्न हैं। अतएव सर्वाव्ययवत् इस असर्वाव्ययलक्षण-सत्त्वात्मक अमृतात्मविवर्त्त को भी गुणातीत ही माना जायगा। गुणत्रयी का वास्तविक विकास होता है दूसरे ब्रह्मात्मविवर्त्त में। तीसरा शुक्रात्मविवर्त्त गुणत्रयी का आत्यन्तिक विकसितरूप है, अतएव शुक्रात्मक विश्व से अनुगत गुणभाव गुण न कहला कर 'आवरण' नाम से व्यवहृत हुआ है। शुक्रात्मानुगता गुणत्रयी 'आवरण' है, ब्रह्मात्मानुगता गुणत्रयी 'गुण' है, अमृतात्मानुगत गुणभाव 'कला' है, एवं सर्वाव्ययानुगत निर्गुणात्मक गुणभाव (विशुद्धसत्त्वभाव) 'माया' है। मायानुगत सर्वाव्यय, कलानुगत अमृतात्मा, गुणानुगत ब्रह्मात्मा, एवं आवरणानुगत शुक्रात्मा, यही चतुष्पादब्रह्म है, जिसके तीन पाद मात्रात्मक (व्यष्ट्यात्मक) हैं, चौथा पाद अमात्रिक है। इसी आधार पर-**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** अनुगम प्रतिष्ठित हुआ है। इन आत्मविवर्त्तों को लक्ष्य बनाते हुए ही हमें ज्ञान-कर्म्मद्वन्द्वों का समन्वय करना है। अतः समन्वय से पहिले परिलेखद्वारा उक्त विवर्त्तचतुष्टयी को लक्ष्य बना लेना चाहिए।

(१)-१-आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घनः-सर्वाव्ययः---**'माया'**--युक्तः-निर्गुणात्मा (विश्वातीतः)

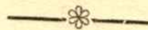
२-आनन्दविज्ञानमनोमयः------असर्वाव्ययः-**'कला'**--युक्तः-विशुद्धसत्त्वात्मा (विश्वाधारः)

३-मनःप्राणवाङ्मयः--------असर्वाव्ययः-**'गुण'**--युक्तः-गुणात्मा (विश्वकर्त्ता)

४-वागापोऽग्निमयः---------असर्वाव्ययः-**'आवरण'**-युक्तः-आवरणात्मा (विश्वम्)



(२)-१-निर्गुणात्मा--तदात्मा---तदेव------सर्वज्योतिः] -आत्मज्योतिः
२-सत्त्वात्मा------अमृतात्मा--अमृतम् } अन्तर्ज्योतिः]
३-गुणात्मा-----ब्रह्मात्मा--तदेव ब्रह्म } बहिर्ज्योतिः] -विश्वज्योतिः
४-आवरणात्मा--शुक्रात्मा-तदेव शुक्रम्
] -प्रजापतिः (आत्मन्वी)



(३)-१-तदात्मा—-अव्ययः—-परात्परः पुरुषः--अमात्रिकः -अखण्डस्फोटः
२-अमृतात्मा--अव्ययात्मा ———— -—-अकारात्मकः -खण्डस्फोटः
३-ब्रह्मात्मा—-अक्षरात्मा ———— -—-उकारात्मकः -स्वरः
४-शुक्रात्मा—-क्षरात्मा ———————-मकारात्मकः -वर्णभावः

—तस्योपनिषत् 'ओम्' इति



(४)-

१	१-मनोमयं मनः -आनन्दः (ज्ञानम्) -ज्ञानात्मकं ज्ञानम् २-मनोमयः प्राणः -विज्ञानम् (क्रिया) -ज्ञानात्मिका क्रिया ३-मनोमयी वाक् -मनः (अर्थः) -ज्ञानात्मकोऽर्थः	-आनन्दविज्ञानमनोमयं 'मनः'-ज्ञानम् —'मनस्तन्त्रम्'—
२	१-प्राणमयं मनः -मनः (ज्ञानम्) -क्रियात्मकं ज्ञानम् २-प्राणमयः प्राणः -प्राणः (क्रिया) -क्रियात्मिका क्रिया ३-प्राणमयी वाक् -वाक् (अर्थः) -क्रियात्मकोऽर्थः	-मनःप्राणवाङ्मयः 'प्राणः'-क्रिया —'प्राणतन्त्रम्'—
३	१-वाङ्मयं मनः -वाक् (ज्ञानम्) -अर्थात्मकं ज्ञानम् २-वाङ्मयः प्राणः-आपः (क्रिया) -अर्थात्मिका क्रिया ३-वाङ्मयी वाक् -अग्निः (अर्थः) -अर्थात्मकोऽर्थः	-वागापोऽग्निमयी 'वाक्'-अर्थः —'वाक्तन्त्रम्'—

(५)-१-ममस्तन्त्रम् -ज्ञानात्मा -'अमृतम्'-ज्ञानकर्म्मात्मा
२-प्राणतन्त्रम् -कर्म्मात्मा -'ब्रह्म' -विज्ञानविकर्म्मात्मा
३-वाक्तन्त्रम् -अर्थात्मा -'शुक्रम्' -अज्ञानाकर्म्मात्मा

—❀—

(६)-प्रकारान्तरेण—

१-आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घनः-सर्वाव्ययः-परात्परः (माया) -सर्वाधारो निराधारः
२-आनन्दविज्ञानमयोऽसर्वाव्ययः———पुरुषः (कला) -विश्वाधारो निर्गुणः
३-मनोमयोऽसर्वाव्ययः———प्रकृतिः (गुणः) -विश्वकर्त्री सगुणा
४-प्राणवाङ्मयोऽसर्वाव्ययः———विकृतिः (आवरणम्) -विश्वप्रभवा सावरणा

—❀—

(७)-गुणानुगतविवर्त्तभावाः—

(सर्वसंग्रहः)—

———*
१-आनन्दविज्ञानघन-मनोमय-प्राणगर्भिता-वाक्-सत्त्वात्मा-सर्वाव्ययः]—सर्वात्मा (१)-सर्वतन्त्रम्
———*

आनन्दमयं मनः (मनः) -सत्त्वानुगतं सत्त्वम् (सत्त्वम्) -पराव्ययः
२-विज्ञानमयं मनः (प्राणः) -सत्त्वानुगतं रजः (सत्त्वम्) -परावराव्ययः] -अव्ययात्मा (२)-सत्त्वतन्त्रम्
मनोमयं मनः (वाक्) -सत्त्वानुगतं तमः (सत्त्वम्) -अवराव्ययः
———*

मनोमयः प्राणः (मनः)—रजोऽनुगतं सत्त्वम् (रजः)—शान्तात्मा
३ प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—रजोऽनुगतं रजः (रजः)—महानात्मा] -अक्षरात्मा (३) रजस्तन्त्रम्
वाङ्मयः प्राणः (वाक्)—रजोऽनुगतं तमः (रजः)—विज्ञानात्मा
———*

वाङ्मयी वाक् (मनः)—तमोऽनुगतं सत्त्वम् (तमः)—विज्ञानात्मा
४ आपोमयी वाक् (प्राणः)—तमोऽनुगतं रजः (तमः)—प्रज्ञानात्मा] -क्षरात्मा (४) तमस्तन्त्रम्
अग्निमयी वाक् (वाक्)—तमोऽनुगतं तमः (तमः)—शरीरात्मा
———*

—❀—

————————— *

१—सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः———सर्वाव्ययः———वैराग्यबुद्धियोगस्य-आधारभूमिः	—गीतासम्मता-योगचतुष्टयी
२—सत्त्वतन्त्रानुगतः———पराव्ययः———ज्ञानबुद्धियोगस्याधारभूमिः	(निर्गुणा-योगचतुष्टयी)
३—सत्त्वतन्त्रानुगतः———परावराव्ययः——ऐश्वर्य्यबुद्धियोगस्याधारभूमिः	
४—सत्त्वतन्त्रानुगतः———अवराव्ययः———धर्म्मबुद्धियोगस्याधारभूमिः	

————————— *

१—रजस्तन्त्रानुगतः———शान्तात्मा———कर्म्मत्यागलक्षणज्ञानयोगस्याधारभूमिः	—प्राचीनाभिमता योगत्रयी
२—रजस्तन्त्रानुगतः———महानात्मा———कामनामयभक्तियोगस्याधारभूमिः	(सगुणा-योगत्रयी)
३—रजस्तन्त्रानुगतः———विज्ञानात्मा———काम्यकर्म्मयोगस्याधारभूमिः	

————————— *

१—तमस्तन्त्रानुगतः———विज्ञानात्मा———लौकिकज्ञानस्याधारभूमिः	—लोकाभिमता योगत्रयी
२—तमस्तन्त्रानुगतः———प्रज्ञानात्मा———लौकिकसेवाभावस्याधारभूमिः	(सावरणा-योगत्रयी)
३—तमस्तन्त्रानुगतः———शरीरात्मा———लौकिककर्म्मणामाधारभूमिः	

————————— *

२४-गुणानुगता ज्ञानकर्म्मत्रयी के त्रिवृद्रूप (६)—

ज्ञान, विज्ञान, अज्ञान,तीनों शब्द उक्त त्रिवृद्भाव के आधार पर तीन तीन अर्थों से सम्बन्ध रखते हैं। पहिले ज्ञानार्थत्रयी का ही समन्वय कीजिए। ज्ञान के अर्थ होते हैं-तत्त्वज्ञान, शास्त्रज्ञान, व्यवहारज्ञान। आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान है, आत्मज्ञानोपयिक शब्दज्ञान शास्त्रज्ञान है, लोकव्यवहारसञ्चालक लौकिक ज्ञान व्यवहार-ज्ञान है। यही स्थिति विज्ञानात्मक ज्ञान की है। 'वि' उपसर्ग के विशेष, विविध, विरुद्ध, तीन अर्थ हुए हैं। फलतः विशेषज्ञान भी विज्ञान है, विविधज्ञान भी विज्ञान है, विरुद्धज्ञान भी विज्ञान है। विशेषज्ञानात्मक विज्ञान तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। विविधज्ञानात्मक विज्ञान शास्त्रज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। एवं विरुद्धज्ञानात्मक विज्ञान व्यवहारज्ञानात्मक ज्ञानका अनुगामी है। यही स्थिति अज्ञानात्मक ज्ञान की समझिए। 'अज्ञान' शब्द सम्बन्धी 'नञ्' अभावार्थक नहीं है, अपितु यहाँ का 'नञ्' अशेष, अनुभव, अल्प, भावों का ही समर्थक बना हुआ है। अशेषज्ञान भी अज्ञान है, अनुभवात्मक ज्ञान भी अज्ञान है, अल्पज्ञान भी अज्ञान है। अशेषज्ञानात्मक अज्ञान तत्त्वज्ञान से, अनुभवात्मक (सांस्कारिक) अज्ञान शास्त्रज्ञान से, एवं अल्पज्ञानात्मक अज्ञान व्यवहारज्ञान से समतुलित है। यही ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान-त्रयी के त्रिवृद्भाव का संक्षिप्त निदर्शन है।

इसीप्रकार कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म, तीनों शब्द भी त्रिवृद्भाव के आधार पर तीन तीन अर्थों में विभक्त हो रहे हैं। तात्त्विक कर्म्म, शास्त्रीय कर्म्म, व्यावहारिक कर्म्म, तीनों 'कर्म्म' कर्म्म शब्द से संगृहीत हैं। आत्मज्ञानात्मक तत्त्व ज्ञान से सहजकर्म्म (यज्ञार्थकर्म्म) लक्षण आत्मनिबन्धन तात्त्विक कर्म्म अनुगृहीत हैं। आत्मज्ञानोपयिक शब्दज्ञानात्मक शास्त्रज्ञान से शास्त्रीय कर्म्म अनुगृहीत हैं। एवं लोकव्यवहारसञ्चालक व्यवहारज्ञान से व्यावहारिक कर्म्म अनुगृहीत हैं। यही पहिली कर्म्मत्रयी है। विशेषकर्म्म, विविधकर्म्म, विरुद्ध-कर्म्म, तीनों 'विकर्म्म' शब्द से संगृहीत हैं। विशेष कर्म्म विशेष ज्ञानाधार पर, विविध कर्म्म विविध ज्ञानाधार पर, एवं विरुद्ध कर्म्म विरुद्ध ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित हैं। यही दूसरी विकर्म्मत्रयी है। अशेष कर्म्म, श्रमात्मक सांस्कारिक अनुभवलक्षण कर्म्म, अल्पकर्म्मात्मक (निरर्थककर्म्मात्मक) कर्म्म, तीनों अकर्म्म अकर्म्म शब्द से संगृहीत हैं। यही तीसरी अकर्म्मत्रयी है, जिसे अशेष कर्म्मात्मक अकर्म्म तत्त्वज्ञान से, अनुभवकर्म्मात्मक अकर्म्म शास्त्रज्ञान से, तथा अल्पकर्म्मात्मक अकर्म्म व्यवहारज्ञान से अनुगृहीत माना गया है।।

निष्कर्षतः त्रिवृद्भाव से ज्ञानत्रयी, कर्म्मत्रयी, दोनों के ९-९ विवर्त्त हो जाते हैं। पूर्वप्रदर्शित गुणानुगत ९ विवर्त्तभावों के साथ क्रमशः इन ९ ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वों का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध-स्वरूप ज्ञान से ही उस विप्रतिपत्ति का भलीभाँति निराकरण होजाता है, जिसका पूर्व में उल्लेख हुआ है। वृद्धव्यवहार लोकव्यवहार है, लोकव्यवहार लौकिक ज्ञान-कर्म्ममूलक है। एवं लौकिक ज्ञानत्रयी, कर्म्मत्रयी का अर्थ होता है व्यवहारज्ञान, विरुद्धज्ञान, अल्पार्थकज्ञान, एवं व्यवहारकर्म्म, विरुद्धकर्म्म, निरर्थक-कर्म्म। उधर प्राचीनाभिमता योगत्रयी की ज्ञान-कर्म्मत्रयी के ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, तथा कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म, शब्दों का दूसरा अर्थ है। एवमेव गीताभिमता संशोधिता योगत्रयी की ज्ञान-कर्म्मत्रयी का दूसरा ही अर्थ है। अर्थभेद से तीनों योगत्रयों के लिए प्रयुक्त तीनों ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वत्रय अपनी त्रिवृद्भावानुगता विभिन्न अर्थमर्य्यादा से सर्वथा निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है

———————*

१-तत्त्वज्ञानम्——(१)-तात्त्विककर्म्म	ज्ञानत्रयी-कर्म्मत्रयी
२-शास्त्रज्ञानम्——(२)-शास्त्रीयकर्म्म	
३-व्यवहारज्ञानम्——(३)-व्यावहारिककर्म्म	

———————*

१-विशेषज्ञानम्——(४)-विशेषकर्म्म	—विज्ञानत्रयी-विकर्म्मत्रयी
२-विविधज्ञानम्——(५)-विविधकर्म्म	
३-विरुद्धज्ञानम्——(६)-विरुद्धकर्म्म	

———————*

१–अशेषज्ञानम्—(७)–अशेषकर्म्म
२–अनुभवज्ञानम्–(८)–अनुभवकर्म्म —अज्ञानत्रयी–कर्म्मत्रयी
३–अल्पज्ञानम्—(९)–अल्पकर्म्म

*

गीतासम्मता–संशोधिता–योगत्रयी

१–तत्त्वज्ञानम्——ज्ञानम्
२–तात्त्विककर्म्म——कर्म्म
—ज्ञानकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–पराव्ययः)—ज्ञानबुद्धियोगाधारः

१–विशेषज्ञानम्——विज्ञानम्
२–विशेषकर्म्म——विकर्म्म
—विज्ञानविकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–परावराव्ययः)—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः

१–अशेषज्ञानम्——अज्ञानम्
२–अशेषकर्म्म——अकर्म्म
—अज्ञानाकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–अवराव्ययः)—धर्म्मबुद्धियोगाधारः

*

प्राचीनाभिमता–योगत्रयी

१–शास्त्रज्ञानम्——ज्ञानम्
२–शास्त्रीयकर्म्म——कर्म्म
—ज्ञानकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–शान्तात्मा)—ज्ञानयोगाधारः

१–विविधज्ञानम्——विज्ञानम्
२–विविधकर्म्म——विकर्म्म
—विज्ञानविकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–महानात्मा)—भक्तियोगाधारः

१–अनुभवज्ञानम्——अज्ञानम्
२–अनुभवकर्म्म——अकर्म्म
—अज्ञानाकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–विज्ञानात्मा)—कर्म्मयोगधारः

*

लोकानुगता—योगत्रयी

❀

- १–व्यवहारज्ञानम्——ज्ञानम्
- २–व्यावहारिककर्म्म—कर्म्म

—ज्ञानकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः— विज्ञानात्मा)—ज्ञानयोगाधारः

❀

- १–विरुद्धज्ञानम्—विज्ञानम्
- २–विरुद्धकर्म्म—विकर्म्म

—विज्ञानविकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः–प्रज्ञानात्मा)—सेवायोगाधारः

❀

- १–अल्पज्ञानम्—अज्ञानम्
- २–अल्पकर्म्म—अकर्म्म

—अज्ञानकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः —शरीरात्मा)—कर्म्माधारः

❀

सर्वसंग्रहः—

*

१ — गीताभिमता योगचतुष्टयी — अव्ययात्मानुगता

*–सर्वाव्ययः—	विद्यात्मा (ज्ञानात्मा) कर्म्मात्मा (कर्म्मात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मैव—वैराग्यबुद्धियोगाधारः(१)
१–पराव्ययः—	तत्त्वज्ञानम् (ज्ञानात्मा) तात्त्विककर्म्म (ज्ञानात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मा——ज्ञानबुद्धियोगाधारः (२)
२–परावराव्ययः	विशेषज्ञानम् (विज्ञानात्मा) विशेषकर्म्म (विकर्म्मात्मा)	विज्ञानविकर्म्मात्मा-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः (३)
३–अवराव्ययः	अशेषज्ञानम् (अज्ञानात्मा) अशेषकर्म्म (अकर्म्मात्मा)	अज्ञानाकर्म्मात्मा–धर्म्मबुद्धियोगाधारः (४)

*

२ — प्राचीनाभिमता योगत्रयी — अक्षरात्मानुगता

१–शान्तात्मा	शास्त्रज्ञानम् (ज्ञानात्मा) शास्त्रीयकर्म्म (कर्म्मात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मा——ज्ञानयोगाधारः (१)
२–महानात्मा	विविधज्ञानम् (विज्ञानात्मा) विविधकर्म्म (विकर्म्मात्मा)	विज्ञानविकर्म्मात्मा-काम्यभक्तियोगाधारः (२)
३–विज्ञानात्मा	अनुभवज्ञानम (अज्ञानात्मा) अनुभवकर्म्म (अकर्म्मात्मा)	अज्ञानाकर्म्मात्मा-काम्यकर्म्मयोगाधारः (३)

३

१–विज्ञानात्मा	व्यवहारज्ञानम् (ज्ञानात्मा) व्याव०कर्म्म (कर्म्मात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मा––ज्ञानमार्गाधारः (१)	लोकानुगता योगत्रयी — क्षरात्मानुगता
२–प्रज्ञानात्मा	विरुद्धज्ञानम्(विज्ञानात्मा) विरुद्धकर्म्म (विकर्म्मात्मा)	विज्ञानविकर्म्मात्मा-सेवाधर्म्माधारः (२)	
३–शरीरात्मा	अल्पज्ञानम् (अज्ञानात्मा) अल्पकर्म्म (अकर्म्मात्मा)	अज्ञानाकर्म्मात्मा–निरर्थककर्म्माधारः (३)	



२५–त्रैगुण्य का संघर्ष, एवं तज्जनित मोह—

सत्त्वगुणानुगत सत्कर्म्म, सत्-ज्ञान, रजोगुणानुगत विरुद्धकर्म्म, एवं विरुद्धज्ञान, तमोगुणानुगत अकर्म्म, अज्ञान, इन तीनों आध्यात्मिक ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वों में परस्पर संघर्ष होता रहता है। अपने दैनिक जीवन में इस संघर्ष का हम प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते रहते हैं। कभी हमारी बुद्धि में थोड़ी देर के लिए सात्त्विक विचारों का स्रोत प्रवाहित होता रहता है, तदनुगत शुभ कर्म्मों की ओर हम प्रवृत्त होजाते हैं। कभी मलिन विचार, तदनुगत असत्कर्म्मों की ओर प्रवृत्त होते रहते हैं। तो कभी बुद्धि सर्वथा कुण्ठित होजाती है, फलस्वरूप हम उस दशा में किंकर्त्तव्यविमूढ बने रह जाते हैं। अक्षर–क्षरात्मानुगत इन ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वों में इसप्रकार अहो–रात्र संघर्ष चलता रहता है। विज्ञानसिद्धान्तानुसार संघर्ष एक प्रकार का वह 'क्षोभ' तत्त्व है, जिससे स्वाभाविक आत्मशान्ति उसीप्रकार अशान्तिभाव में परिणत होजाती है, जैसे कि जलपूर्णपात्र में प्रतिबिम्बित स्थिर–शान्त सूर्य्य पात्राघातजनित, प्रतिबिम्बाधारभूत जल के अशान्त होने से अस्थिर–अशान्त हो पड़ता है। इस अशान्ति के अन्तिम परिणाम का नाम हीं **'मोह'** माना गया है।

२६–कामप्रतिबन्धजनित क्षोभ की मोहात्मकता—

कल्पना कीजिए, आप किसी सम्पत्ति की कामना करते हैं। आप की इच्छा का विषय बनी हुई सम्पत्ति किसी अन्य व्यक्ति की इच्छा का भी विषय बन रही है। इस प्रकार एक ही सम्पत्ति पर दो इच्छाएँ एक समय में समन्वित होरही हैं। आप चाहते हैं, वह आपको मिल जाय, वह चाहता है, वह मुझे मिल जाय। समानविषयानुगत इन दो विरुद्ध कामनाओं का परस्पर संघर्ष होजाना स्वाभाविक बन जाता है। सङ्ग से उत्पन्न काम यों द्विनिष्ठ बन कर कालान्तर में क्रोध का जनक बन जाता है, जैसा कि वैराग्यबुद्धियोग-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अग्नितत्त्व का ही नाम 'क्रोध' है, और वह सदा कामसंघर्ष

से ही उत्पन्न होता है। अपने विचारों के अन्य कामना के प्रतिबन्ध से सफल न होने पर ही संघर्ष का जन्म होता है। शारीर शिरोऽग्नि का संघर्ष ही शारीराग्नि के शिव-शान्त-आप्य भाव को सुखा कर उसे रुद्र-अशान्त-आग्नेय भाव में परिणत कर देता है। कामप्रत्याघातजनित इस संघर्ष से उत्पन्न प्रवृद्ध शारीराग्निताप ही क्रोध है, अतएव क्रोध को 'क्रोधाग्नि' नाम से व्यवहृत किया गया है। कामप्रत्याघातजनित संघर्ष से उत्पन्न क्रोध ही अशान्तिमूलक क्षोभ है। इस क्रोधात्मक क्षोभ से-'हम अमुक सम्पत्ति की कामना करते हैं' इस मानस-काममय संस्कार का अभिभव होजाता है। हमें यह भान होने लग जाता है कि, अमुक व्यक्ति के काम ने हीं हमारी इच्छा का अपरोध किया है। इस संस्काराघात से हमारा मन आकुल हो पड़ता है, मन हीं मन हम झुँझला पड़ते हैं। इस झुँझलाहट का, मानस क्षोभ का प्रभाव पड़ता है उस बुद्धि पर, जो प्रतिबिम्बरूप से 'मन' पर प्रतिष्ठित रहती है। फलस्वरूप इस कामप्रत्याघातजनित मानस क्षोभ से तत्-प्रतिष्ठिता बुद्धि भी क्षुब्ध पड़ती है। बुद्धि का क्षोभ बुद्धि के स्वाभाविक उस विकास का अपहरण कर लेता है, जो विकास 'स्थितप्रज्ञता' लक्षण व्यवसाय कहलाया है। **'तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि'** से इसी अपहरण का स्पष्टीकरण हुआ है। शान्त समुद्र में एक नौका बही चली जारही है। नौका में यात्री बैठा है। वायु का झोंका आता है, समुद्र में ज्वार आजाता है, पानी, नाव, यात्री, सब कुछ अस्थिर हो पड़ते हैं। कामसमष्टि कामसमुद्र है*, इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानमन, शरीर, प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानबुद्धि नौका है, भोक्ता जीवात्मा यात्री है। काम का प्रतिबन्ध वायु है। इसके प्रत्याघात से पहिले समुद्र (जल) स्थानीया कामना क्षुब्ध होती है, कामक्षोभ से मन क्षुब्ध होता है, मानस क्षोभ से बुद्धि क्षुब्ध होजाती है, बुद्धिक्षोभ से यात्री जीवात्मा की स्वाभाविक शान्ति उत्क्रान्त हो जाती है। क्षोभ के चरम सीमा पर पहुँचते ही जैसे नौकास्थ यात्री हक्का बक्का बना रह जाता है, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है, एवमेव क्षोभात्मक क्रोध के चरमसीमा पर पहुँचते ही बुद्धि का स्वाभाविक 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' लक्षण निश्चयात्मक व्यवसायधर्म्म कुण्ठित हो जाता है, कुछ सुझाई नहीं देता, अन्धवत् परिस्थिति होजाती है। यह क्रोधान्धता ही, चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कुण्ठित भाव ही विज्ञानभाषा में 'मोह', किंवा 'संमोह' कहलाया है। तात्पर्य्य यही निकला कि, ज्ञान-कर्म्मद्वन्द्वों के पारस्परिक संघर्ष से उपमर्द्दित, कामप्रत्याघातजनित क्षोभ की चरमसीमा से उत्पन्न जो एक जड़तात्मक संस्कारविशेष है, वही 'मोह' कहलाया है, जो दार्शनिकसमय में **'मुग्धावस्था'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२७—सङ्ग–काम–क्रोध–संमोह–स्मृतिविभ्रम–बुद्धिनाश की मोहमूला परम्पराएँ—

'मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः, परिशेषात्' (शा० सू० ३।२।१०) के अनुसार मुग्धावस्था में जाग्रत, सुषुप्ति, दोनों सम्पत्तियों का उपभोग होता है। आधा जगना, आधा सोना, इसी का नाम मुग्धावस्था है। जाग्रत दशा में चक्षु-मुख-हस्त-पादादि की जो चेष्टाएँ रहतीं हैं, वे भी यहाँ विद्यमान हैं। साथ ही सुप्तावस्था में जो विवेकादि धर्म्म अस्त हो जाते हैं, वे भी यहाँ उपलब्ध हैं। आँख खुली है, देख रहे हैं, यही

---

*"कामं समुद्रमाविशेत्याह। समुद्र इव हि कामः।
नेव हि कामस्यान्तोऽस्ति। न समुद्रस्य"।
—तै० ब्रा० २। २। ५। ६।

जाग्रत-धर्म्म है। परन्तु सामने से कौन निकल गया, इसका बोध नहीं, यही सुप्त-धर्म्म है। बोलते हैं, सुनते हैं, चलते हैं, परन्तु कुछ का कुछ बोल पड़ते हैं, कुछ का कुछ सुन पड़ते हैं, कहीं के कहीं पैर पड़ने लगते हैं। इसप्रकार वस्तुतः मुग्धावस्था में जाग्रत-सुसुप्ति, दोनों अवस्थाओं के धर्म्म समाविष्ट रहते हैं। आध्यात्मिकी ज्ञान-कर्म्म-चेष्टाओं को अव्यवस्थित दशा में परिणत कर देने वाला क्रोधजनित जड़धर्म्म ही मोह है, यही चित्त (मनोयुक्ताबुद्धि, किंवा बुद्धियुक्त मन) का वैचित्य है, वैचित्य ही मोह है। जिस प्रकार मेघावरण से रहता हुआ भी प्रकाशविकास अवरुद्ध हो जाता है, एवमेव मोहावरण से रहता हुआ भी स्मृतिलक्षण ज्ञानज्योतिर्विकास अवरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप मोहानुग्रह से बौद्ध-स्मृति का अवरोध हो जाता है, और यों मोह स्मृतिभ्रंश का जनक बन जाता है। स्मृतिभ्रंश कर्म्मनिर्णयात्मिका बुद्धि के सारासारविवेक का उच्छेदक बनता हुआ बुद्धिस्वरूप का ही उच्छेदक बन जाता है। विवेकाभाव ही बुद्धिनाश है। विवेकाभाव में कर्म्मविवेक जाता रहता है, और यों काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-परम्परा से जीवात्मा किसी दिन सर्वज्ञानविमूढ बनता हुआ नष्ट हो जाता है, जिस विनाश के इस पारम्परिक इतिहास का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ॥
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२॥

—गीता० २।६२,६३,।

२८-कलिला बुद्धि का स्वरूपसमन्वय, एवं मोहपाशनिवृत्त्युपायप्रदर्शन—

जिसप्रकार शैवालों से स्वच्छ भी जल की स्वच्छता मलिनता के रूप में परिणत हो जाती है, एवमेव इस मोहावरण से स्वच्छ भी अन्तर्ज्योति की स्वच्छता मलिनता के रूप में परिणत हो जाती है। मोहानुगता यह मलिनता ही विज्ञानभाषा में 'कलिल' कहलाई है। कलिल शब्द के-'कल्-इल्' ये दो विभाग हैं। कल शब्द विभाग-संख्या का सूचक है ('कल' संख्याने), इसीसे 'कला' शब्द निष्पन्न हुआ है। एवमेव 'कलित-इरा' से कलिलशब्द सम्पन्न हुआ है। प्रज्ञान मन ही कामना के द्वारा सर्वप्रथम मोह का संग्राहक बनता हुआ संमोहरूप में परिणत होता है। स्वयं अनेकरूप से प्रज्ञानमन कलानुगत (विभिन्नसंख्यानुगत) विभिन्न विषयों का अनुगामी बनता हुआ नानाभावात्मक कलाभाव में आसक्त रहता है। मोहसंस्कार स्वयं नानात्व से कलात्मक है। इनके समावेश में प्रज्ञानमन का सोमरसात्मक इरारस कलाभाव में परिणत होता हुआ सलिलवत् 'कलिल' बन जाता है। पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्रादि कलाभावों के सम्बन्ध से ही विश्व 'कलिल' कहलाया है, जैसाकि-'**अनाद्यनन्तं कलिजस्य मध्ये, सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये**' (श्वे० उप० ५।१८।,४।१४) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। बुद्धि अपने स्वरूप से व्यवसायात्मिका बनती हुई एकत्वानुगता है। अतएव कलाभाव से असंस्पृष्टा है। '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !**' के अनुसार व्यवसायबुद्धि एकाकिनी रहती हुई कलामर्य्यादा से बहिर्भूत है। कलिल मन (विषयसंस्काररूप कलाभावात्मक-मोहयुक्त मन) से युक्ता बुद्धि मनोगत कलाभाव से युक्त होकर अव्ययसायरूप में परिणित होती हुई 'कलिला'

बन जाती है, जैसाकि-'बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। 'यह करूँ कि वह, यहाँ रहूँ कि वहाँ'-इसप्रकार की नानासंख्यानुगता-अनिश्चयात्मिका विचारधारा ही कलिला-बुद्धि का आधार बनती है। इसी के अनुग्रह से श्रुत एवं श्रोतव्य से अन्तर्जगत् से क्षण क्षण में उद्वेग-अशान्तिमय-दुःख परम्पराओं का स्रोत प्रवाहित रहता है।

किसी ने निन्दा कर दी, व्याकुल हो पड़े। किसी ने सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, खिन्न होगए। अमुक ने हमारे साथ यह किया था, अमुक यह कर बैठेगा, अमुकने अमुक समय ऐसा कह दिया था, अमुक के वैसा कहने की सम्भावना है, इन सांसारिक श्रुत-श्रोतव्य-प्रवादों से सचमुच अन्तर्जगत् कम्पित बना रहता है। ऐसा क्यों होता है, जबकि, आत्मा असङ्ग है ?। भगवान् कहते हैं-यह मोहकलिला बुद्धि का का अनुग्रह है। जबतक बुद्धि कलिला रहेगी, तब तक निश्चयेन श्रुत-श्रोतव्य वेदना के जनक बनते रहेंगे। मोहकलिल हटा दो, अन्तर्ज्योति का उदय होजायगा, और उस ज्ञानभूमिका में पहुँचने के अनन्तर तुम्हारे लिए कोई कुछ ही कहता सुनता रहे, निन्दा, अथवा स्तुति करता रहे, न निन्दाश्रवण से दुःख होगा, न स्तुतिश्रवण से हर्ष होगा। श्रोतव्य-एवं श्रुत-जनित वेदना से बचने का एकमात्र द्वार है-बुद्धि को मोहकलिलात्मक मनः-पाश से उन्मुक्त करना—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

—गीता० २।५२।

२६-नञर्थ का समन्वय—

* रजोगुण, एवं तमोगुण के समन्वय से उत्पन्न, अतएव सत्त्वगुण के विरोधी इस मोहकलिल को मन से कैसे हटाया जाय ?, गीताभिमत ज्ञानबुद्धियोग इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी अज्ञान ही मोह है, यही कलाप्रवृत्ति के द्वारा कलिलभाव का जनक बनता है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य, चारों के प्रतिद्वन्द्वी अधर्म्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य्य, इन चारों के 'नञ्' का अर्थ क्या है ?, यह भी प्रासङ्गिक समस्या है, जिसका निराकरण कर लेना प्रासङ्गिक होगा। 'नञ्' का अर्थ अभाव भी होता है, 'नञ्' का अर्थ 'अल्प' भी होता है। धर्म्माभाव, ज्ञानाभाव, वैराग्याभाव, ऐश्वर्य्याभाव, क्या अधर्म्म-अज्ञानादि से यह अभावात्मक नञर्थ अभिप्रेत है ?। नहीं, इसलिए कि, अभाव किसी कार्य्यकारण का जनक नहीं बना करता। 'नास्ति' ही अभाव है, न होना ही अभाव है। धर्म्माभाव ही यदि अधर्म्म होता, तो इसे कभी प्रत्यवाय का कारण न माना जाता। अधर्म्म एक वस्तुतत्त्व माना गया है, इससे अशुभ

* **नातः परं कर्म्मनिबन्धकृन्तनं मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्त्तनात् ।**
न यत् पुनः कर्म्मसु सज्जते मनो रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥

—श्रीमद्भागवत ६।२।४६।

संस्कारों की उत्पत्ति मानी गई है, जो अभाव से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यही स्थिति 'अज्ञान' की है। भगवान् ने अज्ञान से ज्ञान को आवृत मानते हुए यह स्पष्ट किया है कि, अज्ञानावृत ज्ञान ही मोहरूप में परिणत होता है-**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'**। अभावात्मक अज्ञान तो अपदार्थ है, शून्य है। इससे आवरण असम्भव है। आवरक वही बनता है, जिसका भाव होता है, सत्ता होती है। एवमेव आसक्तिलक्षण अवैराग्य का 'नञ्' भी इसलिए अभावार्थक नहीं माना जा सकता कि, अवैराग्यरूप सङ्ग को भगवान् ने **'सङ्गात् सञ्जायते कामः'** इत्यादि रूप से कामरूप कार्य्य का कारण माना है। यही स्थिति अनैश्वर्य्य की है। अस्मितालक्षण अनैश्वर्य्य आत्मैश्वर्य्य का उसी प्रकार आवरक माना गया है, जैसे कि अज्ञान ज्ञान का आवरक। इसी आधार पर कहा जा सकता, और माना जा सकता है कि, अधर्म्मादि के 'नञ्' भावों का 'अभाव' अर्थ नहीं है। फलतः इन 'नञ्' भावों की 'अल्पार्थकता' ही सिद्ध हो जाती है। 'अल्पो धर्म्मः-अधर्म्मः, अल्पं ज्ञानं-अज्ञानम्, अल्पं वैराग्यं-अवैराग्यम्' अल्पं-अनैश्वर्य्यं-अनैश्वर्य्यम्-यह अल्पार्थक निर्वचन ही तत्त्वसम्मत माना जायगा। जिसका तात्पर्य्य यही निकलेगा कि-अधर्म्मावृतो धर्म्म एव अधर्म्मः, अज्ञानावृतं-ज्ञानमेवाज्ञानम्, अवैराग्यावृतं वैराग्यमेव अवैराग्यम्, अनैश्वर्य्यावृतं-ऐश्वर्य्य-मेव अनैश्वर्य्यम्। इसी से यह भी तत्त्व निकल आया कि, अधर्म्मादि अविद्याचतुष्टयी के आगमन से धर्म्मादि भर्गों का उत्क्रमण नहीं होता, अपितु अभिभवमात्र होता है। आवरण हटा दीजिए, सिद्ध धर्म्मादि धर्म्म प्रकट हो जायँगे। नञर्थ के इस समन्वय के अनन्तर प्रकृत स्तम्भ के मूलविषयरूप ज्ञानबुद्धियोग को लक्ष्य बनाइए।

३०-मोहपरम्परानुगता ज्ञानलवदुर्विदग्धता—

सामान्यतः ज्ञात, एवं विशेषतः अज्ञात ज्ञान हीं अज्ञानावृत ज्ञान है, यही 'अज्ञान' लक्षण मोह है, यही भय का प्रथम जनक है। कुछ जानना, कुछ न जानना, हीं अज्ञान है, यही 'मुग्धेऽर्द्धसम्पत्ति' लक्षण मोह है, जिस मोहाभिनिविष्ट को 'अर्द्धदग्ध' कहा जाता है। इसी के लिए 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'ट्रेन' के आने का ज्ञान है, कितने समय पर्य्यन्त स्टेशन पर ठहरी रहेगी, यह अज्ञात है। इन ज्ञानाज्ञान समन्वय से मोह उत्पन्न हो जाता है, भय हो जाता है-कहीं ट्रेन निकल न जाय। भगदड़ मच जाती है। ज्ञान का स्वरूप 'प्रमा' माना गया है। 'इदमित्थमेव नान्यथा' लक्षण निश्चयात्मक ज्ञान ही 'प्रमाज्ञान' है। इस प्रमाज्ञान में जब अज्ञान समाविष्ट हो जाता है, तो यही अनिश्चयात्मक बनता हुआ संशयज्ञान, भ्रमज्ञान, आदि विविध भावों में परिणत हो जाता है। शुद्धज्ञान में भी भय का अभाव है, शुद्ध अज्ञान (जड़ता) में भी भय का अभाव है। महामूर्खराज भी निर्भय है, ज्ञानतपस्वी भी निर्भय है। एक की निर्भयता जड़तामूला है, एक की निर्भयता चिन्मूला है। भयत्रस्त बनता है वह मध्यस्थ, जिसका ज्ञान अज्ञान से आवृत रहता है—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

३१–मोहनिवर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या––

मोह से भय, एवं भय की चरमसीमा मृत्यु। इसप्रकार मोह ही कालान्तर में जड़तालक्षण–मृत्युभाव का प्रवर्त्तक बन जाता है। निस्तत्त्व ज्ञानात्मक मोह जहाँ भय का कारण है, वहाँ तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान निःश्रेयस का प्रवर्त्तक है–'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'। भयप्रवर्त्तक अज्ञान की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है–अभयप्रवर्त्तक तत्त्वज्ञान का अनुगमन। बतलाया गया है कि, मोहात्मक अज्ञान अपने कलाभाव से प्रज्ञान की स्थिर प्रज्ञा को विचलित कर देता है। प्रज्ञा के अस्थिर होने से तत्प्रतिष्ठ बुद्धि विवेकशून्या बन जाती है। विवेकशून्या बुद्धि ही अस्थिर प्रज्ञा के द्वारा जीवात्मा को प्रज्ञापराध में प्रवृत्त कराती रहती है, एवं यह प्रज्ञापराध (नासमझी–मूर्खता) ही स्वाभाविक योगसम्पत्ति से जीवात्मा को वञ्चित रखता हुआ इसे अति, हीन, मिथ्या योगादि विषम योगों में प्रवृत्त रखते हुए इसके अज्ञानमूलक–भयानुगत–दुःख का कारण बना रहता है। अपनी आत्मशक्ति की सीमा से अधिक कर बैठना अतियोग है। आत्मशक्ति से कम करना हीन–योग है। आत्मशक्ति के विपरीत करना अयोगात्मक मिथ्यायोग है। भोजन करना चाहिए पाव भर, खा गए एक सेर, यही अतियोग है। एक छटाँक ही खाया, यह हीनयोग है। खाया तो पाव भर ही, किन्तु प्रकृतिविरूद्ध खाया, यही मिथ्यायोग है। तीनों विषमयोगों का मूलप्रवर्त्तक प्रज्ञापराध है, प्रज्ञापराध की प्रवर्त्तिका मोहग्रहग्रस्ता अविद्याबुद्धि है, और तत्त्वतः मोहात्मक यह अज्ञान ही प्रज्ञापराधजनित दुःख का कारण है, जिसकी ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए ही ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

३२–सिद्धजाति में उत्पन्न सिद्ध कपिल की सिद्धविद्या, एवं तदनुगत ज्ञानबुद्धियोग—

सिद्धजाति में उत्पन्न, अतएव 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध महर्षि कपिल ही इस सिद्धविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक थे। अव्यक्तात्मानुगत, अतएव कायक्लेशात्मक–कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग (प्राचीनाभिमत–ज्ञानयोग) के पक्षपाती कपिल का केवल अव्यक्ता प्रकृति पर ही विश्राम था। उनका ज्ञानयोग 'पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः' के अनुसार अव्ययसम्पत्ति से वञ्चित था। 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'–'अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादि सिद्धान्त उनकी अव्यक्तदृष्टि से परे की वस्तु बने हुए थे। भगवान् ने * 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' कहते हुए इस अव्ययवञ्चिता ज्ञाननिष्ठा (सांख्यनिष्ठा) का खण्डन किया, और लोकसंग्रहदृष्टि से इसे बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की।

---

* अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परंभावम जानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

—गीता ७।२४।

अबुद्धयः–बुद्धियोगरहस्यानभिज्ञाः, न तु अज्ञाः। सिद्धकपिलस्य पूर्णज्ञान-निष्ठत्वात्। बुद्धियोगस्तु महता कालेन विलुप्त आसीत्। तद्विलुप्त्यैव च तादृश-सांख्यनिष्ठायाः प्राधान्यमासीतद्युगेषु।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान अवश्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठावत् (संशोधित कर्म्मयोगलक्षण धर्म्म-बुद्धियोगवत्) सांख्यनिष्ठा (संशोधित-ज्ञानयोगलक्षण ज्ञानबुद्धियोग) भी **'निःश्रेयसकरावुभौ'** के अनुसार अभ्युदयप्रदा मान ली गई। तथापि दोनों के समतुलन में लोकसंग्रह के पक्षपाती भगवान् ने **'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते'** कहते हुए धर्म्मबुद्धियोगात्मक निष्कामकर्म्मयोग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि, व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्म्मयोगानुगत व्यक्त कर्म्म जहाँ कायक्लेश से बहिर्भूत रहते हुए सहज बने रहते हैं, वहाँ अव्यक्तप्रकृतिप्रधान-ज्ञानयोगानुगत-अव्यक्तकर्म्म कायक्लेश के, साथ साथ विशेषरूप से लोक अभ्युदय के भी संग्राहक नहीं बनते। **'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त-चेतसाम्'-'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'** इत्यादि से इस सांख्यनिष्ठा की अव्यवहार्य्यता स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है। निम्न लिखित वचन भी सिद्धविद्यानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की इसी जटिलता का समर्थन करता हुआ इस ओर भगवान् के सामान्य पक्षपात को ही व्यक्त कर रहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

—गीता० ७।३।

जिस युग में वेदतत्त्वप्रवर्त्तक अभिजिन्नक्षत्र के साथ देशसमृद्धिप्रवर्त्तक ध्रुव का सम्बन्ध था, उस वेदयुग में प्रकृतिवत् इस पृथिवी पर ही 'पाञ्चभुवनकोश' के आधार पर त्रैलोक्यव्यवस्था व्यवस्थित थी। निरक्ष से (लङ्का से) आरम्भ कर हिमाचलपर्य्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इसके सम्राट् मनु थे, अतिष्ठावा-शवसोनपात् भारत अग्नि थे। हिमालय से आरम्भ कर अलतायी पर्वत के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था, इसमें रहने वाली प्रजा 'देवयोनि' (तिर्य्यक्योनि) कहलाती थी, वायु यहाँ के शवसोनपात् थे। एवं अलतायी से आरम्भ कर सुमेरुपर्य्यन्त का भूप्रदेश द्युलोक कहलाया था, यहाँ की प्रजा 'देवदेवता' नाम से प्रसिद्ध थी, अधिपति यहाँ के 'इन्द्र' थे। आन्तरिक्ष में रहने वाली देवयोनिप्रजा यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, सिद्ध, राक्षस, अप्सरा, भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी। यक्षजाति कोशरक्षा में नियुक्त थी। विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, ये चार वर्ग मनोविनोदात्मक संगीत के अध्यक्ष-प्रचारक थे। पिशाचजाति शवविभाग का सञ्चालन करती थी। बधकर्म्म राक्षसजाति के आधीन था। भूतजाति सेनाबल था। भूतगणों के अवरसेनापति (कप्तान) गणपति थे, प्रधानसेनापति (कमान्डर् ऑफ चीफ) स्वामिकार्त्तिकेय थे। इस सेनाविभाग के प्रधानमन्त्री (आर्मी-मिनिस्टर) भूतपति रुद्र थे। धार्म्मिक प्रजा अवश्य ही इस ऐतिह्य घटना का समर्थन नहीं करेगी। क्योंकि अन्यान्य तत्त्वों की विलुप्ति के साथ साथ वैदिक ऐतिह्य तत्त्व भी आज लुप्त हो चला है। तत्त्वोपासना से सम्बन्ध रखने वाले प्राणात्मक विद्याधरादि प्राणविध देवयोनियाँ हैं। एवं तदनुरूप प्राणीविध विद्याधरादि ऐतिहासिक व्यक्तियाँ थीं, इस रहस्य का स्पष्टीकरण उसी दिन सम्भव बनेगा, जिस दिन आर्षप्रजा तत्त्वदृष्टि से वेदशास्त्र के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी। वक्तव्यांश यही है कि, देवयोनिविशेष ही 'सिद्ध' कहलाए थे। इस जाति में ही कपिल का जन्म हुआ था, अतएव जात्या इनका भी 'सिद्ध' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। ज्ञाननिष्ठ कपिलसिद्ध से ही यह जाति धन्य बनी थी। अतएव विभूतिगणना में भगवान् ने

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्हें मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध सांख्यनिष्ठात्मक-ज्ञानयोग के प्रथम प्रवर्त्तक थे। अतएव इनका संशोधित ज्ञानबुद्धियोग-रूप योग 'सिद्ध' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ।

३३–सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या—

जिस प्रकार 'ईश्वरानन्यत्त्व' राजविद्या का रहस्य था, एवमेव इस सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्ज्योति' माना गया है। सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्ञान का ही उदय होता है। ज्योतिर्विवर्त्त का अन्तः-बहिः, भेद से दो भागों में पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनका सूर्य्य-चन्द्रमा के द्वारा भलीभांति समन्वय किया जा सकता है। सूर्य्य, चन्द्रमा, दोनों हीं ज्योतिष्मान् हैं, परन्तु दोनों की ज्योतियों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है। सूर्य्य जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है, वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्य्यानुगत अर्द्धभाग से ही प्रकाशित रहता है। सूर्य्य को जैसे स्वप्रकाश प्रसार के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है, वैसे चन्द्रमा स्वप्रकाश प्रसार में स्वतन्त्र नहीं है। अपने हीं प्रकाश से सर्वात्मना प्रकाशित सूर्य्य जहाँ 'स्वज्योति' कहलाया है, एवमेव अन्य (सूर्य्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अर्द्धभाग से प्रकाशित रहता हुआ 'परज्योति' कहलाया है। चन्द्रमा में भुक्त धामच्छद अत्रिप्राण ही चान्द्र 'परज्योति का आधार बना हुआ है। पुराणों में चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गए हैं। अत्रिप्राणविज्ञान के अनुसार अत्रिप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है। पारदर्शकता के प्रतिबन्ध से ही धामच्छद पदार्थों का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। षोडशी प्रजापति के अव्ययप्रधान अमृतात्मा, अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा, क्षरप्रधान शुक्रात्मा, इन तीन विवर्त्तों में से क्षरात्मक शुक्रविवर्त्त ही धामच्छद भौतिक विश्व का उपादानकारण बनता है। वाक्, आपः, अग्नि-भेद से यह शुक्र तीन भागों में विभक्त है। वाक्शुक्र अत्रि है, आपः-शुक्र भृगु है, एवं अग्निःशुक्र अङ्गिरा है। वाकः-आपः-अग्नि-मय अत्रि-भृगु-अङ्गिरा, इन तीनों पारमेष्ठ्य शुक्रों से ही धामच्छद-भौतिकसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) का विकास हुआ है। इन तीनों में आपः-शुक्रमूर्त्ति भृगुतत्त्व आपः, वायुः, सोमः, भेद से तीन भागों में विभक्त है। अग्निःशुक्रमूर्त्ति अङ्गिरा भी अग्नि-यम-आदित्य-भेद से तीन भागों में विभक्त है। परन्तु वाक्शुक्रमय अत्रि एकावस्था में हीं परिणत रहता हैं। अतएव 'न त्रिः' निर्वचन से इस अतिशयरूप से धामच्छद बने हुए पारदर्शकताप्रतिबन्धक वाक्शुक्रात्मक पारमेष्ठ्य प्राण को वैज्ञानिकों नें '**अत्रिः**' नाम से व्यवहृत किया है। इसके अतिरिक्त यह सौरप्रकाश को पी जाता है। जिस भूतपिण्ड में अत्रिप्राण पूर्णरूप से विकसित रहता है, उस वस्तु में से सौररश्मियाँ अवारपारीण नहीं बन सकतीं। सूर्य्यरश्मियों को क्योंकि अत्रि खा जाता है, अतएव अत्रिशब्द का '**अत्तीति अत्रिः**' यह निर्वचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है। पार्थिव अत्रिप्राण के प्रवर्ग्यभाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है, अतएव इसे अत्रिपुत्र माना गया है। इसी अत्रिप्राण के सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शकताप्रतिबन्धकत्त्व धर्म्म का उदय हुआ है। इसी धर्म्म से सूर्य्यरश्मियाँ चन्द्रमा के अवार-पार (आरपार) नहीं निकल सकतीं। चन्द्रभुक्त सौरप्रकाश प्रतिफलित हो जाता है। बहिर्मुख यही चान्द्रप्रकाश 'परज्योति' है। इसप्रकार भूतज्योतियों में हीं सूर्य्यज्योति 'स्वज्योति' है, चान्द्रज्योति परज्योति है। स्वज्योति अन्तर्ज्योति है, परज्योति बहिर्ज्योति है।

ठीक यही व्यवस्था आध्यात्मिक ज्योतिर्भाव के सम्बन्ध में घटित हुई है । पुरुष, प्रकृति, भेद से अध्यात्मसंस्था दो भागों में विभक्त है । इनमें पुरुषज्योति (आत्मज्योति) सूर्य्यस्थानीया-परानपेक्षिता स्वज्योतिर्लक्षणा अन्तर्ज्योति है । एवं प्रकृतिज्योति चन्द्रस्थानीया-परापेक्षिता परज्योतिर्लक्षणा बहिर्ज्योति है । जिस प्रकार स्व-पर भेद से श्रेणिद्वय में विभक्त भूतज्योति सूर्य्य-चन्द्रमा-तारक-विद्युत्-अग्नि, भेद से पाँच भागों में विभक्त है, एवमेव प्रकृतिज्योतिर्लक्षणा आध्यात्मिक भूतज्योति भी अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-भूतात्मा-भेद से पाँच हीं भागों में विभक्त रहती है । आध्यात्मिक पुरुषज्योति इन आध्यात्मिक पाँचों प्राकृतात्मज्योतियों से नित्य युक्त रहतीं हैं, और **'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'** इस अनुगम श्रुति का इस दृष्टि से भी समन्वय हो रहा है । सूर्य्यज्योतिर्लक्षणा भूतज्योति से बुद्धि का, एवं चान्द्रज्योतिर्लक्षणा भूतज्योति से प्रज्ञानमन का स्वरूप निर्म्माण हुआ है । इन दोनों आध्यात्मिक भूतज्योतियों के साथ हृदयस्थ अन्तर्ज्योतिर्बन अव्ययात्मा का सम्बन्ध रहता है । इन दोनों ज्योतियों के मध्य में यदि 'मोह' नामक क्लेश समाविष्ट हो जाता है, तो बुद्धियुक्त अन्तर्ज्योतिर्लक्षण ज्ञान अज्ञानरूप में परिणत हो जाता है । अज्ञानावृता ऐसी बुद्धि ही मोहकलिला अज्ञानबुद्धि कहलाई है । यही अज्ञानबुद्धि इसप्रकार उस अन्तर्ज्योति के अनुग्रह से वञ्चित होती हुई प्रज्ञापराधद्वारा हीनयोगादि की जननी बनती हुई दुःखप्रवृत्ति का कारण बन जाती है । अव्ययपुरुषानुगता-ज्ञानलक्षणा-अव्ययविद्या के साथ बिना किसी प्रतिबन्धक के ज्ञानभगलक्षणा-बुद्धिविद्या का योग होने के लिए मध्यस्थ मोह नामक अज्ञानावरण का हटाना आवश्यक है । मध्यस्थ मोह कैसे हटे ?, ज्ञानोदय की हेतुभूता, ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या इसी प्रश्न का समाधान कर रही है ।

३४-ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष—

ज्योतिविवर्त्त के विश्लेषण द्वारा ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का विभिन्न दृष्टियों से समन्वय किया गया । **'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'** के अनुसार अणिमादि सिद्धियों में आसक्त, कायक्लेशात्मिका अव्यक्तनिष्ठा के अनुगामी कपिलानुयायी सिद्धों में हीं प्रधानरूप से परम्परया प्रचलित अन्तर्ज्योतिर्लक्षण ज्ञान ही सिद्धविद्या की मूलोपनिषत् बना । लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकसंग्रहदृष्टि से संशोधनपूर्वक गीताशास्त्र में इस कपिलनिष्ठा का भी संग्रह किया । सिद्धसम्प्रदायानुगत प्राचीन ज्ञानयोग कर्म्मत्यागासक्ति के द्वारा जहाँ असम्भव बना हुआ था, वहाँ भगवान् ने कर्म्मसंग्रहात्मक संशोधन के द्वारा इस कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को कर्म्मसम्पत्ति प्रदान करते हुए इसे बुद्धियोगसम्पत् का अनुगामी बनाया । यही गीताशास्त्र में **'ज्ञानबुद्धियोगानुगता-सिद्धविद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई।

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे

'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

तृतीयस्तम्भः

(२)-३



श्रीः

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

तृतीयस्तम्भ–उपरत

(२)–३



श्रीः

अथ बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
तृतीयप्रकरणे

'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
चतुर्थस्तम्भः

(२)-४



श्रोः

वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

चतुर्थस्तम्भः

———*———

१–वैराग्य, और आसक्ति शब्दों के लोकप्रचलित अर्थ—

राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग में वैराग्य, और तत्प्रतिद्वन्द्विनी आसक्ति, इस द्वन्द्व की मीमांसा अपेक्षित है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का स्वरूप बुद्धियोगप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। प्रचलित श्रद्धा–विश्वास के अनुसार 'वैराग्य' शब्द का अर्थ सांसारिक–परिग्रहों का त्याग समझा जा रहा है, एवं 'आसक्ति' शब्द का अर्थ सांसारिक–भोग–विषयों में तल्लीनता समझा जा रहा है। विधि–निषेधात्मक शास्त्रीय कर्म्मों का, स्त्री–पुत्र–वित्तादि लौकिक परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर शून्य–अरण्यों में निवास करने वाले सर्वपरिग्रहत्यागी, काषायकन्थाधारी वीतरागी ही वैराग्य के अनुगामी माने जा रहे हैं। ठीक इसके विपरीत सांसारिक प्रपञ्चों में निमग्न गृहस्थी ही आसक्ति के अनुगामी माने जा रहे हैं। निष्कर्षतः कर्म्ममात्र का परित्याग वैराग्य शब्द का, एवं सांसारिक कर्म्ममात्र का अनुगमन आसक्ति शब्द का तत्त्वार्थ माना जा रहा है। वर्त्तमान भारत के प्राङ्गण में वही वीतराग है, जिसने सब कुछ छोड़ छाड़ कर एकान्तवास कर लिया है, जिसका जनसमाज से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है, गीतापरिभाषानुसार जो सर्वथा अकर्म्मण्य है। केवल काषायवस्त्र, दण्ड–ग्रहण, एवं शिखासूत्रपरित्याग, नमो–नारायणोच्चारण हीं ऐसे वैराग्यपथिकों के परिचयचिन्ह हैं। कर्म्मत्यागलक्षण, प्राचीनाभिमत जिस सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) का पूर्व स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, वह सांख्यनिष्ठा ही सर्वसाधारण की दृष्टि में 'वैराग्य' है। एवं 'आर्षविद्यानुगत–धर्म्मबुद्धियोग' नामक स्तम्भ में कामनालक्षण, प्राचीनाभिमत जिस योगनिष्ठा (काम्य कर्म्मयोग) का दिग्दर्शन कराया गया है, वह योगनिष्ठा ही सर्वसामान्य की दृष्टि में 'आसक्ति' है।

२–प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि, और उनका ज्ञानयोग—

प्राचीन दृष्टि से गीता केवल प्राचीनाभिमत ज्ञान–भक्ति–कर्म्म, इन तीन योगों का प्रतिपादन कर रही है। वैराग्य शब्द के उक्तार्थ का पक्षपात रखने वाले ज्ञाननिष्ठों का इस सम्बन्ध में यही मताभिनिवेश है कि, गीता यद्यपि कर्म्म, और भक्ति का भी निरूपण अवश्य करती है। परन्तु शास्त्रीय कर्म्म, और भक्ति साक्षात् रूप से पुरुषार्थ नहीं हैं। पुरुष का परमपुरुषार्थ है 'मुक्ति'। मुक्ति का एकमात्र अर्थ है, आत्मा को विशुद्ध ज्ञानस्थिति में प्रतिष्ठित कर लेना। कर्म्म, और भक्ति में कर्म्म का अनुशय तारतम्य से आत्मा पर आसक्त रहता है। अतएव कर्म्मानुगत कर्म्म, और भक्ति कभी मुक्ति के कारण नहीं बन सकते। '**त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः**' के अनुसार कर्म्मात्मक कर्म्म–भक्ति–योगों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही विशुद्ध ज्ञानोदय का कारण बना करती है। और सर्वविध कर्म्मत्याग से विकसित होने वाला ज्ञान हीं

मुक्ति का प्रवर्त्तक है। कर्म्मत्यागलक्षण एवंविध वैराग्य ही मुक्तिप्रवर्त्तक बनता हुआ पुरुष का परम (अन्तिम) पुरुषार्थ है। सामान्य अधिकारियों के प्रारम्भिक अभ्यास के लिए साधनरूप से ही गीता ने कर्म्म-भक्ति का संग्रहमात्र कर लिया है। वस्तुतः गीता ज्ञानप्रधान अध्यात्मशास्त्र है, ज्ञानयोगशास्त्र है, वैराग्यशास्त्र है।

३–वैराग्यभावानुगत 'त्याग' शब्द के तात्त्विक अर्थ का उपक्रम—

प्राचीनाभिमत, सर्वपरिग्रहत्यागलक्षण वैराग्ययोग का अर्थ है-'ज्ञानयोग', जिसका **'ज्ञानयोगपरीक्षा'** नामक भूमिका-खण्ड में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है। केवल शब्ददृष्टि से प्राचीनों के इस मन्तव्य का, एवं वैज्ञानिकों के मन्तव्य का निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वैज्ञानिकों का भी गीताशास्त्र के सम्बन्ध में यही मन्तव्य है कि, गीता आसक्तिपरित्यागपूर्वक वैराग्ययोग (बुद्धियोग) का ही उपदेश दे रही है। त्याग ही गीताशास्त्र का मुख्य उपदेश है। और इस दृष्टि से विज्ञानपथानुगामी भी यह कह सकता है कि, 'गीता वास्तव में वैराग्यशास्त्र' है। वैराग्ययोग ही पुरुष का प्रधान पुरुषार्थ है। और यहाँ आकर वह भी ज्ञानयोगपक्षपातियों की भाँति उनके कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उनकी ओर से उपस्थित **'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः'** इस श्रुति को अपने विज्ञानसिद्ध आसक्तित्यागलक्षण वैराग्ययोग के समर्थन में उपस्थित कर सकता है। ज्ञानयोग भी त्यागप्रधान है, वैराग्ययोग भी त्यागप्रधान है। अन्तर केवल 'त्याग' शब्दार्थ में हैं। ज्ञाननिष्ठ कहते हैं, कर्म्मत्याग त्यागशब्दार्थ है। वैराग्यनिष्ठ कहते हैं, आसक्तित्याग त्यागशब्दार्थ है। दोनों में किस की परिभाषा उपादेय है ?, इस प्रश्न का समाधान सब से पहिले हमें गीताशास्त्र से ही कराना चाहिए।

४–गीताशास्त्र में प्रयुक्त 'त्याग' शब्दानुगत स्थल, एवं उनका अक्षरार्थसमन्वय—

गीताशास्त्र में 'त्याग' की चर्चा ३० स्थलों पर आई है। उन स्थलों को अपनी दृष्टि के सामने रख लीजिए, और फिर यह अन्वेषण कीजिए कि, गीता अपनी दृष्टि से 'त्याग' शब्द का क्या अर्थ कर रही है ?। केवल इसी प्रश्न के समाधान से सब कुछ समाहित हो जायगा। सुविधा के लिए वे ३० सों स्थल यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१–अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ गी० १।९।

२–येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ १।३३।

३–क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप !॥ २।३।

४–योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ २।४८।

५-कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २।५१।

६-जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ४।६।

७-त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४।२०।

८-निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४।२१।

९-ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५।१०।

१०-कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५।११।

११-युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२।

१२-संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ६।२४।

१३-यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥ ८।६।

१४-ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८।१३।

१५-श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानात्-ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ गी० १२।१२।

१६-अहिंसा-सत्य-मक्रोध-स्त्यागः-शान्ति-रपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १६।२।

१७-त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः-क्रोध-स्तथा लोभ-स्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१।

१८-संन्यास्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेष ! पृथक्केशिनिषूदन ! ॥ १८।१।

१९-काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८।२।

२०-त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८।३।

२१-निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः परिकीर्त्तितः ॥ १८।४।

२२-यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५।

२३-एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६।

२४-नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्य.गस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ १८।७।

२५-दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं भवेत् ॥ १८।८।

२६-कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ १८।९।

२७-न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १८।१०।

२८-न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १८।११।

२९-सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ १८।४८।

३०-बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८।५१।

३१--विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।। १८।५२।

३२--अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १८।५३।

३३--ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। १८।५४।

—*—

उद्धृत स्थलों में से 'अन्ये च बहवः शूराः'-'येषामर्थे काङ्क्षितम्'-'क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ' इन १-२-३ स्थलों के 'त्याग' शब्द का प्रकृत में सम्बन्ध नहीं है । शेष स्थलों में उपात्त त्याग शब्द ही प्रकृत वैराग्यचर्चा से सम्बन्ध रखता है । भगवान् कहते हैं-अर्जुन ! तुम योग में प्रतिष्ठित होकर आसक्ति-लक्षण सङ्ग का परित्याग कर सफलता-असफलता, दोनों में समान बने रहते हुए ही कर्म्म करो, क्योंकि समत्व ही योग का स्वरूप माना गया है' (४-गी० २।४८) । भगवान् कहते हैं-'विद्वान् लोग बुद्धि (विद्या-बुद्धि) से युक्त रहते हुए (बुद्धियोग में प्रवृत्त रहते हुए) कर्म्म से उत्पन्न आसक्तिजनक फल का परित्याग करते हुए जन्मबन्धन से मुक्त होकर शाश्वतपद (मुक्ति) प्राप्त कर लेते हैं' (५-२।५१) । 'जन्म कर्म्म च मे दिव्यम्' (६-४।६) इत्यादि श्लोकपठित त्याग शब्द प्रकृत से असम्बद्ध है । भगवान् कहते हैं-कर्म्मफला-सक्ति का परित्याग कर सदा तृप्त रहने वाला, स्वावलम्बी बना रहने वाला पुरुष कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी (आसक्तित्याग के प्रभाव से) कुछ नहीं कर रहा' (७-४।२०।)। भगवान् कहते हैं-'उत्थाप्याकांक्षालक्षणा कामना से सम्बन्ध रखने वाले काम्य भोगों से पृथक् रहने वाला निराशी पुरुष संयमी बनता हुआ यच्चयावत् परिग्रहों की आसक्ति छोड़ देता है । ऐसा पुरुष शरीरयात्रानुबन्धी (जीवनसाधक) कर्म्मों में (उत्थिताकांक्षा द्वारा) प्रवृत्त रहता हुआ भी कर्म्मजनित लेपरूप किल्विष से बचा रहता है (८-४।२१)। भगवान् कहते हैं-'जो पुरुष (शारीरक आत्मा-जीवात्मा अपने हृदयस्थ) प्रत्यग्ब्रह्म (अव्यय) में अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को समर्पित करता हुआ फलकामासक्ति को छोड़ कर कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, वह उसी प्रकार अपने इन कर्म्मों से उत्पन्न संस्कारों में लिप्त नहीं होता, जैसे सदा पानी में रहता हुआ भी कमल का पत्ता पानी के लेप से लिप्त नहीं होता (९-५।१०)। भगवान् कहते हैं-योगी लोग (आत्मकामदृष्ट्या वीतराग बने रहते हुए भी, आगामी अत्यावश्यक कर्म्मों के लेप से) आत्मा को बचाए रखने के लिए काय-मन-बुद्धि-इन्द्रियों के द्वारा फल-कामासक्ति छोड़ कर कर्म्म किया करते हैं (१०-५।११)। भगवान् कहते हैं-'कर्म्मफल को छोड़ कर कर्म्म में युक्त रहने वाला पुरुष जहाँ चिरशान्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है, वहाँ कामासक्तिपूर्वक कर्म्मफलों में आसक्त कामकामी पुरुष अव्यययोग से वञ्चित रहता हुआ कर्म्मपाश में आबद्ध होजाता है (११-५।१२) । भगवान् कहते हैं-'उत्थाप्याकांक्षामूलक काममय मन से उत्पन्न होने वाले कामनामय संकल्प-विकल्प ही कामनाओं के जनक बनते हैं । इन यच्चयावत् कामनाओं का सर्वात्मना परित्याग कर अपने मन से इन्द्रियों का सर्वात्मना संयम करना चाहिए' (१२-६।२४)। 'यं यं वापि स्मरन् भावम्०'-'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'

इन १३, १४, श्लोकों में पठित त्याग शब्द अप्राकृत है। भगवान् कहते हैं-'अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, एवं ध्यान से कर्म्मफल का परित्याग सर्वश्रेष्ठ है। इस कर्म्मफलत्याग से ही अन्त में शान्तिलक्षण मोक्षपद प्राप्त होता है (१५-१२।१२)। 'अहिंसा सत्यमक्रोधः' इत्यादि १६ वें श्लोक में पठित त्याग शब्द अप्राकृत है। भगवान् कहते हैं-'काम, क्रोध, लोभ, ये तीनों नरक के द्वार हैं, आत्मस्वरूप को आवृत करने वाले आवरण हैं। अतः इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिए (१६-१६।२१)। अर्जुन भगवान् से प्रश्न करते हैं कि,-'भगवन्! मैं संन्यास का रहस्य जानना चाहता हूँ, त्याग का मौलिक स्वरूप जानना चाहता हूँ' (१८-१८।१।)। भगवान् उत्तर देते हैं-'अर्जुन! विद्वानों नें (कर्म्मों के परित्याग को संन्यास नहीं कहा है, (अपितु) काम्य कर्म्मों के परित्याग को संन्यास माना है (जिसका तात्पर्य्य यही निकलता है कि, कामना के परित्याग का ही नाम संन्यास है)। सम्पूर्ण कर्म्मों के फलत्याग को ही विचक्षणों नें त्याग माना है (२०-१८।१) कितनें एक (सांख्यनिष्ठ) विद्वानों का कहना है कि, कर्म्म दोषजनक है, अतः उसे छोड़ देना चाहिए। दूसरा दल (कर्म्मनिष्ठ-योगनिष्ठ) यह कहता है कि, यज्ञ-दान-तपो-लक्षण विद्यासमुचित कर्म्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। (इसप्रकार कर्म्म के सम्बन्ध में दो विभिन्न मत प्रचलित हैं (२०-१८।३)। अर्जुन! इस सम्बन्ध में (आज) तुझे मैं अपना मत बतला रहा हूँ। अर्जुन! सात्त्विक, राजस, तामस, भेद से त्याग तीन प्रकार का माना गया है (२१-१८।४।)। (मेरी दृष्टि से) यज्ञ-दान-तपः कर्म्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि, (जो मनीषी इनके परित्याग को अच्छा समझते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि) ये तीनों कर्म्म (उन) मनिषियों के लिए भी पावन ही बने हुए हैं। अथवा तो मनिषियों की दृष्टि में तीनों कर्म्म दोषावह नहीं, अपितु पावन हैं, दोषनिवर्त्तक हैं। (२२-१८।५।)। (कब?, किस दशा में?, सुन!) इन्हीं कर्म्मों को जब कि फलकामासक्ति छोड़ते हुए कर्त्तव्यबुद्धि से इनका अनुगमन किया जाता है। यही इस सम्बन्ध मे मेरा निश्चित (अन्तिम), और सर्वश्रेष्ठ मत है। अर्जुन! प्रकृतिद्वारा नियत, स्वरूपरक्षक, प्राकृतिक कर्त्तव्यकर्म्म का परित्याग असम्भव है (२३-१८।६।)। मोहवश इसके परित्याग की चेष्टा करना तमोगुणानुगत तामस त्याग है (जो वस्तुतः त्याग नहीं है, त्याग का छलमात्र है (२४-१८।७।)। इस अमुक कर्म्म में बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा, कायक्लेश सहना पड़ेगा, यह निश्चय कर अपनी आलस्यप्रवृत्ति के अनुग्रह से कर्म्म का परित्याग कर देगा राजस त्याग है। ऐसे सालसों को भी त्यागफल नहीं मिला करता। (१५-१८।८।)। आगे चल कर त्याग की वास्तविक परिभाषा करते हुए भगवान् कहते हैं-'अर्जुन! 'मेरा यह कर्त्तव्यकर्म्म है, इस कर्त्तव्यभावना से आसक्ति, और फल-कामना का परित्याग करता हुआ जो पुरुष नियत कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, (उस पुरुष का कर्मानुगत ऐसा फलासक्तित्यागलक्षण) त्याग ही सात्त्विक त्याग है (कर्मत्याग त्याग नहीं, अपितु फल-कामनापरित्याग त्याग है) (२६-१८।९।)। (फलकामासक्तिपरित्याग का फल यह होता है कि, एवंविध) त्यागी की के लिए न तो अकुशल कर्म्म (दोषावह ऐहलौकिक सांसारिक कर्म्म) द्वेष का कारण बनता, एवं न कुशल कर्म्म (निर्दुष्ट पारलौकिक शास्त्रीय कर्म्म) राग का कारण बनता। सांसारिक कर्म्मों से द्वेष नहीं करता, शास्त्रीय कर्म्मों में लिप्त नहीं होता। अपितु समयप्राप्त उभयविध कर्म्मों में रागद्वेषरहित बन कर यह इनमें समभाव से प्रवृत्त रहता है। ऐसा यह त्यागी पुरुष नित्य सत्त्वस्थ बना रहता हुआ सर्वसंशयों से उन्मुक्त रहता है। 'किंकर्त्तव्यम्-किं न कर्त्तव्यम्' ऐसा कर्त्तव्यमोहात्मक संशय इसे कभी नहीं होता' (२६-१८।१०।)। (अर्जुन! तत्त्व इस त्याग का यही है कि) देहधारी के लिए सम्पूर्ण कर्म्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में त्यागी वही त्यागी कहलाएगा, जिसने कर्म्मफलों का परित्याग

कर दिया होगा' (२८-१८।११)। (अर्जुन ! तू समझता होगा कि, कर्म्म दोषयुक्त हैं। अरे कर्म्म ही क्या, ज्ञान-भक्ति-आदि) यच्चयावत् आरम्भ दोषयुक्त हैं। (त्रिगुणात्मक विश्व में सर्वथा दोषरहित कहने के लिए कुछ भी नहीं है)। ऐसी स्थिति में प्रकृतिसिद्ध सहज कर्म्म यदि दोषयुक्त हैं, तब भी उनका परित्याग नहीं करना चाहिए। (वेदोक्त कर्म्म दोष नहीं है, दोष है गुणात्मिका फलकामासक्ति, एवं इसी का परित्याग अपेक्षित है) (२६-१८।४८) (करना क्या चाहिए ?-सुन !)-विशुद्ध (विद्या) बुद्धि से युक्त होकर धृतिगुण से आत्मसंयम रखता हुआ ऐन्द्रिक विषयलोलुपता को छोड़ कर रागद्वेष से बचा रह कर, एकान्तप्रिय बन !, अल्पाहारी बन !, अपने शरीर-वाणी, मन को वश में रख !, सदा हृदयस्थ प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बनाए रह !, अनासक्तिरूप वैराग्य को आधार बना !, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परपरिग्रह का परित्याग कर !, ममत्व से बचा रह !। ऐसा करता हुआ निश्चयेन तू परमपद प्राप्त कर लेगा। (३०,३१,३२,३३)।

——❀——

५--गीता-पठित 'त्याग' शब्द का निष्कर्षार्थ--

अथ से इति पर्य्यन्त गीताशास्त्र का मनोयोगपूर्वक पारायण किया गया। यह चेष्टा की गई कि, कहीं 'त्याग' शब्द कर्म्मपरित्यागार्थ में उपलब्ध हो जाय। परन्तु चेष्टा न केवल व्यर्थ ही गई, अपितु सर्वत्र कर्म्मपरिग्रहण का समर्थन ही उपलब्ध हुआ। इसप्रकार गीताशास्त्र में प्रयुक्त त्याग शब्दों नें हीं यह समाधान कर दिया कि, गीताशास्त्रोपवर्णित कामत्यागलक्षण वैराग्ययोग प्राचीनाभिमत कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग से सर्वथा भिन्न वस्तु है, जिसकी ओर से भगवान् न केवल उदासीन ही रहे हैं, अपितु **'सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः'** कहते हुए उसका आमूलचूड़ खण्डन हीं कर रहे हैं। कर्म्म-समावेश के द्वारा इसे बुद्धियोगनिष्ठा प्रदान की है, एवं यही संशोधित ज्ञानयोग गीता के शब्दों में 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाया है, जिसका पूर्वस्तम्भ में विश्लेषण किया जा चुका है। गीता में त्यागशब्द सर्वत्र फल-काम-आसक्ति के परित्याग के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। फलकामासक्तिपरित्यागलक्षण, प्रत्यगात्मनिबन्धन साध्य बुद्धियोग ही 'वैराग्यबुद्धियोग' कहलाया है, जो गीताशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है, एवं जिसके स्पष्टीकरण के लिए वैराग्य, आसक्ति, नामक दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय अपेक्षित है। तभी तदनुगता राजर्षिविद्या का स्वरूपनिर्वचन सम्भव बन सकता है।

६-गीताशास्त्र का तात्त्विक नामकरण--

ज्ञानकर्म्ममय **सर्वाव्यय** (प्रत्यगात्मा), कर्म्मगर्भित ज्ञानप्रधान अव्यक्तात्मवच्छिन्न **पराव्यय**, कर्म्म-ज्ञानोभयप्रधान महानात्मावच्छिन्न **परावराव्यय**, एवं ज्ञानगर्भित कर्म्मप्रधान प्रज्ञानसम्परिष्वक्त-विज्ञानात्मावच्छिन्न **अवराव्यय**, इन आध्यात्मिक चारों आत्मब्रह्मों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्म हीं क्रमशः वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-बुद्धियोग, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। आत्मब्रह्मचतुष्टयी 'विद्या' है, आत्मकर्म्मचतुष्टयी 'योग' है। **'ब्रह्मविद्यायाम्'** का अर्थ है-'सर्वाव्यय-पराव्यय-परावराव्यय-अवराव्यय-लक्षणायां राजर्षि-सिद्ध-राज-आर्षविद्यायाम्'। **'योगशास्त्रे'** का अर्थ है-'सर्वाव्ययानुगतवैराग्य-पराव्ययानुगतज्ञान-परावराव्ययानुगतैश्वर्य्य-अवराव्ययानुगतधर्म्मबुद्धियोगशास्त्रे'। आत्मब्रह्मचतुष्टयी आत्मज्ञानचतुष्टयी है, इसी के स्वरूपविश्लेषण के लिए गीता में विद्याचतुष्टयी का निरूपण हुआ है। योगचतुष्टयी आत्मकर्म्म-

चतुष्टयी है, इसी के स्वरूपपरिचय के लिए गीता में योगचतुष्टयी का विश्लेषण हुआ है । अव्ययसम्बन्ध से ब्रह्मचतुष्टयी 'पुरुषविद्या' है, बुद्धिसम्बन्ध से योगचतुष्टयी बुद्धियोग है । फलतः 'ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे' का निष्कर्ष निकलता है-'अव्ययपुरुषविद्यायां योगशास्त्रे'। अव्ययपुरुष पुरुष है, बुद्धियोग प्रकृति है । गीता ने पुरुषभक्तिलक्षणा आत्मविद्या की ओर 'ब्रह्मविद्यायां' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है, एवं प्रकृतिभक्तिलक्षण योग की ओर 'योगशास्त्रे' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है । समष्टिरूप से गीताशास्त्र 'अव्ययविद्यानुगत योगशास्त्र' है । एवं व्यष्टिरूप से यही सर्वाव्ययविद्यालक्षण राजर्षिविद्यानुगत बुद्धियोगशास्त्र, पराव्ययविद्यालक्षण सिद्धविद्यानुगत ज्ञानयोगशास्त्र, परावराव्ययविद्यालक्षण राजविद्यानुगत भक्तियोगशास्त्र, एवं अवराव्ययविद्यालक्षण आर्षविद्यानुगत कर्म्मयोगशास्त्र, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, परन्तु करना नहीं चाहिए । क्योंकि पर-परावर-अवरविद्यानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, वस्तुतः बुद्धियोगात्मक ही हैं । अत. गीता का वास्तविक नामकरण 'अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्रे' यही होना चाहिए, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१ ज्ञानकर्म्ममयः प्रत्यगात्मा-सर्वाव्ययः———	आत्मब्रह्म-तदनुगतं वैराग्यकर्म्म
२ कर्म्मगर्भितज्ञानप्रधानः पराव्ययः———	आत्मब्रह्म-तदनुगतं ज्ञानकर्म्म
३ कर्म्मज्ञानोभयप्रधानः परावराव्ययः———	आत्मब्रह्म-तदनुगतं ऐश्वर्य्यकर्म्म
४ ज्ञानगर्भितकर्म्मप्रधानः अवराव्ययः———	आत्मब्रह्म-तदनुगतं धर्म्मकर्म्म
सैषा अव्ययविद्याचतुष्टयी	सैषा अव्यययोगचतुष्टयी

१ सर्वाव्ययविद्यालक्षणराजर्षिविद्यानामकब्रह्मविद्यायां बुद्धियोगात्मकं योगशास्त्रम्

२ पराव्ययविद्यालक्षणसिद्धविद्यानामकब्रह्मविद्यायां ज्ञानयोगात्मकं योगशास्त्रम्

३ परावराव्ययविद्यालक्षणराजविद्यानामकब्रह्मविद्यायां भक्तियोगात्मकं योगशास्त्रम्

४ अवराव्ययविद्यालक्षणआर्षविद्यानामकब्रह्मविद्यायां कर्म्मयोगात्मकं योगशास्त्रम्

प्राचीनदृष्ट्या व्यष्टिभावात्म-
कानि गीताशास्त्रनामानि

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रं व्यष्टिदृष्ट्या

१–राजर्षिविद्यायां वैराग्यबुद्धियोगशास्त्रम्———ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
२–सिद्धविद्यायां ज्ञानबुद्धियोगशास्त्रम्———ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
३–राजविद्यायां ऐश्वर्य्यबुद्धियोगशास्त्रम्———ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
४–आर्षविद्यायां धर्म्मबुद्धियोगशास्त्रम्———ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

वैज्ञानिकदृष्ट्या व्यष्टिभावात्मकानि गीताशास्त्रनामानि

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रम्—व्यष्टिदृष्ट्या

वैज्ञानिकदृष्ट्या समष्टिभावात्मकं गीताशास्त्रस्य नामकरणम्—

ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं वा
आत्मविद्यायां शरीरशास्त्रं वा
पुरुषविद्यायां प्रकृतिशास्त्रं वा
अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्रं वा
सर्वविद्यायां सर्वकर्म्मशास्त्रं वा
——तदिदं—अव्ययविद्यायां बुद्धियोगात्मकं गीताशास्त्रम्



७–'भग' चतुष्टयी से अनुप्राणिता भगवद्विद्या, तथा भगवद्योग के चार-चार विवर्त्त–

आत्मविकास के लिए 'भग' शब्द नियत है, एवं आत्मसंकोच के लिए 'क्लेश' शब्द नियत है। आत्मविकासलक्षण भग आत्मानन्द का कारण है, आत्मसंकोचलक्षण क्लेश आत्मदुःख का कारण है। भग और क्लेश सुख-दुःख के पर्य्याय नहीं हैं। अपितु भग सुख का जनक है, क्लेश दुःख का जनक है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य, इन चार भगों से आत्मा स्वस्वरूप से 'भ' भाव (विकासभाव) को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा स्वभूमानन्द का भोक्ता बन जाता है। अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश, अज्ञानलक्षण मोह, रागद्वेषलक्षणा आसक्ति, अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता, इन चार क्लेशों से आत्मा स्वस्वरूप से क्लान्तभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा आगन्तुक अल्पलक्षण दुःख का भोक्ता बन जाता है। क्लेशचतुष्टयी की निवृत्ति ही आत्म-विकासोदय का कारण बनती है। यही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। क्लेशचतुष्टयी स्वतः निवृत्त नहीं होती। अपितु जैसे अन्धकार की निवृत्ति के लिए प्रकाश का आगमन अपेक्षित है, एवमेव क्लेशनिवृत्ति के लिए भग-प्रवृत्ति अपेक्षित है। भगचतुष्टयी की प्राप्ति का उपाय बतलाना हीं गीता का दूसरा उद्देश्य है। सहज शब्दों में

स्वभावतः दुःखी मनुष्य कैसे सुखी बने ?, गीताशास्त्र इसी प्रश्न के समाधान को मुख्य उद्देश्य बना रहा है। मनुष्य दुःखी रहता है क्लेशचतुष्टयी से, सुखी बनता है भगचतुष्टयी से। चार क्लेशों से दुःख के कारण भी चार हैं, चार भगों से सुख के कारण भी चार ही हैं। भगसम्पत्तिप्राप्ति का प्रकार ही भगविद्या है। भगशाली भगवान् नें क्योंकि इन चार भगविद्याओं का विश्लेषण किया है, अतएव प्रकारात्मिका वह विद्या आगे जाकर 'भगवद्विद्या' नाम से प्रसिद्ध हो गई है। प्रकारात्मिका विद्याचतुष्टयी ज्ञातव्यभाग है। इस विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित कर्त्तव्यभाग ही अनुष्ठेया भगयोगचतुष्टयी है, जो भगवद्विद्यावत् 'भगवद्योग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगविद्या, किंवा भगवद्विद्या अव्ययविद्या है, आत्मपर्वभेद से यह चार भागों में विभक्त हो रही है। भगयोग, किंवा भगवद्योग बुद्धियोग है। भगपर्वभेद से यह भी चार ही भागों में विभक्त हो रहा है। सर्वाव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्यभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी रागद्वेषलक्षण आसक्ति नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। पराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी अज्ञानलक्षण मोह नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। परावराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्य्यभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी अनैश्वर्य्यलक्षण अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। एवं अवराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धर्म्मभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। अव्ययविद्यात्मिका भगवद्विद्या से अनुगत बुद्धि-योगात्मक भगवद्योग का प्रतिपादन करने वाले सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निष्कर्ष है।

१–सर्वाव्ययलक्षणा भगवद्विद्या––तदनुगतः––वैराग्यभगोपेतो बुद्धियोगः––ततः-आसक्तिक्लेशनिवृत्तिः
२–पराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या––तदनुगताः––ज्ञानभगोपेतो बुद्धियोगः––ततः–मोहक्लेशनिवृत्तिः
३–परावराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या––तदनुगतः––ऐश्वर्य्यभगोपेतो बुद्धियोगः-ततः–अस्मिताक्लेशनिवृत्तिः
४–अवराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या–तदनुगतः––धर्म्मभगोपेतो बुद्धियोगः–ततः––अभिनिवेशक्लेशनिवृत्तिः

ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्य्यं चैव धर्म्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥

—वायुपुराणान्तर्गत–प्रक्रियापादे १।५।

८–वैराग्यानुबन्धी परित्याग का सहज स्वरूप दिग्दर्शन—

अभिनिवेशनिवर्त्तक धर्म्मबुद्धियोग, अस्मितानिवर्त्तक ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, एवं मोहनिवर्त्तक ज्ञानबुद्धियोग, तीनों का पूर्व स्तम्भों में क्रमिक निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत स्तम्भ में गीताशास्त्र की हृदयरूपा वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का ही स्वरूपविश्लेषण अपेक्षित है। स्तम्भारम्भ में हीं स्पष्ट किया जा चुका है कि, वैराग्यशब्द के प्रचलित कर्म्मत्याग–परिग्रहत्याग–संसारत्याग–इन अर्थों का गीता के वैराग्य शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु त्यागलक्षण वैराग्य का गीताशास्त्र में कामनापरित्याग–फलपरित्याग–आसक्तिपरित्याग–ही अर्थ है। परित्याग भी आसक्तिपूर्वक नहीं, अपितु सहजभाव से। विषय का यों समन्वय कीजिए कि, 'हमनें आसक्ति छोड़ दी' यह कहने भर से ही आसक्ति छूट नहीं जाया करती। अन्तर्जगत् में ग्रहणचर्वणा चल रही है, और कह रहे हैं–आसक्ति छोड़ दी। ऐसा परित्याग ग्रहण से भी अधिक भयावह है।

जानबूझ कर-आसक्ति को दोष समझते हुए उससे घृणा करते हुए उसे छोड़ना तो एक प्रकार की द्वेषासक्ति ही है, जो रागासक्ति से भी कहीं भयङ्कर है। राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति ही आसक्तित्याग है। यह त्याग किया नहीं जा सकता, अपितु वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान से स्वतः हो जाता है। धर्म्मबुद्धियोगनिरूपण में यह स्पष्ट किया गया है कि, निष्कामकर्म्मयोग किया नहीं जाता, अपितु वह प्रकृत्या स्वयं होता है। ठीक यही स्थिति आसक्ति-निवृत्ति की है। प्रकृति वैसी बन जानी चाहिए, जिस में न राग हो, न द्वेष हो। छोड़ दिया, छोड़ते हैं, छोड़ देंगे, छोड़ना चाहिए, कहना तो त्याज्य विषय के प्रति आसक्ति (द्वेषासक्ति) प्रकट कर रहा है। 'त्याग' का लक्ष्य इसी लिए तो दुरूह बना हुआ है। ईश्वरवत् निर्लेप बन कर रागद्वेषात्मक सर्वविध प्रपञ्चों में लोकसंग्रहदृष्ट्या प्रवृत्त रहते हुए भी उनमें आसक्ति न रहे, यही आसक्ति का सहज त्याग है। साक्षीरूप से ईश्वर कहाँ नहीं है?, सर्वत्र है। क्या वह लिप्त होजाता है ?। नहीं। क्यों ?, इसलिए कि वह समत्वलक्षण वैराग्ययोग में समवस्थित है। यही ब्राह्मीस्थिति सहजपरित्याग का आधार बनती है। ब्राह्मीस्थिति में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर यच्चयावत् द्वन्द्वात्मक व्यामोह स्वतः निवृत्त होजाते हैं। कुछ न छोड़ना हीं सब कुछ छोड़ना है, साथ ही सबकुछ छोड़ देना हीं सब कुछ ग्रहण कर लेना है, और यही त्याग, तथा ग्रहण की वैज्ञानिक मीमांसा है। सर्वगुण ही तो निर्गुण कहलाया है, सर्वाकार ही तो निराकार माना गया है। **'यद्यत् स्वरूपमादत्ते तेन तेन स युज्यते'** के अनुसार वह जिससे मिलता है, तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है। यह सर्वरूपता ही उसकी नीरूपता है। विषय अनुभव से सम्बन्ध रखता है, शब्दद्वारा त्याग-ग्रहण की मीमांसा असम्भव है। जिस प्रकार एक विषयासक्त कामकामी संसारी विवाह करता है, धनसञ्चय करता है, पुत्र कलत्र का अनुगमन करता है, लौकिक कार्य्यों में तल्लीन रहता है। क्या वैराग्यबुद्धियोगी इन सब प्रपञ्चों से दूर रहेगा ?। नहीं, वह भी संसारी की ही भाँति पूरा संसारी बना रहेगा। यही क्यों, इसके सांसारिक कर्म्म तो ऐसे सुव्यवस्थित होंगे, जिन्हें देख सुन कर संसारी भी चकित होजायगा। क्या यही वैराग्य है ?, हाँ, निश्चयेन गीतादृष्ट्या यही वैराग्य है, सहजत्याग है। ग्रहणात्मक त्याग ही गीता का वास्तविक त्याग है। **'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि'** कहने वाले भगवान् ने अपने जीवन से भी तो त्याग का यही स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। भगवान् ने कभी शिखासूत्र का परित्याग नहीं किया, भगवान् ने कभी नारी को नरकद्वार नहीं बतलाया, कभी फकीरी बाना नहीं पहिना, कभी जीर्ण शीर्ण कुटियों में निवास कर माला नहीं जपी, संसार को मिथ्या कहने वाले वेदान्तियों की भाँति प्रजा को कौपीनधारण का आदेशोपदेश नहीं दिया। अपितु भगवान् यावजीवन जरामर्य्य-सत्रवत् वही सब कुछ करते रहे, जो एक संसारी करता रहता है। पूर्णसाम्राज्यसुखवत् भगवान् का लौकिक सुख था, उनके पत्नी थी, पुत्र थे, सखा थे, सब कुछ था। वर्णानुगत सभी कुछ था। इन सब प्रपञ्चों में तन्मय रहते हुए भी भगवान् भगवान् थे। यही पूर्णग्रहणात्मक पूर्णपरित्याग का वह दृढतम उदाहरण है, जो स्वयं वैराग्योपदेष्टा पर घटित हुआ है। वेदान्ती क्या कहते हैं, क्या करते हैं, इसका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा लक्ष्य है गीताशास्त्र। इसी के सम्बन्ध में हमें यह अन्वेषण करना है कि, गीता वैराग्य के सम्बन्ध में क्या कहती है, त्याग की क्या परिभाषा बतलाती है ?। एवं साथ ही वैराग्ययोगोपदेष्टा गीताचार्य्य स्वयं क्या करते हैं ?। भगवान् के जीवन से, तथा भगवदुपदेशभूत गीताशास्त्र से, उभयथा यही प्रमाणित होरहा है कि, कामासक्तित्यागपूर्वक सर्वकर्म्मसंग्रह ही गीता का वैराग्ययोग है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए ही वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या प्रवृत्त हुई है, एवं जिसकी अनुभूति के लिए निम्न लिखित गीतावचनों को सदा लक्ष्य में रखना आवश्यक है--

१-तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥
२-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
—गीता ६।४६,४७।

६-गीता के द्वारा संशोधिता योगत्रयी—

प्रथम अध्याय से आरम्भ कर ६ ठे अध्याय की समाप्ति पर्य्यन्त पूरे ६ अध्यायों में बुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का प्रतिपादन हुआ है। उक्त दोनों श्लोक ६ ठे अध्याय के अन्तिम श्लोक हैं। इन्हीं पर राजर्षिविद्या का उपसंहार हुआ है। अतएव इनमें भगवान् ने राजर्षिविद्या का निष्कर्ष रख दिया है। काम्यकर्म्मयोग, काम्यभक्तियोग, कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, तीनों का क्रमशः वाक्-प्राण-मनः-कलाओं से सम्बन्ध माना गया है। वाग्व्यापार 'श्रम' कहलाया है, प्राणव्यापार 'तप' कहलाया है, मनोव्यापार 'काम' कहलाया है। वाङ्मय श्रम, प्राणमय तप, और मनोमय काम (कामना-इच्छा) ये तीनों मनःप्राणवाङ्मय सृष्टि-साक्षी प्रजापति के सामान्य सृष्टयनुबन्ध माने गए हैं, जैसाकि-**'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। कर्म्मयोग श्रमात्मिका वाक् से सम्बद्ध रहता हुआ आधिभौतिक है। भक्तियोग तपोमय प्राण से सम्बद्ध रहता हुआ मध्यस्थ होने से उभयात्मक है। ज्ञानयोग काममय मन से युक्त रहता हुआ आधिदैविक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, उभयात्मक भक्तियोग मध्यस्थ तपोमय प्राणके सम्बन्ध से 'तपोयोग' भी कहला सकता है। भगवान् ने इन तीनों प्राचीन योगों को लोकसंग्रहदृष्टि से बुद्धियोगसम्पत् प्रदान करते हुए गीताशास्त्र में तीनों का संग्रह किया। वे ही संशोधित तीनों योग ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयो-
(भक्तियोग), धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग), नामों से व्यवहृत हुए हैं।

१०-'तपस्विभ्योऽधिको योगी०' इत्यादि श्लोकसमन्वय—

वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठाता **'योगी'** नाम से, ज्ञानबुद्धियोगाधिष्ठाता **'ज्ञानी'** नाम से, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-धिष्ठाता प्राणात्मक तपःसम्बन्ध से **'तपस्वी'** नाम से, एवं धर्म्मबुद्धियोगाधिष्ठाता **'कर्म्मी'** नाम से व्यवहृत हुआ है। सिद्ध विषय है कि, गीताप्रतिपादित चारों योगों में वैराग्ययोग भगवान् का अपना मत होने से सर्वश्रेष्ठ है। एवं शेष तीनों योग परमतों के संशोधितरूप होने से गौण हैं। गौणात्मिका योगत्रयी के अनुष्ठाता ज्ञानी-तपस्वी-कर्म्मी की अपेक्षा प्रधान वैराग्ययोगानुष्ठाता योगी का ही सर्वश्रेष्ठत्व स्वतः सिद्ध है। प्रथम श्लोक से इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् ने कहा है-योगी (वैराग्यबुद्धियोगानुयायी) ज्ञानी, तपस्वी, कर्म्मी, तीनों से उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित है। अतः हे अर्जुन ! (तुझे मेरी दृष्टि से) योगी ही बनना चाहिए।

१-वैराग्यबुद्धियोगः-----बुद्धियोगः (योगः)-तद्योगाधिष्ठाता-'योगी' (सर्वाव्ययानुगतः)
२-ज्ञानबुद्धियोगः------ज्ञानयोगः (ज्ञानम्)-तद्योगाधिष्ठाता-'ज्ञानी' (मनोमयपराव्ययानुगतः)
३-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः---भक्तियोगः (तपः)-तद्योगाधिष्ठाता-'तपस्वी' (प्राणमयपरावराव्ययानुगतः)
४-धर्म्मबुद्धियोगः-----कर्म्मयोगः (कर्म्म)-तद्योगाधिष्ठाता-'कर्म्मी' (वाङ्मयावराव्ययानुगतः)

——❀——

११–ज्ञानयोग, और कर्म्मयोग के सापेक्ष गौण–मुख्य–भाव—

चारों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'योग' सर्वश्रेष्ठ है, चारों योगियों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग का अनुष्ठाता योगी श्रेष्ठ है, यही प्रथम श्लोक का तात्पर्य्य है। इसी प्रसङ्ग में यह भी जान लेना चाहिए कि, संशोधित प्राचीनाभिमत योगत्रयी में कौन मुख्य है, एवं कौन गौण है ?। ज्ञान–कर्म्मोभय समन्वय से यद्यपि तीनों हीं योग समत्वलक्षण बुद्धियोग से युक्त रहते हुए समान श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव तीनों समानरूप से उपादेय हैं। तथापि अव्ययविकास, अनुष्ठानसौकर्य्य, लोकसंग्रह, आदि विशेषताओं के तारतम्य से तीनों में प्रथम–मध्यम–उत्तम भेद से श्रेणिविभाग माना जा सकता है। पहिले धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग, एवं ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, इन दोनों की गौणमुख्यता का समन्वय कीजिए। यद्यपि पराव्ययानुगत ज्ञानयोग अवराव्ययानुगत कर्म्मयोगापेक्षया अव्ययविकास की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अतएव केवल अव्ययदृष्टया कर्म्मयोगापेक्षया ज्ञानयोग प्रधान, साथ ही श्रेयः पन्था है। तथापि अनुष्ठानसौकर्य्यादि अन्य सभी दृष्टियों से ज्ञानयोग कर्म्मयोगापेक्षया गौण ही बन रहा है। पराव्ययानुगत अव्यक्तात्मा ही ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अव्यक्त के सम्बन्ध से पराव्यय भी अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है। इस अव्यक्तभाव के कारण ज्ञानयोगानुगत कर्म्म भी अव्यक्त बना रहता है। लोकसंग्राहक व्यक्त–सांसारिक–कर्म्मों में कहने भर के लिए सहयोग रहता है। प्रधानदृष्टि अध्यात्मज्ञान पर ही निर्भर रहती है। पराव्यय का सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वह अव्यक्तावस्था में परिणत होने से अपने स्वाभाविक विकास से अभिभूत है। और इस दृष्टि से तो अव्ययदृष्ट्या भी यह ज्ञानयोग कर्म्मयोगापेक्षया गौण ही सिद्ध हो रहा है, जिस दृष्टि से पूर्व में हमनें इसे मुख्य बतलाया था। व्यक्त जगदनुगामी मानव के लिए यह अव्यक्तयोग क्लेशसाध्य बना रहता है, जैसाकि–'**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते**' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। ज्ञानमय अपने इसी अव्यक्तभाव से व्यक्त विश्वपरायण मानव के लिए ज्ञानयोग दुर्गमपथ है–'**दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**'। '**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**' कहते हुए भगवान् सिद्धविद्यानुगत ज्ञानयोग में स्पष्ट ही अनुष्ठानसौकर्य्य का भी अभाव मान रहे हैं। अव्ययविकासाभाव, अनुष्ठानसौकर्य्याभाव, सर्वोपरि लोकसंग्रहाभाव, इन्हीं सब कारणों से कर्म्मयोगापेक्षया ज्ञानयोग अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित हो रहा है। उधर कर्म्मयोग व्यक्त–अवराव्यय–के विकाससम्बन्ध से, अनुष्ठानसौकर्य्य से, एवं सर्वोपरि लोकसंग्रहभाव से ज्ञानयोगापेक्षया प्रधान बन रहा है। कर्म्मगर्भित ज्ञानयोग कर्म्मत्यागानुगत संन्यासपथ है, ज्ञानगर्भित कर्म्मयोग कर्म्मपरिग्रहणानुगत संसारपथ है। संन्यासपथ में वैय्यक्तिक अभ्युदय का प्राधान्य है, संसारपथ में वैय्यक्तिक अभ्युदय के साथ साथ सर्वसाधारण का अभ्युदय भी सुरक्षित है। आत्ममुक्तिलक्षण निःश्रेयसभाव दोनों पथों में समानरूप से प्रतिष्ठित है। एक के भी अनुष्ठान से दोनों सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु लोकसंग्रहादि पूर्वोक्त विशेषताओं की दृष्टि से सांख्यापेक्षया (ज्ञानयोगापेक्षया) योगपक्ष (कर्म्मयोगपक्ष) ही प्रधान, एवं श्रेयःपन्था है, जैसा कि निम्न लिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है—

१–सांख्य–योगौ पृथग्–बाला प्रवदन्ति, न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यक्–उभयोर्विन्दते फलम् ॥

२–यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति ॥
३–संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
४–संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोऽस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥

१२–कर्म्मयोग, और भक्तियोग के सापेक्ष गौण-मुख्य-भाव—

अब ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का समन्वय कीजिए । ज्ञानयोग में कर्म्म गर्भीभूत है, कर्म्मयोग में ज्ञान गर्भीभूत है, किन्तु भक्तियोग में ज्ञान–कर्म्म–वैराग्यबुद्धियोगवत् समतुलित हैं । अतएव ज्ञान–कर्म्मयोगापेक्षया भक्तियोग समत्त्वलक्षण बुद्धियोगके अधिक सन्निकट माना जायगा । पराव्ययानुगत ज्ञानयोग, अवराव्ययानुगत कर्म्मयोग, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित परावराव्ययानुगत–महानात्माधारेण प्रतिष्ठित भक्तियोग वास्तव में मध्यस्थ हृदयभाव के सम्बन्ध से ज्ञान–कर्म्मोभययोगापेक्षया हृन्मूला समत्त्वसम्पत्ति से विशेषरूप से युक्त माना जायगा । आधिदैविक पराव्ययसम्पत्ति से इसे ज्ञानयोग माना जायगा, आधिभौतिक अवराव्ययसम्पत्ति से इसे कर्म्मयोग कहा जायगा, अतएव इस मध्यस्थ भक्तियोग के सम्बन्ध में–'एकमप्यास्थितः सम्यक्–उभयोर्विन्दते फलम्' सर्वात्मना चरितार्थ माना जायगा । विराड्विभूतिसाक्षात्कारोपयिक * इस भक्तियोगानुगत कर्म्म में कर्म्मयोगवत् अव्ययविकास, अनुष्ठानसौकर्य्य, लोकसंग्रहादि विशेषताएँ तो हैं हीं, इसके अतिरिक्त इसमें अव्ययात्मसमर्पणमूलक वह प्रसादगुण भी विकसित रहता है, जिसका ज्ञान, तथा कर्म्मयोग में अभाव है । इसके अतिरिक्त जैसे शास्त्रीय ज्ञानयोग (संन्यास), तथा शास्त्रीय कर्म्मयोग (यज्ञादिकर्म्म) का अधिकार केवल सत्त्वगुणानुगता उत्तमयोनियों (द्विजातिवर्ग) को ही है, वैसे भक्तियोग में कोई अर्गला नहीं है। आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का सब को समानाधिकार है । पापयोनियाँ भी इससे मुक्त हो जातीं हैं + । समत्त्वलक्षण बुद्धियोग (वैराग्यबुद्धियोग) के सन्निकट रहने वाला समत्त्वलक्षण भक्तियोग ज्ञानकर्म्मयोगापेक्षया बुद्धियोग से शीघ्र

---

*–भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥
—गी०११।५४

+–मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
—गी०६।३२।

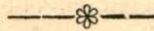
युक्त हो जाता है ≐ । इन्हीं सब कारणों से हम भक्तियोग को कर्म्मयोगापेक्षया प्रधान, एवं श्रेयःपन्था मानने के लिए सन्नद्ध हैं । इसप्रकार सर्वज्येष्ठ–सर्वश्रेष्ठ–सर्वाव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से दूसरा स्थान परावराव्ययानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक भक्तियोग का, तीसरा स्थान अवराव्ययानुगत धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग का, एवं चौथा स्थान पराव्ययानुगत ज्ञानबुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का सिद्ध हो जाता है । इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ज्ञानी की अपेक्षा कर्म्मी श्रेष्ठ है, तदपेक्षया तपस्वी (भक्त) श्रेष्ठ है, एवं सर्वापेक्षया योगी श्रेष्ठ है । ज्ञानयोग प्रथम स्थान है, कर्म्मयोग मध्यम स्थान है, भक्तियोग उत्तम स्थान है, एवं बुद्धियोग स्थानातीत है । परन्तु ध्यान रहे, यह गौण–मुख्यभाव संशोधिता योगत्रयी से ही सम्बन्ध रखता है । प्राचीनाभिमत काम्यकर्म्मयोग, काम्य–साम्प्रदायिक भक्तियोग, एवं कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग तो गीता से सर्वथा बहिष्कृत ही हैं । इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर गीतानुगता योगचतुष्टयी के श्रेणि–विभागों का समन्वय करना चाहिए ।

१–सर्वाव्ययानुगतो बुद्धियोगः (वैराग्यबुद्धियोगः)–सर्वज्येष्ठः–श्रेष्ठः

२–परावराव्ययानुगतो भक्तियोगः (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः)–उत्तमः

३–अवराव्ययानुगतः कर्म्मयोगः (धर्म्मबुद्धियोगः)–मध्यमः

४–पराव्ययानुगतो ज्ञानयोगः (ज्ञानबुद्धियोगः)–प्रथमः



१३–भूमोदर्क, क्षीणोदर्क, एवं तदनुगत मन्मना–उन्मनाभाव—

'तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' इत्यादि श्लोक से भगवान् ने यह सिद्ध किया कि, योगी (वैराग्यबुद्धियोगी) का स्थान सर्व्वोच्च है । इससे आगे ही–**'योगिनामपि सर्वेषाम्'** यह श्लोक पठित है । भगवान् कहते हैं-'सम्पूर्ण योगियों में भी जो योगी मद्गत अन्तरात्मा से श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है, वह योगी मेरी दृष्टि में युक्ततम है' । इस कथन से यही ध्वनि निकल रही है कि, स्वयं वैराग्यबुद्धियोग में भी श्रेणिविभाग प्रतिष्ठित है । दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोग भी दो भागों में विभक्त है । प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है कि, उन दोनों वैराग्यबुद्धियोगों में क्या अन्तर है ? । प्रश्न–समाधान के लिए वैराग्याधिष्ठाता अव्यय के **'उन्मना, मन्मना'** नाम के दो विवर्त्तों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । भूमोदर्क, क्षीणोदर्क, नामक दो पारिभाषिक शब्द क्रमशः उन्मना-मन्मना-भावों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । वही अव्ययात्मा प्रकृति के द्वारा विश्वरूप बना है, यह भूमादृष्टि है, जिसका–**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** इत्यादि तैत्तिरीय–श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है । वही यह सब कुछ बना है, इसका तात्पर्य्य है–वही सब कुछ है । सब में वही है,

---

≐–तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गी०१०।१०।

सब वही है । यही भूमादृष्टि है, एवं इस दृष्टि का अनुयायी योगी परिणाम में भूमाभाव को ही प्राप्त करता है । इसी भूमापरिणाम के लिए 'भूमोदर्क' (उदर्क–परिणाम) शब्द व्यवहृत हुआ है । भूमानुगत योगी का अव्ययात्मा ही मद्गतभाव से 'मन्मना' कहलाया है । वह अव्ययात्मा प्रकृति के द्वारा सब कुछ उत्पन्न कर सब से असङ्ग है, पृथक् है, यही क्षीणदृष्टि है, जिसका–**'भूतेषु–भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति'** इत्यादि श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है । वही सबका आलम्बन है, इसका तात्पर्य्य यही है कि, उसके आधार पर सब कुछ प्रतिष्ठित अवश्य है, परन्तु वह स्वयं इन सब से पृथक् है । यही क्षीणदृष्टि है, एवं इस दृष्टि का अनुयायी योगी परिणाम में क्षीणभाव को ही प्राप्त करता है । इसी क्षीणपरिणाम के लिए 'क्षीणोदर्क' शब्द व्यवहृत हुआ है । क्षीणानुगत योगी का अव्ययात्मा ही उद्गतभाव से 'उन्मना' कहलाया है ।

१४–मन्मना अव्यय, और उन्मना अव्यय—

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए । पाषाण–लोष्ट–काञ्चन–सब कुछ वही है, इस व्यापक भावना से सर्वत्र–सब में–सबको अव्ययब्रह्म समझना 'मन्मनाभाव' है । 'सब कुछ यद्यपि उसीमें है, परन्तु वह किसी में नहीं है–(न त्वहं तेषु, ते मयि), इस भावना से उसे सब से पृथक् समझना उन्मनाभाव है । अव्ययतत्त्व 'श्वोवसीयसमन' नाम से प्रसिद्ध है । इस अव्ययमन की सर्वानुगता दृष्टि से यह अव्ययमन 'मन्मना' बन जाता है । एवं अव्ययमन की असर्वानुगता दृष्टि से यही अव्ययमन 'उन्मना' बन जाता है । सांसारिक प्रपञ्चविरहित विशुद्ध अव्ययमन उन्मना है, सांसारिकप्रपञ्चयुक्त सर्वाव्ययमन मन्मना है । मन्मना अव्यय 'सर्वात्मा सर्वेश्वर' है, उन्मना अव्यय 'विशुद्धात्मा ईश्वर' है । सर्वेश्वराव्यय, ईश्वराव्यय, भेद से एक ही अव्ययात्मा के दो विभिन्न विवर्त्त हो जाते हैं । सर्वेश्वराव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोग मन्मनायोग है, यही भूमोदर्कलक्षणा परामुक्ति का कारण बनता है, जो भूमोदर्कमुक्ति 'सममलय' नाम से व्यवहृत हुई है, एवं जो इसी जीवन में प्राप्त हो जाती है, जिसे गीता ने 'विदेहमुक्ति' कहा है । ईश्वराव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोग उन्मनायोग है, यही क्षीणोदर्कलक्षणा परामुक्ति का कारण बनता है, जो क्षीणोदर्कमुक्ति 'कैवल्य' नाम से व्यवहृत हुई है, जो क्रममुक्ति मानी गई है, एवं जिसके लिए–**'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है । गीता में अव्ययात्मा के इन दोनों विवर्त्तों का यत्र तत्र पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट है ।

१–मत्तः परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।७।
२–मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना
मत्स्थानि सर्वभूतानि
।। गीता० ६।४।

—मन्मनाव्ययः

३–न चाहं तेष्ववस्थितः

—गीता ९।४। —उन्मनाव्ययः

४–न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्

—गीता ९।५।

५–भूतभृत्

गीता ९।५। —मन्मनाव्ययः

६–न च भूतस्थः

—गीता ९।५। —उन्मनाव्ययः

७–ममात्मा भूतभावनः

—गीता ९।५। —मन्मनाव्ययः

८–गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

--गीता ९।१८। --मन्मनाव्ययः

९–उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

१०–यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तथा ॥ --उन्मनाव्ययः

--गीता १३।३०

११–यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ —गीता ८।२२।	—मन्मनाव्ययः
१२–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ —गीता ७।१६।	—उन्मनाव्ययः
१३–वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ —गीता ७।१६।	—मन्मनाव्ययः
१४–सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्त्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ —गीता ६।३१।	—उन्मनाव्ययः
१५–आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ —गीता ६।३२।	—मन्मनाव्ययः

१५–उन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण–

उन्मनाव्यय, एवं मन्मनाव्यय, दोनों के सहज बोध के लिए हमें दो योगियों को उदाहरण बनाना पड़ेगा। किसी भाग्यशाली नगर में, कल्पना कर लीजिए दो बुद्धियोगी निवास करते हैं। दोनों हीं लोकसंग्राहक कर्म्मों में पूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं, दोनों हीं शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमानुगत कर्त्तव्यकर्म्मों का फल-कामासक्तिपरित्यागपूर्वक अनुगमन कर रहे हैं, और यहाँ तक दोनों समान धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु दोनों के बाह्य वातावरणों में, जीवनचर्य्याओं में हम विभेद पाते हैं। एक योगी रहता संसार में

हों है, वह गृहस्थी भी है, यच्चयावत् पारिवारिक स्थितियों को सुव्यवस्थित रूप से चला भी रहा है, लोककार्य्यों में भी भाग लेता है। परन्तु देखते हैं-उसका बाह्य वातावरण गम्भीर बना हुआ है। उदासीनभाव से ही वह सबका अनुगमन कर रहा है। सामान्य वेशभूषा, साधारण भोजन, अतिशय मौनावलम्ब, और इन उदासीनताओं को आगे कर सांसारिक कर्म्मकलापों में प्रवृत्ति, यही इस योगी का बाह्य वातावरण है। अनुमान लगाने वाले जान लेते हैं कि, यह योगी करता सब कुछ है, सहयोग सब में प्रदान करता है, परन्तु वस्तुतः इन सब प्रपञ्चों में इसका मोह नहीं है। ऐसा योगी यद्यपि स्वयं सबके सम्पर्क में यथासमय आता रहता है, परन्तु सर्वसाधारण अपनी ओर से इस योगी के बाह्य-उदासीन वातावरण से सम्पर्क रखने में घबराते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र से निर्भय बन कर परामर्श करने में समर्थ होजाता है, वैसे इस योगी के सम्पर्क में जनसाधारण के पहुँचने का साहस नहीं होता। 'क्या कहेंगे, क्या समझेंगे' इस भय से एवंविध योगी लोकसंग्राहक बनता हुआ भी जनसाधारण के लिए एक जटिल समस्या बना रहता है। ऐसा योगी ही 'उदासीनवदासीन उन्मनायोगी' कहलाएगा। उन्मनाव्ययलक्षण विशुद्धाव्ययात्मा को लक्ष्य बनाने से ही ऐसे योगी का बाह्य वातावरण ऐसा रूक्ष बना रहता है।

१६–मन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण–

अब दूसरे योगी के सम्पर्क में आइए। वह भी संसारी है, गृहस्थी है, भव्यप्रासाद, अनुचर, वित्त, वाहन, आदि आदि सम्पूर्ण लोकवैभव उसके पास विद्यमान हैं। वह सुन्दर से सुन्दर वेशभूषा धारण करता है, सर्वोत्तम सुस्वादु भोजन करता है, सबसे प्रसन्नतापूर्वक मिलता जुलता है, मित्रगोष्ठियों में सोत्साह भाग लेता है, मनोविनोदात्मिका क्रीड़ाओं का अनुगामी बना रहता है, बच्चों से हँसता खेलता है। तात्पर्य्य, इसका बाह्य वातावरण सर्वथा संसारानुगत बना रहता है। सर्वसाधारण समझते हैं-यह हमारे ही जैसा व्यक्ति है। उदासीनयोगी का गम्भीर वातावरण जनसाधारण को उसके आभ्यन्तरस्वरूप से अपरिचित रखता है। आप उसे पहिचान नहीं सकते। उसका बाह्य वातावरण उसके वास्तविक स्वरूप को ढँके रहता है। किन्तु आप इसे अपने समान हीं एक संसारी व्यक्ति समझते हैं, अपने से भी अधिक प्रपञ्ची। आपकी इस समझ से उसकी कोई हानि नहीं होती, आपका लाभ अवश्य हो जाता है। आप उससे भय नहीं करते, वह आपके लिए महर्घ (मँहगा) नहीं पड़ता। उसके सम्पर्क से आप में कर्म्मकौशल समाविष्ट हो जाता है। वह आप में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करता, आपको, आपके कर्म्म को हीन नहीं करता। प्रत्येक कार्य्य के लिए 'बहुत अच्छा' कहता हुआ वह आप में घुल मिल जाता है। और इसप्रकार वह आपके निकटतम सम्पर्क में आकर क्रम क्रमशः आपका उद्बोधन करा देता है। उसे कोई नहीं जानता, वह सबको जानता है। वह आप सब में है, आप सब उसमें नहीं है **'न त्वहं तेषु, ते मयि'**। आप सभों जैसा प्रतीत होने वाला वह कब क्या लोकोपकार कर देता है?, यह आपको तब विदित होता है, जबकि फल आपके सम्मुख आता है। सर्वथा अज्ञातदशा में रहने वाला, सामान्य संसारी प्रतीत होने वाला ऐसा योगी ही 'मन्मना' कहलाया है। सर्वेश्वरानुगत वैराग्यबुद्धियोग ही इसकी प्रतिष्ठा बना रहता है। मन्मनाव्ययलक्षण सर्वाव्यय को लक्ष्य बनाने से ही एवंविध योगी का बाह्य-वातावरण ऐसा स्निग्ध बना रहता है। आप यह जान नहीं सकते कि, वह अमुक काम किस दृष्टि से कर रहा है?। यदि यह उच्च श्रेणि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, तो इसमें भी लोकसंग्रह निहित है। यदि निम्न श्रेणि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आप उसे देखते हैं, तो विश्वास कीजिए, इसमें भी लोक का अभ्युदय ही निहित है। सावधान! कहीं आप से इस सम्बन्ध में भूल न हो जाय। इससे आप उसके अनुग्रह से वञ्चित

रह जायँगे। महाभारतयुग में पवित्र भारतभूमि को सौभाग्य से ऐसा ही योगी मिला। मानवसमाज की कौन कहे, ब्रह्मादि देव भी व्यामोह में पड़ गए। किसी ने उसे अपना लाडला पुत्र समझा, किसी ने अपना सखा माना, तो दुष्टबुद्धि दुर्योधनादि के लिए वह एक सामान्य मनुष्य ही बना रहा। उस युग में यदि सर्वात्मना किसी ने समझा, तो वे थे एकमात्र कुरुकुलपितामह महात्मा भीष्म। स्वयं भीष्म के शब्दों में हीं उस योगी का स्वरूपपरिचय प्राप्त करना चाहिए–**'अहं ह्येनं वेद्मि'** इत्यादि महाभारतसन्दर्भ से।

१७–'योगिनामपि सर्वेषाम्०' इत्यादि श्लोकसमन्वय–

हाँ, तो प्रकृत विषय का समन्वय कीजिए। उन्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठाता योगी है, एवं मन्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठाता योगी है। एक (उन्मना) मानस श्रद्धानुगत प्रसादगुण से वञ्चित रहता हुआ योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ है। दूसरा (मन्मना)–मद्गतान्तरात्मा श्रद्धावान् बना हुआ सब में घुल मिल रहा है। उन्मनायोगी का वैराग्ययोग एक प्रकार से अव्यक्त ज्ञाननिष्ठा से समतुलित है। मन्मना–योगी का वैराग्ययोग अपने अव्ययस्वरूप से सर्वात्मना विकसित है। अतएव इन दोनों योगों में मन्मनायोग ही श्रेष्ठतम माना जायगा। एवं दोनों योगियों में मन्मनायोगी का स्थान ही सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। **'योगिनामपि सर्वेषाम्०'** इत्याति द्वितीय श्लोक से इसी योगी का विश्लेषण हुआ है। क्षीणोदर्कभावनानुगत उन्मनाभावात्मक–ईश्वराव्ययानुगत–वैराग्ययोगी केवल 'योगी' कहलाएगा (६।३१), एवं भूमोदर्कभावानुगत-मन्मनाभावात्मक–सर्वाव्ययानुगत वैराग्ययोगी 'परमयोगी' कहलाएगा (६।३२) **'तपस्विभ्योऽधिको योगी०'** इत्यादि पूर्व श्लोक में उन्मना वैराग्ययोगी का प्रतिपादन हुआ है। एवं—**'योगिनामपि सर्वेषाम्'** इत्यादि उत्तर श्लोक में मन्मना योगी के अतिशय का विश्लेषण हुआ है। इस दृष्टि से–**'मन्मना भव'** आदेशसिद्ध सर्वव्ययानुगत श्रद्धायुक्त वैराग्यबुद्धियोग ही गीता का मुख्य सिद्धान्त बन रहा है, जिसके स्वरूपपरिचय के लिए तत्प्रतिद्वन्द्वी आसक्तिभाव का स्वरूपपरिचय ही अपेक्षित है।

१८–दुःखमूला आत्मदोषपरपम्रा–

कामत्यागपूर्वक सर्वकर्म्मसंग्रह ही गीता का वैराग्यबुद्धियोग है। इस सम्बन्ध में वैराग्यबुद्धियोगानुगत उन्मना–मन्मना–विवर्त्तों की प्रासङ्गिक मीमांसा की गई। अब मुख्य विषयीभूत वैराग्य–और आसक्ति नामक प्रतिद्वन्द्वियों के वैज्ञानिकस्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दुःखनिवृत्ति का कारण है क्लेशनिवृत्ति। क्योंकि मोह–अस्मिता आसक्ति–अभिनिवेश, इन चार क्लेशों से ही दुःख का आगमन होता है। क्लेशनिवृत्तिपूर्वक दुःख की निवृत्ति कराने वाले बुद्धियोगात्मक गीताशास्त्र ने दुःख का विश्लेषण करते हुए आत्मविरोधी आवरणों को हमारे सम्मुख रक्खा है, जो आवरण अनेक भागों में विभक्त माने गए हैं। प्राकृतिक, सांस्कारिक, आगन्तुक, आदि विविध भेदभिन्न आवरण हीं क्लेश हैं। क्लेश ही आत्मविकासानुगता भगचतुष्टयी का अभिभव करते हुए आत्मदुःख के कारण बनते हैं। भगात्मक आवरणनिवर्त्तकों को यदि 'आत्मगुण' कहा जा सकता है, तो क्लेशात्मक आवरणों को 'आत्मदोष' कहा जा सकता है। विचार कीजिए, औपपातिक भूतात्मा किन किन दोषों से युक्त हो कर धरातल पर अवतीर्ण होता है?

जाति, आयु, भोग, तीनों परिग्रह जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारपुञ्जभुक्त प्रारब्ध कर्म्म (संस्कार) से सम्बन्ध रखते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सच्छूद्र, ये चार वर्णजातियाँ, एवं अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ, ये चार

अवर्णजातियाँ जातिपरिग्रह में अन्तर्भूत हैं । जन्मान्तरीय सञ्चित शुभा–शुभ संस्कार के प्रारब्ध संस्कारानुसार ही इन आठों जातियों में से किसी एक जाति वर्णावर्ण) में प्राणी को जन्म लेना पड़ता है । सर्वव्यापक परमात्मा का अंशभूत, अतएव तदभिन्न योगमायावच्छिन्न जीवात्मा का सांस्कारिक कर्म्मवशात् जातिबन्धन में आकर सीमित हो जाना, अच्छन्दस्क आत्मा का सछन्दस्क बन जाना हीं इस आत्मा का सर्वप्रधान अविद्या-नामक (सञ्चितसंस्काररूपा अविद्या नामक) प्रथम आत्मदोष है । जिन प्रारब्ध कर्म्मों की अव्यर्थ प्रेरणा से जीवात्मा जिस योनि में जन्म लेता है, वे प्रारब्धकर्म्म हीं स्वस्वरूपानुसार तद्योनिभुक्त जीवात्मा के अनुकूल प्रतिकूल भोगसंग्रह के कारण बनते हुए अनुकूल संस्कारानुगत अनुकूल वेदनात्मक सुख, प्रतिकूल संस्कारानुगत प्रतिकूल वेदनात्मक दुःख, इस सुख-दुःखद्वन्द्व के कारण बने रहते हैं । कभी सुख, कभी दुःख, कभी अहाहा, कभी हाहा, कभी अच्छा, कभी बुरा, इस द्वन्द्वाक्रमण से आत्मा की स्वाभाविक शान्ति अभिभूत रहती है । आत्मा कभी हर्षातिरेक से क्षुब्ध बना रहता है, कभी दुःखातिरेक से अशान्त बना रहता है । सांस्कारिक, भोगानुगत प्रारब्ध कर्म्मों की अव्यर्थ प्रेरणा से इच्छा न रहते हुए भी जीवात्मा को–'**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव-नियोजितः**' के अनुसार अवश बन कर इन क्षोभजनक द्वन्द्वभावों का अनुगामी बना रहना पड़ता है, और यही दूसरा आत्मदोष है । जनक के सौम्य शुक्र, और जननी के आग्नेय शोणित, दोनों के मिथुनभाव में प्रविष्ट हो कर गर्भीभूत होने वाला औपपातिक जीवात्मा अतिशय दुःखप्रद गर्भाशययन्त्र में नवमास पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहता है । कहते हैं, यदि जीवनदशा में प्राणी को उस कष्ट का स्मरण भी हो जाय, तो इस भय से इसके प्राण ही उत्क्रान्त हो जाय । '**मा देहि राम ! 'जननीजठरे निवासम्**' प्रसिद्ध ही है । गर्भाशययन्त्र के द्वारा नियन्त्रित होना तीसरा आत्मदोष है ।

अमीवादि कीटाणुओं से सम्बन्ध रखने वाले कुलक्रमानुगत शुक्रदोष पितृदोष कहलाए हैं, शोणित-दोष मातृदोष कहलाए हैं । माता–पिता के शुक्र–शोणित के प्रवर्ग्यभाग से कृतशरीरी जीवात्मा शुक्र–शोणित-जनित सांक्रामिक दोषों से भी अपने आपको नहीं बचा सकता । खगोलीय ग्रहसंस्था का भूगोलीय पार्थिव संस्था में रहने वाला स्वाभाविक योग ही ज्योतिः शास्त्र में 'लग्न' कहलाया है । इस लग्न से सम्बद्ध आकाश-मण्डल ही विज्ञानभाषा में 'कश्यपत्रिलोकी' कहलाई है । कश्यपत्रिलोकी के केन्द्र का ही नाम 'लग्न' है । इस लग्नात्मक केन्द्र से सम्बद्ध आकाश में दिव्य आसुर, जैसे भी ग्रह–नक्षत्रों का तत्समय में (गर्भाधान-काल में) जैसा भी योग रहता है, तत् समय में गर्भाशय में प्रविष्ट होने वाले जीवात्मा में तत् समयानुरूप ग्रहप्राणों का भी समन्वय होता है । यही प्राकृतिक दोष माना गया है । इसी को 'कालदोष' कहा गया है । नाड़ीदोष का भी इसी में अन्तर्भाव माना गया है । जिस पार्थिव भाग से प्राणी का शरीर पुष्ट–परिवर्द्धित होता है, वह पार्थिव तत्त्व भी अपने गुण–दोषों से इसका आधार बनता है, यही 'देशदोष' कहलाया है । साथ ही तद्देशीय मानवसमाज की वर्त्तमान परिस्थिति से सम्बन्ध रखने वाले गुण दोष भी इसके अतिथि बने बिना नहीं रहते, जिनका देशदोष में ही अन्तर्भाव माना जायगा । आर्थिक परिस्थिति के अनुरूप प्राप्त होने वाले मातृभुक्त अन्न से गर्भाशय में परिपुष्ट प्राणी इस अन्नदोष से भी युक्त बना रहता है । शिक्षानुगत गुण–दोष भी इसके आवरक बने रहते हैं । इसप्रकार प्रारब्धकर्म्मजनित अल्पदोष (सीमादोष), आवरणदोष (जातिदोष), द्वन्द्वानुभूतिदोष, मातृदोष, पितृदोष, ग्रहदोष, देशदोष, अन्नदोष, शिक्षादोष, आदि आदि अनेक दोषपरिग्रहों से युक्त हो कर ही कर्म्मभोक्ता (सांस्कारिक कर्म्मफलभोक्ता) प्राणी धरातल पर अवतीर्ण होता है ।

प्रारब्धकर्म्मजनित दोषों के कुफल तो इसे अनिवार्य्यरूप से भोगने हीं पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त इस वतमान जन्म में यह अपने इन्द्रियदोषात्मक प्रज्ञापराधमूलक हीन-अति-मिथ्या-योगलक्षण अयोगों से अन्यान्य आवरणों का भी प्रवर्त्तक बन जाता है। पूर्व परम्परा का अवसान होने नहीं पाता, उत्तर परम्परा उपस्थित हो जाती है। इसप्रकार अल्पदोषादिगर्भित सञ्चित संस्कारदोष, तथा क्रियमाणसंस्कारदोष, इन उभयविध दोषों से जीवात्मा के साक्षीभूत प्रत्यगात्मा की स्वाभाविक भगसम्पति आवृत हो जाती है। आत्मविकासलक्षणा भगसम्पत्ति ही विद्यासम्पत्ति है। एवं आत्मसंकोचलक्षणा क्लेशसम्पत्ति ही अविद्यासम्पत्ति है। विद्यासम्पत्ति जहाँ आत्मशान्ति का मूल है, वहाँ अविद्यासम्पत्ति आत्मक्रान्ति का मूल है। और इसप्रकार सहज कृत्रिम-दोषात्मक अविद्यादोष से मानव दुःखभाक् बना रहता है, जिस दुःखानुभूति का मूल आधार रागद्वेषात्मिका आसक्ति ही मानी गई है, जिस राग द्वेष का निम्न लिखित निर्वचन किया जा सकता है।

१९-आसञ्जन, और आसक्ति-

सुप्रसिद्ध 'आसञ्जन' तत्त्व ही 'आसक्ति' है। आत्मा का प्रज्ञान मन के द्वारा विषय के साथ बद्ध हो जाना हीं आसक्ति है। आसक्ति एक प्रकार का स्नेहनद्रव्य (गौंद, ल्याई,) है। असङ्ग आत्मा को ससङ्ग विषयों के साथ चिपका देने वाला स्नेहतत्त्वविशेष ही आसक्ति है। आत्मा का मनो द्वारा विषय में बद्ध हो जाना लोकभाषा में 'मन का लगना' कहलाया है। विषय में मन का लगा रहना हीं आसक्ति है। विषय के साथ होने वाला यह आत्मयोग (मन का लगाव) अनुकूलयोग, प्रतिकूलयोग, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है, दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहा है। दोनों व्यक्तियों का समसांमुख्य-सम्बन्ध हो रहा है। इस समसाम्मुख्य सम्बन्ध से दोनों के मुखाग्निभुक्त आग्नेय विद्युत् परस्पर एक दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं। उसकी विद्युत् इसमें, इसकी विद्युत् उसमें, घुलमिल जाती है। उभय सम्बन्धात्मक यह विद्युत् संक्रमण ही आसक्ति है, मन का लगाव है। कैसी आसक्ति ?, कैसा लगाव ?, समसाम्मुख्य सम्बन्धानुगता अनुकूला आसक्ति, अनुकूल लगाव।

२० राग का तात्त्विक निर्वचन-

दोनों के शरीर पृथक् पृथक् हैं। शरीर नहीं मिल रहे, दृष्टि सम्बन्ध हो रहा है। दोनों समान लक्ष्यानुगामी बने हुए हैं। इसी अनुकूलासक्ति को, अनुकूल लगाव को वैज्ञानिकों नें—**'राग'** नाम से व्यवहृत किया है। 'राग' शब्द में 'राकार', 'गकार', ये दो (रा-ग) अक्षर हैं। 'रा' का अर्थ है 'दान' (देना), 'ग' का अर्थ है-'गति' (जाना)। 'रा' धातु दानार्थक है ('रा' दाने)। 'गम्' धातु गत्यर्थक है। दान, और गति, दोनों व्यापारों के समन्वितरूप का ही नाम 'राग' है। **'रात्-ददत्-गच्छति, इति रागः'** राग शब्द का यही तात्त्विक निर्वचन हैं। अपनी सम्पत्ति देते हुए सम्मुखावस्थित विषय की ओर जाना, प्रवृत्त होना हीं 'राग' का तत्त्वार्थ है। यह अपनी विद्युत् उसमें देता हुआ उसका अनुगामी बन रहा है। वह अपनी विद्युत् इसमें देता हुआ इसका अनुगामी बना हुआ है। सिद्ध है कि, राग सदा दो वस्तुओं के समसाम्मुख्य को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। राग द्विनिष्ठ बन कर ही स्वस्वरूप से विकसित होता है। **'रञ्जनं रागः-रज्यतेऽनेनेति रागः'** निर्वचन भी प्रसिद्ध है। अनुकूलविषयेच्छा, अनुकूलविषययोग, एवं अनुकूलसंस्कार-चर्वणा, तीनों हीं अनुकूला आसक्तियाँ राग में अन्तर्भूत हैं।

२१–द्वेष का तात्त्विक निर्वचन—

राग से ठीक विपरीत 'द्वेष' भाव है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम उलटे पाँव आ रहा है, दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व उलटे पाँव जा रहा है। इस विपरीत गति से दोनों का मध्य स्थान में सम्पर्क हो जाता है। दोनों के पृष्ठभाग (पीठ) मिल जाते हैं। पृष्ठभाग अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु दृष्टि दोनों की सर्वथा विभिन्न रहती है। एक पूर्व की ओर देख रहा है, तो दूसरा पश्चिम को ओर देख रहा है। शरीर मिले हुए हैं, दृष्टि सर्वथा विभिन्न है, यही विपरीतयोग प्रतिकूलासक्ति है, यही प्रतिकूलासक्ति 'द्वेष' है। निरुक्तानुसार 'द्वेष' में 'दुर–एषा' ये दो विभाग हैं। 'दुर' शब्द दुष्टभाव का सूचक है, 'एषा' शब्द इच्छाभाव का सूचक है। दुष्ट इच्छा, विपरीत इच्छा, विपरीत विषयासक्ति ही द्वेष है। 'भवेद्वर्णागमात्०' न्याय से 'दुर' के रकार का लोप-हो जाने से यणद्वारा द्वेष शब्द सम्पन्न हुआ है। राग में यदि आत्मसमर्पण करते हुए विषय के साथ योग है, तो द्वेष में विषय से हटते हुए विषय के साथ योग है। आत्मयोग जितना राग में हैं, उतना हीं द्वेष में हैं। यही क्यों, रागापेक्षया द्वेष में आत्मयोग दृढ़मूल बना रहता है।

रज्जू की सीधी ग्रन्थि (गाँठ) राग है, विपरीत (उलटी) ग्रन्थि द्वेष है। सीधी गाँठ की अपेक्षा उलटी गाँठ का बन्धन अधिक दृढ़ होता है। राग में शरीर नहीं मिलते, दृष्टि मिलती है। द्वेष में दृष्टि नहीं मिलती, शरीर मिलते हैं। राग में आप दोनों अपने शरीर से पृथक् पृथक् प्रदेशों में खड़े हुए हैं। परन्तु आप उसे देख रहे हैं, वह आपको देख रहा है। दोनों का दृष्टिधरातल सम बना हुआ है। दोनों का सहयोग हो रहा है। शरीर से पृथक् स्थिति, किन्तु लक्ष्य एक, यही रागोदाहरण हैं। आप उल्टा मुँह करके खड़े हो गए, पीठ से पीठ मिला दी। शरीरापेक्षया आप मिल गए, परन्तु दृष्टियाँ सर्वथा विभिन्न हो गईं। शरीर मिल रहे हैं, परन्तु लक्ष्य सर्वथा विदूर हो गए हैं। सहयोग में असहयोग हो रहा है, सम्बन्ध में असम्बन्ध हो रहा है, आन्तर्य्य में अनान्तर्य्य हो रहा है, मेल में बेमेल पनप रहा है। शरीरों से समानस्थिति, किन्तु लक्ष्य विभिन्न, यही द्वेषोदाहरण है। राग में विषयागमनपूर्वक बन्धन है, द्वेष में विषयगमनपूर्वक बन्धन है। सर्प, विष, हिंस्रक सिंह–शार्दूलादि प्राणी, दुष्ट नर, आदि विषयों से हम बचते रहते हैं, इनसे विदूर रहना चाहते हैं, परन्तु इनके आकार से मन आकारित बना रहता है। राग में विषय का सम्बन्ध है, द्वेष में विषयसंस्कार का सम्बन्ध है। विषयसम्बन्ध ऐन्द्रियक है, संस्कारसम्बन्ध मानसिक है। इन्द्रियापेक्षया मन अधिक शक्तिशाली है। अतएव इन्द्रियानुगत रागात्मक विषयबन्धनापेक्षया मनोऽनुगत द्वेषात्मक संस्कारबन्धन अधिक दृढ़ बना रहता है।

२२–रागद्वेष के अनुकूल प्रतिकूल भाव—

जिस विषय से राग हो जाता है, जिससे आप राग रखते हैं, वह विषय सदा आँखों में समाया रहता है। * बारबार मन उस ओर अनुधावन करता रहता है। जिस विषय के साथ संस्काररूप से द्वेष होता है, वह विषय भी सदा आँखों में घूमा करता है। प्रेमात्मक सुखानुशायी रागापेक्षया दुःखानुशायी द्वेषबन्धन अधिक दृढ़ होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, आप कभी मित्र को भूल सकते हैं, परन्तु शत्रु कभी नहीं

* "ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, ऐव तत्रापरं गच्छति"।

भुलाया जा सकता। भुलाना चाहते हैं, परन्तु वह भूलना नहीं जानता। मानना पड़ेगा कि, रागासक्ति की अपेक्षा द्वेषासक्ति कहीं अधिक दृढ़मूल है। एक चमत्कार और देखिए। राग में दोनों मित्रों के मनोभावों का, आत्मसम्पत् का परस्पर आदान-प्रदान है। द्वेष्यभाव सम्पत् का तो अपहरण कर लेता है, परन्तु द्वेष में भी आरम्भ में तो आदान-प्रदान अवरुद्ध ही रहता है। परन्तु कालान्तर में द्वेषी में द्वेष्य धर्म्मों का आदान हो जाता है। द्वेषी मनुष्य उस द्वेष्य की विद्युत् को तो ले लेता है, परन्तु अपनी विद्युत् का प्रदान नहीं करता। कारण स्पष्ट है। द्वेष्य विषय प्रतिकूलता से ही सही, इसके मानस धरातल में स्वात्मसमर्पण अवश्य कर देता है। इसीसे एक यह भी तत्त्व निकल आया कि, निदु र्ष्ट विषयों से, हीनचरित्रों से, दुष्टबुद्धि मानवों से द्वेष रखने वाला मनुष्य भी उन आगन्तुक द्वेष्य धर्म्मों के सम्बन्ध से निकृष्ट, हीनचरित्र, दुष्टबुद्धि बन जाता है। जिसके साथ द्वेष किया जाता है, उसकी हानि नहीं होती, द्वेष करने वाला स्वयं अपनी हानि करा बैठता है। यदि द्वेष के लक्ष्य उत्कृष्ट विषय, उदात्त चरित्र, सुबुद्धिमानव हैं, तो द्वेष रखने वाला मनुष्य भी उनके आगन्तुक द्वेष्य धर्म्मों के सम्बन्ध से उत्कृष्ट, सच्चरित्र, सुबुद्धियुक्त बन जाता है। रावण, कंस, शिशुपालादि ने भगवान् रामकृष्ण के साथ जीवन पर्य्यन्त द्वेष किया। परिणाम इस द्वेषासक्ति का यह हुआ कि, द्वेष्य-रामकृष्ण के असङ्ग धर्म्मों का द्वेषी रावणादि में समावेश हो गया, और फलस्वरूप ये लोग उनसे द्वेष करते हुए मुक्त हो गए ×। निष्कर्ष यही निकला कि, अनुकूलासक्ति राग है, प्रतिकूलासक्ति द्वेष है। बन्धनत्वेन दोनों समान हैं। अतएव 'रागद्वेष', दोनों को हम 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं, एवं इसीके रागासक्ति, द्वेषासक्ति, ये दो विवर्त्त माने जा सकते हैं। आसक्तिलक्षण रागद्वेष के इसी तात्त्विक स्वरूप विश्लेषण के आधार पर दोनों के निम्न लिखित लक्षण हो जाते हैं—

१-अनुकूलासक्तिबन्धनं--'रागः' }
२-प्रतिकूलासक्तिबन्धनं--'द्वेषः' } --आसक्तिः

२३-रजोगुणमूलक कामक्रोधद्वन्द्व—

दूसरी दृष्टि से रागद्वेषतत्त्वों का समन्वय कीजिए। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्म्मजनित वासना-संस्कार, दोनों संस्कार उक्थरूप से मनोधरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। उभयविध संस्कार जन्मान्तर से भी प्रतिष्ठित हैं, एवं वर्त्तमान जन्म में व्यापारशील बने हुए ज्ञान-कर्म्मों से भी नवीन नवीन भावना-वासना-संस्कार उत्पन्न होकर उक्थरूप में परिणत होते रहते हैं। सञ्चितसंस्काररूप उक्थ ही अर्करूप काम (कामना-इच्छा) का जनक बनता है। यद्विषयक संस्कार उक्थरूप से मन पर खचित रहता है, स्मृतिद्वारा तद्विषय की ही कामना हुआ करती है। यदि उक्थसंस्कार अनुकूल हैं, तो उनसे निकलने वाली कामना भी अनुकूल

× उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यो सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषिकेशं, किमुताधोक्षजप्रियाः॥
—श्रीमद्भागवत

ही रहती है। यदि उक्थसंस्कार प्रतिकूल हैं, तो उनसे विनिर्गत कामना भी प्रतिकूल ही रहती है। अनुकूल कामना स्नेहगुणप्रधाना है, प्रतिकूलकामना तेजोगुणप्रधाना है। स्नेहगुणप्रधाना अनुकूल कामना में मन प्रधान बना रहता है, तेजोगुणप्रधाना प्रतिकूल कामना में शारीराग्नि प्रधान बना रहता है। मनःप्रधाना अनुकूल कामना स्नेहगुणक सौम्य मनःसम्बन्ध से ग्रहणशीला बनी रहती है, शरीराग्निप्रधाना प्रतिकूलकामना तेजोगुणक आग्नेय शरीरसम्बन्ध से परित्यागशीला बनी रहती है। मनोऽनुगता स्नेहगुणप्रधाना ग्रहणशीला अनुकूलकामना हीं 'काम' नाम से व्यवहृत हुई है। शरीरानुगता तेजोगुणप्रधाना परित्यागशीला प्रतिकूल कामना हीं 'क्रोध' नाम से व्यवहृत हुई है। इसप्रकार उक्थसंस्कारपुञ्ज से अर्कस्वरूप में परिणत होकर निकलने वाली मानस कामना ही स्नेह-तेजोगुण भेद से अनुकूल-प्रतिकूल भावों में विभक्त होती हुई काममयी कामना, क्रोधमयी कामना, इन दो भावों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा 'रजोगुण' माना गया है। ज्ञानप्रधान सत्त्वगुण में कामना की निवृत्ति है, अर्थप्रधान तमोगुण में कामना का अभिभव है। एवं क्रियाप्रधान रजोगुण में कामना का उदय है। ग्रहणभाव ही 'रजोभाव' है। रञ्जन ही 'रज' है, ग्रहण ही रञ्जन है। यह ग्रहणभाव ग्रहणात्मक ग्रहण, परित्यागात्मक ग्रहण, दो भागों में विभक्त है। स्नेहानुगत ग्रहण ग्रहणात्मक ग्रहण है, तेजोऽनुगत ग्रहण परित्यागात्मक ग्रहण है। ग्रहणात्मक ग्रहण का आधार 'काम' है, परित्यागात्मक ग्रहण का आधार 'क्रोध' है। दोनों रञ्जनात्मक हैं। अतएव दोनों का मूल रञ्जनात्मक रजोगुण ही माना जायगा, जैसाकि निम्नलिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है --

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

—गी० ३।३७।

२४–रागासक्ति का उदाहरण—

रजोगुणानुगत–सञ्चित अनुकूल संस्कारोक्थावच्छिन्न शारीराग्निगर्भित मन से निकलने वालीं रश्मियाँ हीं 'काम' नाम की अनुकूल कामना है। यह अनुकूल कामना अनुकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव कामात्मिका अनुकूल कामना सुखानुशायिनी मानी गई है। सुख ही 'कम्' है, मन ही अकार है। 'क–अ–म्–अ' के अनुसार सुख में (सुखानुगत अनुकूल विषयग्रहण में) ओतप्रोत मन ही 'काम' है। इस 'काम' से होने वाला अनुकूल विषयानुगत अनुकूलकामात्मक अनुकूल संस्कारबन्धन ही राग है, यही रागासक्ति है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण किया जा सकता है।

अपने घर से निकल कर आप उद्यान में जाते हैं। मार्ग में आपकी दृष्टि किसी अतिशय सुन्दर दृश्य पर पड़ जाती है। आगे बढ़ना रुक जाता है। आप वहीं खड़े रह जाते हैं, और मनोयोग पूर्वक उसे देखने में तन्मय बन जाते हैं। विशेषमनोयोगानुगता इस तन्मयता से 'उपलब्धिवेद' नामक सौर गायत्रीमात्रिक वेद से उस दृश्य का आकार आपके मनमें खचित हो जाता है। और इसप्रकार उद्यानोद्देश्य से निकले हुए आप मार्ग में हीं एक नवीन वस्तु का ग्रहण कर ले जाते हैं। आप आगे अवश्य निकल गए, सुन्दर दृश्य के सम्पर्क से अवश्य अलग हो गए। किन्तु जिस दृश्याकर के साथ आपका सम्बन्ध हुआ था, वह मन पर बस गया। बस जाने से ही तो वैज्ञानिकों ने उस बसने वाले आकारविशेष को 'वासनासंस्कार' कहा है। आपने

किसी दिन अतिशयरूप से सुस्वादु कलाकन्द खा लिया। भुक्त कलाकन्द कालान्तर में रस–मल के क्रमिक विशकलन से रसासृङ्मासादिरूप में परिणत होकर अपना अस्तित्त्व खो बैठा। परन्तु वह अपने स्वाद की छाप आपके मन पर लगा गया। यह स्वाद-छाप आपके मन पर बस गई। इसप्रकार इन्द्रियों के द्वारा सम्पर्क-में आने वाले विषयविशेष मनोयोग से स्वयं हटते हुए भी अपनी संस्कारात्मिका आकृति छोड़ जाते हैं। वही आकृति मन पर बसती हुई 'वासना' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

आप घर लौट आते हैं, अन्यान्य कार्य्यों में व्यस्त हो जाते हैं। अन्यान्य कार्य्यजनित वासनाओं से आवृत दृश्यजनित वह वासनासंस्कार थोड़ी देर के लिए अभिभूत बन जाता है। परन्तु कार्य्यव्यस्तता से उन्मुक्त होते ही वह संस्कार उद्बुद्ध हो पड़ता है। इस संस्कारोद्बोध का ही नाम 'स्मृति' (याद) है। स्वव्यापारोन्मुग्धा वासना 'वासना' है, एवं स्वव्यापारोद्बुद्धा वासना 'स्मृति' है। वासना का निर्व्यापाररूप वासना है, सव्यापाररूप स्मृति है। पूर्वावस्था वासना है, उत्तरावस्था स्मृति है। इसी आधार पर वासना स्मृति की जननी मान ली गई है। इसप्रकार सञ्चित संस्कारात्मिका वह सुन्दरदृश्याकारात्मिका वासना स्मृति के द्वारा आपके मन को वासनासंस्कारानुगत (सम्बन्धी) उसी दृश्य की ओर–'चलें, पुनः उसे देखें' इसप्रकार आक–र्षित करती रहती है। यह संस्कारानुगत–काममय–आकर्षण ही आसञ्जन लक्षण 'राग', किंवा रागासक्ति है। स्मृति ही रागासक्तिलक्षण विषयबन्धन की जननी बनती है।

रागासक्तिजननी स्मृति का उदय क्यों, और कब होता है ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। बतलाया गया है कि, अन्यान्य कार्य्यों में व्यस्त हो जाने से तज्जनित संस्कारों के चयन से पूर्वसञ्चित संस्कार दब जाता है, वासना को स्मृतिरूप में परिणत होने का अवसर नहीं मिलता। आसक्तितत्त्व संस्कारा–सक्ति, विषयासक्ति, भेद से दो भावों में परिणत रहता है। सांस्कारिक राग संस्कारासक्ति है, वैषयिक राग विषयासक्ति है। संस्काररागासक्ति आभ्यन्तरा है, यही विषयरागासक्ति की (स्मृति द्वारा) जननी बनती है। विषयरागासक्ति बाह्या है, यह संस्काररागासक्ति पर प्रतिष्ठित रहती है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि, विषयदर्शन (दृश्यदर्शन) काल में यदि विषयासक्ति है, तो संस्कारासक्ति का उदय होता है। एवं यही संस्कारासक्ति आगे चल कर तदनुबन्धी विषयासक्तिभाव की स्मृतिद्वारा जननी बनती है। यदि विषयदर्शनकाल में विषयासक्ति का अभाव है, तो तज्जनित संस्कार में मन आसक्त नहीं होने पाता, और उस दशा में दृश्यदर्शन करता हुआ भी मन, संस्कारग्रहण करता हुआ भी मन उस संस्कार में आसक्त नहीं होता। संस्कारासक्ति–विरहित ऐसे मन में रहने वाली भी वासना स्मृति के द्वारा विषयासक्ति की जननी बनने में असमर्थ रह जाती है। अतः सर्वप्रथम हमें उस आभ्यन्तर मूलासक्ति के सम्बन्ध में ही क्यों, और कैसे ?, प्रश्नों का समन्वय करना चाहिये।

२५–कर्म्मतत्त्व के चार विवर्त्त, एवं रागासक्ति का समन्वय—

कर्म्मतत्त्व को चार भागों में विभक्त कीजिए, तभी इस सांस्कारिक–चक्रव्यूह का भेदन हो सकेगा। जन्मान्तरीय संस्कार एक विभाग है। ऐहिक विषयसाक्षात्कार दूसरा विभाग है। विषयसाक्षात्कारजनित ऐहिक–संस्कार तीसरा विभाग है। ऐहिकसंस्कार से स्मृति के द्वारा उत्पन्न विषयसाक्षात्कारचर्वणा चौथा विभाग है। चारों में मूलतत्त्व जन्मान्तरीय वह सांस्कारिक प्रारब्ध कर्म्म है, जिसकी अव्यर्थ प्रेरणा से आप धरातल पर

अवतीर्ण हुए हैं। जन्मान्तरीय संस्कारपुञ्ज में जो धर्म्म, जो गुण रहते हैं, आपका मन तदनुरूप ही धर्म्म-गुणक विषयसाक्षात्कार में प्रवृत्त होता है। जन्मान्तरीय संस्कारतारतम्य से ही ऐहिक जन्मानुगत विषयसाक्षात्कारों में तारतम्य का उदय होता है। यदि आपके प्रज्ञाधरातल पर जन्मान्तरीय सुन्दरदृश्यसंस्कार खचित हैं, तभी आप अपने इस जीवन में सुन्दरदृश्य को देख कर प्रभावित हो सकते हैं। यदि जन्मान्तरीय सुन्दरदृश्य-संस्कार का अभाव है, तो इस जन्म में सुन्दर से सुन्दर दृश्य भी आपके मन को आकर्षित न कर सकेंगे। आप देखेंगे कि, कितने एक व्यक्ति तो सौन्दर्य्य का अवलोकन करते ही अपनापन खो बैठते हैं। उधर ऐसे भी रूक्ष व्यक्तियों की कमी नहीं, जिनके मन के लिए सुन्दरता का कोई अर्थ ही नहीं है। कितने एक व्यक्तियों का मन जहाँ मृदङ्ग की थाप पर थिरकने लगता है, वहाँ कितने एक महापुरुष '*महिषपुरोवर्त्ती मृदङ्गवादन' को चरितार्थ बनाते रहते हैं। कितने एक व्यक्ति सामान्य शिक्षित होते हुए भी व्याख्यानकुशल बन जाते हैं। इधर कितने एक पण्डितराज सभा में सर्वथा मुनि बने रह जाते हैं। उसी तिक्त मरीचिका से एक व्यक्ति की आँखों से जहाँ पानी निकल पड़ता है, वहाँ अन्य व्यक्ति गृञ्जन-मूलक की भाँति उसे चबाता हुआ सीत्कार भी नहीं करता। निदर्शनमात्र है। प्रत्येक प्राणी की ऐन्द्रियक-विषयग्रहण-अनुभव-योग्यता उस प्राणी के जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कार की योग्यता से ही सम्बन्ध रख रही है। इससे तत्त्व यही निकलता है कि, विषय-साक्षात्कारानुगता रागासक्ति की जननी जन्मान्तरीय संस्कारात्मिका रागासक्ति ही है। यही आभ्यन्तर मूलासक्ति है, यही ऐहिक विषयसंस्कारासक्ति की जननी बनती है। उद्यान जाते हुए आपको मार्गस्थ सुन्दरदृश्यात्मक चक्षुरिन्द्रिय के विषय ने आकर्षित क्यों कर लिया ?, क्यों आप उसके प्रभाव से प्रभावित होकर वहीं खड़े रह गए ?, प्रश्न का समाधान यही जन्मान्तरीया संस्कारात्मिका दृश्यासक्ति है, जो पहिले से आपके मनो धरातल पर खचित है। विश्वास कीजिए, यदि आप में बाह्य दृश्य सजातीय आभ्यन्तर दृश्यसंस्कार का (जन्मान्तरीय संस्कार का) अभाव रहता, तो कभी आप उस बाह्य सौन्दर्य्य से राग नहीं कर सकते थे। जिनमें दृश्यसौन्दर्य्य-सस्कार पहिले से नहीं रहता, उन पर ऐसे बाह्य सुन्दर दृश्यों का कोई प्रभाव नहीं होता। यही प्रथम क्षेत्र का विश्लेषण है।

जन्मान्तरीय दृश्यसंस्कारवश आप में 'मैं इस दृश्य को देखता रहूँ-देखूँ' इसप्रकार की रागात्मिका कामना का उदय होता है। यहाँ थोड़ा समझना है। पूर्वस्तम्भों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, अध्यात्मकामना उत्थित, उत्थाप्य भेद से दो भागों में विभक्त रहती है। सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, जो भी दृश्य मार्ग में आवेंगे, चक्षुरिन्द्रिय का स्वभावतः उनके साथ सम्बन्ध होगा ही। चक्षुर्व्यापार क्रिया है, क्रिया कामना को आधार बना कर ही प्रवृत्त होती है। फलतः प्रत्येक ऐन्द्रियक व्यापार में मानसकामना का अनिवार्य्य सहयोग सिद्ध हो जाता है। यह सहजकामना हीं उत्थिताकांक्षालक्षणा 'ईश्वरकामना' कहलाई है, जिसका पूर्वस्तम्भों में-'निष्कामभावात्मिका कामना' रूप से विश्लेषण हुआ है। इस कामना में बुद्धि प्रधान रहती है, मन गौण रहता है। मनोगर्भिता बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली कामना हीं सहजकामना है। जन्मान्तरीय-संस्काराकर्षण से आप सुन्दर दृश्य की ओर आकर्षित हों, अथवा तो यों ही आपका मन उस ओर चला जाय, यदि आपका मन सहजकामना का अनुयायी है, तो रहता हुआ भी जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण आपके मन को उस दृश्य विषयसंस्कार में आसक्त नहीं होने देगा। देखा, विश्वेश्वर के विश्व की सुन्दरता का अवलोकन

* भैंस के आगे मृदङ्ग बजाना।

किया, आगे निकल गए। जैसे असुन्दर ने क्षोभ उत्पन्न नहीं किया, वैसे सुन्दर ने व्यामोह में नहीं डाला। और यों उत्थिताकांक्षा के अनुग्रह से आप ऐहिक जन्मानुगत विषयसंस्कारासक्ति से बचे रह गए। इस कोटि में आगे की चक्रपरम्परा अवरुद्ध हो जाती है। न वासनासंस्कार को दृढ़मूल बनने का अवसर मिलता, फलतः न स्मृति का उदय होता, एवं न भविष्य में तद्दर्शन की लालसा ही होती।

ऐहिक जन्मानुगत विषयसंस्कार कब आसक्तिरूप में परिणत होता है ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—उत्थाप्याकांक्षालक्षणा 'जीवकामना'। यही 'कृत्रिम कामना' कहलाई है। इस कामना में असङ्गा बुद्धि गौण रहती है, ससङ्ग मन प्रधान रहता है। बुद्धिगर्भित मन से सम्बन्ध रखने वाली कामना हीं जीव की कृत्रिम वैकारिक-कामना है। जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण स्वयं जीवकामना प्रधान था। उसने ऐहिक जन्मानुगता जीव-कामना को प्रोत्साहित किया, मन वहीं जम गया। मन का यह जमना हीं चिरकालिक अनुध्यान कहलाया। चिरकालिक इसी अनुध्यान से मन उस दृश्य विषयदर्शन में तल्लीन हो गया। तल्लीनता से उत्पन्न दृश्य-संस्कार के साथ इसी तल्लीनता से मन आबद्ध हो गया, और यों उत्थाप्याकांक्षा के अनुग्रह से मन विषयदर्शन-जनित दृश्य संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों आसक्त हो गया ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर जीवकामनामय मन का यही चिरकालिक विषयानुध्यान है, जिसका-'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि शब्दों से विश्लेषण हुआ है।

'चिरकालिक अनुध्यान' चञ्चल मन के लिए एक जटिल समस्या है। मन किसी भी विषय पर चिर-कालपर्य्यन्त जमा रहे, यह असम्भव है। अवश्य ही चञ्चल मन के चिरकालिक अनुध्यान-साफल्य के लिए किसी अन्य स्थिर सहयोगी की अपेक्षा है। वह सहयोगी कौन है ?, चञ्चल भी मन कैसे अनुध्यान में समर्थ हो जाता है ?, इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्व स्तम्भोंमें किया जा चुका है—वहाँ का निष्कर्ष यही है कि, भार्गव-अतएव स्नेहगुणक मन चिपकना जानता है, परन्तु अपने सोमा-नुगत स्वाभाविक ऋतधर्म्म से ठहरना नहीं जानता। उधर आङ्गिरस, अतएव तेजोगुणक बुद्धितत्त्व अपने सावित्राग्न्यनुगत स्वाभाविक सत्यधर्म्म से ठहरना जानता है, परन्तु चिपकना नहीं जानता। आसक्तिबन्धन में चेप, और ठहराव, दोनों धर्म्म अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जबकि स्नेह (चेप) धर्म्मा मन तेजो (ठहराव) लक्षणा बुद्धि को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। चिरकालिकता बुद्धि से मिल जाती है, अनुध्यान मन से हो जाता है। दोनों के समन्वित रूपात्मक मन से चिरकालिक अनुध्यान सफल हो जाता है, फलस्वरूप आसक्ति का उदय हो जाता है। यही बुद्धिसहयोग लोकभाषा में-'चिन्तन' कहलाया है। चिन्तन करना, अनुध्यान करना बुद्धिव्यापार है। विषय की छाप लेता है मन, विषयाकार में परिणत होता है मन, एवं छाप को दृढमूल बनाती है बुद्धि, यही तात्पर्य्य है। कैसी बुद्धि का सहयोग ?, अपेक्षाबुद्धि का सहयोग। बुद्धितत्त्व के उपेक्षा-अपेक्षा-विवर्त्तों का भी पूर्व में हीं विश्लेषण किया जा चुका है। उपेक्षाबुद्धि जहाँ उत्थिताकांक्षा की जननी मानी गई है, वहाँ अपेक्षाबुद्धि उत्थाप्याकांक्षा की जननी मानी गई है। उपेक्षाबुद्धि में मन बुद्धि के आधीन रहता है। अपेक्षाबुद्धि में बुद्धि मन की वशवर्त्तिनी बनी रहती है। उपेक्षा-बुद्धिसहकृत मन बुद्धिलक्षण है, अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन मनोलक्षण है। बुद्धिलक्षण मन उत्थितत्कांक्षानुगामी बनता हुआ आसक्ति से पृथक् है। मनोलक्षण मन उत्थाप्याकांक्षानुगामी बनता हुआ आसक्ति से युक्त है। तात्पर्य्य-बुद्धिसहकृत मन जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण से उत्थाप्याकांक्षा के द्वारा बाह्य दृश्य विषयके साथ सम्बद्ध

हुआ, बुद्धिसम्बन्ध से मन वहीं चिरकालिक अनुध्यान में प्रवृत्त हो गया। इस चिरकालिक अनुध्यान से मन दृश्यविषयजनित संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों मन वासनासंस्कार में आसक्त हो जाता है ?, प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है। जन्मान्तरीय संस्कारासक्ति के अनुग्रह से उत्थित-एवं सबल बनी हुई मानस कामना का चिरकालिक अनुध्यान ही इस ऐहिक जन्मानुगता विषयसंस्कारासक्ति का मूलकारण है। यही दूसरे क्षेत्र का विश्लेषण है।

जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण से आप दृश्य में प्रवृत्त हुए, विषयसाक्षात्कार की ओर अभिनिवेशपूर्वक आकर्षित हुए, उत्थाप्याकांक्षामूलक चिरकालिक अनुध्यान से साक्षात्कृत विषय से उत्पन्न तृतीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित दृश्य संस्कार में आपका मन आसक्त हो गया। यह सम्पति अर्जित कर आप घर लौट आए, अन्यान्य कार्य्यों में व्यापृत हो गए। अन्यान्य कर्म्मों में व्यस्त रहने से कुछ समय के लिए उस संस्कार का अभिभव हो गया। परन्तु आसक्ति के अनुग्रह से यह दृश्यसंस्कार स्वतन्त्र उक्थरूप में परिणत हो जाता है। उक्थ से अर्क निकलना अनिवार्य्य है। प्रतिबन्धक जब तक रहेगा, अर्क न निकलेंगे। जहाँ प्रतिबन्धक हटे नहीं कि, उक्थ से अर्क निकले नहीं। अन्यान्य कार्य्यों की व्यस्तता उस दृश्यसंस्कारोक्थ के लिए प्रतिबन्धक सामग्री है। जब तक यह रहती है, तब तक उसे अर्कप्रसार का अवसर नहीं मिलता। जहाँ आप उन अन्यान्य कार्य्यों से उपरत हुए नहीं कि, इस प्रतिबन्धक के हटते ही वहाँ से अर्क निकल पड़ेंगे। वही उक्थजनित, उक्थविनिःसृत अर्क-'स्मृति' कहलाई है। अन्यान्य कामों में पड़ कर थोड़ी देर के लिए आप उसे भूल जाते हैं, अवकाश मिलते ही 'फिर याद हो पड़ती है' इस लोकसिद्ध स्वाभाविक अनुभूति का यही तत्त्व है।

स्मृति ने उदित होकर क्या किया ?, प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। काम से सङ्ग उत्पन्न होता है, अथवा सङ्ग से काम उत्पन्न होता है ?, इस प्रश्न के उत्तर पर ही स्मृतिविषयक प्रश्न का उत्तर निर्भर है। अतः दो शब्दों में पहिले इसी प्रश्न के उत्तर का अन्वेषण कर लीजिए। केवल ऐहिक जीवन को आधार बना कर ही इस प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करनी पड़ेगी। नहीं तो इस काम-और सङ्ग (आसक्ति) परम्परा की थाह पा लेना असम्भव हो जायगा। कारण स्पष्ट है। जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारासक्ति (सङ्ग) का मूल पूर्वजन्मानुगत काम है। पूर्वजन्मानुगत काम का मूल उससे भी पूर्वजन्म का सञ्चित सङ्ग है। इसप्रकार एवं प्रवर्तित इस काम-सङ्ग-चक्र का पर्य्यवसान समझ लेना असम्भव बन रहा है। प्रश्न है केवल वर्त्तमान जन्म से सम्बन्ध रखने वाले सङ्गभावों, तथा कामभावों का। इस जन्म में सुन्दर दृश्य देखने की कामना क्यों हुई ?, इस प्रश्न का उत्तर तो जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारसङ्ग (आसक्ति) ही है। यदि जन्मान्तरीय संस्कारसङ्ग न होता, तो दृश्यदर्शनकामना का उदय असम्भव था। इस दृष्टि से दृश्यदर्शनात्मक काम (इच्छा) को हम जन्मान्तरीय संस्कारासक्ति की अपेक्षा से 'सङ्गजनित' मान सकते हैं। जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारसङ्ग उक्थ है, इससे निकलने वाली दृश्यदर्शनात्मिका कामना (काम) अर्क है। और इस काम के सम्बन्ध में- 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' ('जन्मान्तरीयसंस्कारासक्त्या दृश्यदर्शनानुगतेच्छोदयः') यह कहा जा सकता है।

जन्मान्तरीय सङ्ग से दृश्यदर्शन की कामना हुई, कामनाकर्षण से दृश्य देखा, मन के चिरकालिक अनुध्यान से दृश्यविषय का ऐहिक जन्मानुगत नवीन संस्कारसङ्ग (दृश्यविषयदर्शनजनित दृश्यसंस्कारासक्ति) का उदय हो गया। दृश्यविषयात्मक सङ्ग (दृश्यसंस्कारासक्ति) का मूल क्या ?, इसका उत्तर इस दृष्टि से

हुआ-'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' । जिसका तात्पर्य्य यही है कि, जन्मान्तरीय सङ्ग से उत्पन्न काम का चिरकालिक अनुध्यान हीं ऐहिक जन्मानुगत दृश्यसंस्कारसङ्ग का जनक है । दूसरे शब्दों में दृश्यकाम जहाँ सङ्ग से उत्पन्न था, वहाँ पृश्यसङ्ग काम से उत्पन्न है । जन्मान्तरीय सङ्ग से उत्पन्न काम (इच्छा) नें ही चिरकालिक अनुध्यान के द्वारा दृश्यविषयसंस्कार को सङ्ग रूप में परिणत किया है, जो सङ्ग ऐहिक जन्मानुगत एक स्वतन्त्र-नवीन उक्थ बन जाता है । जैसे जन्मान्तरीय संस्कारसंगरूप सङ्गात्मक उक्थ से दृश्यदर्शानानुगत कामात्मक अर्क का उदय हुआ था, एवमेव इस अर्करूप काम के चिरकालिक अनुध्यान से उत्पन्न दृश्यसंस्काररूप-सङ्गात्मक नवीन उक्थ से भी दृश्यसंस्कार के पुनः दर्शनानुगत कामनारूप अर्क का उदय होना स्वाभाविक बन जाता है । यही कामना 'स्मृति' नाम से व्यवहृत हुई है । यह काम सङ्गजनित माना जायगा, जिसके लिए **'सङ्गात् संजायते कामः'** कहा गया है । 'सङ्ग से काम, काम के चिरकालिक अनुध्यान से सङ्ग, और इस सङ्ग से स्मृत्यनुगत-स्मृत्यात्मक काम' इसप्रकार वर्त्तमान जन्म में सङ्ग, और कामभावों का यही पौर्वापर्य्य माना जायगा ।

१-जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारसङ्गात-(जन्मान्तरीयोक्थात्) - दृश्यदर्शनानुगतः-अर्कलक्षणः-कामो जायते (सञ्चितसङ्गात् दृश्यदर्शनेच्छा भवति) । अतश्च-**सङ्गात् सञ्जायते कामः** ।

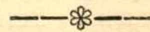
२-सङ्गोत्पन्नकामस्य चिरकालिकानुध्यानव्यापारेण दृश्यदर्शनात संस्कारात्मकः स्वतन्त्रोक्थः-सञ्जायते । स एष स्वतन्त्रोक्थः-दृश्यसंस्कारात्मकः-कामजनितः सङ्गः । अतश्च-'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' । दृश्यसंस्कारसङ्गः-कामात सञ्जायते, इति भावः । **'कामात् सञ्जायते सङ्गः'** इति निष्कर्षः ।

३-ऐहिककामादुत्पन्नः सङ्गः (दृश्यसंस्कारासक्तिलक्षणः स्वतन्त्रोक्थः) दृश्यविषयकामनाप्रेरको भवति स्मृतिद्वारा । 'पुनरहं तं दिदृक्षामि' सैव एवं लक्षणः कामः-सङ्गात्-सञ्जायते । अतश्च-**'सङ्गात् सञ्जायते कामः'** ।

१-सङ्गात् सञ्जायते कामः (जन्मान्तरीयसंस्कारासक्त्या-दृश्यदर्शनकामोदयः) ।

२-कामात् सञ्जायते सङ्गः (चिरकालिकानुध्यानात्मककामात्-दृश्यसंस्कारासक्तेरुदयः) ।

३-सङ्गात् सञ्जायते कामः (ऐहिकजन्मानुगतनवीनसंस्कारासक्त्या--दृश्यसंस्कारानुगतदृश्य--विषयं प्रत्यनुधावनम्) ।



जन्मान्तरीय सङ्ग से [१] उत्पन्न काम ने दृश्यविषय का साक्षात्कार कराया । विषय से सम्बद्ध काममय मन के चिरकालिक अनुध्यान से दृश्यविषय संस्कारासक्तिरूप सङ्गभाव में [२] परिणत हो गया । इस नवीन सङ्ग को लेकर आप घर लौट आए । इस नवीनसङ्ग (कामजनिता वासनासंस्कारात्मिका आसक्ति) रूप उक्थ से अर्क-रूप काम [३] का उदय हुआ, यही उत्तरभावी काम 'स्मृति' कहलाया । इस स्मृत्यात्मक काम ने उदित होकर क्या किया ?, यह प्रश्न उपस्थित है । जिस दृश्य-भौतिक विषय के दर्शन से दृश्यात्मक

संस्कार आपके मनोधरातल पर खचित हुआ है, मान लीजिए उस नश्वर दृश्य भौतिक विषय का नाश हो गया। ऐसी स्थिति में तदनुरूपा दृश्यवासना (सङ्ग) से उत्पन्न कामात्मिका स्मृति केवल स्मृति रूप में ही परिणत रह जायगी। आप उसे जीवनभर स्मरण कर कर भी प्राप्त न कर सकेंगे। स्मृति समय-समय पर उदित होती रहेगी, आपकी स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद करती रहेगी। इसप्रकार मूलदृश्य के स्वरूपनाश की दशा में आपकी यह उदित स्मृति केवल आत्मक्षोभ की जननी बनी रह जायगी। और यही उदित स्मृति का एक परिणाम माना जायगा।

मान लीजिए, आपके पुण्य से वह दृश्य विषय अभी सुरक्षित है, नष्ट नहीं हुआ है। उस अवस्था में क्या आपका स्मृत्यात्मक उदित काम निर्विघ्न उस दृश्य विषय पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लेगा ?। यदि विश्व में केवल आपकी ही सत्ता रहती, तो ऐसा एकाधिपत्य सम्भव था, और उस दशा में वह दृश्य असपत्न बनता हुआ आपके क्षणिक सुख का कारण बन सकता था। परन्तु विश्व में आप ही तो नहीं हैं। और भी मनुष्य हैं, उनके पास भी काममय मन है, सङ्ग है, सङ्गानुगत स्मृत्यात्यक काम है। उन्होंने भी उस सुन्दर दृश्य को देखा है, उन पर भी उस दृश्य की छाप लगी हुई है। अतएव वे भी स्मृत्याकर्षण से उसे अपने अधिकार में लाने के लिए लालायित हैं। वस्तु एक, चाहने वाले अनेक। लक्ष्य एक, लक्ष्यवेधन करने वाले अनेक। आप सब में जो भी शक्तिशाली होगा, वही उसे प्राप्त कर सकेगा। आपकी स्मृति ने, स्मृत्यात्मक काम ने आपको उस दृश्य विषय की ओर प्रवृत्त किया। आपने देखा कि, एक दूसरा व्यक्ति भी उसे अपना लक्ष्य बना रहा है। इस स्थिति में आपके स्मृत्यात्मक काम का क्या परिणाम होगा ?, इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं। मानी हुई, साथ ही सर्वानुभूत बात है कि, जिस वस्तु को हम चाहते हैं, जो हमारी कामना का विषय बनी हुई है, उसी पर यदि दूसरे की कामना का भी लक्ष्य है, तो हमें उस अभिलषित–काम्य विषय की प्राप्ति में सन्देह हो जाता है। एक लक्ष्यानुगत, एक लक्ष्यभुक्त अनेक काम समन्वय से विरुद्ध क्षेत्रानुगत–विरुद्ध कामों का संघर्ष हो पड़ता है। इस पारस्परिक कामसंघर्ष से कामियों का शारीराग्नि प्रदीप्त हो पड़ता है। यही कामजनित शारीराग्निसंघर्ष 'क्रोध' कहलाया है। स्वकामप्रतिबन्धक अन्यकामाक्रमण से युक्त हमारा स्मृत्यात्मक काम संघर्ष में पड़ कर शारीराग्निप्रदीप्तिलक्षण क्रोध का जनक बन जाता है। इसप्रकार रागात्मक काम स्वप्रतिबन्धकता से द्वेषात्मक क्रोधरूप में परिणत हो जाता है। कामविषयीभूत दृश्यविषयरूप लक्ष्य गौण हो जाता है, क्रोधविषयीभूत द्वेष्य व्यक्ति प्रधान लक्ष्य बन जाता है। 'जिसने हमारी कामना में विघ्न उपस्थित कर दिया, वह कैसे नष्ट हो, उसका कैसे दमन हो' इस लक्ष्यान्तरभावना का उदय हो जाता है। हम लक्ष्यच्युत बन जाते हैं। और यही उदित स्मृत्यात्मक काम का दूसरा परिणाम है।

२६–काम–क्रोध–लोभत्रयी का उद्गम—

मान लीजिए आप सब कामकामियों में सबल हैं। अतएव आप उन सबका दमन कर देते हैं, फलस्वरूप दृश्य विषय केवल आप ही के आधिपत्य में आ जाता है। क्या यह परिणाम सुखावह मान लिया जायगा ?, क्या इस एकाधिपत्यता में आपका रागात्मक काम अक्षुण्ण बना रहेगा ?, नेति होवाच। प्रथम प्रथम जिस कामना से आपने दृश्य विषय का साक्षात्कार किया था, उसने आपके मन पर चिरकालिक अनुध्यान के द्वारा उसकी वासनात्मक छाप बैठा कर आपकी स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद कर डाला।

प्रथमावरण नें ही आत्मा के स्वाभाविक विकास के आगे एक धुँधली सी पतली सी दीवार खड़ी करदी। आपने इस क्षोभ की शान्ति का उपाय समझा–उस दृश्य विषय पर सदा के लिए एकाधिपत्य स्थापित कर लेना। आपकी सबलता से आपका उस पर एकाधिपत्य भी हो गया; परन्तु शान्ति उत्तरोत्तर घटती गई, अशान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्राप्त वस्तु के संरक्षण में, प्राप्त वस्तु को अन्याक्रमण से बचाने में, प्राप्त वस्तु के भोग्यानुरूप शक्तिसञ्चय में, इत्यादि अनेक परिग्रहों में आपको फँसना पड़ा। इसके अतिरिक्त स्मृति के द्वारा ज्यों ज्यों आप दृश्य विषय से सम्पर्क बढाते गए, त्यों त्यों संस्कारात्मक सङ्गलक्षण उक्थ इन आगन्तुक आवरण पुट-सम्पुटों से अधिकाधिक दृढ़मूल बनता गया। उक्थ के अधिकाधिक दृढ़मूल बनते रहने से उससे निकलने वाला अर्करूप काम (इच्छा) का शान्त होना तो एक ओर रहा, अधिकाधिक बढ़ने लगा। अतिशय व्यापार व्यस्तता से भोग्यशक्ति जहाँ उत्तरोत्तर घटने लगी, वहाँ उक्थदृढ़ता से कामना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। होते होते–गिरते–पड़ते–देखते देखते वह अवस्था (वृद्धावस्था) आपहुँचीं, जिसमें इन्द्रियवर्ग शिथिल हो गया। कामना चरमसीमा पर पहुँची, शक्ति का आत्यन्तिक ह्रास हो गया। इस अवस्था में आकर आपकी इन्द्रियाँ, आपका शरीर ही कामानुगत भोग्यपदार्थ के योग में पतिबन्धक बन गया। प्रवृद्धकामने स्वयं आप ही को क्रोध का अधिष्ठान बना लिया। और यों आपके इस एकाधिपत्यलक्षण रागात्मक काम के ही द्वारा द्वेषात्मक क्रोध उत्पन्न हो गया। अशान्ति बढ़ी, सत्कर्म्मसंग्रह छूटा, तृप्ति हुई नहीं, क्रोध अतिथि बन गया। सर्वोपरि कामजनित आवरणपुटों की परम्परा से आत्मविकास के आगे मोटी दीवाल खड़ी हो गई। इसी लिए तो भगवान् ने रजोगुण से उत्पन्न इस काम-क्रोधद्वन्द्व को 'महाशन'–'महापाप्मा' कहा है। काम की भूँख क्या कभी मिट सकती है। वह तो अभिलषित विषयप्राप्ति से संस्कार के द्वारा उत्तरोत्तर उसी प्रकार बढ़ती रहती है, जैसे आज्यहविराहुति से अग्नि शान्त होनें की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रज्वलित होता रहता है*। इसीलिए भगवान् ने इसे 'महाशन' (बहुत खाने वाला, कभी तृप्त न होने वाला) कहा है। इसके अतिरिक्त यह आत्मा के स्वाभाविक विकास को भी आवृत कर लेता है। अतएव कामकामी–विषयभोगपरायण व्यक्ति का सदसद्विवेक नष्ट हो जाता है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाता है। इसी आवरणधर्म्म के सम्बन्ध से भगवान् ने इसे 'महापाप्मा' कहा है। **'अशनाया वै पाप्मा'** के अनुसार भोगकामानुगता कामनालक्षणा अशनाया स्वयं महापाप्मा है। यह स्वयं जैसे कभी तृप्त नहीं होती, एवमेव इसके सम्पर्क में रहने वाला नित्यतृप्त आत्मा भी अपनी स्वाभाविक तृप्ति से अभिभूत होजाता है। अतएव एकाधिपत्य हो, अथवा अनधिकार, उभयथा यह कामसक्ति स्वसहयोगिनी क्रोधासक्ति का आमन्त्रण करती हुई अन्ततोगत्वा आत्मविकासलक्षण स्वाभाविक शान्ति की अन्यतम शत्रु ही बन रही है। इसे छोड़ देने वाला ही–'शान्तिमाप्नोति', न कामकामी'। दुष्पूरण काम के इसी जघन्य इतिवृत्त का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा है–

> १–काम एष, क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ गी० ३।३७।

---

*–न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

२-धूमेनाव्रियते वह्नि, र्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतोगर्भ, स्तथा तेनेदमावृतम् ॥ गी० ३।३८।

३-आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ गी० ३।३९।

४-काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ-मान-मदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ गी० १६।१०

५-चिन्तामपरिमेयाश्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा 'एताव' दिति निश्चिताः ॥ गी० १६।११।

६-आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ गी० १६।१२

७-अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गी० १६।१६।

८-त्रिविधं नरकस्यैतद् द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः-क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ गी० १६।२१।

९-एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ गी० १६।२२।

१०-इन्द्रियाणि, मनो, बुद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ गी० ३।४०।

११-तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशम् ॥ गी० ३।४१।

२७-'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का समन्वय-

काम-क्रोध-लोभ, तीनों अभिन्न सखा हैं। तीनों सहजन्मा हैं। साथ ही तीनों में 'काम' सब का मूल है। अनुकूल काम भी पूर्वकथनानुसार क्रोध का जनक बन जाता है। एवं कामप्रतिबन्धकात्मक प्रतिकूल काम का क्रोधजनकत्त्व भी स्पष्ट ही है। कामना का लक्षीभूत काम्य विषय, क्रोध का लक्षीभूत द्वेष्य विषय, दोनों में काम क्रोधमय मन रागासक्ति-द्वेषासक्ति के द्वारा तल्लीन हो जाता है। लक्ष्य विषयों में मन का तल्लीन हो जाना हीं कामक्रोधजनित तीसरा 'लोभ' तत्त्व है। यही उदिष्ट स्मृत्यात्मक काम का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जो

विषयप्राप्ति दशा में, उभयथा क्रोध, और लोभ का प्रवर्त्तक बना हुआ है । लोभ आसक्तिस्वरूप में अन्तर्भूत है । अतएव इस प्रसङ्ग में भगवान् ने उसकी स्वतन्त्र गणना नहीं की है । इस कामेतिहास का निष्कर्ष यही हुआ कि, ऐहिक जन्मानुगत सङ्ग से उत्पन्न काम अनुकूलता में कालान्तर में, कामप्रतिबन्धकता लक्षणा प्रतिकूलता में तत्काल शारीराग्निसंघर्षद्वारा 'क्रोध' रूप में परिणत हो जाता है । इसी कामपरिणाम को, स्मृतिपरिणाम को लक्ष्य बना करभगवान् ने कहा है—**'कामात् क्रोधोऽभिजायते'** ।

२८–'क्रोधाद्भवति संमोहः' का समन्वय–

संघर्षजनित क्रोधाग्नि से प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित स्मारक संस्कारों में हलचल मच जाती है । व्यवस्थित संस्कार अस्तव्यस्त हो जाते हैं । किस समय क्या करना चाहिए, कब क्या करना चाहिए, कब क्या नहीं करना चाहिए ?, यह सब व्यापार मानस संस्कारों के आधार पर निर्भर हैं । संस्कारों की पृथक्-पृथक्रूप से (प्रज्ञान धरातल पर) अवस्थिति-व्यवस्थिति-ही विभक्त कर्म्मकलाप की आधारभूमि बनती है । विभिन्नरूप से-व्यवस्थित रूप से प्रज्ञान धरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाले संस्कार ही 'उद्बुद्ध' संस्कार कहलाए हैं । तत्तदुद्-बुद्ध संस्कार ही तत्तत् स्मृतियों के द्वारा तत्तत् कर्म्मव्यवस्था के सञ्चालक बनते हैं । जिस प्रकार एक पात्र में विभक्त व्यवस्थितरूप से प्रतिष्ठित अनेक पदार्थ पात्रप्रत्याघात से अस्तव्यस्त होते हुए विभक्त-व्यवस्थित-उद्बुद्धभाव को छोड़ कर अविभक्त-अव्यवस्थित-उन्मुग्धभाव में परिणत होते हुए एकाकार बन जाते हैं, ठीक इसी भाँति एक प्रज्ञानधरातल पर विभक्त-व्यवस्थित-उद्बुद्धरूप से प्रतिष्ठित-स्मृत्याधारभूत अनेक संस्कार शारीराग्निसंघर्षरूप क्रोध के प्रत्याघात से उन्मुग्धभाव में परिणत होते हुए समाकार बन जाते हैं । संस्कारों की यह समाकारानुगता उन्मुग्धावस्था ही **'संमोह'** है । इसे ही 'वैचित्य' कहा गया है । 'क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है', यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है । इस अन्धता का तात्पर्य्य है-संस्कारों की उन्मुग्धता । कुछ ध्यान नहीं रहता । कुछ का कुछ हो पड़ता है । इसप्रकार कामजनित क्रोध यों आगे चल कर 'संमोह' का जनक बन जाता है—**'क्रोधाद्भवति संमोहः'** ।

२९–'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः' का समन्वय–

व्यवस्थित-विभक्त-उद्बुद्ध संस्कार ही तो स्मृति को सुरक्षित रखते थे । जब स्मृतिरक्षक संस्कार ही अपना स्वरूप संघर्ष में पड़ कर अस्तव्यस्त बना चुके, तो उस दशा में स्मृति कैसे व्यवस्थित रह सकती है ? फलतः संमोह के अनन्तर ही स्मृतिविभ्रम हो पड़ता है-**'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'** ।

३०–'स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः' का समन्वय–

बुद्धि अन्नाद मानी गई है, मन अन्न माना गया है । अन्न के आधार पर ही अन्नाद की स्वरूपरक्षा मानी गई है । अन्नादात्मिका बुद्धि सौर सावित्राग्नि से प्रसूत होने के कारण आग्नेयी है, अग्नि ही अन्नाद माना गया है । अन्नात्मक मन चान्द्र भास्वर सोम से प्रसूत होने के कारण सौम्य है, सोम ही अन्न माना गया है । अध्यात्मसंस्था में प्रज्ञानमन चन्द्रमा है, विज्ञानबुद्धि सूर्य्य है । हृत्प्रतिष्ठ सौम्य, अतएव अन्नात्मक प्रज्ञानमन पर ही आग्नेयी, अतएव अन्नादात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है । प्रज्ञानमन संमोह से अशान्त हो जाता है, इसकी अशान्ति से संस्कार अस्तव्यस्त हो पड़ते हैं । संस्कारावच्छिन्न मन, किंवा मनोऽवच्छिन्न

संस्कारों के आधार पर ही तो बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। साथ ही इन संस्कारों के आधार पर ही तो बुद्धि का सदसद्विवेकलक्षण व्यापार सञ्चालित होता है। सदसद्विवेक ही तो बुद्धि का स्वरूपरक्षक है। संमोहजननित स्मृतिविभ्रम ने संस्कारावच्छिन्न मन को संस्कारों के सहित आन्दोलित कर दिया। अब बुद्धि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहे, तो कहाँ रहे ?, अपना सदसद्विवेक व्यापार किस आधार पर सञ्चालित करे ?। अतएव मानना पड़ेगा कि, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है। व्यवसायधर्म्मोत्क्रान्ति ही बुद्धिविनाश है। इसी आधार पर भगवान् ने कहा है-'स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः'।

३१- 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' का समन्वय-

तमोगुणप्रधान, द्वन्द्वबहुल, मायामय, संसारयात्रा का यात्री जीवात्मा है। इन्द्रियमनोयुक्त कर्त्तव्य-कर्म्मकलाप इस यात्री की यात्रा को निर्विघ्न पूरी करा देने वाला यात्रासाधन है। स्वयं संसार 'नौका' है, जिसमें कर्म्मसाधनों को लेकर यात्री यात्रा के द्वारा पार पहुँचने का प्रयास कर रहा है। बीच ही में सुन्दर दृश्यानुगत कामविघ्न उपस्थित हो जाता है। काम क्रोध को निमन्त्रण दे देता है। क्रोध संमोह का आमन्त्रण कर लेता है। संमोह स्मृतिविभ्रम को अतिथि बना लेता है। स्मृतिविभ्रम उस बुद्धि के 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' 'एवं कर्त्तव्यं' इदं न कर्त्तव्यम्' इत्यादि लक्षण ससद्विवेकात्मक व्यवसायधर्म्म को अभिभूत कर देता है, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि उक्त संसारनौका को स्वविवेक बल से पार लगाने में सचेष्ट बनी रहती है। नौका के इस खेवय्या के मूर्च्छित होते ही यात्री नौका से टकरा जाता है। कर्त्तव्यपथ भूल जाता है, मूर्च्छित हो जाता है, अपना आत्मविकासलक्षण स्वरूप खो बैठता है, और यों नाशपरम्परा का अन्तिम अभिनय समाप्त हो जाता है, जिसका-**'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** शब्दों में अर्जुन के प्रति साटोप प्रदर्शन हुआ है। स्मृत्यात्मक काम (कामना) उदित हो कर क्या करता है ?, प्रश्न का यही दुःखपूर्ण इतिवृत्त है, जिससे त्राण पाने के लिए ही गीताशास्त्र में वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का आविर्भाव हुआ है।

३२-'ध्यायतो विषयान् पुंसः' का तात्त्विक समन्वय—

चतुर्द्धा विभक्त कर्म्मस्वरूप परिचय के प्रसङ्ग में **'ध्यायते विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'** इत्यादि रागासक्तिलक्षण इतिवृत्त का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। रागासक्ति की जननी स्मृति कामात्मिका है, स्मृत्यात्मक यह काम जन्मान्तरीय रागासक्ति से जनित है। जन्मान्तरीय संस्कार जन्मान्तरीय रागासक्ति है, यही प्रथम कर्म्मविभाग है। इस जन्मातरीय रागासक्तिरूप उक्थ से विनिर्गत काम (इच्छा) ऐहिक जन्मानुगत विषयसाक्षात्काररूप ऐन्द्रियक कर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है, यही द्वितीय कर्म्मविभाग है। जन्मान्तरीय रागासक्तिरूप सङ्गोक्थ से विनिर्गत अर्करूप काम के चिरकालिक अनुध्यान से दृष्ट ऐन्द्रियक विषय का संस्कार प्रज्ञान धरातल पर उक्थरूप से खचित हो जाता है। विषयसाक्षात्कारानुगत-कामजनित-ऐहिक-रागासक्तिरूप यह संस्कारोक्थ ही तीसरा कर्म्म विभाग है, जो काम से उत्पन्न है। इस नवीन संस्कारासक्तिरूप सङ्गोक्थ से विनिर्गत स्मृत्यात्मक काम से पुनः पुनः संस्कारानुगत बाह्य विषय की ओर मन का अनुधावन होता रहता है। यह विषयसाक्षात्कारचर्वणा ही चतुर्थ कर्म्म विभाग है, जो स्मृत्यात्मक काम से उत्पन्न है। इसप्रकार आध्यात्मिक कर्म्मव्यूह को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन चारों में से गीताशास्त्र ने ऐहिक संस्कारोक्थरूप सङ्ग से ही बन्धनपरम्परा का

उपक्रम किया है। सङ्ग से काम उत्पन्न हुआ, काम से विषयसाक्षात्कार हुआ, इसी काम के चिरकालिक अनुध्यान से (वहीं खड़े खड़े विषयदर्शन से) दृष्ट विषय सङ्गात्मक संस्काररूप से प्रज्ञान धरातल पर प्रतिष्ठित हो गया, और इसे लेकर आप घर लौटे आए, यहाँ तक की स्थिति एक परम्परा है। इसके आगे से ही गीता के–'ध्यायते विषयान्०' इत्यादि श्लोक का आरम्भ होता है। घर आकर अन्यान्य कार्य्यों में यदि आप व्यस्त हो गए, तो वह दृष्टविषयसंस्काररूप सङ्ग यों हीं (अभिभूत) पड़ा रह गया। यदि आपने चिरकालिक अनुध्यानपूर्वक उसका बार बार स्मरण किया, स्मृत्यात्मक काम का अनुगमन किया, तो इससे आपका मन इस संस्कारसङ्ग में आसक्त हो जायगा, इसी स्थिति का–**'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'** से स्पष्टीकरण हुआ है। इस सङ्ग से देखे हुए विषय को पुनः देखने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, इसी का **'सङ्गात् सञ्जायते कामः'** से विश्लेषण हुआ है। इच्छानुसार यदि दुबारा आप उस दृश्य देखने में सफल हो गए, तो उस पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया, तो कालान्तर में शक्तिह्रास से, अधिकृत विषय संरक्षण की व्यग्रता से आपका शारीराग्नि क्षुब्ध हो जायगा। यदि अन्य कामप्रतिबन्धक के आ जाने से आपकी इच्छा सफल न हुई, तो भी शारीराग्नि क्षुब्ध हो जायगा। इसप्रकार उभयथा सङ्गजनित काम शारीराग्निक्षोभलक्षण क्रोध का जनक बन जायगा, जिसका–**'कामात् क्रोधोऽभिजायते'** से स्पष्टीकरण हुआ है। क्रोध कालान्तर में संस्कारास्तव्यस्तता–उन्मुग्धतालक्षण समोह में परिणत हो जायगा, जिसका–**'क्रोधाद्भवति संमोहः'** से विश्लेषण हुआ है। संमोह वैचित्य लक्षण स्मृतिविभ्रम का कारण बन जायगा, जिसके लिए–**'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'** कहा गया है। स्मृतिविभ्रम से बुद्धिस्वरूपविनाशक अव्यवसाय (सदसद्विवेकाभाव) का जन्म हो पड़ेगा, जिसका–**'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः'** से विश्लेषण हुआ है। इसप्रकार अन्ततोगत्त्वा अन्त का–**'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** सर्वात्मना चरितार्थ हो जायगा, जिसे चरितार्थ न होने देने के लिए ही बुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या प्रवृत्त हुई है।

१–जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारसंघः————प्रथमकर्म्मविभागः (संस्कारात्मकानि कर्म्माणि)
२–ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसाक्षात्कारः————द्वितीयकर्म्मविभागः (कर्म्मात्मकानि कर्म्माणि)
३–ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसंस्कारसंघः————तृतीयकर्म्मविभागः (संस्कारात्मकानि कर्म्माणि)
४–ऐहिक-संस्कारानुगता विषयसाक्षात्कारचर्वणा-चतुर्थकर्म्मविभागः (कर्म्मात्मकानि कर्म्माणि)



१-प्रथमकर्म्मणा विषयसाक्षातरूप–ऐन्द्रियककर्म्माधारभूतस्य कामस्योदयः—

'सङ्गात् सञ्जायते कामः' (सङ्गात–जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारासक्त्या–कामः–साक्षात्कारेच्छा प्रादुर्भवति)।

२-विषयसाक्षात्काराधारभूतस्य कामस्य–जन्मान्तरीयसङ्गजनितस्य–चिरकालिकानुध्यानात्–द्वितीयकर्म्मणा समुत्पन्ने संस्कारे आसक्तिर्जायते, संस्कारः स्वतन्त्रोक्थरूपेण परिणतो भवति–**'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'** (तत्रैव स्थितस्य मनसः–चिरकालिकानुध्यानात्–तेषु दृष्टविषयेषु–रागासक्तिरुत्पन्ना भवति)। स एष सङ्गपदार्थः–नवीनोक्थः–ऐहिकजन्मानुगतः।

३–तं गृहीत्वा गृहे परावर्त्तितास्तत्र भवन्तो भवन्तः। अत्र भगवानाह–

(१)–'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'

"द्वितीयकर्म्मणा समुत्पन्ने संस्कारे यदि स्मृत्यात्मककामेन पुनः पुनः संस्मरणं, तर्हि तस्मिन् मन आसक्तो भवति, तत्र रागासक्त्यां सज्जते।

(२)–'सङ्गात् सञ्जायते कामः'

"रागासक्त्यासञ्जनात्–संस्कारानुगतबाह्यविषयस्य पुनर्दर्शनकामना"।

(३)–'कामात्क्रोधोऽभिजायते'

'पुनर्दर्शनकामसफलतायां, विफलतायां वा चोभयथा शारीराग्निक्षोभलक्षणस्य क्रोधस्योदयः'।

(४)–'क्रोधात्भवति संमोहः'

'क्षोभलक्षणक्रोधात्-सञ्चितागन्तुकसंस्काराः-अस्तव्यस्ताः-अविभक्ताः-सन्तः-उन्मुग्धा जायन्ते'।

(५)–'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'

"संस्काराणां अस्तव्यस्तत्त्वात्–विभक्त–व्यवस्थित–धर्म्मानुगतायाः स्मृतेरभावः।

(६)–'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः'

"स्मृत्यभावे बुद्धिस्वरूपसंरक्षकस्य व्यवसायलक्षणविवेकधर्म्मस्योच्छेदप्रसङ्गः"।
तदित्थं––

१–ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
२–क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात्-बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

––गीता २।६२,६३।

———*———

३३–राग, और द्वेष का जन्य–जनक भाव

रजोगुणानुगता रागासक्ति का स्वरूप परिचय कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि,–'रजोगुणानुगत–सञ्चित अनुकूलसंस्कारोक्थावच्छिन्न शारीराग्निगर्भित मन से निकलनें वालीं अर्कात्मिका रश्मियाँ हीं 'काम' नाम की अनुकूल कामना है। अनुकूलकामनात्मिका अनुकूलसंस्कारबन्धनासक्ति ही रागासक्ति है। रागासक्ति कैसे, क्यों होजाती है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही वहाँ से आरम्भ कर उक्त विषय पर्य्यन्त काम–परम्पराओं की प्रासङ्गिक मीमांसा करनी पड़ी। इसी रागासक्ति से द्वेषासक्ति का स्वरूप–परिचय भी उक्तप्राय है। रागासक्ति का मूल यदि सुखानुशायी काम है, तो द्वेषासक्ति का मूल दुःखानु–

शायी क्रोध है। उधर क्रोध काम से उत्पन्न तत्त्व है। अतएव कामात्मिका रागासक्ति में ही क्रोधात्मिका द्वेषासक्ति का भी अन्तर्भाव माना जासकता है। प्रसङ्गोपात्त इसके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न माना जायगा।

३४–रागद्वेष का लक्षणसमन्वय—

रजोगुणानुगत–सञ्चित प्रतिकूलसंस्कारोक्थावच्छिन्न मानस सोमगर्भित शारीराग्नि से निकलनें वालीं अर्कात्मिका रश्मियाँ हीं 'क्रोध' नाम की प्रतिकूलकामका है। यह प्रतिकूलकामना प्रतिकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव क्रोधात्मिका प्रतिकूल कामना दुःखानुशायिनी मानी गई है। दुःख में (दुःखा–नुगत प्रतिकूल विषय के परित्यागात्मक ग्रहण में) ओतप्रोत मन हीं 'कोध' है। इस क्रोधात्मिका प्रतिकूल कामना (द्वेषकामना) से युक्त प्रतिकूल–द्वेष्य–कामात्मक प्रतिकूल संस्कारबन्धन हीं 'द्वेषात्मक' राग है। यही द्वेषासक्ति है। आपकी दृष्टि प्रतिकूल–संचित संस्कारानुगत प्रतिकूल काम (इच्छा) से पुरोऽवस्थित प्रतिकूल विषय पर पड़ी। आपका मन क्लान्त हो गया,आपने वहाँ से जल्दी से जल्दी मनको निकालना अवश्य चाहा। परन्तु उसकी छाप आपके मनोधरातल पर खचित हो गई। वही छाप स्वतन्त्रोक्थरूप में परिणत हो गई। अब जब भी स्मृति के द्वारा वह उद्बुद्ध हो जाती है, वह द्वेष्य विषय न-न करते हुए भी आपको क्लान्त बनाता रहता है। यही द्वेषासक्ति का उदाहरण है। रागासक्ति से जहाँ अनुकूलवेदनात्मक सुख का अनुभव होता रहता है, वहाँ इस द्वेषासक्ति में प्रतिकूलवेदनात्मक दुःख का अनुभव होता रहता है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों नें कहा है कि,–**'सुखानुशयिक–कामानुबन्धी–अनुकूल भावना–वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रज्ञानमन का सामान्य ग्रन्थिबन्धन ही 'राग' है, यही रागासक्ति है'**। एवं–**'दुःखानुशयिक–क्रोधा-नुबन्धी प्रतिकूल भावना–वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रज्ञानमन का दृढ्–ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध हीं 'द्वेष' है, यही द्वेषासक्ति है'**। इसी आधार पर इस दृष्टि से वैराग्यविरोधी राग–द्वेष-द्वन्द्व का निम्न लिखित लक्षण किया जा सकता है।

१–सुखानुशयिक-कामानुबन्धि–अनुकूलभावनावासनासंस्कारैः–अग्निगर्भितमनसः सामान्यग्रन्थि–बन्धनसम्बन्धः, आसक्तिबन्धो वा–'रागः'। सैषा रागासक्तिः।

२-दुःखानुशयिक–क्रोधानुबन्धि–प्रतिकूलभावनावासनासंस्कारैः-सोमगर्भिताग्नेः--दृढ़ग्रन्थिबन्धन–सम्बन्धः–आसक्तिबन्धो वा–'द्वेषः'। सैषा द्वेषासक्तिः।

——✻——

३५–रागाकर्षणात्मक प्रेम के पाँच विभिन्न क्षेत्र—

अन्य दृष्टि से 'रागद्वेषद्वन्द्व' का समन्वय कीजिए। जिस भौतिक विषय का हमारा मन ग्रहण करना चाहता है, उस विषय के प्रति मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता है। एवं जिस विषय से हमारा मन हटना चाहता है, उसके प्रति मन का विक्षेपण रहता है। पहिले आकर्षणबलप्रयोग का उदाहरण देखिए। पति का मन पत्नी की ओर, पत्नी का मन पति की ओर स्वभावतः आकर्षित रहता है। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, मित्र-मित्र, इत्यादि स्थलों में दोनों का दोनों ओर समानाकर्षण है। आकर्षणबलप्रयोग का अर्थ है–मानस सौम्य

रस का लक्ष्य की ओर प्रवाहित रहना । यही रसप्रवाह 'प्रेम' कहलाया है । अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक, परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक, समानानुयोगिक समानप्रतियोगिक, एकतोऽनुयोगिक, सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, भेद से इस रसप्रवहात्मक आकर्षण के पाँच विवर्त्त हो जाते हैं । पिता आदि परों का पुत्रादि अवरों के साथ जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है, वही अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक **'वात्सल्य'** नामक आकर्षण है । वात्सल्यरस परों से प्रवाहित होकर अवरों की ओर आ रहा है । इस रस का योग अवरों से हो रहा है । अतएव इसे परप्रतियोगिक-अवरानुयोगिक कहा जाता है । इस स्थिति को ठीक उलटा कर दीजिए । पुत्रादि अवरों का पितादि परों के साथ जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है, वही परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक 'श्रद्धा' नामक आकर्षण है । श्रद्धारस अवरों से प्रवाहित होकर परों की ओर जा रहा है । इस रस का योग परों से हो रहा है । अतएव इसे परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक कहा जाता है । एक मित्र दूसरे मित्र के लिए समान है । **'समानशील–व्यसनेषु मैत्री'** सिद्धान्तानुसार समान धर्म्मियों में हीं मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है । एक मित्र से प्रवाहित होकर उसका प्रेमारस दूसरे मित्र की ओर जा रहा है, तो उस दूसरे मित्र का प्रेमारस इस प्रथम मित्र की ओर आ रहा है । प्रथम मित्र का प्रेमारस द्वितीय मित्र की अपेक्षा समानानुयोगिक, स्वपेक्षया समान प्रतियोगिक है, तो द्वितीय मित्र का प्रेमारस प्रथम मित्रापेक्षया समानानुयोगिक, एवं द्वितीय मित्रापेक्षया समानप्रतियोगिक बना हुआ है । दोनों के प्रेमारस परस्पर एक दूसरे के प्रति समानरूप से प्रवाहित हो रहे हैं । यही समानप्रतियोगिक–समानानुयोगिक प्रेमाकर्षण **'स्नेह'** कहलाया है । श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह, तीनों आकर्षणों में आकर्षणबलप्रयोगों के क्षेत्र चेतन हैं, सजीव हैं । गृह, वस्त्र, आभूषण, पुस्तक, उद्यान, अन्न, आदि जड़ पदार्थों के प्रति भी प्रेमारस प्रवाहित रहता है। प्रवाहित होकर वह इन जड़ पदार्थों में आबद्ध हो जाता है । इसी आधार पर–**'यावद्वित्तं तावदात्मा'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इनमें न अनुयोगिकता है, न प्रतियोगिकता । केवल हमारे रस का उनके साथ योग है । अतएव इस प्रेमाकर्षणात्मक **'काम'** नामक आकर्षण को एकतोऽनुयोगिक कहा गया है । पाँचवें प्रेमाकर्षण में श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–काम, चारों आकर्षणों का समन्वय है, अतएव **'रति'** नाम से प्रसिद्ध सर्वात्मक यह आकर्षण 'सर्वानुयोगिक–सर्वप्रतियोगिक' कहलाया है । इसके सर्वपरानुयोगिक सर्वअवरप्रतियोगिक–रत्याकर्षण, एवं सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, भेद से दो भेद मानें गए हैं । हम श्रद्धाभाव से ईश्वर की उपासना करते हैं, जिस उपासना का वासुदेवनन्दन वासुदेवस्वरूप से सम्बन्ध है । वात्सल्यभाव से उपासना करते हैं, जिस उपासना का नन्दनन्दनस्वरूप से सम्बन्ध है । हम स्नेहभाव से उसकी उपासना करते हैं, जो उपासना कृष्णसखा अर्जुन के सम्बन्ध में घटित हुई है । पाषाण–काष्ठादि भगवद्विग्रहोपासना (जड़ोपासना, प्रतिमोपासना) का कामभाव से सम्बन्ध है । सूर्य्य–चन्द्रादि लक्षण प्रतीकोपासना का भी इसी कामभाव में अन्तर्भाव है । इसप्रकार सगुणब्रह्म के सम्बन्ध में चारों प्रेमाकर्षणों का समन्वय हो रहा है । 'पर' सगुणब्रह्म है, उपास्य है । उपासक जीवात्मा अवर है । सर्वव्यापक समदर्शी पर ईश्वर की न किसी पर श्रद्धा है, न वात्सल्य है, न स्नेह है, न काम है, और यही वैज्ञानिक तत्त्वोपासना का तत्त्व है, जिसका भक्तियोगपरीक्षाखण्डों में बहुशः प्रतिपादन किया जा चुका है । अतएव यह सर्वाकर्षण अवरप्रतियोगिक ही माना जायगा । उपासक की श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम-वृत्तियों की उपास्य ईश्वर की ओर ही अनुगति रहती है । अतएव एवंविध सर्वाकर्षण 'परानुयोगिक' ही माना जायगा । क्योंकि परानुयोगिक–अवरानुयोगिक इस आकर्षण में चारों का समन्वय है, अतएव इस ईश्वरानुगत जीवाकर्षण को हम 'रति'

नामक-सर्वपरानुयोगिक-सर्वावराप्रतियोगिक रत्याकर्षण ही कहेंगे। जिसका निष्कर्ष यही होगा कि, सर्वरस-प्रवाहात्मक 'रति' प्रेम का एक क्षेत्र उपास्य सगुण ब्रह्म है। इस रति से जीव भी उन्मुक्त हो जाता है * ।

दूसरे रत्याकर्षण का क्षेत्र दाम्पत्यभाव है। दाम्पत्यभावानुगत रत्याकर्षण ही सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक नाम का दूसरा रत्याकर्षण है। पहिले पति के क्षेत्र से समन्वय कीजिए। पत्नी पति पर श्रद्धा करती है, उसे आराध्य मानती है। पत्नी का श्रद्धारस पति के लिए प्रतियोगी है, पति के लिए अनुयोगी है। जिस प्रकार स्वसन्तति की रुग्णावस्था में माता के अन्तर्जगत् में वात्सल्यरस उमड़ पड़ता है, एवमेव पति की रुग्णावस्था में भी 'जाया' पदाधिकारिणी (मातृपदाधिकारिणी) पत्नी का वही वात्सल्यरस प्रवाहित होने लगता है, जो अनुभवैकगम्य है। पत्नी का यह वात्सल्यरस भी पत्नी का प्रतियोगी, एवं पति के लिए अनुयोगी (अनुयुक्त) बन रहा है। **'सहधर्म्मं चरताम्'** को चरितार्थ करने वाली पत्नी यावज्जीवन पति की सङ्गिनी बनी रहती है। पतिसुख में सुखानुभव करने वाली, पतिदुःख में दुःखानुभव करने वाली पत्नी अपना मित्रानुगत स्नेहरस भी पति की ओर प्रवाहित रखती है। यहाँ भी पत्नी का यह स्नेहरस पत्नी के लिए प्रतियोगी, एवं पति के लिए अनुयोगी सिद्ध होरहा है। पति की कामानुगता गति, बाह्यवेशभूषानुगत जड़सौन्दर्य्य, मन्दहास, आदि के प्रति भी कामानुगता पत्नी आकर्षित रहती है। यही इसके कामरस का पति की ओर बहाव है। यहाँ भी पत्नी का कामरस इसके लिए प्रतियोगी है, एवं पति के लिए अनुयोगी है। इसप्रकार पत्नी के मनोऽनुगत श्रद्धादि चारों रस 'पत्युनुयोगिक-पत्नीप्रतियोगिक' रूप से सर्वात्मक बने हुए हैं। अतएव चतुर्विध इस पत्यनुगत पत्नीप्रेम को अवश्य ही 'रति' कहा जासकता है। ठीक यही स्थिति पत्नी-क्षेत्र के सम्बन्ध में घटित हुई है। गृहप्रतिष्ठारूपा-श्रीलक्षणा-पत्नी पति के लिए श्रद्धेया है, सम्माननीया है, जैसा कि **'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते'** इत्यादि श्रद्धेय मनुवचन से प्रमाणित है। पति की वात्सल्यदृष्टि से भी पत्नी अनुगृहीत रहती है। स्नेहरसानुगति भी स्पष्ट प्रमाणित है। कामानुगत केशपाशवस्त्राभूषणादि विन्यासलक्षण कामरस प्रवहण भी संसिद्ध है। पति के ये श्रद्धादि चारों रस स्वयं पति के लिए प्रतियोगी हैं, एवं पत्नी के लिए अनुयोगिक है। पति के मनोऽनुगत श्रद्धादि चारो रस पत्न्यनुगत पतिप्रेम को अवश्य ही 'रति' कहा जासकता है। यही 'सर्वानुयोगिक-सर्वप्रतियोगिक' लक्षण दूसरा रत्याकर्षण है, जिसका एक मात्र क्षेत्र दाम्पत्यभाव ही माना गया है। पत्नीप्रेम की प्रतिष्ठा पतिप्रेम है, पतिप्रेम की प्रतिष्ठा पत्नीप्रेम है। उभयानुगता रति उभयसापेक्षा है। यही दाम्पत्यप्रेमाकर्षण का वैज्ञानिकस्वरूप है। निष्कर्षतः आकर्षणबलमात्र उभयनिष्ठ ही हुआ करते हैं। सारांश यही हुआ कि, विषयानुगत मानस रसप्रवाह ही आकर्षणप्रेम है, एवं यह श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति, भेद से पञ्चधा विभक्त है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

---

*-कामं, क्रोधं, भयं, स्नेह, मैक्यं, सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
—श्रीमद्भागवत १० स्कं०, पू० २६ अ० १५ श्लोक ।

१-परानुयोगिकं-अवरप्रतियोगिकं प्रेमाकर्षणम् -'श्रद्धा']—सत्त्वगुणाकर्षणम्

२-अवरानुयोगिक-परप्रतियोगिकं प्रेमाकर्षणम् -'वात्सल्यः' }

३-समानप्रतियोगिकं-समानानुयोगिकं प्रेमाकर्षणम् -'स्नेहः' }—रजोगुणाकर्षणम्

४-एकतोऽनुयोगिकं प्रेमाकर्षणम् -'कामः']-तमोगुणाकर्षणम्

५-सर्वानुयोगिकं-सर्वप्रतियोगिकं प्रेमाकर्षणम् -'रतिः']-सर्वगुणाकर्षणम्



३६-आकर्षण-विक्षेपणात्मक रागद्वेषद्वन्द्व—

उक्तलक्षण-मानस प्रेमाकर्षण में दोनों का दोनों ओर आकर्षण होता है। एक दूसरे ने परस्पर एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यह प्राकृतिक प्रेमाकर्षण ही 'राग', किंवा रागासक्ति है। ठीक इसके विपरीत इसी मानस रस का परस्पर विक्षेपण होना ही 'द्वेष', किंवा द्वेषासक्ति है। सामने आपका शत्रु खड़ा है। आपका मानस रस (तबियत) उसकी ओर खिंचा जा रहा है, उसका रस आपकी ओर खिंचा जा रहा है। दोनों में रस का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं हो रहा है। प्रश्न किया जा सकता है कि, पूर्व में द्वेषासक्ति का विश्लेषण करते हुए इसमें मानस रस का सम्बन्ध बतलाया गया है। अब यहाँ यह कहा जा रहा है कि, दोनों के रसों का स्पर्श भी नहीं हो पाता। यह कैसा पूर्वापरविरोध ?। उत्तर स्पष्ट है। **'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** सिद्धान्तानुसार संयोग यदि वियोगान्त है, तो वियोग संयोगान्त है। राग का अर्थ है संयोग। विश्वास कीजिए-यह संयोगात्मक राग अवश्य ही 'अतिपरिचयादवज्ञा' के अनुसार किसी दिन वियोगस्वरूप में परिणत हो जायगा, और संयोगात्मक राग की वह वियोगात्मिका दशा ही वियोगात्मक द्वेष रूप में परिणत हो जायगी। यों रागासक्ति ही किसी दिन द्वेषासक्तिरूप में परिणत हो जायगी। द्वेष का अर्थ है वियोग। यदि यह वियोग चिरस्थायी बना रहेगा, तो अवश्य ही यह किसी दिन संयोगरूप में परिणत हो जायगा, और वियोगात्मक द्वेष की वह संयोगात्मिका दशा ही संयोगात्मक रागरूप में परिणत हो जायगी। यों द्वेषासक्ति ही कालान्तर में रागासक्तिरूप में परिणत हो जायगी। राग का चरम परिणाम होगा द्वेष, द्वेष का चरम परिणाम होगा राग। सोम का आत्यन्तिक संकोच ही विकासात्मक अग्नि है, एवं अग्नि का आत्यन्तिक विकास ही संकोचात्मक सोम है। यही स्थिति अग्निगर्भित सौम्य मन से विनिर्गत कामानुबन्धी सोमगुणक राग की, तथा सोमगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत क्रोधानुबन्धी अग्निगुणक द्वेष के सम्बन्ध में घटित हुई है। जो राग है, वही द्वेष है। जो द्वेष है, वही राग है। काम से ही रागोत्पत्ति है, काम से ही द्वेषोत्पत्ति है। इस स्थिति को लक्ष्य में रख कर उत्तर का समन्वय कीजिए। हटना तभी बन सकता है, बजकि पहिले दोनों रसों का संयोग हो। विभाग संयोग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। योग ही वियोगप्रवृत्ति का कारण बनता है। सम्बन्ध होगा, तभी तो सम्बन्धविच्छेद को अवसर मिलेगा। द्वेष में दोनों रसों का दोनों शत्रुओं के सांमुख्य होते ही पहिले क्षण भर के लिए अज्ञातरूप से सम्बन्ध हो जाता है। इस प्राथमिक-आकस्मिक-संयोग के अव्यवहितोत्तरकाल में ही सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध अपनी सम्मुखता छोड़ कर विमुखता में परिणत हो जाता है। इसप्रकार विक्षेपणात्मक द्वेष में भी मूल में बन्धनात्मिका आसक्ति की सत्ता ही सिद्ध हो

जाती है। रागात्मक सम्बन्ध आकर्षणात्मक है, द्वेषात्मक सम्बन्ध विक्षेपणात्मक है, यही तात्पर्य्य है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, कामानुगत मानस आकर्षण का ही नाम राग, किंवा रागासक्ति है। अतएव रागासक्ति में मन रागानुगत बाह्य विषय की ओर सदा आकर्षित रहता है। क्रोधानुगत मानस विक्षेपण का ही नाम द्वेष, किंवा द्वेषासक्ति है। अतएव द्वेषासक्ति में मन द्वेषानुगत बाह्य विषय से सदा हटता रहता है। दूसरे शब्दों में आकर्षणबलप्रयोग ही राग है, विक्षेपणबलप्रयोग ही द्वेष है। यही रागद्वेषद्वन्द्व समन्वय का तृतीय दृष्टिकोण है।

कामानुगताकर्षणबलप्रयोगः—रागः }
क्रोधानुगतविक्षेपणबलप्रयोगः—द्वेषः } —आसक्तिः

*

कामानुगतमाकर्षणम्—वा—रागः }
क्रोधानुगतं विक्षेपणम्—वा—द्वेषः } —आसक्तिः

३७-कामक्रोधानुबन्धी रागद्वेषद्वन्द्व-

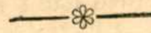
चौथी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्व का समन्वय कीजिए। राग भी काममूलक है। द्वेष भी काममूलक है। रागकामना से रागासक्ति का उदय होता है, द्वेषासक्ति से द्वेषासक्ति का उदय होता है। इसप्रकार यद्यपि राग द्वेष, दोनों का प्रवर्त्तक 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को तो 'काम' शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है। एवं द्वेषमूलक काम को 'काम' न कह कर 'क्रोध' कहा जाता है। कारण यही है कि, रागमूलक काम शारीराग्निगर्भित मन से विनिर्गत होता हुआ सुखानुशायी, अतएव सौम्य है। उधर द्वेषमूलक काम मनोगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत होता हुआ दुःखानुशायी, अतएव आग्नेय है। आग्नेयताप असङ्ग है, सौम्य स्नेह ससङ्ग है। अतएव सौम्य मनःप्रधाना रागमूला कामना स्नेहलक्षणा आकर्षणासक्ति के द्वारा रागबन्धन की जननी बनती है। एवं आग्नेयतापप्रधाना द्वेषामूला कामना तेजोलक्षणा विक्षेपणशक्ति के द्वारा द्वेषाबन्धन की जननी बनती है। द्वेषबन्धन असङ्गाग्निप्राधान्य से अबन्धनात्मक परित्यागात्मक बन्धन है, रागबन्धन ससङ्गसोमप्राधान्य से बन्धनात्मक-ग्रहणात्मक बन्धन है। इसप्रकार रजोगुणाधारेण प्रतिष्ठित एक ही काम सोमाग्नि के सम्बन्धतारतम्य से कामात्मक काम, क्रोधात्मक काम, इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। कामात्मक काम 'काम' कहलाया है, क्रोधात्मक काम 'क्रोध' कहलाया है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, राग कामानुबन्धी है, द्वेष क्रोधानुबन्धी है। राग में काम का साम्राज्य है, किंवा काम में राग का साम्राज्य है। एवं द्वेष में क्रोध का, किंवा क्रोध में द्वेष का साम्राज्य है। ऐसी स्थिति में यदि काम को राग का, एवं क्रोध को द्वेष का जनक कह दिया जाय, तब भी अत्युक्ति न होगी।

कामजनित राग से सम्बन्ध रखने वाले सब अनुबन्धों में तत्प्रवृत्तिप्रवणता रहती है। रागासक्ति के लक्ष्य को अपना कर अनुकूल वेदनात्मक सुखानुभव करता हुआ कर्म्मफलप्रेप्सु कामकामी रागी उस लक्ष्य को भी

सुखानुशायी बनाने में सचेष्ट बना रहता है। बच्चे के साथ राग है, अतएव इससे जैसे आप सुखानुभव कर रहे हैं, वैसे रागलक्षीभूत बच्चे को खिलाना-पिलाना-कपड़े पहिनाना-उसके लिए रमणसाधन (खिलौना) लाना आदि साधनों के द्वारा आप इसे भी सुखी बनाने में तल्लीन रहते हैं। प्रत्येक प्रकार से इसे सुख पहुँचाने का ध्यान रहता है। 'इसे सुख मिले, इसे कोई कष्ट न हो', राग में इसी सुखानुबन्ध की प्रधानता रहती है, जो अन्ततोगत्वा दुःखानुबन्धप्रवृत्ति का कारण बन जाता है। यही बालराग बालक के यत्किञ्चित् उत्पीड़न से आपके दुःख का कारण बन जाता है। क्रोधजनित द्वेष में ठीक इसके विपरीत है। द्वेष से सम्बन्ध रखने वाले सब अनुबन्धों में तन्निवृत्तिप्रवणता रहती है। जिसके साथ द्वेष होता है, उस पर सदा क्रोधभाव जाग्रत रहता है। शत्रु का नामस्मरण होते ही दाँत भिंच जाते हैं, मुट्ठी बँध जाती है। 'कैसे इसका सर्वनाश हो, कैसे यह दुःखी बने' यह निवृत्तिलक्षणा प्रवणता जाग्रत हो जाती है। राग में मन क्योंकि सुख में ओतप्रोत रहता है, अतएव भगवान् पतञ्जलि ने राग का—**'सुखानुशायी रागः'** यह लक्षण किया है। यहाँ 'सुख' से 'काम' ही अभिप्रेत है। जिसका अर्थ होता है—**'कामानुबन्धो रागः'**। द्वेष में मन क्योंकि दुःख में ओतप्रोत रहता है। अतएव इसका योगदर्शन में—**'दुःखानुशायी द्वेषः'** यह लक्षण हुआ है। यहाँ बुःख से क्रोध ही अभिप्रेत है। अतएव इसका अर्थ होता है-**'क्रोधानुबन्धी द्वेषः'**। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, विषय-सम्बन्धानुगता उदयानुकूला वृत्ति काम है, नाशानुकूला विषयवियोगानुगता अस्तानुकूला वृत्ति क्रोध है। राग एवंविध कामानुबन्धी है, सुखानुशायी है। द्वेष एवंविध क्रोधानबन्धी है, दुःखानुशायी है।

१—कामानुबन्धी-रागः }
२—क्रोधानुबन्धी-द्वेषः } —आसक्तिः

१—सुखानुशायी-रागो वा }
२—दुःखानुशायी-द्वेषो वा } —आसक्तिः



३८-रजोमूलक-काम-क्रोध-मोह—

रागद्वेषात्मिका आसक्ति का अनेक दृष्टि से समन्वय किया गया। रागद्वेष, दोनों क्रमशः काम-क्रोध-मूलक हैं। काम-क्रोध, दोनों तत्त्वतः कामासक्तिलक्षण हैं। काम ही तत्त्वतः दोनों का मूल है। अतएव योगशास्त्र-पठित 'राग, द्वेष,' नामक दोनों क्लेशों की समष्टि को 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। अतएव पाँच क्लेशों के स्थान में इस विज्ञानदृष्टि के कारण चार ही क्लेश रह जाते हैं। चारों क्लेशों में से रागद्वेषात्मक आसक्ति क्लेश का प्रतिद्वन्द्वी आसक्तिनिवर्त्तक भग ही **'वैराग्य'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। आसक्ति-क्लेश का प्रतिज्ञानुसार स्वरूप परिचय कराया गया। अब तत्प्रतिद्वन्द्वी-तन्निवर्त्तक वैराग्य-भग का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। विगतरागभाव का ही नाम 'वैराग्य' है। 'राग' काममूलक बतलाया गया है।

वैराग्य का अर्थ होता है-काममूलक राग का अभाव। क्या वैराग्य शब्द से केवल काममूलक राग का ही अभाव अभिप्रेत है ?। नहीं। अपितु वैराग्यशब्द राग, द्वेष, मोह, तीनों के अभावका सूचक बन रहा है। कैसे ?, सुनिए !।

३९-कामक्रोधलोभमूलक-रागद्वेषमोह—

गीता ने रजोगुण से काम-क्रोध की उत्पत्ति मानी है। क्रोध को लोभात्मक 'मोह' का भी उपलक्षण समझना चाहिये। और इस दशा में-'काम एषः, क्रोध एषः, रजोगुणसमुद्भवः' का अर्थ-'काम एषः, क्रोध एषः, लोभ एषः, रजोगुणसमुद्भवः' यह समझना चाहिये। अज्ञानावृत ज्ञानलक्षण मोह, लोभात्मक मोह, भेद से मोह दो प्रकार का माना गया है। अज्ञानावृत ज्ञानलक्षण मोह को पतञ्जलि ने 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत किया है। एवं इस अज्ञानात्मक मोह का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान माना गया है, जिसका सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धि-योग से सम्बन्ध है, जिसका तृतीय स्तम्भ में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है। दूसरा लोभात्मक मोह उस अज्ञानात्मक-ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी-मोह से पृथक् तत्त्व है। लोभात्मक मोह की प्रतिष्ठा अज्ञान नहीं है, अपितु रागद्वेषासक्ति है। अतएव इसे रागद्वेषवत् आसक्तिस्वरूप में हीं अन्तर्भूत माना जायगा। अतएव इसका प्रतिद्वन्द्वी रागद्वेषासक्तिवत् वैराग्य ही माना जायगा। **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** का मोह ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी अज्ञानात्मक मोह है। एवं-**'मोहादारभ्यते कर्म्म'** (१८।२५।)-**मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्'** (१६।१०)-**'प्रमादो मोह एव च'** (१४।१३)-का मोह वैराग्यप्रतिद्वन्द्वी आसक्तिलक्षण मोह है। ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी मोह का मूल अज्ञान है, वैराग्यप्रतिद्वन्द्वी मोह का मूल लोभात्मिका आसक्ति है। अतएव रागानुगत काम, द्वेषानुगत क्रोध, इन आसक्तिमूलों के साथ ही मोहानुगत लोभ का संग्रह हुआ है, जैसाकि-**'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः-क्रोधः-तथा लोभः'** इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। काम-क्रोध-लोभ, तीनों सहचारी हैं, समानजातीय हैं, अभिन्न सखा हैं। राग कामानुबन्धी है, द्वेष क्रोधानुबन्धी है, मोह लोभानुबन्धी है। अतएव काम-क्रोध को लोभ का, एवं रागद्वेष को मोह का उपलक्षण माना जायगा। गीता ने रजोगुण से काम-क्रोध की उत्पत्ति मानी है, जिसमें लोभ का भी समावेश करना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा कि, काम-क्रोध-लोभ, तीनों रजोगुणसमुद्भूत हैं। कामानुगत राग, क्रोधानुगत द्वेष यदि रजोगुणमूलक बनते हुए रागात्मक (आसक्त्यात्मक) हैं, तो लोभानुगत मोह भी रजोगुणमूलक बनता हुआ अवश्य ही रागात्मक माना जायगा। 'राग' का अर्थ होगा आसक्ति। रागलक्षणा (रजोगुणलक्षणा) यह आसक्ति क्योंकि काम-क्रोध-लोभ-मूलक राग-द्वेष-मोह भेद से त्रिधा विभक्त रहती है। अतएव 'वैराग्य' के राग शब्द से 'राग-द्वेष-मोह' तीनों का ग्रहण किया जायगा। और उस दशा में वैराग्य शब्द का अर्थ किया जायगा-'राग-द्वेष-मोह-राहित्य'।

	कामः—रजोगुणमूलः-अतएव रागात्मकः-कामरागः-तन्मूलो रागः—अनुकूलरागः
रागत्रयी	क्रोधः—रजोगुणमूलः-अतएव रागात्मकः-क्रोधरागः-तन्मूलो द्वेषः—प्रतिस्कूलरागः
	लोभः—रजोगुणमूलः-अतएव रागात्मकः-द्वेषरागः-तन्मूलो मोहः—स्तब्धरागः

४०-'रजो रागात्मकं विद्धि' का समन्वय—

'रजो रागात्मकं विद्धि' (गी० १४।७।) के अनुसार रजोगुण रागात्मक है, आसङ्गनात्मक है। आसङ्गन क्योंकि कामासङ्गन-क्रोधासङ्गन-लोभासङ्गन, भेद से तीन भागों में विभक्त है, अतएव रजोगुण भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। कामासङ्गनानुगत (कामरागानुगत) रजोगुण अनुकूलासक्ति का, क्रोधासङ्गनानुगत (क्रोधरागानुगत) रजोगुण प्रतिकूलासक्ति का, एवं लोभासङ्गनानुगत (लोभरागानुगत) रजोगुण स्तब्धासक्ति का जनक बनता है। रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिका अनुकूलासक्ति ही 'राग' नाम से, रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिका प्रतिकूलासक्ति ही 'द्वेष' नाम से, एवं रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिका स्तब्धासक्ति ही 'मोह' नाम से व्यवहृत हुई है। इस दृष्टि से राग-द्वेष-मोह-तीनों का रागात्मकत्त्व सिद्ध हो जाता है।

४१-त्रिगुणात्मक रजोगुण का त्रिवृद्रूप—

एक बात और। त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाग्वत् सत्त्व-रजस्तमोलक्षणा गुणत्रयी भी त्रिवृद्भाव में परिणत रहती है, जिसका आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिरूपक प्रथम स्तम्भ में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस त्रिवृद्भाव के कारण मध्यस्थ रजोगुण भी सत्त्वरूप रज, रजोरूप रज, तमोरूप रज, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। सत्त्वगुणात्मक रजोगुण काम का, एवं कामानुगत अनुकूलासक्तिलक्षण 'राग' का मूल बनता है। रजोगुणात्मक रजोगुण क्रोध का, एवं क्रोधानुगत प्रतिकूलासक्तिलक्षण 'द्वेष' का मूल बनता है। तमोगुणात्मक रजोगुण लोभ का, एवं लोभानुगत स्तब्धासक्तिलक्षण 'मोह' का मूल बनता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण राग को सत्त्वानुगत, द्वेष को रजोऽनुगत, एवं मोह को तमोऽनुगत माना जा सकता है। सत्त्वगुण सुखानुशायी है। अतएव सत्त्वगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत काम, एवं कामानुगत राग को सुखानुशायी माना जायगा। रजोगुण दुःखानुशायी है। अतएव रजोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत क्रोध, एवं क्रोधानुगत द्वेष को दुःखानुशायी माना जायगा। तमोगुण स्तब्धशायी है। अतएव तमोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत लोभ, एवं लोभानुगत मोह को स्तब्धानुशायी माना जायगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१-सत्त्वगुणात्मकं-रजः-तन्मूलः कामः-तदनुगतासक्तिः-'रागः' (सुखानुशायी)
२-रजोगुणात्मकं-रजः-तन्मूलः क्रोधः-तदनुगतासक्तिः-'द्वेषः' (दुःखानुशायी)
३-तमोगुणात्मकं-रजः-तन्मूलः लोभः-तदनुगतासक्तिः-'मोहः' (स्तब्धानुशायी)



४२-वैराग्य का तात्त्विक स्वरूप—

सत्त्वगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'काम' से सम्बन्ध रखने वाले राग में प्रवृत्ति है। रजोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'क्रोध' से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष में निवृत्ति है। एवं तमोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'लोभ' से सम्बन्ध रखने वाले मोह में स्तम्भन है। इसप्रकार त्रिवृद्भावापन्न एक ही

रजोगुण काम-क्रोध-लोभ द्वारा राग-द्वेष-मोह का जनक बना हुआ है। अतएव वैराग्य के राग शब्द को उपलक्षणविधि (गौणविधि) से रागसहचारी द्वेष, मोह का भी संग्राहक माना जा सकता है। अतएव च वैराग्य का-'रागद्वेषमोहराहित्यं वैराग्यम्' यह लक्षण किया जा सकता है।

४३-विषयानुगत रागद्वेषमोहत्रयी का अनुभावित साहचर्य्य—

राग-द्वेष-मोह, तीनों में अनुभावित (काल्पनिक-कल्पित) साहचर्य्य माना गया है। कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति का मन कामात्मक राग से युक्त है। जबतक मन में कामात्मक राग रहेगा, तबतक क्रोधात्मक द्वेष, तथा लोभात्मक मोह को अवसर न मिलेगा। एवमेव क्रोधात्मक द्वेष की सत्ता में राग-मोह को, लोभात्मक मोह की सत्ता में रागद्वेष को अवसर न मिलेगा। राग प्रवृत्ति है, द्वेष निवृत्ति है, मोह स्तम्भन है। जबतक प्रवृत्ति है, तबतक निवृत्ति-स्तम्भन सम्भव नहीं। जबतक निवृत्ति है, तबतक प्रवृत्ति-स्तम्भन सम्भव नहीं। एवं जबतक स्तम्भन है, तबतक प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव नहीं। तात्पर्य्य-तीनों एककालावच्छेदेन (एक समय में) मनोधरातल पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। प्रतिष्ठास्थान एक ही है, परन्तु प्रतिष्ठाकाल तीनों का विभिन्न है। पहिरा एक है, पहरा देने वाले ८ हैं। आठों सिपाही एक ही समय में पहिरा नहीं देते। आठों का समय उस एक ही पहिरे के लिए दिनरात में ३-३-घन्टे से विभक्त है। कालभेदेन विभिन्न भी आठों पहिरेदारों का परस्पर साहचर्य्य है। कोई किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहता। कोई किसी का बलप्रयोगपूर्वक स्थान नहीं छीनता। दूसरे के आजाने से पहिला अपना अधिकार इस दूसरे को देकर हट जाता है। आदन-प्रदानात्मक यही साहचार्य्यक्रम आठों में चलता रहता है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। मनोधरातल रूप पहिरा एक है। पहिरा देने वाले राग-द्वेष-मोह भाव तीन पहिरेदार हैं। रागसत्ता में द्वेष उसका स्थान नहीं छीनता, द्वेषसत्ता में राग उस स्थान पर आक्रमण नहीं करता। मोहसत्ता में रागद्वेष तटस्थ बने रहते हैं। यही तीनों का अनुभावित साहचर्य्य है। अनुभावित इसलिए कहना पड़ा कि, तीनों स्वरूपतः सर्वथा विभिन्न हैं, अतएव विरोधी हैं। अतएव तीनों साथ नहीं रह सकते। अनान्तर्य्यात्मक ऐसा आन्तर्य्य (असम्बन्धात्मक ऐसा सम्बन्ध) ही अनुभावित (कल्पित) साहचर्य्य माना गया है। तीनों का, तीनों के मूलाधारभूत सत्त्व-रज-स्तमोगुणों का इसी अन्योऽन्याभिभवात्मक अनुभावित साहचर्य्य से परस्पर अभिभव होता रहता है। कभी राग द्वेष को हटा देता है, कभी द्वेष राग को, तो कभी मोह राग द्वेष को हटा देता है। **'अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः'** (सांख्यकारिका) से इसी अनुभावित साहचर्य्य का स्पष्टीकरण हुआ है। इस सम्बन्ध के आधार पर राग को द्वेष, तथा मोह का उपलक्षण मानते हुए वैराग्य का राग-द्वेष-मोह राहित्य लक्षण सम्भव बन जाता है।

तर्कानुगता, युक्तिसिद्धा उपलक्षणविधा से सम्बन्ध रखने वाले अनुभावित साहचर्य्य को प्रामाणिक मानते हुए यद्यपि उक्त प्रकारानुसार राग को द्वेष-मोह का उपलक्षण मान कर वैराग्य का **'रागद्वेषमोहरादित्य'** लक्षण किया जा सकता है। तथापि इस उपलक्षणविधा में पूर्ण अभिरुचि प्रकट नहीं की जा सकती। इसी स्वारस्य के अभाव से एक दूसरे दृष्टिकोण से राग को द्वेष, और मोह का संग्राहक माना जायगा। जिज्ञासु कहते हैं-राग-द्वेष-मोह, तीनों परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। कथन है भी यथार्थ। ऐसी दशा में-**अनान्तर्य्यमेतयोरान्तर्य्यम्'** इस अगतिकगति का सहारा ढूँढ कर तीनों विरोधियों में कल्पित साहचर्य्य मानना, साथ

ही तीनों विरोधियों के अविरोध की कल्पना कर एक से तीन का ग्रहण करना तर्कानुगत पक्ष अवश्य हो सकता है। किन्तु इसे तत्त्वानुगत-विज्ञानसिद्ध पक्ष नहीं कहा जा सकता । विज्ञानदृष्ट्या तो 'वैराग्य' का अर्थ केवल 'रागराहित्य' ही सिद्ध होता है। यही उपलक्षणविधात्मक कल्पित साहचर्य्य में अरुचि है। इसकी निवृत्ति के लिए ही पाठकों का ध्यान अन्य उस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित किया जाता है, जिसका प्रधानविधा से ही सम्बन्ध है।

४४–संस्कारानुगता रागद्वेषमोहत्रयी का वास्तविक साहचर्य्य—

विषयानुगति, मनोऽनुगति, भेद से राग–द्वेष-मोह-त्रयी दो भागों में विभक्त मानी जा सकती है। बाह्य-विषयानुगत राग-द्वेष–मोह वास्तव में परस्पर विरुद्ध हैं। जिस बाह्यविषय के साथ राग है, वहाँ द्वेष नहीं। जिसके साथ द्वेष है, उसके साथ राग नहीं। जिसके प्रति मोह है, उसके प्रति राग–द्वेष नहीं। मित्र के साथ द्वेषाभाव है, शत्रु के साथ रागाभाव है। इसप्रकार विषयानुगत रागादि वास्तव में परस्पर विरुद्ध होते हुए एकत्र नहीं रह सकते। परन्तु मन से गृहीत रागद्वेषमोह स्वरूपतः परस्पर विरोधी होते हुए भी एक ही प्रज्ञा-धरातल पर एक ही काल में निर्विरोध प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बाह्य विषयानुगत राग–द्वेष–मोहों से उत्पन्न संस्कारात्मक रागद्वेषमोह संस्काररूप से (वासनारूप से) उसी प्रज्ञान धरातल पर उसी प्रकार एक ही समय में निर्विरोध प्रतिष्ठित रहते हैं, जैसे की परस्परात्यन्त विरुद्ध तम, और प्रकाश एक ही खगोलीय धरातल पर एक ही काल में, एवं परस्परात्यन्त विरुद्ध पञ्चतन्मात्रानुगत पञ्चमहाभूत एक ही शरीर में एक ही समय में निर्विरोध प्रतिष्ठित रहते हैं। इस मनोऽनुगता रागादित्रयी का साहचर्य्य अनुभावित नहीं है, अपितु वास्तविक है। अतएव इस वास्तविक साहचर्य्य की अपेक्षा से अवश्य ही राग से तत् सहचारी द्वेष का, एवं द्वेष से तत्सहचारी मोह का ग्रहण कर वैराग्य का–'रागद्वेषमोहराहित्य' लक्षण करना सर्वात्मना अभिरुचि का क्षेत्र बन जाता है।

४५–मनोऽनुगत राग से युक्त रागद्वेषमोहत्रयी का तात्त्विक साहचर्य्य—

अपिच विवाद तो केवल 'राग' शब्द का ही है। छोड़िए इस साहचर्य्य का आश्रय। केवल राग-शब्द को लक्ष्य बना कर ही स्थिति पर दृष्टि डालिए। आसञ्जन ही राग है, राग ही आसक्ति है। अनुकूला-सक्ति हो, प्रतिकूलासक्ति हो, किंवा स्तम्भासक्ति हो, आसक्तित्वेन तीनों आसक्ति हैं। आसक्ति का ही नाम जब राग है, तब तीनों हीं आसक्तिरूप हैं, तो अवश्य ही राग–द्वेष-मोह, तीनों को 'राग' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है, तीनों का राग शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व कथनानुसार सत्त्वगुणानुगत रजोगुण ही कामद्वारा राग का, रजोगुणानुगत रजोगुण ही क्रोधद्वारा द्वेष का, एवं तमोगुणानुगत रजोगुण ही लोभ द्वारा मोह का जब जनक बना हुआ है, रजोगुण ही जब राग है, जबकि तीनों हीं रजोगुणात्मक हैं, तो इस दृष्टि से भी तीनों का रागधर्म्मत्व (रजोगुणत्व) कैसे हटाया जा सकता है ?। इसप्रकार इस दृष्टि से भी रागादि तीनों का केवल राग शब्द से ग्रहण करना तत्त्वसम्मत बना हुआ है। राग शब्द का रजोगुणार्थ थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, लोकसिद्ध 'आसक्ति' अर्थ को आधार बना कर ही विषय का समन्वय कीजिए। मन से परिगृहीत संस्कारात्मक राग–द्वेष–मोह, तीनों भाव रागद्वारा ही मनो-धरातल पर प्रतिष्ठित हुए हैं, यह इसलिए मानना पड़ता है कि, आसक्ति ही राग है। एवं जब आसक्ति

नहीं हैं, तब तक न राग है, न द्वेष है, न मोह है। मन का स्वाभाविक-स्वरूपानुगत-स्नेहगुणक सौम्यरस ही मानस राग है, यही मानस रागात्मक सौम्य रस आत्मराग, किंवा आत्मासक्ति है। इस आत्मराग के कारण हीं अनुकूल कामना के द्वारा सुखानुशायी विषयसंस्कार के साथ मन का राग होता है। इसी आत्मराग से प्रतिकूलकामना के द्वारा दुःखानुशायी विषयसंस्कार के साथ मन का द्वेष होता है। इसी आत्मराग से स्तब्धकामना के द्वारा स्तम्भनानुशायी विषयसंस्कार के साथ मन का मोह होता है। आत्मराग (आत्मासक्ति) सम्बन्ध से विषयराग भी राग है, विषयद्वेष भी राग है, एवं विषयमोह भी राग है। बात यथार्थ है। यदि विषयराग से आत्मराग न हो, तो आत्मा रागासक्त ही न रहे। यदि द्वेष के साथ आत्मराग न हो, तो निश्चयेन आत्मा द्वेष से पृथक् हो जाय। एवमेव यदि आत्मा का मोह से राग न रहे, तो कभी आत्मा मोहासक्त न बने। दूसरे शब्दों में जबतक राग में आसक्ति न होगी, राग राग न बनेगा। जबतक द्वेष में आसक्ति (राग) न होगी, द्वेष द्वेष न बनेगा। एवं जबतक मोह में आसक्ति न होगी, तबतक मोह मोह न बनेगा। राग-द्वेष-मोह, तीनों को मन से चिपकाने वाला मनोऽवस्थित स्नेहगुणक सौम्य राग ही है। राग-अनुराग-आसक्ति ही रागद्वेषमोहत्रयी की मूलप्रतिष्ठा है। इसप्रकार बाह्यविषयानुबन्धी राग-द्वेष-मोह भावों के परस्पर सर्वथा विभिन्न रहने पर भी, अतएव इनके असहचारी होने पर भी विषयोपहित-मनोऽनुबन्धी-मानस धरातल पर प्रतिष्ठित-संस्कारात्मक राग-द्वेष-मोह भावों के स्वरूपतः विभिन्न होने पर भी इनका मानस धरातल पर क्योंकि निर्विरोध साहचर्य्य है, इसलिए, इसके अतिरिक्त आत्मराग सम्बन्ध से तीनों के रागात्मक बन कर ही मनोधरातल पर प्रतिष्ठित होने से, उभयथा तीनों का 'राग' शब्द से ग्रहण किया जाना सर्वथा विज्ञानसम्मत बन जाता है। अतएव वैराग्य के-'राग-द्वेष-मोह राहित्य' इस लक्षण में किसी भी प्रश्न-आशङ्का को प्रविष्ट होने का अवसर नहीं मिल सकता। केवल राग (आत्मरागरूपा आसक्ति) के हट जाने से ही राग-द्वेष-मोह, तीनों हट जाते हैं। अतएव रागासक्ति (आत्मरागासक्ति) जहाँ राग-द्वेष-मोह की जननी है, वहाँ आत्म-वैराग्य रागद्वेषमोह, तीनों का निवर्तक बना हुआ है, और यही रागद्वेषमोहात्मक भावों के प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य का तात्त्विक स्वरूपपरिचय है, जिसके आधार पर वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या नाम की विद्या प्रतिष्ठित है।

४६-वैराग्यबुद्धियोगानुगता वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या)—

वैराग्यभगोपेता बुद्धि ही चार विद्याबुद्धियों में से 'वैराग्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है। एवं राग-द्वेषभगोपेता बुद्धि ही चार अविद्याबुद्धियों में से 'आसक्तिबुद्धि' नाम की अविद्याबुद्धि है। वैराग्यबुद्धि के उदय से आसक्तिबुद्धि का प्रभाव जाता रहता हैं, एवं आत्मा बन्धन से विनिर्मुक्त हो जाता है। यही इसकी सर्वदुःखनिवृत्ति है। यहाँ थोड़ा समझ लीजिए। वैराग्योदय से रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं, इसका तात्पर्य्य यही है कि, रागादि संस्कारों के साथ रहने वाला ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है। रागद्वेषादि शरीर के धर्म्म हैं। जब तक शरीर है, तब तक रागद्वेषादि का आत्यन्तिक अभाव असम्भव है। रागद्वेषात्मक विषयग्रहण-परित्याग का भार इन्द्रियों पर, वैराग्य का भार आत्मा पर, इस विभक्तिकरण से रागद्वेषमोहमय संसार में, सांसारिक कर्म्मों में अहोरात्र निमग्न रहता हुआ भी बुद्धियोगी वैराग्यप्रभाव से सदा तृप्त रहता है, यही गीता की सर्व-परिग्रहग्रहणात्मिका आश्चर्य्यप्रदा वैराग्यविद्या है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गीता २।६४।

वैराग्यबुद्धि की विपर्य्ययभूता आसक्तिबुद्धि के उदय से बुद्धि का वैराग्यधर्म्म अभिभूत होजाता है। फलतः इन्द्रियवत् आत्मा भी आसक्त बन जाता है। इसी के अनुग्रह से आत्मा न केवल अपने सांस्कारिक रागादि संस्कारों में हीं आबद्ध होता, अपितु पुत्र-स्त्री-गृह-पशु-आदि बाह्य विवर्त्तों में भी यह आत्मसमर्पण कर देता है। फलतः इनके दुःख से भी यह दुःखी बना रहता है। इसप्रकार आसक्ति की कृपा से यह अपने, और पराए, सर्वविध दुःखों का अधिष्ठान बना रहता हैं। इन सर्वविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए राग-द्वेषमोहलक्षणा आसक्ति का हटाना आवश्यक है। इसके हटने से ही उदासीनलक्षण समत्वयोग का उदय होता है। इस समत्वयोगोदय का हेतुभूत योग ही वैराग्यहेतुक बुद्धियोग कहलाया है, जो साध्ययोग सिद्धवैराग्य-योगोदय का हेतु बनता हुआ ताच्छब्द्य न्याय से स्वयं भी 'वैराग्यबुद्धियोग' ही कहलाया है। इस वैराग्यबुद्धियोग के कार्य्यकारण रहस्य का, अनुष्ठानप्रकार का विश्लेषण करने वाली विद्या ही वैराग्यविद्या कहलाई है।

४७—आत्मस्थानत्रयी, और सम-विषम-योग, एवं समत्वयोगानुगता राजर्षिविद्या—

वैराग्यविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग का जहाँ आत्मस्थान से सम्बन्ध है, वहाँ आसक्त्यविद्यानुगत अविद्यायोग का शरीरस्थान, एवं संसारस्थान से सम्बन्ध है। इन तीनों स्थानों का भी प्रासङ्गिक स्वरूप जान लीजिए। यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है कि, आत्मा 'प्रजापति' कहलाया है। एवं प्रजापतिलक्षण आत्मा की 'मनः-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ मानीं गईं हैं। इन में मन 'आत्मा' कहलाया है, प्राण 'प्राण' कहलाया है, वाक् 'पशु' कहलाई है। मनोलक्षण आत्मा 'उक्थ' है, प्राणलक्षण प्राण 'अर्क' है, एवं वाक्-लक्षण पशु अशीति है। तीनों की समष्टि ही 'प्रजापति' है। इन तीनों में वाक्-लक्षण पशुरूप अशीतिभाव ही 'आत्मवित्त' कहलाया है। हृदय में प्रतिष्ठित उक्थरूप आत्मा अपने प्राणरूप अर्क से स्ववित्तपर्य्यन्त व्याप्त रहता है। इसी आधार पर-'यावद्वित्तं-तावदात्मा' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। वाङ्मय आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। सांसारिक भौतिक वाङ्मय वे विषय, जिनके सम्पर्क से रागासक्ति के द्वारा मन पर विषयसंस्कारों का उदय होता है, बहिर्वित्त कहलाए हैं। स्वयं मनः-प्रतिष्ठित बाह्य विषयजनित-आध्यात्मिक वागनुगृहीत-विषयसंस्कार आत्मा के अन्तर्वित हैं। अन्तर्वित शरीरानु-बन्धी हैं, बहिर्वित्त संसारानुबन्धी हैं। इसी दृष्टि से उक्त लक्षण आत्मप्रजापति के **हृदयस्थान, शरीरस्थान, संसारस्थान,** ये तीन स्थान होजाते हैं। हृदयस्थान में हृदयाकाशरूप उक्थलक्षण आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। शरीरस्थान में प्राणयुक्त वाङ्मय अन्तर्वित्त (संस्कार) प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं संसारस्थान में प्राणयुक्त वाङ्मय बहिर्वित्त (भौतिक विषय) प्रतिष्ठित रहते है। बहिर्वित्तगर्भित संसारस्थान **'पुराणाकाश'** कहलाया है, अन्तर्वित्तगर्भित शरीरस्थान **'शरीराकाश'** कहलाया है। एवं आत्मगर्भित हृदयाकाश दभ्राकाशलक्षण **दहराकाश** (दहरपुण्डरीक) कहलाया है, जो अणिमाकाशात्मा दहराकाश भूमाकाशात्मक परमाकाश से अभिन्न बनता हुआ सर्वात्मक माना गया है, जैसा कि-**अणोरणीयान्, महतो महीयनात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'** इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। दहराकाशगर्भित आत्मा दहराकाश से अभिन्न

है। इसी आधार पर सत्यसंकल्प-भारूप-इस आत्मा को 'आकाशात्मा' माना गया है। यही 'आत्मा' नामक प्रथम हृदयाकाशस्थान है। शरीरस्थान इस आत्मा का प्राणद्वारा प्रथम प्रपत्तिस्थान (व्याप्ति-स्थान) बनता है, अतएव शरीरस्थान 'पदम्' कहलाया है। संसारस्थान प्राणद्वारा आत्मा का द्वितीय प्रपत्ति-स्थ न बनता है। पहिले हृदयावच्छिन्न आत्मा प्राणरूप से शरीर में, पुनः संसार में प्रपन्न होता है, अतएव संसारस्थान 'पुनःपदम्' कहलाया है। 'पुनःपदम्' आत्मा का महिमामण्डल है, 'पदम्' आत्मा का वस्तुपिण्ड है, आत्मा गर्भीभूत है। इस दृष्टि से मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रजापति त्रिस्थान बना हुआ है। त्रिस्थानात्मक प्रजापति का आत्मानुगत हृदयस्थान परिपूर्ण है। क्योंकि हृदय से चारों ओर समानरूप से आत्मरश्मियों का वितान होता है। अतएव हृदयस्थान समत्वयोगानुगत माना गया है। शरीरस्थानात्मक पद, तथा संसारस्थाना-त्मक पुनःपद, दोनों स्थान अपूर्ण हैं। अतएव विषम बनते हुए ये दोनों स्थान विषययोगानुगत माने गए हैं। हृदय से शरीरपर्य्यन्त शरीरस्थान कीं व्याप्ति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर बाह्यविषयानु-गत संसारस्थानपर्य्यन्त संसारस्थान की व्याप्ति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर बाह्यविषयानुगत संसारस्थान पर्य्यन्त संसारस्थान में निमग्न हो जाना मोह है। संसारस्थान से हटना द्वेष है। शरीरस्थान में निमग्न होना राग है। शरीरस्थान से हटना द्वेष हैं। एवं हृदयस्थान में प्रतिष्ठित रहना रागद्वेषमोहाभाव है, यही वैराग्यभाव है। ग्रहणात्मक ग्रहणलक्षण राग में भी विषमता है, परित्यागात्मक ग्रहणलक्षण द्वेष में भी विषमता है। स्तम्भनात्मक मुग्ध भाव में भी विषमता है। समता है केवल हृदयानुगति में। वह समताप्राप्ति अवलम्बित है-'समत्वयोगा' परपर्य्यायक वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान पर, जिसकी मूलप्रतिष्ठा राजर्षिविद्या मानी गई है। निम्न लिखित गीतावचन अनासक्तिर्लक्षणा वैराग्यभावप्रवर्त्तिका इसी राजर्षिविद्या का, एवं तद्भिन्न वैराग्यबुद्धियोगात्मक समत्वयोग का विश्लेषण कर रहे हैं—

१—योगस्थः-कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा-'समत्वं' योग उच्यते ॥२।४१

२-इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९

३-सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।६।२९।

४-आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।६।३२।

४८-ज्येठ-श्रेष्ठ-वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या-

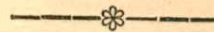
राजर्षि, सिद्ध, राज, आर्ष, इन चारों विद्याओं में राजर्षिविद्या, एवं वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म, इन चारों बुद्धियोगों में वैराग्यबुद्धियोग ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ माना गया है। कारण, स्वयं भगवान् हीं इसके प्रथमोद्देष्टा हैं। अतएव यह भगवान् का अपना प्रातिस्विक मत माना गया है। भगवान् कहते हैं—'अर्जुन !

अव्ययात्मक इस योग का सबसे पहले मैंनें विवस्वान् को उपदेश दिया था। विवस्वान् ने स्वपुत्र वैवस्वत मनु को यह योग प्रदान किया। मनु से यह तत्पुत्र अयोध्याधिपति इक्ष्वाकु में प्रतिष्ठित हुआ। इसप्रकार प्रथमोपदिष्ट यह योग परम्परया राजर्षिवंशपरम्परा में उपदिष्ट होता रहा। अतिकालात्मक व्यवधान से कालान्तर में उस योग का स्वरूप विलुप्त हो गया था। आज उसी विलुप्तयोग का (इस शरीर से) मैं पुनः तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। **'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'** के कारण ही यह भगवद्विद्या 'राजर्षिविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रथमाविष्कार का श्रेय देवयुग में जहाँ भगवान् को मिला, वहाँ महाभारतयुग में इसके जीर्णोद्धार का श्रेय भी भगवान् को ही प्राप्त हुआ। अतएव यह योग भगवान् का अपना सिद्धान्त माना गया। अतएव इसे गीताशास्त्र में योगक्रम की उपेक्षा के द्वारा प्रथम स्थान दिया गया। **'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'** के अनुसार अविधात्मक **मोह, अस्मिता,** रागद्वेषात्मिका **आसक्ति, अभिनिवेश,** यह क्लेशक्रम है। तदनुरूप ही ज्ञान-ऐश्वर्य्य-वैराग्य-धर्म्म, यह भगक्रम माना जायगा। इस दृष्टि से गीता में ज्ञान-ऐश्वर्य्य वैराग्य-धर्म्म, इसी क्रम से योगों का प्रतिपादन होना चाहिए था। परन्तु देखते हैं, तीसरे राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग के सम्बन्ध में क्रमविपर्य्य हुआ है। आगे की योगत्रयी तो क्रमानुसार ही व्यवस्थित है। परन्तु तृतीय स्थान में प्रतिष्ठित वैराग्ययोग को प्रथम स्थान दिया गया है। यह स्थानप्राथम्य भी वैराग्ययोग का प्रधानत्व ही प्रतिपादन कर रहा है। निम्न लिखित गीतावचन वैराग्यबुद्धियोग, एवं तदनुगता राजर्षिविद्या इसी भगवन्मतत्त्व का समर्थन कर रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे
'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
चतुर्थस्तम्भः

(२)—४



उपरतश्चेदं चतुःस्तम्भात्मकं-द्वितीयं प्रकरणम्

——२——

श्रीः

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक चतुर्थस्तम्भ–उपरत

(२)–४

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत·प्रकरणत्रयात्मक-'बुद्धियोगपरीक्षा

नामक—पूर्वखण्ड—का

स्तम्भचतुष्टयात्मक—'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन'

नामक

द्वितीयप्रकरण—उपरत

२



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'नामक

पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण

३

——————

श्री :

बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार

(तृतीय प्रकरण)

३

———*———

१–प्रतिपादित विषय की रूपरेखा—

प्राचीनाभिमत कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगों का क्रमशः कर्म्मयोग–ज्ञानयोग–भक्तियोग-परीक्षा-नामक भूमिका-खण्डों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अनन्तर गीता का मूल सिद्धान्त 'बुद्धियोग' हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इसके स्वरूप-परिचय के लिए ही 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड लिपिबद्ध हुआ, जिसमें प्रधानतः दो प्रकरणों का समावेश हुआ है। **'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन'** नामक प्रकरण में बुद्धियोग के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा हुई। एवं **'बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्वचन'** नामक द्वितीय प्रकरण में क्रमशः धर्म्मबुद्धि–योग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, वैराग्यबुद्धियोग, इन चारों बुद्धियोगों के साथ साथ तत्प्रतिष्ठाभूता आर्षविद्या, राजविद्या, सिद्धविद्या, राजर्षिविद्या, बुद्धियोगानुगता इन चारों विद्याओं का चार परिच्छेदों में स्वरूप–दिग्दर्शन कराया गया। यही अबतक प्रतिपादित विषय की रूपरेखा है।

२–तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति-गुणचतुष्टयी—

तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि, भुक्ति, इन चार आध्यात्मिक गुणों से कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा सुखी रहता है। पूर्णतृप्ति का नाम 'तृप्ति' है, अर्द्धतृप्ति का नाम 'तुष्टि' है,* ईश्वरानुग्रह का नाम पुष्टि है, भूतानुग्रह का नाम भुक्ति है। पूर्णतृप्तिलक्षणा तृप्ति सर्वाव्ययात्मा का स्वाभाविक गुण है, अर्द्धतृप्तिलक्षणा तुष्टि अव्यक्तात्मगर्भित मनोमय पराव्ययात्मा का स्वाभाविक गुण है, ईश्वरानुग्रहलक्षणा पुष्टि महानात्मगर्भित प्राणमय परावराव्ययात्मा का स्वाभाविक गुण है, एवं भूतानुग्रहलक्षणा भुक्ति विज्ञानात्मगर्भित वाङ्मय अवराव्ययात्मा का स्वाभाविक गुण है। चारों आत्मगुण चार आत्मक्षेत्रों में विभक्त हैं। इन चारों में सर्वाव्यय क्योंकि सर्वात्मक है, अतएव तदनुगत तृप्तिगुण के गर्भ में अन्य आत्मानुगत तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति, तीनों गुण अन्तर्भूत रहते हैं। अतएव च सर्वाव्ययात्मानुगत तृप्तिगुण के उदय से शेष आत्मानुगत तीनों आत्मगुण स्वतः उदित हो जाते हैं। चारों की अपेक्षा तृप्तिगुण का यही सर्वातिशायी माहात्म्य है।

---

* 'भगवदनुग्रहः पोषः' के अनुसार शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय में भगवदनुग्रह को ही पोष, किंवा पुष्टि माना गया है। ईश्वरधर्म्मसमावेश ही भगवदनुग्रह है। इस अनुग्रहसमावेश से जीव की अल्पता भूमारूप में परिणत हो जाती है। यह भूमा ही जीव की पुष्टि है। इसी पुष्टिसम्बन्ध से यह वैज्ञानिक सम्प्रदाय (वल्लभ–सम्प्रदाय) 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

३–भुक्तिगुणानुगत धर्म्मबुद्धियोग—

(१)–सम्पूर्ण भोग पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु हम इन्हें प्राप्त करने में असमर्थ बने रहते हैं। इसके साथ ही जिन भोगों का हम भोग करते हैं, वे ही भोग क्षणिक सुख उत्पन्न कर अन्ततोगत्वा दुःखप्रवृत्ति के ही कारण बन जाते हैं। यही पहिला दुःख है, जिसके मूल में 'प्रवृत्ति' लक्षण 'अभिनिवेश' नामक क्लेश प्रतिष्ठित हो रहा है। भुक्ति हो रही है, फिर भी शून्य हैं। भुक्ति के रहते भुक्ति का अभाव हो रहा है। अभिनिवेशमूला प्रवृत्तिधर्म्मानुगता ऐसी भुक्ति सर्वथा अभुक्ति है। और यही दुःख का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए अवराव्ययात्मानुगत भुक्तिगुण का समाश्रय आवश्यक है। तदर्थ अभिनिवेशलक्षणा प्रवृत्ति का निराकरण अपेक्षित है। तदर्थ धर्म्मलक्षणा निवृत्ति का अनुगमन अपेक्षित है। एवं तदर्थ आर्षविद्यानुगत–अभिनिवेशनिवर्त्तक–निवृत्तिकर्म्मात्मिक–धर्म्मबुद्धियोगानुष्ठान आवश्यक है। यही गीताप्रतिपादित, भुक्तिसुख–प्रवर्त्तक धर्म्मबुद्धियोग नामक उपाय है, जो प्राचीनाभिमत काम्यकर्म्मयोग का ही संशोधित रूप है।

४–पुष्टिगुणानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग—

(२)–चर–अचर, यच्चयावत् प्राणियों के हृदय में पोषात्मक–पुष्टिभावप्रवर्त्तक–ईश्वरतत्त्व समाविष्ट है। परन्तु रहती हुई भी इस आत्मपुष्टि (ईश्वरतत्त्वसमावेशात्मक ईश्वरानुग्रह) से हम वञ्चित रह जाते हैं। ईश्वरतत्त्वात्मिका पुष्टि न हो, यह बात नहीं है। जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध न हो, यह बात भी नहीं है। उसी की पुष्टि से, अनुग्रह से, इच्छा से जीव की अध्यात्मसंस्था में स्थिति है। पुष्टि जीव को मिल रही है, फिर भी वह शून्य है। पुष्टि के रहते पुष्टि का अभाव हो रहा है। अस्मितामूला प्रवृत्तिकामानुगता ऐसी पुष्टि सर्वथा अपुष्टि है। कारण, अस्मिता ने ईश्वरीय पुष्टि के स्वाभाविक विकासलक्षण ऐश्वर्य्य को अनैश्वर्य्यरूप में परिणत कर रक्खा है। संकुचित पुष्टि ही अपुष्टि है, एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इस की निवृत्ति के लिए परावराव्ययात्मानुगत–पुष्टिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थ ईश्वरानन्यत्त्व अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अस्मितावरण का निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ राजविद्यानुगत-अस्मितानिवर्त्तक-ईश्वरानन्यतात्मक-ऐश्वर्य्य–बुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित, पुष्टिसुखप्रवर्त्तक–उपाय 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नामक उपाय है, जो प्राचीनाभिमत काम्यभक्तियोग का ही संशोधित रूप है।

५–तुष्टिगुणानुगत ज्ञानबुद्धियोग—

(३)–आप आज निर्धन हैं, अतएव आपके पास भोजन–वस्त्र–गृहादि परिग्रहों का आज अभाव है। आप पुरुषार्थ करते हैं, पुरुषार्थ से प्रभूत द्रव्यप्राप्ति हो जाती है, अर्थ के द्वारा आप सभी लौकिक परिग्रहों का प्रभूत मात्रा में सञ्चय कर लेते हैं, असन्तोषप्रदा दरिद्रता हट जाती है। आज आपके पास सभी साधन–सम्पत्तियाँ पर्य्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं। परन्तु आश्चर्य्य है, फिर भी आप तुष्टि का अनुभव नहीं कर रहे। सन्तोष नहीं हो रहा। लाख से सन्तोष न कर करोड़ का संग्रह किया, करोड़ से सन्तोष न कर और अधिक की इच्छा की, यों ज्यों ज्यों संग्रह बढ़ता गया, त्यों त्यों असन्तोष घटने के स्थान में बढ़ने लगा। और यों सन्तोष–प्रद साधनसामग्रियों ने तुष्टिगुणविकास के स्थान में उसे अधिकाधिक आवृत ही कर दिया। फलस्वरूप सब कुछ होते हुए भी आप नित्य असन्तुष्ट, अतएव व्यग्र, अतएव अशान्त, अतएव च दुःखी बन गए। आत्मगुणा–नुगता तुष्टि आप में आज भी प्रतिष्ठित है, फिर भी आप उसके अनुकूल सम्बन्ध से वञ्चित हैं। तुष्टि रहते

तुष्टि का अभाव हो रहा है। कारण, अज्ञानात्मक मोह ने ईश्वरीय तुष्टि के स्वाभाविक विकासलक्षण अन्तर्ज्योतिःस्वरूप ज्ञान (अध्यात्मज्ञान) को अज्ञानरूप में परिणत कर रक्खा है। अज्ञानावृता मोहात्मिका तुष्टि ही अतुष्टि है, एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए पराव्ययात्मानुगत तुष्टिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थ अन्तर्ज्योतिरनुगति अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अतुष्टिलक्षण मोहावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ सिद्धविद्यानुगत मोहनिवर्त्तक-अन्तर्ज्योतिर्लक्षण-ज्ञानबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित-तुष्टिसुखप्रवर्त्तक उपाय 'ज्ञानबुद्धियोग' नामक उपाय है, जो प्राचीनाभिमत कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का ही संशोधित रूप है।

६-तृप्तिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग-

(४)-उक्त तीनों योग असर्वाव्ययात्मा को आधार बनाते हुए असर्वात्मक हैं। अतएव तीनों केवल अपने अपने तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति-गुणों के ही संग्राहक बनते हैं। परन्तु चौथा सर्वाव्ययात्मानुगत वैराग्यबुद्धियोग क्योंकि सर्वात्मक है, अतएव उससे स्वानुगत तृप्तिगुण के साथ साथ पर-परावर-अवरानुगत तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति-गुणों का भी संग्रह हो जाता है। आपके अन्तर्जगत् में दहराकाशगर्भित हृदयाकाश में सत्यसंकल्प-भारूप-आकाशात्मा-सर्वाव्यय साक्षीरूप से प्रतिष्ठित है, जो निराश्रय-स्वाश्रय रहता हुआ नित्यतृप्त है। तृप्तिगुणक, अतएव पूर्णात्मक इसी सर्वाव्यय से आपका (जीवात्मा का) प्रवर्ग्यसम्बन्ध से उदञ्चन हुआ है—'पूर्णात्-पूर्णमुदच्यते'। उस पूर्ण के पूर्ण को लेकर आप तत्त्वतः पूर्णरूप ही हैं। अतएव आप भी स्वरूपतः नित्य-तृप्त हैं। परन्तु देखते हैं, आप में तृप्तिगुण का यत्किञ्चित् भी विकास नहीं देखा जा रहा। क्यों ?, ऐसा क्यों हुआ ?, उत्तर स्पष्ट है। बाह्यविषयजनित संस्कारों से सम्बन्ध रखने वाले आपके मन ने हीं इस समस्या को जटिल बना दिया है। सौम्यगुणक मन रजोगुणात्मक है। सौम्यरजोगुण में बन्धनासक्ति प्रतिष्ठित है। इसी मानस रागासक्ति से वे आगत संस्कारबन्धन अनुकूल-प्रतिकूल-स्तम्भन-इन तीन सम्बन्धों के भेद से राग-द्वेष-मोह, इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। रागद्वेषमोहात्मिका यह आसक्ति मन के द्वारा तत्-प्रतिष्ठ बुद्धि के विद्यात्मक वैराग्यधर्म्म को अभिभूत कर डालती है, बुद्धिगत तृप्तिप्रवर्त्तक वैराग्यधर्म्म अतृप्तिकर आसक्तिधर्म्मरूप में परिणत हो जाता है। यही रागासक्ति-द्वेषासक्ति-मोहासक्ति-त्रयी वह मध्यावरण है, जिससे-बुद्धि से परे रहने वाले सर्वाव्ययात्मानुगत तृप्तिगुणानुग्रह से आप वञ्चित रह जाते हैं। स्वाभाविक पूर्णता अपूर्णता के रूप में परिणत हो जाती है। अपूर्णता ही शून्यता है। शून्यता हो दुःख है। यही चौथा दुःख है, जिसके मूल में आसक्ति प्रतिष्ठित है। इसकी निवृत्ति के लिए सर्वाव्ययात्मानुगत तृप्तिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थ अनासक्त्यनुगति अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अतृप्तिलक्षण आसक्त्यावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ राजर्षिविद्यानुगत--आसक्तिनिवर्त्तक--अनासक्तिलक्षण--वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताभिमत-तृप्तिसुखप्रवर्त्तक-अतएव तृप्तिगर्भित तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति-सुखप्रवर्त्तक-अतएव च सर्वसुखप्रवर्त्तक-उपाय 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो सर्वाव्ययेश्वरावतार भगवान् कृष्ण का अपना प्रातिस्विक मत है।

७-पुरुषविद्याचतुष्टयी से अनुगता-पुरुषयोगचतुष्टयी—

आत्मलक्षणा विद्या सिद्धविद्या कहलाई है, एवं आत्मलक्षण योग सिद्धयोग कहलाया है। आत्मविद्या पुरुषविद्या, किंवा अव्ययविद्या है। आत्मयोग पुरुषयोग, किंवा अव्यययोग है। सर्वाव्ययात्मा निरूढात्मा

(गूढोत्मा निर्गुणब्रह्म) है, अतएव तद्रूपा सर्वाव्ययविद्या **'निरूढात्मविद्या'** कहलाई है। अव्यक्तात्मगर्भित परा-व्ययात्मा ईश्वरात्मा (सगुणब्रह्म) है, अतएव तद्रूपा पराव्ययविद्या **'ईश्वरात्मविद्या'** कहलाई है। महानात्म-गर्भित परावराव्ययात्मा जीवात्मा (सविकारब्रह्म) है, अतएव तद्रूपा परावराव्ययविद्या **'जीवात्मविद्या'** कहलाई है। विज्ञानात्मगर्भित अवराव्ययात्मा भूतात्मा (निरिन्द्रियात्मा, वैकारिकब्रह्म) कहलाया है। अतएव तद्रूपा अवराव्ययविद्या **'भूतात्मविद्या'** कहलाई है। सर्वाव्ययात्मिका अव्ययविद्या तृप्तिगुणात्मिका है। तृप्तिगुणयोगात्मक अव्ययविद्या ही सिद्ध (नित्य) 'वैराग्ययोग' है। पराव्ययात्मिका अव्ययविद्या तुष्टिगुणात्मिका है। तुष्टिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'ज्ञानयोग' है। परावराव्ययात्मिका अव्ययविद्या पुष्टिगुणात्मिका है। पुष्टिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'ऐश्वर्य्ययोग' है। अवराव्ययात्मिका अव्ययविद्या भुक्तिगुणात्मिका है। भुक्तिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'धर्म्मयोग' है। **'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'** इत्यादि श्लोक-पठित योग सिद्धावस्थापन्न-उद्ध अव्ययविद्यानुगत-अव्यययोग का ही वाचक बन रहा है। यह सिद्धयोग बुद्धि पर अनुग्रह रखता है, अतएव बुद्धिसम्बन्ध से इस अव्यययोग को भी 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है। अतएव पूर्वप्रकरणों में हमनें सिद्धयोगों को यत्र-तत्र 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत कर दिया है। **'ददामि बुद्धियोगं तम्'** का 'बुद्धियोग' शब्द सिद्ध 'बुद्धियोग-का ही वाचक है। आत्मविद्याचतुष्टयी भी सिद्धा है, आत्मविद्यात्मिका योगचतुष्टयी भी सिद्धा है। इसके और जीव के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। बुद्धि के द्वारा ही जीव का इस योगचतुष्टयी से सम्बन्ध होता है। इसलिए 'बुद्धिसहकारेण प्राप्तव्यो योगः' निर्वचन से यह सिद्धयोग भी बुद्धियोग कहलाने लगा है।

८–प्रकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता-प्रकृतियोगचतुष्टयी—

सिद्धविद्यात्मक-सिद्धयोगलक्षण प्रत्यगात्मा (अव्ययात्मा) और शारीरकात्मा (जीवात्मा) के मध्य में बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है, यह कहा गया है। प्रकृतिलक्षणा विद्या साध्यविद्या कहलाई है, प्रकृतिलक्षण योग साध्ययोग कहलाया है। प्रकृतिविद्या ही साध्यविद्या है, प्रकृतियोग ही साध्ययोग है। 'प्रकृति' अक्षर का नाम है। अव्यय-अक्षर-क्षर-तीनों में अक्षर मध्यस्थ है। उधर आध्यात्मिक संस्था में बुद्धितत्त्व मध्यस्थ है। अतएव बुद्धि ही अध्यात्मसंस्था में अक्षरात्मिका प्रकृति है। अतएव च 'प्रकृतिस्थ' का अर्थ-'बुद्धिस्थ' ही देखा-सुना जाता है। प्रकृतिभूता मध्यस्था इस बुद्धि के परस्थान में वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-नामक सिद्ध-योगात्मक-सिद्धविद्यात्मक अमृताव्ययात्मा प्रतिष्ठित है, जैसाकि-**'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** से प्रमाणित है। बुद्धि के अवरस्थान में मनोऽनुगत-इन्द्रियजनित-सांसारिक मर्त्यभावात्मक-आसक्ति-मोह-अस्मिता-अभिनिवेशात्मक मृत्युतत्त्व प्रतिष्ठित है, जो अमृतात्मा का आवरक माना गया है। उस ओर अमृतचतुष्टयी है, इस ओर मृत्यु-चतुष्टयी है। मध्यस्थ बुद्धितत्त्व में मध्यस्थता के कारण-**'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च'** के अनुसार दोनों धर्म्मों का समावेश प्रकृत्या प्राप्त है। अमृतात्मानुगत वैराग्यादि सिद्धयोगों के जो प्रवर्ग्यांश बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिस्विक वस्तु बन जाते है, वे ही 'बुद्धिभाग' कहलाए हैं। इनके आगमन से-भोग से बुद्धि 'भं' भाव को (विकासभाव को) प्राप्त हो जाती है। अतएव **'भं गच्छति यैर्बुद्धिः'** निर्वचन से बुद्धिभुक्त इन अमृतात्म-प्रवर्ग्यभागों को 'भग' कहा जाता है। एवमेव मर्त्यविश्वानुगत आसक्त्यादि अयोगात्मक योगों के जो प्रवर्ग्यांश मन की कृपा से बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिस्विक वस्तु बन जाते हैं, वे ही 'बुद्धिक्लेश' कहलाए हैं। इनके आगमन से-भोग से-बुद्धि क्लान्तभाव को (संकोचभाव को) प्राप्त हो जाती है। अतएव **'क्लान्ता-क्लिन्ना**

भवति यैर्बुद्धिः' निर्वचन से बुद्धिभुक्त इन मर्त्य विश्व के प्रवर्ग्य भागों को 'क्लेश' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। आगन्तुक वैराग्यादिरूपा भगचतुष्टयी के, एवं आसक्त्यादि क्लेशचतुष्टयी के भोगात्मक सम्बन्ध से (भुक्ति से) मध्यस्थ-प्रकृतिलक्षण एक ही बुद्धितत्त्व के-वैराग्यबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, ऐश्वर्य्यबुद्धि, धर्म्मबुद्धि, ये चार विद्यात्मकरूप, एवं आसक्तिबुद्धि, मोहबुद्धि, अस्मिताबुद्धि, अभिनिवेशबुद्धि, ये चार अविद्यात्मकरूप, सम्भूय आठ सोपाधिक विवर्त्त हो जाते हैं। आठों में विद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृतियोग' है, अविद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृति-अयोग' है। प्रकृतियोगात्मक बुद्धियोग में बुद्धि प्रकृतिस्थ बनी रहती हुई एकत्वधर्म्मलक्षण व्यवसायपथ की अनुगामिनी बनी रहती है। प्रकृति-अयोगात्मक बुद्धियोगनिष्ठाविच्युति में बुद्धि प्रकृतिवञ्चित होती हुई अव्यवसायपथ की अनुगामिनी बन जाती है।

जिस प्रकार मध्यस्थ बुद्धि में अमृताव्ययानुगत सिद्धयोग प्रवर्ग्यसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं, एवमेव अमृतात्मविद्याचतुष्टयी भी बुद्धि में भुक्त रहती है। निरूढात्मविद्या का बुद्धिभुक्त भाग ही **'अनासक्तिविद्या'** कहलाया है। ईश्वरात्मविद्या का बुद्धिभुक्तभाग ही **'अन्तर्ज्योतिर्विद्या'** कहलाया है। जीवात्मविद्या का बुद्धिभुक्त भाग **'ईश्वरानन्यताविद्या'** कहलाया है। एवं भूतात्मविद्या का बुद्धिभुक्त भाग ही **'निवृत्तकर्म्मविद्या'** कहलाया है। अनासक्तिविद्या प्रकृतिविद्या है, वैराग्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। अन्तर्ज्योतिर्विद्या प्रकृतिविद्या है, ज्ञानबुद्धियोग प्रकृतियोग है। ईश्वरानन्यताविद्या प्रकृतिविद्या है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। निवृत्तकर्म्मविद्या प्रकृतिविद्या है, धर्म्मबुद्धियोग प्रकृतियोग है। इसप्रकार जैसे पुरुषविद्या, पुरुषयोग चार चार भागों में विभक्त हैं, एवमेव तत्सम्बद्ध बुद्धिलक्षण प्रकृति की विद्या, और योग भी चार चार भागों में ही विभक्त हो जाते हैं।

९-विकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता-विकृतियोगचतुष्टयी—

योगानुष्ठाता स्वयं जीवात्मा विकृतिभावापन्न माना गया है। अतएव जीवात्मा के द्वारा अनुष्ठेय विद्याओं, तथा विद्यानुगत योगों को हम **'विकृतिविद्यानुगत विकृतियोग'** नाम से व्यवहृत करेंगे। पूर्व प्रकरणों में हमनें यत्रतत्र यह स्पष्ट किया है कि, पुरुषात्मिका विद्या सिद्धविद्या है, पुरुषात्मक योग सिद्धयोग है। एवं प्रकृत्यात्मिका विद्या साध्यविद्या है, तथा प्रकृत्यात्मक योग साध्ययोग है। वस्तुतः प्रकृतिविद्या, और प्रकृतियोग भी पुरुषवत् सिद्धकोटि में ही अन्तर्भूत माने जायँगे। पुरुषवत् प्रकृति भी अनादिनिधना है। उसकी विद्या, उसका योग भी अनादि है। अतएव इसे भी सिद्ध पदार्थ ही माना जायगा। साध्यविद्या वही साध्या मानी जायगी, जिसका कार्य्य-कारणपरिज्ञानद्वारा योगानुष्ठानप्रकार में उपयोग होगा। एवमेव साध्य योग भी वही साध्य माना जायगा, जिसका जीवात्मा अनुष्ठान कर सकेगा। विकृतिविद्या ही अनुष्ठानप्रकार का प्रदर्शन करने वाली है, जो विकृतिविद्या उपदेशात्मिका है। सिद्धविद्या का उपदेश करने वाली शब्दात्मिका-उपदेशलक्षणा विद्या ही साध्य विद्या मानी जायगी। साध्यविद्या वस्तुतः विद्या नहीं है। सिद्धविद्या ही विद्या है। साध्यविद्या तो सिद्ध-विद्यास्वरूपपरिचय का साधनमात्र है। एतावता ही ताच्छब्द्यन्याय से इस साधन को भी 'विद्या' कह दिया जाता है। एवमेव सिद्धयोग का उपदेश करने वाला शब्दात्मक उपदेशलक्षण योग ही साध्ययोग माना जायगा। साध्ययोग भी वस्तुतः योग नहीं है। सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो सिद्धयोगस्वरूपपरिचय का हेतुमात्र है। एतावता ही इस हेतुयोग को भी 'योग' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है।

निरूढात्मविद्यात्मक वैराग्ययोग से अनुगृहीत अनासक्तिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग के सिद्धविद्याभाग का (पुरुषविद्यागर्भित-प्रकृतिविद्याभाग का) उपदेश देने वाली विकृत्यनुगता-साध्यलक्षणा विद्या ही

'राजर्षिविद्या' कहलाई है । ईश्वरात्मविद्यात्मक ज्ञानयोग से अनुगृहीत अन्तर्ज्योतिर्विद्यात्मक ज्ञानबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश देने वाली विकृत्यनुगता साध्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से **'सिद्धविद्या'** कहलाई है । जीवात्मविद्यात्मक ऐश्वर्य्ययोग से अनुगृहीत ईश्वरानन्यताविद्यात्मक ऐश्वर्य्यबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विकृत्यनुगता साध्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से **'राजविद्या'** कहलाई है । भूतात्मविद्यात्मक धर्म्मयोग से अनुगृहीत निवृत्तकर्म्मविद्यात्मक धर्म्मबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विकृत्यनुगता साध्यविद्या ही उपदेशक ऋषियों के सम्बन्ध से **'आर्षविद्या'** कहलाई है । यही पुरुष-प्रकृति-विद्याचतुष्टयी की स्वरूपपरिचयप्रदात्री विकृतिविद्याचतुष्टयी का स्वरूप-दिग्दर्शन है । एवमेव पुरुषयोगात्मक वैराग्ययोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक वैराग्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साध्य योग **'वैराग्यहेतुक-बुद्धियोग'** नाम से, पुरुषयोगात्मक ज्ञानयोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक ज्ञानबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साध्य योग **'ज्ञानहेतुक बुद्धियोग'** नाम से, पुरुषयोगात्मक ऐश्वर्य्ययोग से अनुगृहीत प्रकृति-योगात्मक ऐश्वर्य्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साध्य योग **'ऐश्वर्य्यहेतुक बुद्धियोग'** नाम से, तथा पुरुषयोगात्मक धर्म्मयोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक धर्म्मबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साध्य योग **'धर्म्महेतुक बुद्धियोग'** नाम से व्यवहृत किया जायगा । साध्यविद्यानुगता साध्ययोगचतुष्टयी (विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी) से, अनुष्ठान से सर्वप्रथम जीवात्मा का प्रकृतिविद्यानुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी से सम्बन्ध होगा । एवं प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी के द्वारा जीवात्मा का अन्ततोगत्वा पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी से सम्बन्ध हो जायगा । लक्ष्य है-पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगचतुष्टयी । लक्ष्य प्राप्त करने वाला है-जीवात्मा । लक्ष्यप्राप्ति का अनुष्ठानात्मक साधन है-विकृतिविद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी । एवं साधन द्वारा लक्ष्य पर पहुँचने का द्वार है-प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, पुरुष-प्रकृति-विकृति, भेद से लक्ष्य-लक्ष्यद्वार-लक्ष्यसाधनरूप से विद्या, एवं तदनुगत योगविवर्त्त तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो गए हैं । अबतक प्रतिपादित विषयों का निम्नलिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है ।

(क)-प्रतिपादितविषयरूपरेखा-परिलेखः-(१)

- १-कर्म्मयोगपरीक्षा-कर्म्मयोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)
- २-ज्ञानयोगपरीक्षा-ज्ञानयोगनिरूपिका (१ खण्डात्मिका)
- ३-भक्तियोगपरीक्षा-भक्तियोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)
- ४-बुद्धियोगपरीक्षा-बुद्धियोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)

पूर्वखण्डात्मिकायां बुद्धियोगपरीक्षायाम्—

- १-धर्म्मबुद्धियोगपरीक्षा
- २-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगपरीक्षा
- ३-ज्ञानबुद्धियोगपरीक्षा
- ४-वैराग्यबुद्धियोगपरीक्षा

—-*—

(ख)-तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि, भुक्ति-गुणचतुष्टयी-परिलेखः-(२)

१-पूर्णतृप्तिभावः—तृप्तिः
२-अर्द्धतृप्तिभावः--तुष्टिः
३-ईश्वरानुग्रहभावः-पुष्टिः
४-भूतानुग्रहभावः---भुक्तिः

}--आत्मगुणचतुष्टयी

——*——

(ग)-गुणानुगता-योगचतुष्टयी-परिलेखः-(३)

१-विज्ञानात्मगर्भितः-अवराव्ययात्मा भुक्तिगुणात्मकः-तदनुगतो योगः 'धर्म्मबुद्धियोगः'।

२-महानात्मगर्भितः-परावराव्ययात्मा पुष्टिगुणात्मकः--तदनुगतो योगः 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः'।

३-अव्यक्तात्मगर्भितः-पराव्ययात्मा तुष्टिगुणात्मकः—तदनुगतो योगः 'ज्ञानबुद्धियोगः'।

४-सर्वात्मगर्भितः-सर्वाव्ययात्मा तृप्तिगुणात्मकः-—तदनुगतो योगः 'वैराग्यबुद्धियोगः'।

——*——

(घ)-पुरुषविद्याचतुष्टय्यनुगता-पुरुषयोगचतुष्टयी-परिलेखः-(४)
(सिद्धविद्यानुगता-सिद्धयोगचतुष्टयी)

१-सर्वाव्ययात्मिका—-पुरुषविद्या-'निरूढात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः, अव्ययात्मिका विद्या वा)

२-पराव्ययात्मिका-—पुरुषविद्या-'ईश्वरात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः, अव्ययात्मिका विद्या वा)

३-परावराव्ययात्मिका--पुरुषविद्या-'जीवात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः, अव्ययात्मिका विद्या वा)

४-अपराव्ययात्मिका—-पुरुषविद्या-'भूतात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः, अव्ययात्मिका विद्या वा)

—सैषा पुरुषविद्याचतुष्टयी-सिद्धावस्थापन्ना

——*——

१–निरूढात्मविद्यात्मकस्तृप्तिगुणावच्छिन्नोऽव्यययोगः–पुरुषयोगः–'वैराग्ययोगः' — योगात्मकोऽव्ययः– अव्ययात्मको योगो वा

२–ईश्वरात्मविद्यात्मकस्तुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्यययोगः––पुरुषयोगः–'ज्ञानयोगः' — योगात्मकोऽव्ययः– अव्ययात्मको योगो वा

३–जीवात्मविद्यात्मकः पुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्ययोगः–पुरुषयोगः– ऐश्वर्य्ययोगः' — योगात्मकोऽव्ययः अव्ययात्मको योगो वा

४–भूतात्मविद्यात्मको भुक्तिगुणावच्छिन्नोऽव्ययोगः–पुरुषयोगः–'धर्म्मयोगः' — योगात्मकोऽव्ययः अव्ययात्मको योगो वा

—सैषा पुरुषयोगचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

——*——

१–निरूढात्मविद्या–विद्या,–१–वैराग्ययोगो 'योगः'
२–ईश्वरात्मविद्या– विद्या,–२–ज्ञानयोगो 'योगः'
३–जीवात्मविद्या—विद्या,–३–ऐश्वर्य्ययोगो 'योगः'
४–भूतात्मविद्या—विद्या,–४–धर्म्मयोगो 'योगः'

}–पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगचतुष्टयी

——*——

(ङ)-प्रकृतिविद्याचतुष्टय्यनुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी-परिलेखः-(५)

(सिद्धविद्यानुगता-सिद्धयोगचतुष्टयी)

१-निरूढात्मविद्याया.-प्रवर्ग्यभागात्मिका-प्रकृतिविद्या- **'अनासक्तिविद्या'** (विद्यात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
२-ईश्वरात्मविद्यायाः--प्रवर्ग्यभागात्मिका-प्रकृतिविद्या-**'अन्तर्ज्योतिर्विद्या'** (विद्यात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
३-जीवात्मविद्यायाः---प्रवर्ग्यभागात्मिका-प्रकृतिविद्या-**'ईश्वरानन्यताविद्या'** (विद्यात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
४-भूतात्मविद्यायाः---प्रवर्ग्यभागात्मिका-प्रकृतिविद्या-**'निवृत्तकर्म्मविद्या'** (विद्यात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)

--सैषा प्रकृतिविद्याचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

—*—

१-अनासक्तिविद्यात्मकस्तृप्तिगुणानुगृहीतः-प्रकृतियोगः-**'वैराग्यबुद्धियोगः'** (योगात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मको योगो वा)
२-अन्तर्ज्योतिर्विद्यात्मकस्तुष्टिगुणानुगृहीतः-प्रकृतियोगः-**'ज्ञानबुद्धियोगः'** (योगात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मको योगो वा)
३-ईश्वरानन्यताविद्यात्मकः पुष्टिगुणानुगृहीतः-प्रकृतियोगः-**'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः'** (योगात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मको योगो वा)
४-निवृत्तकर्म्मविद्यात्मको भुक्तिगुणानुगृहीतः-प्रकृतियोगः--**'धर्म्मबुद्धियोगः'** (योगात्मिका बुद्धिः-बुद्ध्यात्मको योगो वा)

--सैषा प्रकृतियोगचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

—*—

१-अनासक्तिविद्या—'विद्या'-(१)-वैराग्यबुद्धियोगो-'योगः'
२-अन्तर्ज्योतिर्विद्या--'विद्या'-(२)-ज्ञानबुद्धियोगो—'योगः'
३-ईश्वरानन्यताविद्या-'विद्या'-(३)-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगो-'योगः'
४-निवृत्तकर्म्मविद्या--'विद्या'-(४)-धर्म्मबुद्धियोगो--'योगः'

} —प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी

—*—

(च)–विकृतिविद्याचतुष्टय्यनुगता -विकृतियोगचतुष्टयी- परिलेखः–(६)

(साध्यविद्यानुगता–साध्ययोगचतुष्टयी)

१–निरूढात्मविद्यागर्भितानासक्तिविद्यातत्त्वप्रदर्शिका– विकृतिविद्या–'राजर्षिविद्या' (विद्यात्मक उपदेशः, उपदेशात्मिका विद्या वा)
२–ईश्वरात्मविद्यागर्भितान्तर्ज्योतिर्विद्यातत्त्वप्रदर्शिका—विकृतिविद्या–'सिद्धविद्या' (,, ,,)
३–जीवात्मविद्यागर्भितेश्वरानन्यताविद्यातत्त्वप्रदर्शिका––विकृतिविद्या–'राजविद्या' (,, ,,)
४–भूतात्मविद्यागर्भितनिवृत्तविद्यातत्त्वप्रदर्शिका –––विकृतिविद्या–'आर्षविद्या' (,, ,,)

—सैषा विकृतिविद्याचतुष्टयी साध्यावस्थापन्ना

——*——

१–राजर्षिविद्यानुगतस्तृप्तिगुणोदयहेतुभूतः—विकृतियोगः–'वैराग्यहेतुकबुद्धियोगः' (योगात्मक उपदेशः, उपदेशात्मको योगो वा)
२–सिद्धविद्यानुगतस्तुष्टिगुणोदयहेतुभूतः –––विकृतियोगः–'ज्ञानहेतुकबुद्धियोगः' (,, ,,)
३–राजविद्यानुगतः पुष्टिगुणोदयहेतुभूतः––––विकृतियोगः–'ऐश्वर्य्यहेतुकबुद्धियोगः' (,, ,,)
४–आर्षविद्यानुगतो भुक्तिगुणोदयहेतुभूतः—विकृतियोगः–'धर्म्महेतुकबुद्धियोगः' (,, ,,)

—सैषा विकृतियोगचतुष्टयी साध्यावस्थापन्ना

——*——

१–राजर्षिविद्या–'विद्या'–(१)–वैराग्यहेतुकबुद्धियोगो––'योगः'
२–सिद्धविद्या–––'विद्या'–(२)–ज्ञानहेतुकबुद्धियोगो—–'योगः'
३–राजविद्या——'विद्या'–(३)–ऐश्वर्य्य हेतुकबुद्धियोगो-'योगः'
४–आर्षविद्या–––'विद्या'–(४)–धर्म्म हेतुकबुद्धियोगो––'योगः'

} —विकृतिविद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी

——*——

(छ)–सर्वसंग्रहपरिलेखः (७)

——————— *

१ | १–निरूढात्मविद्या––वैराग्ययोगः––––तृप्तिगुणात्मकः (सिद्धापुरुषविद्या, योगश्च)–लक्ष्यविद्या, लक्ष्ययोगः
२–अनासक्तिविद्या––वैराग्यबुद्धियोगः––तृप्तिगुणानुगतः (सिद्धप्रकृतिविद्या, योगश्च)-द्वारविद्या, द्वारयोगः
३–राजर्षिविद्या–––वैराग्यहेतुकबुद्धियोग-तृप्तिगुणोदयहेतुः (साध्यविकृतिविद्या, योगश्च)–अनुष्ठेयविद्या, अनुष्ठेययोगः

——————— *

२ | १–ईश्वरात्मविद्या—ज्ञानयोगः———तुष्टिगुणात्मकः (सिद्धविद्या, सिद्धयोगः)
२–अन्तर्ज्योतिर्विद्या -ज्ञानबुद्धियोगः-——तुष्टिगुणानुगतः (सिद्धविद्या, सिद्धयोगः) ,,
३–सिद्धविद्या———ज्ञानहेतुकबुद्धियोगः-तुष्टिगुणोदयहेतुः (साध्यविद्या, साध्ययोगः)

——————— *

३ | १–जीवात्मविद्या———ऐश्वर्य्ययोगः———-पुष्टिगुणात्मकः (सिद्धविद्या, सिद्धयोगः)
२–ईश्वरानन्यताविद्या––ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः—-पुष्टिगुणानुगतः (सिद्धविद्या, सिद्धयोगः) ,,
३–राजविद्या————ऐश्वर्य्यहेतुकबुद्धियोगः-पुष्टिगुणोदयहेतुः(साध्यविद्या, साध्ययोगः)

——————— *

४ | १–भूतात्मविद्या–––धर्म्मयोगः————भुक्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या, सिद्धयोगः)
२–निवृत्तकर्म्मविद्या–धर्म्मबुद्धियोगः:——भुक्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या, सिद्धयोगः) ,,
३–आर्षविद्या–-—धर्म्म हेतुकबुद्धियोगः–भुक्तिगुणोदयहेतुः (साध्यविद्या, साध्ययोगः)

——————— *

—*—

(ज)–योगीभावपरिलेखः–(८)

१–राजर्षिविद्यानुगतवैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुष्ठाता योगी—(युञ्जानयोगी–विधेयात्मा)
२–अनासक्तिविद्यात्मकवैराग्यबुद्धियोगे प्राप्तो योगी––(युक्तयोगी—युक्तात्मा)
३–निरूढात्मविद्यात्मकवैराग्ययोगे समाविष्टो योगी——(युक्ततमो योगी-युक्ततमात्मा)

१–रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्'यैर्विधेयात्मा'–प्रसादमधिगच्छति ॥
(स एषः–विधेयात्मा)

—*—

२–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मेव मे मतम् ।
आस्थितः स हि 'युक्तात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
—गी० ७।१८। (स एषः-युक्तात्मा)।

—*—

३–योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे 'युक्ततमो' मतः ॥
—७।३७ (स एषः–युक्ततमात्मा)
—एवं–सर्वत्र

—*—

(झ)–योगभावपरिलेखः (६)

(१)–राजर्षिविद्यानुगत–वैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुष्ठानेन साधनभूतेन–जीवात्मनः–अनासक्तिविद्यात्मक–वैराग्यबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च–निरूढविद्यात्मकवैराग्ययोगात्मके पुरुषयोगे अपीतिः–सैषा जीवात्मनः कृतकृत्यता, पूर्णतृप्तिलाभः ।

—*—

(२)–सिद्धविद्यानुगत-ज्ञानहेतुकबुद्धियोगानुष्ठानेन साधनभूतेन–जीवात्मनः–अन्तर्ज्योतिर्विद्यात्मकज्ञानबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च ईश्वरात्मविद्यात्मकज्ञानयोगात्मके पुरुषयोगे अपीतिः । सैषा जीवात्मनः कृतकृत्यता, पूर्णतुष्टिलाभः ।

—*—

(३)–राजविद्यानुगत–ऐश्वर्य्यहेतुकबुद्धियोगानुष्ठानेन साधनभूतेन–जीवात्मनः–ईश्वरानन्यताविद्यात्मक–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तदद्वारा च जीवात्मविद्यात्मक–ऐश्वर्य्ययोगात्मके पुरुषयोगे अपीतिः । सैषा जीवात्मनः कृतकृत्यता, पूर्णपुष्टिलाभः ।

—*—

(४)–आर्षविद्यानुगत–धर्म्महेतुकबुद्धियोगानुष्ठानेन साधनभूतेन–जीवात्मनः–निवृत्तकर्म्मविद्यात्मक–धर्म्मबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च–भूतात्मविद्यात्मक–धर्म्मयोगात्मके पुरुषयोगे अपीतिः । सैषा जीवात्मनः कृतकृत्यता, पूर्णभुक्तिलाभः ।

—*—

(ञ)-विद्याभावपरिलेखः (१०)

१-वैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगता-राजर्षिविद्या-वैराग्यनिबन्धना, रागद्वेषमोहोपशमजा।
—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या।
२-ज्ञानहेतुकबुद्धियोगानुगता-सिद्धविद्या-ज्ञाननिबन्धना, अविद्यात्मकमोहोपशमजा।
—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या।
३-ऐश्वर्य्यहेतुकबुद्धियोगानुगता-राजविद्या-ऐश्वर्य्यनिबन्धना, अस्मितोपशमजा।
—सैषा गीतायां तृतीया विद्या।
४-धर्म्महेतुकबुद्धियोगानुगता-आर्षविद्या-धर्म्मनिबन्धना, अभिनिवेशोपशमजा।
—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या।

——*——

१०-पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादिता विद्याचतुष्टयी, तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण किया गया। अब इस सम्बन्ध में ये प्रश्न शेष रह जाते हैं कि, इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है ?, चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ?, कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ?। इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रेमी पाठकों के सम्मुख **'गीतासारपरीक्षात्मक'** बुद्धियोगपरीक्षा का **'उत्तरखण्ड'** उपस्थित होने जा रहा है। प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्यानुगत जिस बुद्धियोग का परिचय कराने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। कालातिक्रम से, वेदतत्त्वविलुप्ति से, सर्वोपरि साम्प्रदायिक संघर्ष के अनुग्रह से गीता का वह तत्त्व लुप्त हो चला था। वही आज उसी गीताचार्य्य श्रीमधुसूदन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिप्रथानुगामी बनने जा रहा है। बुद्धियोगात्मक यह अतिप्रत्न, किन्तु नूतनवत् प्रतीत दृष्टिकोण सम्प्रदायभक्त वर्त्तमान विद्वत्समाज का अनुरञ्जन करे, अथवा न करे ?, यह प्रश्न सदा से ही शेष प्रश्न बना आ रहा है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही श्रेयः-पन्था हैं। हाँ; जो वास्तव में जिज्ञासु हैं, श्रेयःपन्था के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं, प्रस्तुत दृष्टिकोण अवश्य ही वैसे जिज्ञासुओं का किसी सीमापर्य्यन्त अनुरञ्जन कर सकेगा। इसी बुद्धियोगानुरक्तिकामना के साथ प्रकरणत्रयात्मक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत होता है।

—प्रीयतामनेन योगात्माव्ययपुरुषो भगवान् मधुसूदनः—

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३

——❀——

इति-प्रकरणत्रयात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-तत्-सद्-ब्रह्मणे नमः

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

——*——

श्रीः

प्रकरणत्रयात्मक-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय-प्रकरण उपरत

———*———

श्री:

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–

सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक–तृतीयखण्डानुगता

'ग' कार विगात्मिका

बुद्धियोगपरीक्षा (पूर्वखण्डात्मिका)

उपरता

प्रीयतामनया बुद्धियोगनिष्ठो योगेश्वरः–

भगवान् मधुसूदनः

इति शम्

श्रीः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित
एव प्राच्य वैदिक-साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण परिभाषाओं से समन्वित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिबद्ध

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निबन्धा-मोतीलालशर्म्मा-आङ्गिरसो भारद्वाजः]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य-प्रथमवर्ष*	४००	१०)
२— ,, -द्वितीयवर्ष*	४००	१०)
३— ,, -तृतीयवर्ष*	४५०	१०)
४— ,, -चतुर्थवर्ष	४७०	१२)
५— ,, -पञ्चमवर्ष	३५०	७)
६—शतपथभाष्य-त्रैवार्षिकी विषयसूची *	१००	२)
७—ईशोपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड (१)	५००	१२)
८— ,, द्वितीयखण्ड (२)	५००	१२)
९—माण्डूक्योपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य *	६०	१)
१०—गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षा	५००	१३)
११— ,, -आत्मपरीक्षा	५००	१३)
१२— ,, -ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा*	६००	१५)
१३— ,, -कर्म्मयोगपरीक्षा*	५००	१५)
१४— ,, -बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड	७००	२०)
१५—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड (१)	५००	१२)
१६—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड (२)	५००	१५)
१७— ,, -तृतीयखण्ड (३)	५००	१५)
१८—श्राद्धविज्ञान-आत्मविज्ञानोपनिषत्-प्रथमखण्ड (१)	५५०	२०)
१९— ,, -सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्-द्वितीयखण्ड (२)	६००	१५)
२०—भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता-प्रथमखण्ड(१)	५५०	१२)

चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त हैं। पुनः प्रकाशित होने पर ही वे उपलब्ध हो सकेंगे।

(उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध)

२१—'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्' (संस्कृत निबन्ध) १०० १॥)

२२—भारतीय दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का समन्वय ... १॥)

२३—सम्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या
२४—पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या
२५—मानव का स्वरूप-परिचय
२६—'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय
२७—वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय
} पञ्चवक्तव्यसमष्टि १०)

२८—वेद का स्वरूपविचार ... ... [illegible])

२९—क्या हम मानव हैं ? ... ... २॥)

३०—दशमहाविद्यास्वरूपपरिचय ... ... १)

३१—रक्षाबन्धन का वैज्ञानिक रहस्य ... ... १)

३२—दीपावली का वैज्ञानिक रहस्य ... ... १)

३३—गोपाष्टमी का वैज्ञानिक रहस्य ... ... १)

एकमात्र प्राप्तिस्थान—

कृष्णचन्द्रशर्म्मा
व्यवस्थापक-प्रकाशनविभाग

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'
मानवाश्रमविद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)

